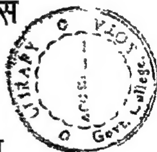
॥ श्रीः ॥

चौखम्बा राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला
९



भारतीय धर्म-शाखाएँ और उनका इतिहास



लेखक
वाचस्पति गैरोला



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष ५५३५७



प्रथम संस्करण

सन् १९८८

मूल्य १५०–००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू० ए०, जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली ११०००७

दूरभाष २३६३९१

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी २२१००१

दूरभाष ६३०७६

मुद्रक

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी



समर्पण

अपनी साध्वी सहधर्मिणी

शान्ति को

जिसकी अन्तःप्रेरणा

एवं

जिसके अयाचित अध्यवसाय ने

मेरी बौद्धिक जीवन-यात्रा को

सतत सम्बल प्रदान किया।



पुस्तक के सम्बन्ध में

प्रस्तुत पुस्तक 'भारतीय धर्म-शाखाएँ और उनका इतिहास' विगत अनेक वर्षों के निरन्तर प्रयास से पूरी हो सकी है। किन्तु उससे अधिक उसके प्रकाशन के लिए प्रतीक्षा करनी पडी। लगभग दो वर्षों तक एक प्रकाशक मित्र के यहाँ पुस्तक की पाण्डुलिपि पडी रही। अन्ततः चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी से इसका प्रकाशन सम्भव हो सका।

स्वर्गीय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जिन दिनो उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अध्यक्ष थे, उन्होंने स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में धर्म-विषयक पुस्तक लिखने के लिए मुझे आदिष्ट किया था। इस पुस्तक के लेखन की मूल प्रेरणा वास्तव में यही थी। आचार्य द्विवेदी के पश्चात् उत्तर-प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी मे अनेक प्रकार के फेर-बदल होते गये, और मैंने यही उचित समझा कि अकादमी की अपेक्षा इसका प्रकाशन किसी स्वतन्त्र प्रकाशक से कराना ही समीचीन होगा।

मेरे अनुरोध पर उत्तर प्रदेश शिक्षा-विभाग ने इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए पाँच हजार रुपये का अनुदान देना भी स्वीकार किया था, किन्तु नियत अवधि पर प्रकाशित न होने के कारण अनुदान का लाभ प्राप्त न हो सका।

पुस्तक भले ही जिस रूप मे सही, जितना भी विलम्ब वहन करना पडा, पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। प्रायः सभी विश्वविद्यालयो मे संस्कृत, हिन्दी, इतिहास और समाजशास्त्र विषयो के पाठ्यक्रम मे धर्म-विषयक सम्पूर्ण अध्ययन के लिए अब तक कोई पुस्तक नही लिखी गई थी। भारतीय धर्म-शाखाओं के अध्ययन तथा अनुशीलन के लिए इस पुस्तक का लाभ अध्येताओं को अवश्य प्राप्त होगा, ऐसी आशा है।

पुस्तक को लिखते समय यह प्रयास किया गया है कि प्रत्येक धर्मशाखा के ऐतिहासिक परिचय के पश्चात् उसकी मूल प्रवृत्तियों, प्रवर्तक और प्रवर्तन-परम्परा, सिद्धान्त निरूपण, आचार-पद्धति और साहित्य आदि अपेक्षित विषयों का सर्वांगीण समावेश किया जाय। इस प्रकार प्रत्येक धर्मशाखा के सर्वांगीण अध्ययन के लिए सूत्ररूप में सभी अंगों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। अध्येता तथा शोधार्थी अपने विस्तृत अध्ययन के लिए इन मूल सूत्रों की व्याख्या करने के लिए प्रवृत्त हो सकते हैं।

भारतीय धर्मशाखाओं के विवेचन के साथ ही, भारत में विलयित भारतेतर धर्मशाखाओं पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। भारत में स्थायी रूप से निवसित भारतीयता का वरण करने वाले फारसी, यहूदी, ईसाई और इस्लामी आदि विभिन्न धर्मानुयायियों की धार्मिक परम्पराओं एवं मान्यताओं को भी इस पुस्तक में सम्मिलित किया गया है। इन सभी भारतेतर धर्म-शाखाओं की जानकारी प्राप्त किये बिना, वस्तुतः इस महान् राष्ट्र की धर्म-प्रवृत्तियों का इतिहास-ज्ञान अधूरा ही कहा जायेगा। भारत के बाहर विभिन्न देशों में इन धर्म-शाखाओं का आज भी अपना स्वतन्त्र एवं व्यापक अस्तित्व है, और उनको मानने वाले बहुसंख्यक समुदाय भी सम्प्रति विद्यमान हैं। किन्तु इस भारत राष्ट्र के धार्मिक समुदय में वर्षों पूर्व से उनका जो तादात्म्य तथा योगदान रहता आया है, उसमें इन भारतेतर धर्म-शाखाओं को भारतीयता में समन्वित करने का आधार सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है।

मुझे विश्वास है कि बहु-भाषाभाषियों, विभिन्न धर्मानुयायियों और अनेक संस्कृतियों को वरण करने वाले इस देश में धर्म के सार्वभौम, सर्वमंगलकारी स्वरूप को प्रस्तुत करने में इस पुस्तक का विशेष महत्त्व सिद्ध होगा।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपने वक्तव्य को समाप्त करने से पूर्व मैं अपनी दोनों विदुषी पुत्रियों श्रीमती प्रभा बहुगुणा और डॉक्टर मंजु गैरोला के योगदान का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ।

साप्ताहिक गढवाल मण्डल
पौड़ी (गढवाल)
१५ मार्च, १९८८

—वाचस्पति गैरोला

विषयानुक्रम



(एक)

धर्मशास्त्रीय साहित्य

धर्मशास्त्र साहित्य

धर्मशास्त्र विषयक साहित्य को मुख्यत तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—सूत्र, स्मृति और निबन्ध। सूत्रग्रन्थ ही धर्मशास्त्र के स्रोत एव आधार हैं। जिन सूत्रग्रन्थो को विशेष महत्व दिया गया है, और जिनका व्यापक प्रभाव रहा है, उनमे गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ का नाम प्रमुख है। इनके अतिरिक्त विष्णु, हारीत, वैखानस तथा हिरण्यकेशी आदि का स्थान है। सूत्रग्रन्थों में प्राय वे सब विषय सन्निविष्ट हैं, जिनका विकसित रूप स्मृतियो तथा निबन्धो मे देखने को मिलता है। उनमे समाज के प्रमुख चार अगो—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, और चार आश्रमो—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास के नियमो, उनके स्वतत्र और पारस्परिक कर्तव्यो तथा आचारो का व्यापक प्रतिपादन किया गया है। क्योकि सामाजिक जीवन की सम्पूर्णता के लिए अनुशासन की आवश्यकता अनिवार्य है, अत धर्मसूत्रो मे राजा, व्यवहार, अपराध, उत्तराधिकार तथा विवाह आदि के नियमो का भी निरूपण किया गया है। इस दृष्टि से वे अर्थशास्त्र के भी पूरक सिद्ध होते हैं।

यद्यपि आरम्भ मे धर्मसूत्रो की अपनी अलग-अलग शाखाएँ थी, और उन्ही शाखाओ द्वारा उनका अध्ययन, अध्यापन तथा अनुपालन होता था, किन्तु बाद मे वे समस्त समाज के लिए ग्रहण किये गये और उनके द्वारा द्विजमात्र का अनुशासन होने लगा।

सूत्रग्रन्थो के पश्चात् धर्मशास्त्रीय साहित्य का दूसरा भाग स्मृतियाँ है। किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से सूत्रग्रन्थो की अपेक्षा स्मृतियो का स्थान महत्वपूर्ण है। आधुनिक लोकमान्यता की दृष्टि से 'मनुस्मृति' तथा 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का स्थान सर्वोपरि है। उनके अतिरिक्त उपलब्ध स्मृतियो मे—पराशर, नारद, बृहस्पति, कात्यायन, अगिरा, दक्ष, पितामह, पुलस्त्य, प्रचेतस्, प्रजापति, मरीचि, यम, विश्वामित्र, व्यास और हारीत आदि ऋषि-महर्षियो द्वारा विरचित स्मृतियो का स्थान है।

धर्मशास्त्र साहित्य का तीसरा विभाजन अधिक महत्वपूर्ण है। इस तीसरे भाग मे मूल धर्मशास्त्रीय ग्रन्थो पर टीका, भाष्य तथा निबन्ध लिखे गये। इन टीका भाष्य निबन्ध ग्रन्थो मे किसी प्रकार का विभाजन करना सम्भव नही है। जिन अधिकतर धर्मशास्त्रकारो ने भाष्यो की रचना की, उन्होंने ही प्राय निबन्ध भी लिखे। प्रमुख भाष्य-ग्रन्थो मे 'अपरार्क' और 'मिताक्षरा

का नाम उल्लेखनीय है। इसी प्रकार निबन्ध-ग्रन्थो मे 'कल्पतरु', 'स्मृति-चन्द्रिका', 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' और 'राजनीतिरत्नाकर' का नाम प्रमुख हैं।

निर्माण काल

तीन विभागो मे विभक्त उक्त धर्मशास्त्रीय साहित्य के निर्माण-काल के सम्बन्ध मे विद्वानो के अलग-अलग अभिमत हैं। सामान्यत उनकी काल-मर्यादा ७०० ई० पूर्व से लेकर १९वी शती ई० के बीच निर्धारित की जा सकती है। इन पच्चीस-छब्बीस सौ वर्षों की समयावधि को इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है—

सूत्रग्रन्थो के निर्माण काल का प्रथम युग ७००–१०० ई० पूर्व।

स्मृतिग्रन्थो के निर्माण काल का द्वितीय युग १००–९०० ई० तक।

भाष्यग्रन्थो के निर्माण काल का तृतीय युग ९००–१९०० ई० तक।

उक्त काल सीमाएँ किंचित् पूर्वापर भी हो सकती हैं, किन्तु उनकी जो समृद्धि तथा व्यापकता प्रकाश मे आई है, उनकी मुख्य सीमाएँ उक्त कालावधि मे ही निर्धारित की जा सकती हैं। प्रथम युग मे मुख्यत सूत्रग्रन्थो का निर्माण हुआ। ये सूत्रग्रन्थ ही स्मृतियो के उद्गम स्रोत हैं। द्वितीय युग मे सूत्रो के व्याख्यान-ग्रन्थ लिखे गये, जिन्हे स्मृतियाँ कहा जाता है। सूत्रग्रन्थो मे साररूप मे या संकेतात्मक ढग पर जिन नीति नियमो का उल्लेख किया गया है, उनको विस्तार से स्मृतियो में कहा गया है। किन्तु सूत्रग्रन्थो मे निर्दिष्ट नीति-नियमो के अतिरिक्त नई बातो का भी स्मृतियो मे समावेश देखने को मिलता है। ये स्मृतियाँ श्लोकबद्ध हैं और यद्यपि उनके निर्माण काल की मर्यादा सामान्य रूप से प्रथम शती ई० से निर्धारित की गई है, तथापि उनकी रचना इससे पूर्व युग काल (२०० ई० पूर्व) से ही होने लगी थी।

धर्मशास्त्रीय साहित्य का तीसरा युग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस युग की ऐतिहासिक सीमाएँ यद्यपि ९वी शती ई० से निर्धारित की गई हैं, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृतियो पर भाष्यो टीकाओ निबन्धो का निर्माण गुप्त-युग के अन्तिम चरण (५वी शती ई०) से होने लग गया था। स्मृतियो पर व्याख्यान ग्रन्थो का यह निर्माण-कार्य निरन्तर होता गया और १९वी शती तक होता रहा। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थो, विशेष रूप से स्मृतियो की यह व्याख्यात्मक सामग्री अपने आप मे उतनी ही महत्वपूर्ण एव मान्य है, जितने कि मूल स्मृतिग्रन्थ हैं। जिस प्रकार स्मृति-वचनो को, उसी प्रकार उनकी व्याख्यात्मक सामग्री को प्रामाणिक माना गया है।

यह तीसरा युग इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि इसी समय धर्मशास्त्र विषयक विपुल साहित्य प्रकाश मे आया। प्राय समस्त अगो पर विस्तार

से लिखा गया और साथ ही युगनिष्ठा के अनुरूप उनमे कुछ नया भी जोडा गया।

कल्पसूत्र साहित्य

वेद-सहिताओ का विभाजन हो जाने के अनन्तर ऋषियो के विभिन्न ज्ञानकुलो द्वारा जो साहित्य रचा गया, उसमे षडगो का नाम उल्लेखनीय है। उनके नाम है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। दूसरे वेदाग 'कल्प' के अन्तर्गत धर्मसूत्रो का स्थान है। इतिहासकारो की दृष्टि मे 'कल्प' वेदाग साहित्य मे प्राचीनतम ग्रन्थ है।

विषय और ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से कल्पग्रन्थ अपना विशेष महत्व रखते है। सस्कृत साहित्य मे उनके द्वारा नये युग की स्थापना हुई। कल्पसूत्रो के अनन्तर लौकिक सस्कृत का अभ्युदय हुआ। उत्तर वैदिक युग मे अनेक विषयो का जो विपुल साहित्य रचा गया, उसको प्रेरणा देने और उसकी प्रगति मे वेदाग के इस 'कल्प' भाग का अपना विशिष्ट स्थान है।

कल्पसूत्रो के निर्माण का एक विशेष प्रयोजन था। वैदिक-साहित्य विपुल, दुर्गम, कठिन और रहस्यमय होने के कारण उसको बोधगम्य करना दुष्कर होता जा रहा था। इस समस्या के समाधान के लिए वैदिक विधियो को सूत्रो की सक्षिप्त एव सकेतात्मक भाषा मे समायोजित किया गया। 'गागर मे सागर' की भाँति सूत्रो की सक्षिप्त शब्दावली के द्वारा वेदोक्त विधियो को कण्ठस्थ करने मे सुगमता हुई। कम से कम शब्दो वाक्यो मे अधिक से अधिक भावो को अभिव्यक्त करना सूत्रग्रन्थो की विशेषता है।

भाषा, भाव, विचार शैली और रचना-विधान की तकनीकियो की दृष्टि से भी सूत्रयुग मे अनेक परिवर्तन प्रकाश मे आये। जिस भाषा का रूप वैदिक साहित्य मे देखने को मिलता है, रचना-प्रक्रिया और अभिव्यजन की दृष्टि से जिस भाषा का प्रयोग वेदो से लेकर उपनिषदो तक होता रहा, सूत्रग्रन्थो की रचना के बाद उसमे सर्वप्रथम परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है।

कल्पसूत्रो का प्रमुख विषय कर्मो का प्रतिपादन, सस्कारो की व्याख्या और यज्ञो के विधि-विधान का वर्णन करना है। यज्ञो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन वेदो तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो द्वारा होता रहा है। अथर्ववेद (९।१०।८) मे यज्ञो को जगत् का उत्पत्ति स्थान कहा गया है। 'यज्ञपरिभाषासूत्र' मे दो प्रकार के वैदिक यज्ञो का विधान वर्णित है—श्रौत और गृह्य। इन दोनो यज्ञो की सम्यक् व्याख्या व्यवस्था क्रमश श्रौतसूत्रो और गृह्यसूत्रो मे निरूपित है।

कल्पसूत्रों के तीन प्रमुख विभाग है—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। प्राचीन ग्रन्थो के उल्लेखानुसार वेदो की ११३० मत्र सहिताओ की भाँति कल्पसूत्रो की भी उतनी सख्या थी, किन्तु सम्प्रति न तो उतनी मत्र सहिताएँ उपलब्ध है और न उतने कल्पसूत्र ही।

कल्पसूत्रो के इन तीनो विभागो का विषय की दृष्टि से विभाजन करना सभव नही है। क्योकि विषय की दृष्टि से वे अन्योन्याश्रित हैं। तथापि कतिपय विशिष्ट विधाओ की दृष्टि से उनमे विभाजन किया जा सकता है। सहिताओ का जो यज्ञ-यागादि विधान भाग है, श्रौतसूत्रो मे उसका सार सकलित है। श्रौतसूत्रो मे वैदिक हवि तथा सोमयज्ञ सम्बन्धी धार्मिक अनुष्ठानो का विशेषरूप से प्रतिपादन है। उनमे प्रमुखतया श्रुतिविहित चतुर्दश यज्ञो का निरूपण है। कल्पग्रन्थो के दूसरे विभाग गृह्यसूत्रो मे गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने भी क्रिया-कलाप है, उनकी अनुष्ठान विधियो का विस्तार से वर्णन है। 'कौशिकगृह्यसूत्र' मे चिकित्सा और दैविक विपत्तियो के निवारण करने के मत्र भी उल्लिखित हैं। गृह्यसूत्रो द्वारा हिन्दू धर्म की कर्मनिष्ठा तथा पवित्रता का प्रतिपादन हुआ है।

तीसरे विभाग धर्मसूत्रो का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि कल्पग्रथो और गृह्यग्रन्थो मे जो अनुष्ठान वर्णित हैं, वे विशेषरूप से वैयक्तिक तथा पारिवारिक जीवन तक ही सीमित है। धर्मसूत्रो मे व्यापक मानवता को दृष्टि मे रखकर विचार किया गया है। क्योकि धर्म की भारतीय दृष्टि कभी भी एकाकी नही रही है। अत धर्म का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाले धर्मसूत्रो की विचार दृष्टि स्वभावत व्यापक रही है। उनमें मानव के व्यापक हितो को दृष्टि मे रखकर समाज के पारस्परिक कर्तव्यो पर प्रकाश डाला गया है। उनमे सामाजिक जीवन के रीति रिवाजो, प्रथाओ और नियमो की व्यापक मीमासा की गई है। 'गौतम धर्मसूत्र' जैसे ग्रन्थो मे अत्यन्त उदार दृष्टि के दर्शन होते है। उनमे द्विजातियो (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यो) मे पारस्परिक खान पान की समानता का समर्थन किया गया है।

धर्मसूत्रो मे राज्य व्यवस्था और कर-कानूनो की भी व्याख्या की गई है। इन धर्म निर्देशो मे यह व्यवस्था दी गई है कि राजा को प्रजावत्सल होना चाहिए और चतुर्वर्णों के प्रति समानता का व्यवहार करना चाहिए। राजा-प्रजा मे तब अन्तर की खाई उतनी गहरी नही थी। राजा का एकमात्र लक्ष्य प्रजा का हित-साधन था। नारी-समाज के प्रति व्यवहृत आचारो म उदारता थी। दण्ड-व्यवस्था के सम्बन्ध मे धर्मसूत्रो के नीति नियम असमानता तथा वर्ग स्वार्थ के द्योतक प्रतीत होते है, क्योकि जहाँ एक ओर अन्यान्य वर्णों के

लिए अंग भंग जैसे कठोर दण्डो की व्यवस्था की गई, वही दूसरी ओर ब्राह्मण को केवल अर्थ-दण्ड दे कर छोड दिया गया है, और कभी कभी उससे भी मुक्त कर दिया गया है। यह असमानता परवर्ती धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थो मे देखने को नहीं मिलती।

धर्मसूत्र साहित्य

धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थों की प्रणयन-परम्परा अतिप्राचीन और व्यापक है। विद्वानो का अभिमत है कि यास्क (७०० ई० पूर्व) के 'निरुक्त' मे एक स्थल (३।४।५) पर 'रिक्थप्रतिषेध' का उल्लेख हुआ है (अर्थता जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया, इत्येके)। इस सम्बन्ध मे यास्क ने एक पद्य उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

अविशेषेण पुत्राणा दायो भवति धर्मत ।
मिथुनाना विसर्गादौ मनु स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥

इस पद्योच्चारण से विदित होता है कि श्लोकबद्ध धर्मग्रन्थो का निर्माण यास्क से पहले होने लगा था। इस सम्बन्ध मे विद्वानो का कहना है कि श्लोकबद्ध धर्मग्रन्थो की निर्माण परम्परा सूत्रग्रन्थो से भी पहले की है। गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्रो मे पूर्ववर्ती धर्मग्रन्थो का उल्लेख हुआ है। गौतम ने पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रो की चर्चा की है और उनके मतो को 'इत्येके' (२।५।२।५८, ३।१।४।२१ आदि) कहकर उद्धृत किया है। अनेक स्थलो पर उन्होने मनु तथा धर्म-प्रवर्तक अन्यान्य आचार्यों का उल्लेख किया है (३।३६, ४।१८ आदि)। बौधायन ने औपजघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, मौद्गल्य और हारीत आदि पुरातन धर्मशास्त्रकारो का स्पष्ट निर्देश किया है। इसी प्रकार आपस्तम्ब ने भी एक, कण्व, कौत्स तथा हारीत आदि को उद्धृत किया है (२१।७)। मीमासाकार जैमिनि ने धर्मशास्त्र मे उल्लिखित शूद्र के कर्तव्य की ओर निर्देश किया है (मीमासा-सूत्र ६।७।६)। भाष्यकार पतंजलि ने लिखा है कि धर्मसूत्रो तथा उनके नीति-निर्देशो को ईश्वर की आज्ञाओं की तरह माना जाता था।

इन आधारो पर यह मानना सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थो की परम्परा अतिसमृद्ध तथा पुरातन है। लगभग २०० ई० पूर्व तक मानव समाज मे उनके नीति नियम तथा आचार-व्यवहार पूर्ण रूप से व्यवहृत होने लग गये थे और उत्तरोत्तर उनका अध्ययन प्रणयन होता गया।

अपनी आरम्भावस्था मे धर्मसूत्र, कल्पसूत्रो के अग थे। उनका अध्ययन-प्रणयन स्वतत्र रूप से न होकर चरणो या शाखाओं के रूप मे हुआ करता

था। सभी चरणो के धर्मसूत्र सम्प्रति उपलब्ध नही हैं। आश्वलायन, मानव और शाखायन के श्रौतसूत्रो तथा गृह्यसूत्रो के धर्मसूत्र प्राप्त नही होते। कुछ चरणो के सभी सूत्र उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी और बौधायन के श्रौत, गृह्य तथा धर्म, तीनो सूत्रग्रन्थ सुलभ हैं। इस प्रकार यद्यपि सभी चरणो के धर्मसूत्र सम्प्रति उपलब्ध नही हैं, तथापि समस्त आर्यजाति के सस्कारो, आचारो, नियमो और व्यवहारो की स्थापना उन्ही के द्वारा होती थी और परम्परागत सभी वैदिक शाखाओ मे उन्हे प्रामाणिकता से स्वीकार कर लिया गया था।

धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र

धर्मसूत्रो और गृह्यसूत्रो मे परस्पर समानता देखने को मिलती है। उनके विषय और प्रकरण प्राय समान हैं। गृह्यसूत्रो का विशेष सम्बन्ध गृहस्थ-जीवन से सम्बद्ध यज्ञ, पूजन, विवाहादि सस्कार, श्राद्ध और मधुपर्क आदि विषयो का विधान करना है। उनमे मानव-जीवन के अधिकारो, कर्तव्यो और उत्तराधिकारो के प्रति कम निर्देश देखने को मिलते हैं। धर्मसूत्रो मे विशेष रूप से आचारो, विधियो, नियमो और उत्तराधिकारो का विवेचन हुआ है। दोनो मे इस विभिन्नता के होते हुए भी समानता है। कही-कही गृह्यसूत्र, धर्मसूत्रो की ओर सकेत करते हैं और उनकी मान्यताओ का व्याख्यान करते है। गृह्यसूत्रो के प्रत्येक चरण के कल्प भाग से धर्मसूत्रो का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

धर्मसूत्र और स्मृतियाँ

गृह्यसूत्रो की भाँति स्मृतियो से भी धर्मसूत्रो की कही-कही भिन्नता देखने को मिलती है। प्राचीन धर्मसूत्रो और स्मृतियो मे पारस्परिक विभेद देखने को मिलता है। दोनो मे स्पष्ट अन्तर यह है कि, धर्मसूत्र मुख्यतया गद्य या गद्य-पद्य मिश्रित है, किन्तु स्मृतियाँ एकमात्र पद्यबद्ध हैं। भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्रो की भाषा प्राचीन है। धर्मसूत्रो की विषय वस्तु मे एकरूपता, और कही कही तारतम्य की उपेक्षा देखने को मिलती है। इसके विपरीत स्मृतियो में इस प्रकार की अव्यवस्था नही है। उदाहरण के लिए सभी स्मृतियो की विषय-वस्तु प्राय तीन विभागो मे विभक्त हुई देखने को मिलती है—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित। दोनो की विभिन्नता के अन्य भी अनेक कारण हैं।

सूत्रग्रन्थो का निर्माण काल

वेदो से लेकर ब्राह्मणो, आरण्यको और उपनिषदो पर्यन्त जितना भी विपुल साहित्य है, आरम्भ मे परम्परा से वह मौखिक रूप मे वर्तमान था।

समस्त वैदिक ज्ञान का सरक्षण एव प्रवर्तन श्रुति-परम्परागत था। वैदिक युग की जिन विभिन्न शाखा-प्रशाखाओ का अनेक ग्रन्थो मे उल्लेख देखने को मिलते है, ज्ञान की सारी विरासत उन्ही के कण्ठ मे सुरक्षित थी। ज्ञान की अलग-अलग विधाएँ उन्ही शाखाओ मे विभक्त थी। ये शाखाएँ या चरण ही वस्तुत तत्कालीन ग्रन्थ-सम्पदा भी थी और उन शाखाओ को उजागर करने वाले बहुसंख्यक प्रतिभावान् शिष्य-प्रशिष्य ही उस ग्रन्थ सम्पदा के उत्तराधिकारी थे। उन्ही की वाणी मे परम्परागत समस्त ज्ञान सरक्षित था।

सामाजिक परिस्थितियो मे उत्तरोत्तर परिवर्तन होता गया और कण्ठस्थ ज्ञान को अधिक समय तक सुरक्षित न रख सकने के कारण तत्कालीन विचारको को परम्परा की विरासत को अक्षुण्ण बनाये रखने और उसे प्रकाश मे लाने के उद्देश्य से उपायो पर विचार करने के लिए बाध्य होना पडा। 'नारदपुराण' के एक प्रसग से विदित होता है कि छ मास के बाद ही कण्ठस्थ ज्ञान विस्मृत होने लगा था। जिन उत्तराधिकारियो के पास ज्ञान मौखिक रूप मे सुरक्षित था, उसके लिपिबद्ध होने के अभाव मे उसकी मृत्यु के बाद समग्र ज्ञान उसी के साथ अन्तर्धान होता गया। इतिहासकार वेन्सेंट स्मिथ ने 'नारदपुराण' के इस उल्लेख का सम्यक् विश्लेषण किया है (इडियाज पास्ट, पृ० ५०)। इन परिस्थितियो मे ज्ञान की सुरक्षा के लिए जिन विचारको ने प्रयास किया, वे अधिकतर सूत्रग्रन्थो के रचयिता थे। कागज अथवा सुविधाजनक लेखन-सामग्री के अभाव मे आरम्भ मे भोजपत्रो तथा तालपत्रो पर ज्ञान को लिपिबद्ध करने का नया प्रयास हुआ। कालान्तर मे बौद्ध-धर्मानुयायियो के प्रत्याघातो की आशका से वैदिक-धर्मानुयायियो ने परम्परागत साहित्य की सुरक्षा के लिए उसे लिपिबद्ध करना आवश्यक समझा। ऐतिहासिक दृष्टि से सामान्यत. इस सूत्रकाल की मर्यादा ७००-६०० ई० पूर्व मे निर्धारित किया जा सकता है। सक्षेप मे कहा जा सकता है कि सूत्रग्रन्थो के निर्माण की पूर्व सीमा लगभग ७०० ई० पूर्व और उत्तर सीमा २००-१०० ई० पूर्व के बीच रखी जा सकती है। इस बीच उनका सम्पादन, सशोधन तथा पुन सस्करण होता गया।

स्मृतियाँ और उनका निर्माण काल

स्मृतियो की सख्या

स्मृतियो की सख्या के सम्बन्ध मे विचार करने पर ज्ञात होता है कि आरम्भ मे कुछ ही स्मृतियाँ विद्यमान थी और उत्तरोत्तर उनकी सख्या मे वृद्धि होती गई। 'गौतम धर्मसूत्र' (११।१९) मे केवल मनु का नाम उल्लिखित है। वसिष्ठ ने पाँच और बौधायन ने सात स्मृतियो का उल्लेख किया है। मनु ने स्वय को छोडकर ६ स्मृतिकारो के नाम गिनाये हैं। अत्रि, उतथ्यपुत्र, भृगु, वसिष्ठ, वैखानस और शौनक। याज्ञवल्क्य ने बीस धर्मशास्त्रकारो का उल्लेख किया है। परवर्ती भाष्य, टीका तथा निबन्ध ग्रन्थों मे यह सख्या सौ तक पहुच गई है।

सामान्यत पुराणो की भाँति स्मृतियो की भी अष्टादश सख्या परम्परा से मान्य रही है। इन अठारह स्मृतियो के नाम हैं—१ मनु, २ याज्ञवल्क्य, ३ अत्रि, ४ विष्णु, ५ हारीत, ६ उशनस्, ७ शख, ८ यम, ९ कात्यायन, १० वृहस्पति, ११ पराशर, १२ व्यास, १३ दक्ष, १४ गौतम, १५ वसिष्ठ, १६ नारद, १७ भृगु और १८ अगिरा। इसी प्रकार अठारह उपस्मृतियाँ थी, जो कि अपने मूलरूप मे उपलब्ध नही है। जीवानन्द द्वारा अठारह स्मृतियो का सग्रह प्रकाशित है, जो कि नामान्तर तथा प्रकारान्तर से है।

स्मृतियो मे धर्म की पूर्ण परिणति हुई है। सहस्राब्दियो के अन्वेषण-परीक्षण के फलस्वरूप समाज की सुव्यवस्था के लिए जो नियम बने, स्मृतियों मे उन्हें क्रमबद्ध करके प्रस्तुत किया गया। स्मृतियो की रचना सूत्रग्रन्थो के बाद हुई। 'विष्णुस्मृति' को छोडकर शेष सभी उपलब्ध स्मृतियाँ श्लोकबद्ध हैं। उनमे व्यापक रूप मे सामाजिक, न्यायिक एव प्रशासनिक विषयों की मीमासा की गई है। परम्परा से अब तक उन्हे धर्मसहिताओ की मान्यता प्राप्त है।

धर्म के सम्बन्ध मे भारत की अपनी दृष्टि रही है। जैसे ईसाइयत को हजरत ईसा ने और इस्लाम को हजरत मुहम्मद ने जन्म दिया, किन्तु भारत मे धर्म को जन्म देनेवाला कोई व्यक्ति विशेष नही हुआ। वह किसी एक पुरुष या एक वर्ग अथवा एक सम्प्रदाय द्वारा प्रसूत तथा प्रवर्तित नही हुआ है। इसलिए यदि किसी हिन्दू या भारतीय से यह पूछा जाये कि उसका धर्मग्रन्थ कौन है, तो वह किसी एक का नाम नही बता पायेगा। धर्म को भारत मे व्यापक स्वरूप दिया गया है। विश्व के इतिहास मे धर्म-स्वातत्र्य की

जितनी उदात्त भावना भारत मे रही है, उतनी किसी अन्य देश मे नही। साथ ही धर्म के सम्बन्ध मे जो गंभीर चिन्तन भारत मे हुआ, उसकी तुलना विश्व के किसी भी देश से नही की जा सकती।

स्मृतियों की परम्परा और रचना

परम्परा से धर्म, न्याय और व्यवहार के क्षेत्र म धर्मवेत्ता आचार्यों द्वारा जो विभिन्न विचार अभिव्यक्त किये गये, उनका परिपूर्ण विकास और उनकी सार्वभौम मान्यता स्मृतियो के रूप मे प्रकाश मे आई। सुदूर अतीत से इस महान् राष्ट्र के निर्माण मे जिन विभिन्न जाति-वर्गों तथा सम्प्रदायो, मतावलम्बियो का समन्वित समान योगदान रहा, उनके पारस्परिक अधिकारो तथा कर्तव्यो के निर्धारण के लिए जिन मानव-सहज व्यापक नियमो का निर्धारण हुआ, उनको सर्वप्रथम स्मृतियो मे लिपिबद्ध किया गया। स्मृतियाँ वस्तुत भारत के धार्मिक इतिहास की ऐसी ज्ञान सम्पदा है, जिनके द्वारा इस राष्ट्र की राष्ट्रीयता अक्षुण्ण एव सुरक्षित है।

स्मृतियो का आधार श्रुति है। 'श्रुति' के अन्तर्गत वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आदि व्यापक वाङ्मय समाविष्ट है। इसी प्रकार 'स्मृति' के अन्तर्गत षड्वेदाग, इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र आदि अनेक विषयो का समावेश है। परवर्ती ग्रन्थकारो ने 'स्मृति' को धर्मशास्त्र का पर्याय माना है।

स्मृतियो के व्यापक स्वरूप का सर्वप्रथम प्रतिपादन 'महाभारत' मे हुआ है। 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' मे धर्मशास्त्र के अन्तर्गत अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, शिल्पशास्त्र और रसायनशास्त्र आदि ऐसे भी विषयो का समावेश किया गया है, जिनका सम्बन्ध आज धर्मशास्त्र से विच्छिन्न हो गया है। इस सन्दर्भ मे पितामह ब्रह्मा द्वारा प्रणीत एक ऐसे 'नीतिशास्त्र' का उल्लेख हुआ है, जिसमे एक लाख अध्याय थे। उसमे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इस चतुर्वर्ग की व्याख्या की गई थी। महाभारतकार का कथन है कि युग-परिवर्तन और आयु-क्षीणता के कारण कालान्तर मे शकर ने उक्त 'नीतिशास्त्र' को दस हजार अध्यायो मे सक्षिप्त किया, जिसे कि 'वैशालाक्ष' नाम से कहा गया। तदनन्तर देवराज इन्द्र ने उस दस सहस्र अध्यायात्मक शास्त्र को पुनः पाँच हजार अध्यायो मे सक्षिप्त किया, जो कि 'बाहुदन्तकशास्त्र' के नाम से प्रचलित हुआ। इसी शास्त्र को विद्यावारिधि आचार्य बृहस्पति ने सक्षिप्त किया और उस 'बार्हस्पत्यशास्त्र' को पुन शुक्राचार्य ने एक हजार अध्यायो मे निबद्ध कर ऋषि-मुनियो को दिया। उन्होंने भूलोक निवासी मनुष्यो की आयु-सीमा को दृष्टि मे रखकर उसे और भी सक्षिप्त किया। शुक्राचार्य द्वारा सशोधित 'औशनसी-नीति' ही सभवत वर्तमान 'शुक्रनीति' का आधार है।

'महाभारत' (शा० प० ३४३।२८—३०।४०) से विदित होता है कि मारीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और चित्रशिखण्डी, इन सात ऋषियों ने एक 'चित्रशिखण्डिशास्त्र' की रचना की थी, जो कि एक लाख श्लोक परिमाण का था और जिसमे सम्पूर्ण लोकतन्त्र को धर्म मे प्रवृत्त करने का उपदेश था। गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ आदि ऋषियो ने अपने-अपने जिन धर्मसूत्र-ग्रन्थो का निर्माण किया था, वे पितामह ब्रह्मा के उक्त 'दण्डनीतिशास्त्र' की परम्परा के ही ग्रन्थ थे। उनके पश्चात् विभिन्न ऋषि-कुलो द्वारा अपनी-अपनी शाखाओ के लिए अलग अलग धर्मसूत्रो की रचना हुई।

'महाभारत' के उक्त विवरण को दृष्टि मे रखते हुए ही प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् एव पर्यटक अल्बेरुनी ने सभवत स्मृतियो को वेदो से प्रसूत बताया और उनके रचयिता ब्रह्मा के इन बीस मानस पुत्रो का उल्लेख किया है—१ आपस्तम्ब, २ पाराशर, ३ शतपथ (शातातप), ४ सामवर्त, ५ दक्ष, ६ वसिष्ठ, ७ अंगिरस, ८ यम, ९. विष्णु, १० मनु, ११ याज्ञवल्क्य, १२ अत्रि, १३ हारीत, १४ लिखित, १५ शाख, १६ गौतम, १७ बृहस्पति, १८ कात्यायन, १९ व्यास और २० उशनस्। देवल, शुक्र, भार्गव, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य और मनु को अल्बेरूनी ने व्यास के छ स्मृतिकार शिष्य माने हैं (अल्बेरूनी का भारत, पृ० ३५—३६)।

स्मृतियों का विषय

आधुनिक विद्वान् धर्मशास्त्र के अन्तर्गत केवल स्मृतियो की गणना करते हैं। स्मृतियो मे मुख्य रूप से तीन विषयो का विवेचन किया गया है—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित। आचार विभाग के अन्तर्गत चारो वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के कर्तव्यो और नियमो का निरूपण किया गया है। इनके अतिरिक्त राजाओ के कर्तव्य और प्रजा के प्रति उसका व्यवहार तथा दण्ड-विधान आदि विषयों का भी प्रतिपादन है। व्यवहार विभाग के अन्तर्गत न्याय तथा शासन का निरूपण किया गया है। उसमें दण्डविधान, साक्षी, शपथ, न्यायविधान तथा निर्णय के प्रकार, सम्पत्ति का विभाजन, उत्तराधिकार, सीमा का निर्णय और कर ग्रहण आदि विषयो का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार प्रायश्चित विभाग के अन्तर्गत नियमित धार्मिक कृत्यों को न करने तथा उनके विरुद्ध आचरण करने से जो पाप होता है, उसकी निवृत्ति के उपाय वर्णित हैं।

रामायण और महाभारत

साहित्य में 'रामायण' और 'महाभारत' की ख्याति महाकाव्यों के रूप में है, तथापि वे संस्कृत के काव्यों, महाकाव्यों, कथाओं तथा नाटक आदि विभिन्न विषयों के उपजीव्य भी रहे हैं। इसके अतिरिक्त उनमें भारत की पुरातन धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक परम्पराओं का भी समन्वय देखने को मिलता है। वे यद्यपि स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों में परिगणित नहीं होते हैं, तथापि परम्परा से वेदों तथा धर्मग्रन्थों की भाँति उनकी भी मान्यता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रकारों ने उनके मन्तव्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत कर, धर्म के क्षेत्र में उनकी उपादेयता को स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। 'रामायण' को कम, किन्तु 'महाभारत' को धर्मसूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने अनेक बार प्रामाणिकता से उद्धृत किया है। इन दोनों ग्रन्थों का धर्मशास्त्रकारों पर अत्यधिक प्रभाव रहा है।

'रामायण' के 'युद्धकाण्ड' (सर्ग १२८।१५०) में 'संहिता' नाम से कहा गया है। इस ग्रन्थ के अनेक काण्डों में धर्मविषय का विस्तार से उल्लेख किया गया है। उसके 'अयोध्या काण्ड' (सर्ग १००) तथा 'अरण्यकाण्ड' (सर्ग ३३) में राजनीति तथा विधि-सम्बन्धी व्यवस्थाओं का उल्लेख हुआ है। 'रामायण' का धर्मविषयक ग्रन्थों की कोटि में परिगणित होने का इससे अधिक प्रमाण दूसरा क्या हो सकता है कि स्वयं निबन्धकारों ने उसकी मान्यताओं को स्मृतियों की मान्यताओं की भाँति वरण किया है।

समस्त संस्कृत साहित्य में और भारतीय भाषाओं के वाङ्मय में जहाँ भी रामचरित का वर्णन हुआ है, उन सबका मूलस्रोत महामुनि वाल्मीकि की 'रामायण' ही रही है। जिस प्रकार पुराणकारों ने वैदिक-धर्म का सामाजीकरण करके उसे सर्वसामान्य के लिए सुलभ बनाया, उसी प्रकार महामुनि वाल्मीकि ने भी वैदिक भाषा का लौकिक भाषा में रूपान्तरण करके उसे जन मानस के लिए ग्राह्य बनाया। 'रामायण' लौकिक संस्कृत की प्रथम महान् कृति है और इसीलिए महामुनि को 'आदिकवि' का गौरव प्राप्त है। 'रामायण' के रूप में लौकिक संस्कृत प्रथम बार छन्दोमयी वाणी में अभिव्यक्त हुई। उसमें न केवल भावगाम्भीर्य की महनीयता है, अपितु तत्कालीन लोक-जीवन की धार्मिक निष्ठाओं की भी अभिव्यंजना हुई है।

अयोध्या के रघुवंशीय राजाओं के शासन की परमोच्च स्थिति श्रीराम के राज्यकाल में प्रकाश में आई। वे एक आदर्श पुरुष थे। उनके जीवन में

आदर्श पुत्र, आदर्श पति और आदर्श राजा के तीनो गुण समन्वित थे। उनका 'एकपत्नीव्रत' भी महनीय आदर्श था। पुरातन भारतीय क्षत्रिय शासको मे बहुपत्नीत्व की परम्परा प्रचलित थी। स्वय महाराजा दशरथ की तीन पत्नियाँ थी, किन्तु राम ने 'एकपत्नीव्रत' का पालन किया।

श्रीराम ने रावण तथा रावणी प्रवृत्तियो का ध्वस कर दक्षिण भारत से लेकर उत्तर भारत तक आर्य-सस्कृति और वैदिक-धर्म की पुन स्थापना की। वे विष्णु के सातवें अवतार थे, जिसके सम्बन्ध मे 'रामतापनीयोपनिषद्' से लेकर 'अध्यात्मरामायण' तक अनेक ग्रन्थो मे व्यापक चर्चाएँ हुई हैं। उनके जीवन मे ज्ञान कर्म, दोनो का समन्वय था। केवल ज्ञान और केवल कर्म अपूर्ण है। जीवन की सफलता के लिए कर्तव्य-निर्वाह की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि आत्मज्ञान की। उन दोनो के समन्वय से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है (ज्ञानकर्माभ्या जायते परमं पदम्)।

राम-राज्य अपने-आप मे धर्म का अनुपम उज्ज्वल उदाहरण था। 'रामायण' मे धर्मराज्य का साकार रूप देखने को मिलता है। रामायणकालीन समाज मे धर्म की परिपूर्णता का दिग्दर्शन हुआ है। इसलिए 'सहिता' के रूप मे प्रतिष्ठित 'रामायण' को एक धर्मग्रन्थ की मान्यता महामुनि वाल्मीकि स्वयं दे चुके थे।

'रामायण' की भाँति 'महाभारत' भी 'धर्मसहिता' के रूप मे प्रतिश्रुत है। 'महाभारत' के 'आदिपर्व' (२।८२) मे उसे 'धर्मशास्त्र' कहा गया है (धर्मशास्त्रमिद परम्)। उसके विभिन्न पर्वों मे धर्म तथा व्यवहार-सम्बन्धी निर्देशो का उल्लेख हुआ है। इसी कारण उसे 'सहिता' भी कहा गया है। 'महाभारत' अपने मूलरूप मे एक 'धर्मसहिता' है। परम्परा से धर्मशास्त्रीय ग्रन्थो मे निरूपित लोक-नियमन (अनुशासन), लोकाचार और लोक व्यवहार का प्रवर्तन 'महाभारत' से ही हुआ है। 'अनुशासन पर्व' मे विधि (कानून) का विस्तार से निरूपण किया गया है। परवर्ती धर्मशास्त्रीय ग्रन्थो मे 'महाभारत' के इसी विधि भाग का विस्तार से अनुगमन किया गया।

'महाभारत' मे धर्म-व्यवस्था के नीति-नियमो के अतिरिक्त पुरातन धार्मिक सम्प्रदायो का भी विवेचन देखने को मिलता है। इस महान् ग्रन्थ के निर्माण की मूल भावना वैदिक-धर्म का पुनरुत्थान करना था। ई० पूर्व ६००-५०० की अवधि मे भारत मे जिन नानाविध धर्मों का उदय हो चुका था, उनमे पाचरात्र, शैव, साख्य, वेदान्त, योग, लोकायत तथा जैन-बौद्ध धर्मों का नाम प्रमुख है। वैदिक परम्परा के विरोध मे जिस लोकायत धर्म का उदय हुआ और जिसके प्रमुख प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति तथा महामुनि जाबालि

हुए, उसका पक्षपात जैन तथा बौद्ध धर्मों ने किया। यद्यपि जैन बौद्ध धर्मों की लोकायत मत से कुछ अंशों में भिन्नता है, तथापि वैदिक धर्म के विरोध में ये सभी एकमत रहे। चार्वाक, महावीर तथा बुद्ध के विचारों का प्रभाव समाज में बढ़ता जा रहा था। वेदों एवं वैदिक यज्ञों का विरोध करना उन सभी धर्म-शाखाओं का मुख्य लक्ष्य बन गया था। जैन-बौद्ध धर्म, लोकायत मत से इस अर्थ में भिन्नता रखते थे कि वे वैदिक परम्परा के चातुर्वर्ण्य संस्था के विरोधी नहीं थे, अपितु उनके नैतिक नियमों के परिपालन के समर्थक थे।

'महाभारत' से ज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा के धर्मों या मतों की भी दो शाखाएँ थीं—*निरीश्वरवादी और ईश्वरवादी। वेदान्त तथा सांख्य निरीश्वरवादी थे और पांचरात्र तथा पाशुपत ईश्वरवादी थे। निरीश्वरवादी होने पर भी वेदान्त तथा सांख्य मत नास्तिक नहीं थे, अपितु वेदसम्मत थे।* विष्णु की आराधना करनेवाले पांचरात्र और शिव की आराधना करनेवाले पाशुपत थे। लोकायतों और जैन-बौद्धों वैदिक मत की पुनःस्थापना में सूतवंश का योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने पांचरात्र तथा पाशुपत मतों में सामंजस्य स्थापित कर उनके उपादेय सिद्धान्तों को जन-मानस में प्रचारित किया। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की उपासना को सहज एवं श्रेयस्कर बताते हुए उनका ऐक्य स्थापित किया। सूतवंशीय विचारक वेदान्त तथा सांख्य को पाशुपत मत के निकट लाये। इस प्रकार 'महाभारत' की महानता इसमें भी है कि वह सहज ही में तत्कालीन वैदिक मतों का एकमात्र संहिता ग्रन्थ बन गया। महाभारत-कार की यह घोषणा कि 'जहाँ धर्म है, वहीं जय है' (यतो धर्मस्ततो जय), वैदिक धर्म के विजय की सूचक है।

'महाभारत' में अध्यात्म-लाभ के लिए शरीर शुद्धि आवश्यक बतलाई है। विभिन्न पुण्यदाई तिथियों पर व्रत तथा उपवास करने पर शरीर शुद्धि होती है। निष्काम भाव से प्रणव (ओंकार) के जप-ध्यान से सर्वोत्तम फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। ब्रह्मलोक को प्राप्त करने के लिए आचार या सदाचार का आचरण करना बताया गया है। आचार, धर्म का एक अभिन्न अंग है। सत्य, सरलता, परोपकार, अहिंसा और इन्द्रिय निग्रह का परिपालन करना ही 'सदाचार' है।

'महाभारत' की अपनी एक अनन्य विशेषता है। भारत का वह प्रथम राष्ट्रकाव्य है। उसमें इस विशाल एवं पुरातन देश की परम्परागत गौरवगाथा का मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। महाभारतकार कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने इस महान् देश 'भारत' की गरिमा का व्याख्यान करते हुए अर्जुन से कहा है—

हे भारत, अब मैं तुम्हें इस महान् भारत राष्ट्र का यशोगान सुनाता हूँ। वह देश देवराज इन्द्र को प्रिय है। वैवस्वत मनु पृथु तथा इक्ष्वाकु आदि कीर्तिशाली महापुरुषों ने इस देश में जन्म लिया। ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचकुन्द, उशीनरपुत्र, शिवि, ऋषभ, ऐल, नृग, कुशिक, गाधि, सोमक और दिलीप आदि रघुवंशीय यशस्वी राजाओं ने इस पर शासन किया—

'अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्'॥

इस प्रकार भारत में धर्म-स्थापना और धर्म के आचरण एवं परिपालन में 'रामायण' तथा 'महाभारत' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। धर्म, न्याय, सदाचार तथा नैतिक उत्थान की भारतीय परम्परा का आधार भी ये दोनों ग्रन्थ रहे हैं। भारत की जो सार्वभौम उदात्त परम्पराएँ थी, मानव-समाज में उनकी स्थापना का कार्य भी इन्हीं दोनों ग्रन्थों ने किया। इस महान् राष्ट्र के अस्तित्व की थाती को उन्होंने सदा ही उज्जीवित तथा प्राणवान् बनाये रखा। राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में आज भी ये दोनों महान् एवं विशाल ग्रन्थ भारत के ज्ञान-गौरव को अक्षुण्ण बनाये हुये हैं। धर्मसंहिताओं के रूप में आज भी वे सम्मान्य एवं प्रतिष्ठित है।

(दो)

धर्म का सामान्य परिचय

१. धर्म का स्वरूप
२. भक्ति का स्वरूप और विकास
३. धार्मिक सम्प्रदाय
४. पुरातन भारतीय शासकों की धर्मानुरागिता

धर्म का रूप

धर्म मनुष्य की एक सार्वभौम अपरिहार्य भावना है। उसने मनुष्य को हित कल्याण एव श्रेय की ओर अग्रसर किया है। भारतीय दृष्टिकोण से धर्म का अपना अलग महत्त्व है। भारत को धर्मप्राण देश कहा जाता है। उसका सारा अस्तित्व धर्म के अस्तित्व पर आधारित है। इस दृष्टि से भारत मे धर्म की अपनी विशेष परिकल्पना एव परम्परा है। भारतीय धर्म चिन्तको ने समस्त चराचर चेतन तथा जड जितने भी पदार्थ हैं, उन सबका अस्तित्व धर्म के अस्तित्व पर आधारित माना है। ससार मे प्रत्येक पदार्थ की जो आन्तरिक विधायक वृत्ति है, वही उसका धर्म है। प्रत्येक पदार्थ जिस वृत्ति पर आधारित होता है, वही उस पदार्थ का धर्म है। धर्म की वृद्धि से प्रत्येक पदार्थ का सवर्द्धन होता है और धर्म की न्यूनता से प्रत्येक पदार्थ का ह्रास होता है।

वेदो से लेकर, वैदिक साहित्य, महाभारत, पुराणो और स्मृतियो के धर्मचिन्तको ने 'धर्म' के स्वरूप का किस रूप मे प्रतिपादन किया है, वह विचारणीय है। ऋग्वेद मे अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनमे धर्म का उल्लेख हुआ है, किन्तु उनका आशय असन्दिग्ध रूप से ज्ञात नही होता है। कही तो 'धर्म' शब्द का प्रयोग पुल्लिग मे और कही नपुसकलिंग मे हुआ है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओ (यथा, १।२२।१८, ५।२६।६ और ७।४३।२४ आदि) मे 'धर्म' शब्द स्पष्टत धार्मिक क्रिया-कलापो या धार्मिक विधियो के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। कुछ ऋचाएँ ऐसी हैं (यथा—४।५२।३, ५।६३।७ ६।७०।१ तथा ३।३।१ आदि), जिनमे धर्म का नियम, सिद्धान्त व्यवस्था प्रचलन आदि का अर्थ ध्वनित होता है। इस रूप मे यह शब्द 'धृ' धातु के मूल अर्थ 'धारण करना', 'अवलम्ब देना' या 'पालन करना' अर्थ को प्रकट करता है (यथा—'द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विस्कभिते अजरे भूरिरेतसा')। ऋग्वेद के ये मत्र अथर्ववेद मे भी प्रयुक्त हुए हैं, जहाँ 'धर्म' के साथ 'धर्मन्' का भी प्रयोग हुआ मिलता है। वहाँ उसे धार्मिक क्रिया कलापो के रूप मे ग्रहण किया गया गया है। (यथा—'ऋत सत्य तपो राष्ट्र श्रमो धर्मस्य कर्म च'), 'वाजसनेय सहिता' (१०।२९ आदि) मे 'धर्म' शब्द का इसी अर्थ मे प्रयोग किया गया है।

सहिताओ के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थो मे 'धर्म' शब्द का प्रयोग बहुलता से

हुआ है, जो कि अधिक स्पष्ट एव उपादेय है। 'ऐतरेयब्राह्मण' (७।१७) मे उसे समस्त धार्मिक विषयो का पर्याय माना गया है। 'शतपथब्राह्मण' (१४।४।२।२६) मे कहा गया है कि 'धर्म भगवान् की देन है। वह राजाओ का राजा है। उससे अधिक शक्तिशाली दूसरा नही है। उसके आश्रय एव बल से अशक्त भी शक्तिशाली से अपना अधिकार प्राप्त कर लेता है'।

उपनिषद् यद्यपि मूलत तत्त्वविद्या के ग्रन्थ हैं, तथापि उनमे भी तत्त्वज्ञान के लिए धर्म की अपेक्षा स्वीकार की गई है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' (२।२३) मे धर्म को त्रिस्कन्धात्मक कहा गया है (त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति प्रथम, तप एवेति द्वितीय, ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीय)। प्रथम *स्कन्ध के अन्तर्गत गृहस्थ धर्म, द्वितीय के अन्तर्गत तापस धर्म (वानप्रस्थाश्रम)* और तृतीय के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य धर्म (ब्रह्मचर्याश्रम) का समावेश किया गया है, 'तैत्तिरीय उपनिषद्' (१।११) मे स्नातक ब्रह्मचारी को धर्मानुचरण (धर्मं चर) का उपदेश दिया गया है।

धर्मसूत्रो, *उनके व्याख्यान ग्रन्थो और स्मृतियो मे 'धर्म' का प्रयोग अधिक* व्यापक तथा स्पष्ट अर्थ मे किया गया है। वहाँ उसे न्यायिक व्यवस्था या विधान अथवा सहिता के रूप मे ग्रहण किया गया है। धर्मसूत्रो और स्मृतियो मे ही धर्म की विस्तार से व्याख्या की गई और आज के भारतीय समाज मे *धर्मानुशासन के जो विधि-विधान हैं, उनका दिग्दर्शन किया गया है।* 'मनुस्मृति' (१।२) मे कहा गया है कि 'मुनियो के आग्रह पर मनु ने उन्हे समस्त वर्ण धर्मों का उपदेश दिया' 'याज्ञवल्क्य स्मृति' (१।१) मे धर्म के मनु प्रोक्त धर्म-स्वरूप का यथावत् वर्णन किया है, धर्मशास्त्र के क्षेत्र मे ये दोनो स्मृतियाँ ऐसी हैं, जो आज भी लोकप्रचलित हैं और जिनमे प्रथम बार मानव समाज को धर्म की विधि-व्यवस्था मे आबद्ध किया गया है।

धर्मसूत्र तथा स्मृतियो के टीकाकारो एव निबधकारो ने धर्म के उत्तरोत्तर विकसित एव लोकव्याप्त स्वरूप को अपने-अपने ढग से प्रतिपादित किया है। 'मनुस्मृति' के टीकाकार मेधातिथि तथा गोविन्दराज और 'गौतम धर्मसूत्र' के व्याख्याता हरिदत्त ने स्मृतिकारो द्वारा प्रतिपादित धर्म के विभिन्न रूपो को उपनिबद्ध करके उसके पाँच प्रमुख विभाग किये हैं—१ वर्णधर्म, २ आश्रमधर्म, ३ वर्णाश्रमधर्म, ४ नैमित्तिकधर्म और ५ गुणधर्म। धर्म के इन विभागो की सूक्ष्म विवेचना भी उक्त टीकाकारो ने की है। इस प्रकार परम्परा से प्रवर्तित धर्म की प्रस्थापना मानव के विशेषाधिकारो, कर्तव्यो, नियमो और आचार-पद्धतियो के रूप मे हुई और उनको आज भी समाज मे मान्य समझा जाता है।

धर्म का लक्षण

धर्म के परम्परागत स्वरूप का उत्तरोत्तर ज्यो-ज्यो विकास होता गया, उसकी सीमा और उसके विधि-विधान उतने ही व्यापक होते गये। उसके परवर्ती व्याख्याताओ ने धर्म को प्रजाहित मे सन्निवेशित करके मत-मतान्तर से उसका व्याख्यान किया। 'महाभारत' मे धर्म के मूलस्वरूप के सम्बन्ध मे मौलिक विचार किया गया है। वहाँ (कर्णपर्व) धर्म की व्युत्पत्ति धारणार्थक 'धृ' धातु से मानी गई है। उसका लक्षण निश्चित करते हुए कहा गया है कि 'जिसको प्रजा धारण करती है और जिसके द्वारा समस्त प्रजा का धारण होता है, वही धर्म है'—

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा।
यस्माद्धारणसयुक्त स धर्म इति निश्चय॥

'मनुस्मृति' (२।१२) मे चार लक्षण बताये गये हैं, जिनके द्वारा धर्म की पहचान होती है, अथवा जिन पर धर्म आधारित है। ये चार लक्षण हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा का सन्तोष—

वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥

वेद और स्मृति, दोनो धर्मनिष्ठ भारतीय समाज की आस्थाओ एव विश्वासो के मूल आधार हैं, असन्दिग्ध, अपरिहार्य प्रमाण हैं। किन्तु सदाचार और आत्मतुष्टि अर्थात् परम्पराएँ और प्रत्येक व्यक्ति की आत्मचेतना, आत्मसाक्ष्य या नैतिकता और आत्मनिष्ठा समस्त विश्व के मानव-समाज के धार्मिक पाथेय हैं। श्रुति तथा स्मृतियो की मान्यताओ से असहमत एव विमुख चार्वाक्, जैन और बौद्ध आदि धर्मों मे भी सदाचार और आत्मतुष्टि या आत्मसाक्ष्य अथवा आत्मसन्तोष दोनो को स्वीकार किया है। इन अवैदिक धर्मों की सहिताओ मे भी 'मनुस्मृति' के उक्त सदाचार तथा आत्मचेतना पर बल दिया गया है।

धर्म के चतुर्विध लक्षणो या आधारो मे वेद अर्थात् श्रुति का प्रथम स्थान है। श्रुति मे किसी वर्ग विशेष, जाति विशेष तथा देशकाल विशेष के नीति-नियमो का निरूपण न होकर, वे एक ऐसे आत्मवेत्ता, प्रबुद्ध एव तप-तेज-सम्पन्न मनस्वियो के अनुभव, साक्षात्कृत विचारो का सकलन है, जो अनादि हैं और जिसमे मानवमगल तथा आत्महित का सार निहित है। स्मृतियो मे श्रुतियो की व्याख्या है और मानव-समाज की रक्षा-व्यवस्था तथा उसके उत्थान के लिए नीति-नियम वर्णित हैं। यह व्यापक मानव-समाज परस्पर अविरोधी एव अबाधक होकर अपनी-अपनी आस्थाओ तथा विश्वासो का,

अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक निष्ठाओ का परिपालन करता हुआ अभ्युदय की ओर अग्रसर है। उसको परम्परा से यह मान्यता प्राप्त है कि जहाँ श्रुति तथा स्मृति मे विरोध दिखाई दे, श्रुति निर्देश मान्य हैं।

समाज के वृहत्तम स्वरूप को उसकी विभिन्न मान्यताओ की दृष्टि मे रखकर अनेक वर्णो तथा आश्रमो मे प्रवेश करने और उनको स्थायित्व प्रदान करने वाले विधि तथा निषेध के नियम जिन ग्रन्थो मे वर्णित हैं, उन्हें स्मृतियाँ कहा गया है। ये नियम जिनको 'सस्कार' कहा जाता है, मनुष्य के जन्म धारण करने से लेकर मृत्युपर्यन्त हैं। इन सस्कारो का, साधारण मतान्तर या प्रकारान्तर से, समस्त भारत के जाति धर्मों के लोग पालन करते हैं। संस्कार मनुष्य मात्र को सयम तथा सत्यवृत्ति की ओर प्रवृत्त करते हैं। वर्णाश्रम धर्म शरीर तथा जीवात्मा को उत्तरोत्तर उन्नयन की ओर अग्रसर करता है। धर्मानुकूल कर्तव्यो मे निहित रहकर वर्णों तथा आश्रमो का मूल-ध्येय प्रशस्त होता है। धर्मानुकूल आचार ही 'सस्कार' है। सस्कारो के प्रतिपालन से जीवन का सर्वांगीण विकास होता है। सस्कार ही समाज के उन्नयन का मूल कारण हैं। अज्ञान, पाप, अन्याय तथा दुष्कृत आदि प्रवृत्तियाँ व्यक्ति तथा समाज के उन्नयन, उत्थान तथा विकास मे बाधक है। इसीलिए उन्हें 'अधर्म' कहा गया है और उनसे असपृक्त रहने का निर्देश किया गया है। इन अज्ञानादि दुष्ट प्रवृत्तियो का उन्मूलन शिक्षादि सस्कारो से होता है। उनका निर्देश एव नियमन स्मृतियाँ करती है।

स्मृतिकारो ने कर्तव्यो के अनुसार धर्म के अनेक विभागो का उल्लेख किया है, जिनमे मुख्य हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य और आपद्धर्म। जिनके न करने से पाप होता है। ऐसे अनिवार्य कर्तव्यो का सम्पादन ही 'नित्यधर्म' है। विशेष परिस्थितियो या अवसरो पर जिस धर्ममार्ग का अनुसरण किया जाता है, उसे 'नैमित्तिक धर्म' कहते हैं। किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए जिन कर्तव्यो का पालन किया जाता है, किन्तु जिनके न करने से कोई दोष नही होता है, उन्हे 'काम्यकर्म' कहा गया है। इसी प्रकार 'आपद्धर्म' उसे कहते है, जिसका अनुसरण सकटापन्न समय मे विवेकानुसार किया जाता है। किन्तु नियमानुकूलता उसमे भी अपेक्षित है।

कुछ विशेष परिस्थितियो मे, जब अपने वर्ण तथा आश्रम से विहित कर्तव्यों का पालन नही हो सकता है, उस परिस्थिति मे धर्मशास्त्र मे उसके विकल्प बताये गये हैं, जो कि शास्त्र विहित होने के कारण धर्मानुकूल है, उसे 'आपद्धर्म' कहा गया है। उदाहरण के लिए यदि ब्राह्मण पठन-पाठन-भजन आदि अपने नियमित कर्तव्यो का, विशेष परिस्थितियो के कारण निर्वाह

नहीं कर सकता है, तब वह क्षत्रिय के कर्तव्यों को अपना सकता है। किन्तु परिस्थिति विशेष के समाप्त हो जाने पर उसे 'आपद्धर्म' त्याग कर अपने नियमित वर्णाश्रम धर्म को अपना लेना चाहिए। जब धर्मराज युधिष्ठिर को आत्मीयों के सहार से वैराग्य उत्पन्न हो गया था, तब शर-शय्या पर पड़े भीष्म पितामह ने राजधर्म की व्याख्या करते हुए उन्हें 'आपद्धर्म' का उपदेश दिया था (शांति० ६८।३०, ६९।६)।

विश्व के सभी धर्मों और दर्शनों का एक ही अन्तिम लक्ष्य रहा है—नि श्रेयस् की प्राप्ति। नि श्रेयस्, अर्थात् अपवर्ग, मोक्ष अथवा सब प्रकार के त्रिविध दु खो-तापों की आत्यन्तिक निवृत्ति। ऐसी निवृत्ति, जिसके बाद कभी भी किसी भी प्रकार के दु खानुभव की आशका नहीं रह जाती है। महर्षि कणाद ने धर्म के इसी चरम लक्ष्य को 'वैशेषिकसूत्र' के प्रथम अध्याय में निरूपित करते हुए लिखा है—'जो सबको समान रूप से अभ्युदय की ओर ले जाये और सब को कल्याण का मार्ग दिखाये, वही धर्म है' (यतोऽभ्युदयानि -श्रेयससिद्धि स धर्म)। रहन-सहन तथा आचार-विचार की परिशुद्धता ही अभ्युदय है और सासारिक सुखों से जुड़े हुए दु खो के बन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाना ही नि श्रेयस् है। महर्षि कणाद का अभिमत है कि धर्माचरण से उत्पन्न द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा निष्पन्न जो तत्त्वज्ञान है, वही धर्म है और उसके आचरण से ही मोक्ष की उपलब्धि होती है।

मीमासादर्शन का मुख्य विषय धर्म का प्रतिपादन करना है। विभिन्न दर्शनों में धर्म की जो परिभाषाएँ निरूपित हैं और उनके सम्बन्ध में जो निर्देश दिये गये हैं, मीमासाकार जैमिनि ने उनका खण्डन कर धर्म की उस सार्वभौम सत्ता का निरूपण किया है, जो लोकातीत भी है और लोकगोचर भी। उन्होंने धर्म का लक्षण करते हुए लिखा है 'वेद के बोधित होने पर साक्षात् या फलोपलब्धि के द्वारा, जो अनर्थ से रहित और दृष्ट की सिद्धि करने वाला है, वही धर्म है'। मीमासाकार की दृष्टि से विविधार्थ रूप धर्म का प्रयोजन अनर्थ निवृत्ति और दृष्टसिद्धि है। वह अलौकिक, अदृष्ट होता हुआ भी लोकानुभव से *लौकिक एव दृष्ट भी है। उन्होंने वेद-विहित प्रेरणा के अर्थ में* धर्म का द्योतन करते हुए उसकी परिभाषा देते हुए लिखा है 'वेद-विहित अनुशासनों का पालन करना ही धर्म है' (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म)।

मीमासादर्शन में धर्म के तीन विशेषण बताये गये हैं—प्रयोजन, वेद-बोधिता और अर्थता। धर्म का प्रयोजन है अभ्युदय और नि श्रेयस् की सिद्धि। वेदबोधिता, अर्थात् विधि अर्थवाद तथा नामधेय उसके बोधक हैं। इसी प्रकार अर्थता, अर्थात् वह अनर्थरहित है। अनर्थता, अर्थात् हिंसा का प्रतियोगी ही

अर्थता है। इस अर्थता को स्पष्ट करने के लिए मीमांसाकार का अभिमत है कि किसी का अपघात करने के बाद धर्म का यह विधान नहीं है कि अमुक अनुष्ठान से उसकी दोष निवृत्ति या शुद्धि हो जाती है।

धर्म का प्रमाण

धर्म, क्योंकि अदृष्ट है, इन्द्रिय ग्राह्य विषय नहीं है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसे न तो सिद्ध किया जा सकता है और न जाना जा सकता है। जिन प्रमाणों से उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, मीमांसादर्शन में उनकी संख्या आठ बताई गई है, जिनके नाम हैं—१. विधि, २. अर्थवाद, ३ मंत्र, ५ आचार, ६ नभिधेय, ७. वाक्यशेष और ८ सामर्थ्य। ये आठों प्रमाण वेद पर आधारित हैं। अतः मीमांसादर्शन में धर्म की सिद्धि, उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेद को एक मात्र प्रामाण्य माना गया है।

धर्मज्ञान के लिए विधिज्ञान होना आवश्यक है। इसलिए वैदिक विधि-वाक्यों को धर्म का मूल बताया गया है। मीमांसा की दृष्टि से वेद नित्य, शाश्वत एवं अन्तिम प्रमाण हैं, और वैदिक विधियाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक जीवन के उन्नयन के साधन हैं। उनके निर्देशानुसार आचरण करना ही 'कर्तव्यता' है। कर्तव्यता के आचरण से हमें अकर्तव्यता का बोध स्वतः ही हो जाता है। कर्तव्यता का अनुसरण-पालन और अकर्तव्यता का परित्याग-अनासक्ति ही आर्यजीवन का सर्वोच्च लक्ष्य रहा है। इन दोनों का ज्ञान वैदिक विधि-वाक्यों में निहित है। वैदिक विधि-वाक्य समस्त मानव जगत् के कर्तव्यों और अनुशासनों के निरूपक हैं। किसके लिए क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य है, क्या ज्ञातव्य है, क्या अज्ञातव्य है, इनके मूलस्वरूप का बोध ही कर्तव्यता है।

मीमांसा में वेद के इसी कर्मभाग का विवेचन किया गया है। इन कर्मों का पालन-अनुसरण करना ही धर्माचरण है। कर्म तीन प्रकार के बताये गये हैं—काम्य, प्रतिषिद्ध और नैमित्तिक। स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से किये गये कर्म 'काम्य', अनर्थकारी कर्मों का सर्वथा परित्याग 'प्रतिषिद्ध' और सन्ध्या-वन्दनादि, हवन श्रद्धादि अहेतुक कर्मों को नियमित रूप से करते रहना ही 'नैमित्तिक' है।

इन त्रिविध कर्मों का निष्ठापूर्वक परिपालन करने से स्वर्ग प्राप्ति तथा मोक्ष प्राप्ति होती है। निरतिशय सुख की अपरावस्था ही स्वर्ग है और परम नि श्रेयस् की स्थिति ही मोक्ष है। इनका अर्थ एवं परमार्थ, लौकिक एवं अलौकिक दोनों दृष्टियों से महत्व है। समस्त जागतिक प्रपंचों से आत्मा का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना ही 'मोक्ष' है।

धर्म की अनन्त शाखाएँ

मूल मानव सभ्यता के विकास के साथ धार्मिक विश्वासो की विभिन्न शाखाओ का उदय हुआ। इस पृथ्वी पर मनुष्य की उत्पत्ति काल से अब तक धर्म के जिन विभिन्न रूपो का विकास हुआ, उनकी ठीक सख्या का निर्धारण करना कठिन है। फिर भी इस विषय पर विद्वानो ने जो अभिमत प्रकट किये है, समस्त विश्व मे समय-समय पर जितने धार्मिक ग्रन्थो का उदय हुआ, उनकी अद्यावधि सख्या लगभग दस हजार से कम नही है। उनमे से लगभग एक हजार शाखाओ का अकेले भारत से सम्बन्ध रहा है। ये धर्म शाखाएँ अपने विभिन्न परिवेशो मे उदय और अस्त होती गई और इसलिए अधिकतर ऐसी हैं, जिनके जन्म तथा विकास का कोई इतिहास नही है। किन्तु सभ्यता के मूल स्रोतो से उनके अस्तित्व का पता चलता है।

भारत मे परम्परा से जिन धर्मों का उदय हुआ और उनमे से जितने धार्मिक मत मतान्तर विद्यमान है, उन सबकी मूल प्रवृत्तियो का आधार वेद रहा है। यहाँ तक कि स्वय को वेद भिन्न कहने वाले, लोकायतिक, जैन-बौद्ध आदि धर्मों की मूल विचारधाराओ का मूलस्रोत वेद ही रहे हैं। वैचारिक भिन्नता के कारण आस्तिक और नास्तिक के जो मतभेद हुए, वे बहुत बाद के हैं। जिस रूप मे उनकी मूल प्रवृत्तियाँ वेदो मे देखने को मिलती हैं, उस रूप मे वे इतनी विरोधी नही रही।

भारत मे जितने धर्मों का उदय हुआ, उन सबका विश्लेषण करना सभव नही है। किन्तु भारत के जन-मानस मे अपनी प्रौढ परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए जो धर्म शाखाएँ आज विद्यमान है, अथवा जो आज वर्तमान नही भी हैं, किन्तु जो अपने अस्तित्व के प्रमाण छोड गये हैं, उन सबका यथा-सभव सर्वांगीण परिचय देने का इस पुस्तक मे प्रयास किया गया है।

धर्म और कर्तव्यता

इस नाना नामरूपात्मक समष्टि का आधार धर्म है। समष्टि मे सचालित समस्त कर्म व्यापारो की शृखला धर्म से आबद्ध हैं। जितनी भी लौकिक धारणाएँ है, उन सबका सम्बन्ध धर्म से है, किन्तु धर्म का यह आशिक परिचय है। वास्तव मे धर्म लौकिक कर्तव्य शाखा मात्र नही है, यद्यपि उसमे कर्तव्य का भाव भी परिनिष्ठित है। वह सार्वभौमिक एव अविभाज्य है। हिन्दुओ, बौद्धो, वैष्णवो, शैवो तथा जैनो आदि सभी धर्मावलम्बियो के लिए वह समान है। भारत के सभी दार्शनिक मत तथा सम्प्रदाय धर्म के इसी स्वरूप को स्वीकार एव प्रतिपादित करते हैं।

धर्म एक सर्वोपरि निर्देश है, जो मनुष्य को कर्तव्य-पालन की ओर प्रवृत्त करता है। धर्म एक ऐसी कर्तव्य-भावना है, जो हमे ईश्वर के प्रति, अपने पूर्वजो के प्रति, माता पिता, स्त्री-बच्चो, सामाजिको, राष्ट्र के प्रति और वस्तुत समस्त प्राणि-जगत् के प्रति कर्तव्य-निर्वाह के लिए प्रेरित एव उन्मुख करती है। धर्म मनुष्य को ऐसे कर्मों के सम्पादन के लिए प्रवृत्त करता है, जिनमे स्वार्थभावना नही, अपितु परमार्थ-भावना निहित होती है। 'गीता' तथा उपनिषदो मे कहा गया है कि 'जो व्यक्ति नि स्वार्थ भाव से परम तत्त्व के निमित्त अपने समस्त कार्य अर्पित करके कर्तव्य-निष्ठ बना रहता है, वह भ्रमित नही होता, स्थिर बना रहता है।

उपनिषदो मे कहा गया है कि जो अन्य व्यक्ति को अपने भीतर और स्वय को दूसरे के भीतर समाहित कर देखता है वह शुद्ध अन्त करण वाला, राग द्वेष रहित, मोह-शोक रहित और विवेकी है। कुछ लोगो का मत है कि भाग्यवादी होने के कारण हिन्दू समाज मानवीय पुरुषार्थ के महत्व को स्वीकार नही करता है, किन्तु हिन्दुत्व की धारणा में पुरुषार्थ को धर्म पर आधारित माना गया है। हिन्दू दर्शन मे मनुष्य को अपने विहित कर्म को करने की पूरी स्वतत्रता है। इसलिए वह भाग्यवादी होता हुआ भी कर्तव्य-परायण होने के कारण अपने भाग्य का विधायक स्वय ही है। उसके भाग्यवाद मे कर्मवाद सहज रूप मे अनुस्यूत है। इस प्रकार कर्मानुस्यूत भाग्यवाद उसे उत्तरदायित्व के महान् आदर्श से सनिहित किये हुए है। इसलिए धर्म तथा कर्तव्य मे किसी प्रकार का विरोध नही है, अपितु धर्म मनुष्य को कर्तव्य की ओर प्रेरित करता है।

धर्म की सनातनता

धर्म को इतिहास की काल मर्यादा मे बाधना न तो सभव है और न उचित। वह अनादि और सनातन है। जैसे-जैसे मानव-सभ्यता-सस्कृति का उदय तथा विकास हुआ, और मनुष्य का धरती के विभिन्न अचलो मे प्रसार होता गया, उसके मन मे धर्मभावना का स्वत उदय हुआ। उसने अपने विश्वासो तथा परिस्थितियो के अनुसार धर्म की मर्यादाओ को स्वीकार किया।

अनादि काल से चले आ रहे धर्म को ही 'सनातन धर्म' कहा गया है। धर्म सदाभव, नित्य और निश्चल (अचल) है। वह अनादि काल से मानवता द्वारा वरण किया जाता रहा है। 'भगवद्गीता' मे उसे नित्य और अचल कहा गया है—'नित्य सर्वगतस्थाणुरचलोऽय सनातन'। ये दोनो विशेषण आत्मा (स्थाणु) के है, जिसका स्वभाव, प्रभाव और गुण-कर्म सनातन अविचल

और नित्य हैं। यही उसकी सनातनता है। जो धर्म और दर्शन आत्मा मे सन्निहित होकर चलते है, जिनमे आत्मा का स्वभाव तथा आत्मा की प्रकृति समन्वित होती है, उसी के द्वारा व्यक्ति और समाज का कल्याण तथा हित होता है। समस्त पुरातन वाङ्मय मे धर्म के महत्त्व पर विस्तार से विचार किया गया है। वेदो पुराणो और धर्मशास्त्रीय ग्रन्थो मे धर्म को मानव के हित और कल्याण का साधन कहा गया है। उसका आदि, मध्य और अन्त सभी कुछ कल्याणमय एव श्रेयस्कर है।

वर्तमान विश्व की जितनी भी अनन्त धर्म शाखाएँ हैं, उनका मूल स्रोत एक ही है और उसे ही *'सनातन'* कहा गया है। बाद मे कुछ लोगो ने 'सनातन' को एक धर्म विशेष मे सीमित करके प्रचारित किया। किन्तु धर्म की सनातनता का उसे पर्याय तथा आशय नही माना जा सकता है।

धर्म की अलौकिकता

अलौकिक उसे कहते हैं, जो लौकिक नही है। लौकिक वस्तु वह है, जो सर्वसाधारण द्वारा देखी जा सकती है, अथवा जिसका अनुमान लगा कर पता किया जा सके। अपने अनुभव, प्रयोग तथा आँख आदि इन्द्रियो से जिस वस्तु के अच्छे-बुरे गुणो और छोटे-बडे आदि धर्मों को जाना जा सके, वे वस्तुएँ लौकिक हैं। इसके विपरीत अनुभव-प्रयोग तथा इन्द्रिय आदि के द्वारा जिन वस्तुओ का प्रत्यक्ष नही किया जा सकता, वे अलौकिक हैं। आत्मा, ईश्वर, पूर्वजन्म, स्वर्ग, अपवर्ग और मोक्ष आदि धर्मशास्त्रो मे प्रतिपादित विषय अनुभव-प्रयोग-ग्राह्य न होने के कारण अलौकिक हैं। जिनकी दृष्टि दिव्य हो चुकी है और जो त्रिकालज्ञ ऋषि, महात्मा, योगी, पैगम्बर और अवतार आदि हुए हैं, उन्होने अलौकिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है, वही सत्य है और उसी को 'धर्म' कहा गया है। धर्म की यही अलौकिकता है। सर्वतोभावेन श्रेयस्कर होने के कारण मानवता के लिए धर्माचरण आवश्यक बताया गया है।

धर्म का निर्धारण

शिष्टो के विचार ही धर्म के मूल हैं। यदि धर्म के सम्बन्ध मे कोई सशय उत्पन्न हो, अर्थात् यदि देश, काल, परिस्थिति ऐसी उत्पन्न हो जाये कि जिसके समाधान या निर्णय के लिए प्राचीन धर्मग्रन्थो, या श्रुतियो तथा स्मृतियो की व्यवस्था चरितार्थ न हो, तो शिष्ट ब्राह्मण सम्यक् विचार करके जो निर्णय दें, उसे ही निरतिशय रूप मे, आशका रहित होकर धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए—

'य शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयु स धर्म स्यादशकित'।

शिष्ट ब्राह्मण के सम्बन्ध मे मनु ने कहा है—जो इतिहास पुराणो के सहित धर्ममूलक वेदो के ज्ञाता हो और जिन्होने वेदोक्त धर्म-कर्म ज्ञान को अपने जीवन मे चरितार्थ या प्रत्यक्ष किया हो, उन्हे शिष्ट समझना चाहिए—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेद सपरिबृहण ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेया श्रुतिप्रत्यक्षहेतव ॥

इतिहास पुराणो का ज्ञाता इसलिए कहा गया है कि वे ही वेद के चक्षु हैं। उनको जाने बिना वेदार्थ ज्ञान नही हो सकता है। 'छान्दोग्य उपनिषद' मे उन्हें पञ्चम वेद कहा गया है, ऐसा बहुश्रुत ही शिष्ट है। बहुश्रुत इसलिए कहा गया है कि जो केवल एक शास्त्र को जानता है, वह अल्पज्ञ या अल्पश्रुत है (नह्येकमेव शास्त्र जानान किञ्चिदपि शास्त्र जानाति)। इसलिए जो समस्त विद्याओ तथा शास्त्रो का ज्ञाता है, वही बहुश्रुत, अथच शिष्ट है। विश्व का कोई भी राष्ट्र इसी प्रकार के शिष्टो द्वारा वरण किये गये धर्म, अर्थात् कायदे-कानून, नीति नियम (आम्नाय) पर जीवित होता है। इसलिए किसी भी राष्ट्र की स्थिरता के लिए कानूनो या नियमो की व्यवस्था आवश्यक है। विश्व के पुरातन धार्मिक इतिहास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि धर्म की स्थापना का कार्य राजपुरुष (शासक) के हाथो न होकर शिष्ट जनो के द्वारा होती आयी है। 'शारीरकभाष्य' (१।३।२५) मे लिखा है—'अधिकारी भेद से धर्मभेद होता है। देश, काल और निमित्त के भेद से धर्मभेद होता है। जिस स्थान पर खडे होकर हम देखते हैं, उस स्थान के बदल जाने से हमारी दर्शन दृष्टि (दृश्यरूप) परिवर्तित हो जाती है। एक देश, काल, पात्र, निमित्त और कर्म के विशेष से एक व्यक्ति के लिए जो धर्म है, दूसरे व्यक्ति के लिए देश, काल, पात्र, निमित्त और कर्म के विशेष से वह अधर्म है' (यस्मिन् देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति)।

इसी प्रकार की विशेष परिस्थितियो मे धर्म की अवधारणा के लिए धर्माचार्यों ने समयानुकूल नयी व्यवस्था दी है। 'याज्ञवल्क्यस्मृति' मे कहा गया है कि देश, काल आदि की दृष्टि से मनुष्य आवश्यकतानुसार धर्म का निर्धारण कर सकता है। वेद पर प्रतिष्ठित जो धर्म है, उसके ज्ञाता चार व्यक्तियो या सांगोपाग तीन वेदो के ज्ञाता जनो की परिषद्, अथवा एक ही अध्यात्मवेत्ता ब्रह्मनिष्ठ जो भी निर्णय कर दे, उसी को धर्म मानना चाहिए—

चत्वारो वेदधर्मज्ञा पर्षत् त्रैविद्यमेव च ।
सा ब्रूते य स धर्म स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तम ॥

'शिष्ट' की इस अवधारणा के अनुसार यदि आज के समाज में धर्म-व्यवस्था या धर्म निर्णय का आचरण किया जाये, तो अनेक समस्याएँ स्वयमेव सुलझ सकती हैं। आज के समाज में धर्माचरण तथा धर्म-निर्धारण की दृष्टि में भले ही परिवर्तन अवलक्षित हो, किन्तु सर्व धर्म-समन्वय की शाश्वत स्थिति तभी लाई जा सकती है, जब धर्म के निर्धारण करने वाले शिष्टों का आदर-सम्मान हो।

धर्म के उपादान

सांसारिक वस्तुओं को उनकी आकृति या स्वरूप से पहचाना जाता है। उसकी आकृति या स्वरूप के निर्धारक उसके अंग-उपांग हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी भी वस्तु के परिचयात्मक ज्ञान के साधन, चिह्न या लक्षण ही उनके उपादान हैं। 'मनुस्मृति' और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' में धर्म के परि-चायक दस लक्षणों या उपादानों के नाम हैं—१ धैर्य, २ क्षमा, ३ दम, ४ अस्तेय, ५. शौच, ६ इन्द्रिय निग्रह, ७. धी (शास्त्रज्ञान), ८ विद्या, ९ सत्य और १० अक्रोध।

(१) धैर्य—अनेक प्रकार की बाधाओं के उपस्थित होने पर भी आरम्भ किये गये किसी कार्य को अटल विश्वास के साथ पूरा करना ही 'धैर्य' है। धैर्य मनुष्य के साहस, उत्साह और सफलता का कारण है। ऐसे धैर्यवान् पुरुषों को 'श्रेष्ठ पुरुष' या 'पुरुषसिंह' कहा गया है। वे न तो निन्दा से घबराते हैं, न प्रशंसा से विचलित होते हैं और सम्पत्ति तथा विपत्ति में समुद्र की भाँति गंभीर तथा पर्वत की भाँति अचल बने रहते हैं। धर्म जिस मार्ग का निर्देश करता है, उस पर अग्रसर होने वाले व्यक्ति ही धैर्यवान् हैं।

(२) क्षमा—सुख-दुःख, हर्ष विषाद और मानापमान को समरस होकर अमृत के घूंट की भाँति पी जाना ही 'क्षमा' है। क्षमा, विवशता नहीं है। किसी बलवान् के सम्मुख निर्बलता के कारण अपमान सहकर चुप हो जाना क्षमा नहीं है। क्षमा में उदारता का भी भाव निहित है। बलवान् निर्बल के प्रति, विद्वान् मूर्ख के प्रति और धनवान् निर्धन के प्रति उदारता का आचरण करके उनके अपराधों को सहन कर लेते हैं, वे क्षमाशील हैं। क्षमा, सत्पुरुषों का आभूषण है। क्षमाशील लोगों के शत्रु भी एक बार मित्र बन जाते हैं। महापुरुषों के महान् गुण 'क्षमा' को इसीलिए धर्म का एक उपादान कहा गया है।

(३) दम—मन, इन्द्रियों का स्वामी है और इन्द्रियों तथा आत्मा के बीच का माध्यम है। उस पर नियंत्रण रखना ही 'दम' है। दम का आश्रय

लेकर ही योगी योगाभ्यास कर सकता है, कवि काव्यसृष्टि कर सकता है, चित्रकार चित्र बना सकता है और विद्यार्थी विद्या की प्राप्ति कर सकता है।

शरीर के भीतर विद्यमान यह मन जीवों का परम शत्रु है। उस पर नियन्त्रण रखना असहज है। वह इतना चचल, हठी और बलवान् है कि वायु को भी वश मे किया जा सकता है, किन्तु मन को नही, इस मन की चचलता से अविवेक की सृष्टि होती है। उस पर निग्रह करने के लिए श्रीकृष्ण ने 'गीता' (६।३४) मे अर्जुन को अनेक उपाय बताये थे। निग्रही पुरुष को शान्ति, सुख, आनन्द और अभ्युदय की उपलब्धि होती है। इसी हेतु 'दम' को धर्म का उपादान कहा गया है।

(४) अस्तेय—धर्म मे एकनिष्ठ होकर अपनी जीविका को चलाते हुए प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से किसी की भी कोई वस्तु को न चुराना ही 'अस्तेय' है। चोरी मनुष्य तब करता है, जब वह निर्धारित कर्तव्यो के प्रति विमुख हो जाता है। चारो वर्णों और आश्रमो के लिए जो कर्तव्य निश्चित किये गये है, जब कोई उनका उल्लघन करता है, तो वह चोरी करता है। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष दोनो अवस्थाओ मे निर्धारित कर्तव्यो की अवहेलना स्पष्ट चोरी है। जो वस्तु अपनी नही है, उस पर अपना अधिकार स्थापित करना भी चोरी है। जो जिस योग्य नही है, अनुचित साधनो द्वारा अपने को उस योग्य बताना भी चोरी के अन्तर्गत है।

धर्म तथा न्याय से अर्जित वस्तु ही अपनी है। वह भले ही अपर्याप्त हो, किन्तु उसी से सन्तोष करना चाहिए। चोरी से ली गयी अधिक वस्तु बुरी है। वह अनिष्टो तथा कष्टो की जननी और प्राणो की घातक है। धर्म की दृष्टि से चोरी स्पष्ट अन्याय है और अन्याय से उपार्जित वस्तु वस्तुत अन्याय का ही कारण होती है। इसलिए मनुष्य न्याय, सच्चाई तथा निष्ठा से धर्म पूर्वक अर्जित वस्तु का ही उपयोग करे।

(५) शौच—सर्वतोभावेन विशुद्धावस्था का नाम 'शौच' है। वह दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर। शरीर वस्त्र, निवास, भोजन तथा व्यवहार का सम्बन्ध बाह्य शौच से है। इन्द्रिय, मन, अन्त करण और बुद्धि की पवित्रता आभ्यन्तर शुद्धि है। बाह्य शुद्धि जल, मृत्तिका, साबुन, गोबर, गोमूत्र तथा गगाजल आदि के सेवन से होती है और आभ्यन्तर शुद्धि के साधन हैं अध्ययन, तप और ज्ञान।

नित्य के व्यावहारिक जीवन मे भी यह देखने तथा अनुभव करने को मिलता है कि स्नान तथा व्यायाम करने से शरीर के सभी अग पुष्ट एव स्वस्थ रहते हैं, सत्साहित्य का अध्ययन, सत्पुरुषो का ससर्ग और तपश्चरण

शरीरेन्द्रिय, मन आदि की मलीनता को क्षीण कर देते हैं। इसलिए धर्माचरण के लिए जीवन में शौच का व्यवहार करना आवश्यक है।

(६) इन्द्रिय-निग्रह—इन्द्रियों को विचलित न होने देना, स्ववश में रखना ही 'इन्द्रिय-निग्रह' है। ये इन्द्रियाँ संख्या में दस हैं पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय। पाँच कर्मेन्द्रियों के नाम हैं—मुख, हस्त, पाद, मलद्वार और जननेन्द्रिय। इसी प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियों के नाम हैं—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा।

पाँच कर्मेन्द्रियों के क्रमशः कार्य हैं—मुख से बोलना, हाथ से किसी वस्तु को लेना या कोई कार्य करना, पैर से चलना, मलद्वार से मलत्याग करना और जननेन्द्रिय से कुलरक्षा के लिए सन्तान को उत्पन्न करना। इन कर्मेन्द्रियों के निग्रह का लक्ष्य यह है कि मुख से ऐसी वाणी का प्रयोग किया जाये, जो सुनने वाले को अच्छी लगे। हाथों द्वारा ऐसे कार्य किये जाने चाहिए, जो स्वयं और अन्य के लिए हितकर हों, पैरों से ऐसे स्थानों का गमन करना चाहिए, जो श्रेय-धर्म के विधायक हों, मलद्वार से नित्यप्रति नियमित रूप से मलत्याग करने से पाचन-क्रिया ठीक रहे तथा स्वास्थ्यलाभ हो, और जननेन्द्रिय से उतनी ही सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए, जो कुलरक्षा के लिए यथेष्ट हो और जिनका पालन-पोषण किया जा सके तथा जिनको शिक्षा दी जा सके।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों—आँख, जीभ, नाक, त्वचा और कान से क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है। ये पाँचों ज्ञान क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश में रहते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के बिना मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति नहीं हो सकती है। आँखों से भली बुरी वस्तुओं को देखना, जिह्वा से कड़वे-मीठे पदार्थों का स्वाद लेना, नासिका से सुगन्ध-दुर्गन्ध का अनुभव करना, त्वचा से कोमल कठोर वस्तुओं का स्पर्श करना और कान से कोमल-कठोर शब्दों को सुनना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय है। ज्ञानेन्द्रियों को इन विषयों में लिप्त होने से रोकना और उन्हें ईश्वरोन्मुख करना ही 'इन्द्रिय निग्रह' है। इन्द्रियों की यह वश्यता इस प्रकार हो कि जिससे वे यथानुकूल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अर्जन में लगी रहें।

(७) धी—बुद्धि, विवेक का शास्त्रज्ञान ही 'धी' है। जीवों में मनुष्य की वरिष्ठता का कारण यह है कि उसमें बुद्धि या विवेक रहता है, वह कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय कर सकता है। वह व्यक्ति बुद्धिमान है, जो स्वयं सुखी रहकर दूसरों के सुख का ध्यान रखता है। जो बात अपने लिए हितकर तथा कल्याणकर है, वही दूसरों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हो सकती है। 'अपने लोगों के साथ उदारता, दूसरों पर दया, बुरों के साथ शठता, सज्जनों के

साथ प्रेम, दुष्टों के साथ अभिमान, विद्वानों के साथ विनयशीलता, शत्रुओं के साथ धूरता, बड़ों के साथ क्षमा और स्त्रियों के साथ चातुर्य—इस प्रकार के व्यवहार कुशल लोग ही वास्तव मे बुद्धिमान हैं।

एक अन्य नीतिश्लोक में कहा गया है कि 'परिपक्व अन्न, बुद्धिमान बालक, भली भाँति सिखायी गयी स्त्री, अच्छी तरह प्रसन्न किया हुआ राजा, सोच विचार से की गई बात और ठोक पीट कर किया गया कार्य— ये सभी चिरकाल तक स्थिर रहते हैं'। अतएव बुद्धिबल के लिए धर्म के इस उपादान का सम्यक् आचरण करना चाहिए।

(८) विद्या—ज्ञान ही 'विद्या' है। संसार की जितनी भी प्रत्यक्ष परोक्ष वस्तुऐं हैं, उनको ज्ञानोपलब्धि विद्या से ही सम्भव है। विद्या, मनुष्य का तृतीय नेत्र कहा गया है, जिसका आश्रय गुरु है। भारतीय संस्कृति में गुरुजनों को तभी इतना आदर दिया गया है। वस्तुतः गुरु ही दूसरे जन्म के प्रदाता हैं। इसलिए विद्योपार्जन के लिए माता पिता-गुरु, इस त्रयी की आज्ञाओं का परिपालन अनिवार्य बताया गया है।

हमारे नीतिकारों ने सांसारिक धर्म का प्रतीक मानकर उसकी सदाशयता तथा मानवोपदेयता के सम्बन्ध मे भी ललित बातें कही हैं। कहा गया है कि विद्या ही माता की तरह हमारी रक्षा करती है, पिता की तरह हित में योजित करती है पत्नी की तरह खेद को दूर कर मनोरंजन करती है और धन सम्पत्ति प्रदान कर लोक में यश बढ़ाती है। इसीलिए विद्या को धर्म का एक उपादान माना गया है।

(९) सत्य—जिस बात को जैसे पढ़ा जाये, देखा जाये या सुना जाये, उसका ठीक वैसा ही आचरण करना 'सत्य' है। भारतीय धर्म सत्य पर अधिष्ठित रहा है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०।८५) मे कहा गया है कि 'जिस प्रकार द्यु लोक को सूर्य ने धारण किया हुआ है, उसी प्रकार इस पृथ्वी लोक को सत्य ने धारण किया हुआ है (सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः)। वेदों में सत्य का संरक्षण करना आवश्यक बताया गया है। 'असत्य का परित्याग और सत्य का आचरण करने वाले पुरुष ही सच्चे अर्थों में ज्ञानी तथा विद्वान् हैं'।

सत्य ही श्रेष्ठ धर्म और श्रेष्ठ ज्ञान है। वह आत्मा और बुद्धि का प्रकाशक है। जो सत्यवादी है। उसी के अन्तःकरण में ईश्वर का निवास है, क्योंकि ईश्वर सत्यस्वरूप है।

सत्य धर्ममूलक है। 'रामायण' (अयोध्याकाण्ड, सर्ग ११२, ११८) मे महामुनि जाबालि ने राम को जो भौतिकवादी उपदेश दिया था, उसको

अस्वीकार करते हुए राम ने सत्य की महिमा को सर्वोपरि स्थापित करते हुए कहा है—'हे महामुनि, सच्चरित्र ही मनुष्य की कुलीनता-अकुलीनता, पवित्रता-अपवित्रता और वीरता-कायरता का मूल है। प्राणिमात्र पर दया करने वाला सनातन राजधर्म ही सत्य है। राज्य और लोक दोनो सत्य पर आधारित हैं। ऋषियों तथा देवताओं ने सत्य को ही कल्याणप्रद माना है। सत्य ही इस लोक मे अक्षय ब्रह्मलोक को देने वाला है। लोक मे धर्म की पूर्ति सत्य से ही होती है। अतः सत्य ही धर्म का मूल है। यही ईश्वर है। इस समस्त ससार का मूल सत्य (ईश्वर) ही है। अतः सत्य से बढकर दूसरा पद नही है। मैं सत्य-प्रतिज्ञ हूँ और अविचल भाव से पिता के सत्य वचन का पालन करूँगा। जो मनुष्य अपनी प्रतिज्ञा का पालन नही करता, वह धर्मच्युत है और ऐसा चचल मनुष्य यदि देवता और पिता को द्रव्य दान करता है, तो वह व्यर्थ जाता है'।

अपनी सत्य-प्रतिज्ञा के सम्बन्ध मे राम ने इसी सन्दर्भ मे कहा है—'लक्ष्मी चन्द्रमा को भले ही छोड दे, हिमालय अपनी शीतलता का परित्याग कर दे और समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लघन कर दे, किन्तु मैं अपने पिता के वचन पालन की प्रतिज्ञा को नही त्याग सकता हूँ'—

लक्ष्मीचन्द्रादयेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

(१०) अक्रोध—क्रोध का अविनाभाव से परित्याग ही 'अक्रोध' है। जैनधर्म मे क्रोध की गणना 'कषायो' मे की गयी है और उसके द्वारा उत्पन्न दुष्परिणामो पर गभीरता से विचार किया गया है। 'गीता' मे कहा गया है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छह मानसिक विकारो पर जिसने विजय प्राप्त कर ली है, उसने वस्तुतः स्वय को और सारे विश्व पर विजय प्राप्त कर ली है। किन्तु जो मनुष्य इन छह विकारो मे से किसी एक के भी वश मे है, निश्चित ही वह सकट मे है।

क्रोध एक ऐसा अभिशाप है, जिसके वश मे होकर मनुष्य सर्वस्व भूल बैठता है। उसके विचाराविचार की सारी शक्ति एव समस्त विवेक क्षीण हो जाता है। विवेक या विचारशक्ति के क्षीण हो जाने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उस अवस्था मे मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है। इसलिए क्रोध पर सदा नियन्त्रण रखना चाहिए और ऐसा तभी सभव है, जब मनुष्य धर्ममय जीवन को अगीकार कर ले।

धर्म की आवश्यकता

इस ससार म प्रत्यक्ष रूप से यह देखा गया है कि प्रत्येक विवेक बुद्धि-

सम्पन्न मनुष्य के जीवन का एक मात्र लक्ष्य होता है—उत्तम सुख की प्राप्ति। ससार का यह सामान्य नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति सुख की इच्छा करता है और दु ख की अनिच्छा। समस्त इच्छा-अनिच्छादि कार्य व्यापारो का केन्द्र हमारा मन या चित्त है। इस ससार मे हम जो कुछ देखते है, सुनते हैं और जानते हैं उसका प्रभाव हमारे चित्त या मनोन्द्रिय पर पडता है। जो बात चित्तवृत्ति के अनुकूल होती है उससे सुख और उसके विपरीत होने पर दु ख की अनुभूति होती है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन की अनुकूलता-प्रतिकूलता ही सुख-दु ख के कारण हैं।

मनुष्य सुखोपलब्धि के लिए धन, वैभव, यौवन, पुत्र, कलत्र आदि की अभिलाषा करता है, किन्तु ये सभी सुखोपलब्धि के साधन क्षणिक होने के कारण अन्तत दु खकारक हैं। ये सुखाभास मात्र हैं सुखसत्य नही। वस्तुत सुख भी दु ख की भाँति चित्त का एक विकार है। विकाररहित चित्त मे जिस प्रकार दु ख का, उसी प्रकार सुख का भी कोई महत्त्व नही है। किन्तु इतनी परमोच्चावस्था प्राप्त करने के लिए, चित्त की सर्वथा निर्मलता के लिए, सुख-दु ख के कारणो का विश्लेषण करना आवश्यक है। जिन उपायो से सुख-दु ख के हेतुओ का विश्लेषण तथा अभिज्ञान होता है, उन उपायो की समष्टि का नाम ही 'धर्म' है।

अतएव चित्त की निम्नावस्था को स्वाध्याय, आचार, अनुशासन, अभ्यास द्वारा दूर करने के उद्योग से मानव जाति मे धर्म की आवश्यकता हुई। सुख-दु खातीत चित्त की परमोच्च अवस्था ही मोक्ष है। जिसे प्राप्त करने के लिए आप्तो या शिष्टो द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है।

धर्म के शास्त्रीय निर्देशो एव उसकी अनुज्ञाओ की प्रयोजनीयता आज के वैज्ञानिक युग मे सकटापन्न मानव जीवन की सुरक्षा के लिए और भी अधिक आवश्यक हो गई है। सुविदित है कि इस समय हम परिवर्तन एव सक्रमण के युग से गुजर रहे हैं। मानवीय एकता की एक नई धारणा के युग मे जी रहे हैं। हमारे जीवन मे, व्यवहार मे और दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन की स्थिति व्याप्त है। विश्व मानवता का बढता हुआ सताप, असन्तोष विश्व को राजनीतिक रूप मे तो छिन्न-भिन्न कर ही रहा है, भावनात्मक रूप मे भी विविधता के बिखराव को जन्म दे रहा है। इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि हम सजग जीवन्त भावना को प्राप्त कर युग की विघटनकारी प्रवृत्तियो पर रोक लगायें। हमें अपने मृतरूपो को छोडने और नये जीवन्त आदर्शों की रचना करने के लिए उद्यत होना चाहिए, यह तभी सभव है, जब हम धर्म की अहमियत को जाने, स्वीकार करें।

यद्यपि विज्ञान और धर्म, दोनो मानवीय प्रतिष्ठा के बोध को बढावा देने वाले साधन हैं, तथापि हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हमे प्रतिष्ठा की जगह अस्थिरता एव सुरक्षा की अपेक्षा विनाश की ओर ले जा रही हैं। यदि हमे आशा की भूमि का निर्णय करना है, तो हमे अपने वर्तमान भौतिक प्रयत्नो की विनाशोन्मुखता को जान लेना आवश्यक है। यह वैज्ञानिक प्रगति हमे असुरक्षा के अविश्वास के एक भयावह युग मे ढकेल रही है। यदि हमे इस भयावह विनाशकारी निरर्थकता से मानवता को त्राण दिलाना है, तो विश्व मे सार्वभौम, शान्तिपूर्ण सह् अस्तित्व की पुन स्थापना करने के लिए धर्म की उस शक्ति को उजागर करना होगा, जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानव जाति को अनुशासित किया जा सकता है।

यह धार्मिक आस्था एव विश्वास ही मानवता को बढते हुए भौतिक सकट से बचा सकते हैं। विश्व मे जितने भी हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, जरायुश्र, यहूदी आदि धर्म हैं, वे आज इस केन्द्रबिन्दु पर एकमत हैं कि यदि उनको विरोध, वैमनस्य, आलोचना और तर्क का रास्ता छोडकर विश्व की सामाजिक प्रगति का सशक्त आधार बनना है, तो मानव समाज मे आस्था तथा विश्वास का वातावरण उजागर करना होगा। इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे यदि हम विचरण करें, तो बीते हुए युग-युगान्तरो मे धर्म की इस प्रयोजनीयता का प्रमाण हम स्वत ही प्राप्त कर लेगें।

विश्व की समस्त मानवता एक है और यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि उसका उत्स भी अभिन्न है तथा उसकी नियति मे भी कोई अन्तर नही है। उसकी नैतिकता, आध्यात्मिक आकाक्षाऐं समान है। पूर्व-पश्चिम शब्द तो आपेक्षिक हैं, भौगोलिक हैं, वे परम्परागत सास्कृतिक मान-मूल्यो के वाहक अथवा पर्याय नही हैं। किसी भी देश की भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रगतियाँ तो काल-सापेक्ष कही जा सकती हैं, किन्तु सभी युगो तथा कालो मे मानव-अन्तस् मे एकरस होकर बहने वाली अजस्रधारा तो धर्म की ही रही है। यद्यपि उसका ठीक यही रूप नही रहा जो कि आज है, और इसलिए अपने परिवर्तित रूप मे, समस्त मानवता के निर्माण, रचना, विकास और उत्थान के लिए धर्म ही एक मात्र आधार बन सकता है। सम्पूर्ण विश्व मे सार्वभौम शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की स्थापना धर्म के द्वारा ही सभव हो सकती है। बिखराव की शून्य मे भटकती हुई मानवता और अस्तित्व एव वर्चस्व के अभिमान मे तथा विनाश की होड मे बढते हुए उन्मत्त विश्व को अनुशासनबद्ध करने का, स्वर्णिम भविष्य को आभा से प्रदीप्त करने का *एकमात्र आधार या साधन 'धर्म' ही है।*

इसलिए अतीत के सभी युगो मे, वर्तमान मे और कालान्तर मे भी मानव सभ्यता की सुन्दरतम उपलब्धियो, थातियो की पहचान और उनकी सुरक्षा धर्मानुशासन से ही सभव है। अतीत की भाँति आज भी हमे धर्म की आवश्यकता है।

धर्म का लक्ष्य

विश्व मे जितने भी धर्म-प्रवर्तक आचार्य तथा महापुरुष हुए हैं, उन्होने लोकहित के लिए अपने-अपने दृष्टिकोण से धर्म-संहिता का निर्धारण किया है। मानव समाज को धर्माचरण क्यो करना चाहिए और धर्माचरण के प्रति पालन का लक्ष्य क्या है, इस सम्बन्ध मे विभिन्न धर्मवेत्ताओ ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' मे देव-स्थान मुनि द्वारा महाराज युधिष्ठिर को जिस उत्तम धर्म का उपदेश दिया गया था और धर्म का लक्ष्य समझाया गया था, उसका साराश इस प्रकार है—'किसी भी प्राणी से द्रोह न करके जिस धर्म का पालन होता है, वही साधु पुरुषो के मत से उत्तम धर्म है। किसी से द्रोह न करना, सत्य भाषण करना, समस्त प्राणियो को उनका यथायोग्य भाग देना, सभी के लिए हृदय मे दया-भाव रखना, मन तथा इन्द्रियो का समन्वय बनाये रखना, चारित्रिक शुद्धता पर ध्यान रखना और लज्जा, मर्यादा एव गम्भीरता आदि गुणो को ग्रहण करना—यही 'श्रेष्ठ धर्म' है'। इस श्रेष्ठ धर्म का प्रतिपादन स्वायम्भुव मनु ने 'मनुस्मृति' मे किया है और उसी का व्याख्यान धर्मराज युधिष्ठिर ने 'महाभारत' मे किया है।

जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी और तथागत बुद्ध ने धर्म के उक्त लक्ष्य को अपने जीवन मे उतारा और साथ ही उसे जन जीवन मे भी चरितार्थ किया। महावीर स्वामी ने धर्म के परम लक्ष्य के सम्बन्ध मे लोगो से कहा—'हे मनुष्यो, किसी भी प्राणी, किसी भी जीव और किसी भी सत्त्व को न तो मारना चाहिए, न किसी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहिए, और न किसी का भी अनिष्ट करना चाहिए। यही शुद्ध, सत्य और शाश्वत धर्म है'।

इसी प्रकार जैनाचार्य गुणभद्र ने कहा—'धर्म सुख और कल्याण का हेतु है। कारण कभी भी कार्य का विनाशक नही होता है। इसलिए धर्म के परिपालन से आनन्द मे बाधा उत्पन्न होगी, ऐसा तुम्हे सोचना भी नही चाहिए'।

धर्म के इसी मानव मगलकारी लक्ष्य की ओर निर्देश करते हुए तथागत बुद्ध ने कहा है—'हे भिक्षुओ, तुम लोक मे ऐसे धर्म का उपदेश करो, जिसके आदि, मध्य और अन्त मे कल्याण ही कल्याण निहित हो'।

धर्म के अन्य भी लक्ष्य या उद्देश्य हैं, आधुनिक विश्व मे बढती हुई वैज्ञानिक होड को कम करने मे जिनकी उपादेयता और भी बढ जाती है। प्रभुत्व की स्थापना के लिए घृणा तथा हिंसा का जो वातावरण व्याप्त है, उसका प्रतिरोध प्रेम, अहिंसा तथा शान्ति से ही किया जा सकता है। जातीय हठधर्मिता, अधिकारो की भूख और अह का अभिमान—इन दु साध्य समस्याओ को धर्म की सार्वभौम भावना ही मिटा सकती है। डाक्टर राधाकृष्णन् का अभिमत है कि '*धर्म का उद्देश्य इस विश्व की विभाजित चेतना*, कलहो और द्वन्द्वो से हमे उपर उठाकर सामरस्य, स्वतन्त्रता और प्रेम की दुनिया विकसित करने मे हमारी मदद करता है'।

धर्म को निजी वस्तु मानकर तथा दलगत या वर्गगत समस्याओ को उससे जोड कर जो धर्मनेता अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं, वस्तुत वे धर्म को धोखा देने के कारणस्वरूप हैं। धार्मिक उपद्रवो, हस्तक्षेपो, अत्याचारो, कट्टरताओ और दलबन्दियो ने धर्म के इतिहास के पृष्ठो को कलकित किया है। जमीन और अन्न के लिए लडना, विभाजन, निष्कासन तथा राष्ट्रीय विसण्डन के लिए हिंसा का आश्रय लेना, बल का प्रयोग करना धर्म की सार्वभौमिकता पर कालिख पोतना है। स्वय को श्रेष्ठ मानकर धर्म के नाम पर दूसरे की आस्थाओ को नकार देना, धर्म के उच्चादर्शों, उसकी सनातन सत्ता को मिटा देना है। नैतिक आचरणो का त्याग कर धर्म के नाम पर समाज के बिखराव या अलगाव की कुचेष्टाओ का एक दिन ऐसा परिणाम होना भी सभव है कि कदाचित् धर्म ही न रहे। उस अधार्मिक, अनैतिक मानव समाज की क्या मान्यताएँ होगी, इस भयावहता का अनुमान लगाना कठिन न होगा।

इसलिए यदि संसार को बचाना है, मानवता की रक्षा करनी है, मानव निर्माण शत-सहस्त्रो पूर्व की धरोहर की रक्षा करनी है, तो धर्म की चेतना को उजागर करना होगा। इसके अतिरिक्त दूसरा विकल्प नही है।

धर्म की दुनिया मे आस्था का बहुत बडा महत्त्व है। आस्था स्वयसिद्ध होती है। ऐसी वस्तु जो न कभी देखी गई है और न जानी गई है, उसके प्रति विश्वास करना ही आस्था है। हम आस्थाओ के सहारे जीते हैं। आस्था जितनी शक्तिशाली और गहरी होती जाती है, मनुष्य मे उतनी ही विनम्रता आती रहती है और अज्ञानजनित अस्थिरताएँ क्षीण होती रहती हैं तथा सत्य उतना ही स्पष्ट होता जाता है। आस्था मनुष्य को विवेक तथा तत्त्वज्ञान की ओर अग्रसर करती है।

धर्म का लक्ष्य सुख की प्राप्ति नहीं है, अपितु परिपूर्णता का विकास करना है। धर्म का लक्ष्य संसार को विकसित करना है और विकास के मार्ग में संघर्षों, कष्टों तथा पीड़ाओं का होना स्वाभाविक है। संघर्ष हमें अपनी अज्ञानताओं तथा अन्तर्विरोधों की समझ देते हैं और उस स्थिति में हम निर्माण की ओर बढ़ते हैं। अतः धर्म का लक्ष्य या उद्देश्य मानवता का निर्माण करना है।

धर्म का महत्त्व

समस्त पुरातन वाङ्मय में धर्म के महत्त्व पर विस्तार से विचार किया गया है। *वेदों, पुराणों और धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में धर्म को मानव के हित* और कल्याण का साधन बताया गया है। उसका आदि, मध्य और अन्त सभी कुछ कल्याणमय एवं श्रेयस्कर है। संसार में जितने भी सुख-दुःख, उत्थान-पतन और राग द्वेष हैं, सभी क्षणिक एवं अस्थिर हैं। यहाँ तक कि यह शरीर भी, जिसके लिए मनुष्य को सभी कुछ करना पड़ता है, वास्तव में *विनाशशील है। यदि मनुष्य के साथ सतत स्थिर रहने वाली कोई वस्तु* है, तो वह धर्म ही है। इसलिए शास्त्रकारों ने मानव मंगलकारी धर्म का परिपालन और उसका संरक्षण आवश्यक बताया है। धर्म ही मानव जगत् का रक्षक एवं पोषक है। उसके बिना *प्रत्येक व्यक्ति असुरक्षित और असहाय* है। मनु ने कहा है—'यदि हम धर्म को ही मार डालेंगे, तो धर्म भी हमें मार डालेगा, और यदि हम धर्म की रक्षा करेंगे, तो वह भी हमारी रक्षा करेगा।' अतः धर्म की अपने प्राणों से बढ़ कर रक्षा करनी चाहिए—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ मनु० ८।१५।

कौरव-पाण्डवों के संग्राम को शास्त्रों में धर्मयुद्ध कहा गया है, और *धर्म-समन्वित होने के कारण* 'महाभारत' को वीर या रौद्र रस का ग्रन्थ न मानकर शान्तिरस का ग्रन्थ माना गया है। 'महाभारत' को 'धर्मसंहिता' की मान्यता प्राप्त है। 'भगवद्गीता' (३।३५) में कहा गया है कि 'अपने *धर्म पर अडिग बने रहकर उसके परिपालन एवं आचरण में यदि निधन भी* हो जाये, तो वह श्रेयस्कर है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'।

सभी युगों और समस्त देशों के जन जीवन में धर्म का महत्त्व इसलिए भी है कि *वह नियम और अनुशासन है। इस अनुशासन से ही सृष्टि का संचालन* हो रहा है। सूर्य चन्द्र और दिन-रात की अखण्डता एवं नित्यता का आधार वही है। प्रत्येक व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की सुरक्षा-व्यवस्था नियमों के परिपालन से ही बनी रह सकती है। धर्म ही एक ऐसी सर्वहितकारी व्यवस्था है,

जिसके आदर्शों पर चलकर मनुष्य अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों का परिपालन करता हुआ अपना तथा मानवता का कल्याण करता है। धर्मानुष्ठान से ही जीवन में सदाचार का उदय होता है, और तब मनुष्य अपने से बड़ों का सम्मान तथा अपने से छोटों को स्नेह करना सीखता है। धर्म ही हमें निर्देश करता है कि परोपकार, ईश्वरभक्ति, राष्ट्रभक्ति, गुरुभक्ति और आतिथ्य क्या है और उसके शुभकर परिणाम क्या हैं।

धर्म की हमारे जीवन में व्यावहारिक उपादेयता है। वह शारीरिक उन्नति और उत्तम स्वास्थ्य का भी कारण है। उसकी आश्रम-व्यवस्था का एक प्रयोजन यह भी है। धर्म ही हमें संयम और आत्म-निग्रह की ओर प्रवृत्त करता है। वही हमारे मन, बुद्धि का परिष्कारक तथा आत्मतत्त्व का बोध कराने वाला है।

इस प्रकार धर्म मनुष्य की भौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों प्रकार की उन्नतियों का कारण है।

युगानुरूप परमधर्म आचार की स्थापना

भारतीय धर्म-संहिता में आचारों की श्रेष्ठता को बड़ा महत्त्व दिया गया है। पुराणकारों और धर्मशास्त्रकारों ने विशेष प्रयोजनवश आचारशास्त्र की स्वतंत्र रूप से व्याख्या की है। आर्यावर्त में प्रविष्ट आर्येतर जातियों को आर्य-संस्कृति में विलय करने के उद्देश्य से पुराणकारों ने 'युगधर्म' की नयी प्रस्थापना की। 'नारदपुराण' (२४।११) में स्पष्ट निर्देश किया गया है कि 'समस्त वर्णों को विचारपूर्वक युगधर्म का ग्रहण करना चाहिए और जिनका स्मृति धर्म से विरोध न हो, उन देशाचारों को भी अपनाना चाहिए'—

युगधर्मं परिग्राह्यो वर्णैरेतैर्यथोचितम्।
देशाचारस्तथा ग्राह्यः स्मृतिधर्माविरोधतः॥

देशाचाररहित लोकविहित युगधर्म का आचरण करना निंद्य है। जो अपने आचार से हीन है, वह सांगवेद और वेदांग में पारंगत होने पर भी पतित है, क्योंकि वह कर्म से हीन है—

यः स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदाङ्गोऽपि वा।
स एव पतितो ज्ञेयो यतः कर्मबहिष्कृतः॥ ना० पु०, २४।१२

आचारहीन व्यक्ति को हरि या हरिभक्ति अथवा वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं। जो अपने आश्रम तथा आचार से हीन है, वह निंद्य एवं पतित है। इस दृष्टि से आचारशास्त्र अपने-आप में एक स्वतन्त्र शास्त्र है और स्मृतिकारों ने इसी रूप में उसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है। उसे व्यवहार-दर्शन, नीतिदर्शन तथा नीतिविज्ञान (एथिक्स) आदि नामों से भी कहा

गया है। इस शास्त्र में मानव जीवन के परम श्रेय पर विचार किया गया है, जिसकी प्राप्ति के लिए शुभ कर्मों का सम्पादन और अशुभ कर्मों का परित्याग बताया गया है। आचारशास्त्र यह भी बताता है कि अनुष्ठानयोग्य शुभ कर्मों के सम्पादन का विधान क्या है। उसमें नैतिक आचरण की अनिवार्यता पर भी बल दिया गया है। नैतिकता का नियामक धर्म रहा है। नैतिक नियमों का पालन इसलिए किया जाता है कि वह धर्म को या ईश्वर को अभीष्ट है। कर्त्तव्यपालन ही इष्ट तथा साध्य वस्तु की प्राप्ति का उपाय है। इस दृष्टि से उसका सम्बन्ध आत्मोन्नति से है।

'आचार' लोक-सग्राहक धर्म का एक अंग है। प्राचीन धर्मविज्ञ आचार्यों द्वारा लोक सग्राहक धर्म को तीन भागों में विभक्त किया गया है—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। इसी रूप में स्मृतियों का विषय-विभाजन किया गया है। धर्म ग्रन्थों में इसलिए आचार को बड़ा महत्त्व दिया गया है। श्रुति तथा स्मृति के अनन्तर आचार को तीसरा स्थान दिया गया है। 'मनुस्मृति' (१।१०९) में कहा गया है कि 'आत्मानुभूतिजन्य विधि 'आचार' का द्विजों द्वारा अवश्य पालन किया जाना चाहिए।

स्मृतिकारों ने आचार के तीन विभाग किये हैं—'देशाचार, जात्याचार और कुलाचार। देश विशेष को दृष्टि में रखकर जो आचार परम्परा से प्रचलित हैं, उन्हें देशाचार' कहा जाता है। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में 'मातुल' कन्या से विवाह का प्रचलन है। जाति विशेष में जो आचार प्रचलित हैं उन्हें 'जात्याचार' कहा जाता है। उदाहरण के लिए कुछ जातियों में सगोत्र विवाह विहित होते आ रहे हैं। इसी प्रकार कुलविशेष में प्रचलित आचार 'कुलाचार' के नाम से कहा जाता है। उदाहरण के लिए कुछ आदिवासी कबीलों में कतिपय धार्मिक क्रियाओं की विशेष प्रथाएँ प्रचलित हैं।

'याज्ञवल्क्यस्मृति' में आचार के अन्तर्गत लगभग १२ विषयों का समावेश किया गया है—१ संस्कार, २ वेदपाठी ब्रह्मचारियों के चारित्रिक नियम, ३ विवाह एवं पत्नी के नियम, ४ चार वर्ण एवं वर्णसंकर, ५ ब्राह्मण गृहपति के कर्त्तव्य, ६ ब्रह्मचारी जीवन के उपरान्त करणीय कर्त्तव्य, ७ विधि-सम्मत भोजन एवं निषिद्ध भोजन, ८ धार्मिक पवित्रता, ९ श्राद्ध, १० गणपति पूजा, ११ ग्रहशान्ति और १२ राजा के कर्त्तव्य।

स्मृति ग्रन्थों में प्रचलित आचार के तीन विभागों से तन्त्र ग्रन्थों में सात विभाग किये हैं, ये सात आचार हैं—१ वेद, २ वैष्णव, ३ शैव, ४ दक्षिण, ५ वाम, ६ सिद्धान्त और ७ कुल। महाराष्ट्र में वैदिकों के वेदाचार, रामानुज तथा अन्यान्य वैष्णवों में वैष्णवाचार, शंकराचार्य के अनुयायी दाक्षिणात्य

शैवो मे दक्षिणाचार, वीरशैवो मे शैवाचार एव वीराचार और केरल के शाक्तो मे वीराचार, गौड देश के शाक्तो मे वामाचार, नेपाल के शाक्तो मे सिद्धान्ताचार और कामरूप के शाक्तो मे कौलाचार प्रचलित हैं। इन सात आचारो मे से अन्तिम चार आचारो को निन्दनीय कहा गया है। ये सप्तविध आचार देवयान, पितृयान और महायान के तीन कुलो के अन्तर्गत माने जाते हैं। शिष्ट या आप्त अथवा बहुमान्य व्यक्तियो द्वारा अनुमोदित विचारो को ही 'आचार' कहा गया हैं।

इस प्रकार परम धर्म आचार (आचार परमो धर्म) की विशेष रूप से व्यवस्था कर उदारवृत्ति धर्माचारियो ने आर्येतर जातियो को आर्यसघ मे सम्मिलित करके और उसके लिए युगानुरूप धर्म की सस्थापना करके सार्वभौम भावना का परिचय दिया है। धर्म को वर्ग विशेष एव जाति विशेष की परिधि तथा सीमा से उन्मुक्त कर परम धर्म आचार को सर्व सामान्य के लिए वरणीय बनाया गया है।

जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है

पाण्डवो के वनवास काल की 'महाभारत' (वन० ३१२-३१४) मे एक कथा आयी है। एक बार द्वैतवन में पाण्डवो को बडी प्यास लगी। बहुत भटकने पर भी उन्हे कही पानी नही मिला। अन्त मे धर्मराज युधिष्ठिर ने एक स्थान पर हरियाली देख कर नकुल को वहाँ पानी लाने के लिए भेजा। नकुल वहाँ गये और उन्होने पानी से भरा हुआ एक तालाब देखा। उस तालाब मे ज्यो ही वे पानी पीने के लिए उद्यत हुए, कि उन्हे यह आकाशवाणी सुनायी दी—'इस तालाब के पानी पर मेरा अधिकार है। पहले मेरे प्रश्नो का उत्तर दो, तब पानी पीओ।

किन्तु प्यास के कारण नकुल इतने व्याकुल थे कि आकाशवाणी पर ध्यान न देकर वे पानी पीने लगे। पानी का स्पर्श करते ही वे मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पडे। जब नकुल को गये बहुत विलम्ब हो गया, तो धर्मराज ने सहदेव को वहाँ भेजा, वे भी नकुल की भाँति मूर्च्छित होकर धरती पर गिरे। यही दशा क्रमश अर्जुन और भीम की हुई। अन्त मे धर्मराज स्वय वहाँ गये। चारो भाइयो को मृत पाया देखकर उन्होने बडा विलाप किया। परीक्षा हेतु जब वे पानी पीने के लिए तालाब मे गये, तो उन्हे भी वही वाणी सुनायी दी। उनके सम्मुख एक यक्ष खडा था।

धर्मराज ने यक्ष से प्रश्न करने के लिए कहा। यक्ष ने अनेक प्रश्न किये और धर्मराज ने उनका उत्तर दिया। जिज्ञासा की पूर्ति होने पर सन्तुष्ट होकर यक्ष ने कहा—'हे राजन्, आपने मेरे प्रश्नो का सही और सन्तोषजनक उत्तर

दिया है। इसलिए अपने मृत भाइयो मे जिस एक को आप चाहे, उसे मैं जीवित कर सकता हूँ।' इस पर युधिष्ठिर ने कहा—'कृपया मेरे कनिष्ठ भाई नकुल को जीवित कर दें।' यह सुनकर यक्ष ने आश्चर्यमिश्रित वाणी मे कहा—'राजन्, आप राज्यहीन होकर वन मे भटक रहे हैं। आपको शत्रुओ के साथ सग्राम करना है। अत आप अपने पराक्रमी भाई भीम या अर्जुन को जीवित करने की इच्छा प्रकट करें।'

इस पर धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—'हे यक्ष, वनवास का कष्ट और शत्रुओ के साथ सग्राम का विधान तो लगा ही हुआ है। किन्तु मनुष्य को धर्म से च्युत नही होना चाहिए। 'जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म स्वय उसकी रक्षा करता है' (धर्मो रक्षति रक्षित), कुन्ती और माद्री, दोनो मेरी माताएँ है, कुन्ती का पुत्र मैं जीवित हूँ। मेरी दूसरी माता माद्री का पुत्र भी जीवित रहे, इसलिए आप नकुल को ही जीवन-दान दीजिए।' यक्ष ने कहा—'धर्मराज, आप बडे उदार हैं। अत आपके चारों भाई जीवित हो जायें। मैं तुम्हारा पिता धर्म हूँ। तुम्हे देखने तथा तुम्हारे धर्म की परीक्षा लेने के लिए ही आया था।'

अन्त मे धर्म ने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। चारो मृत भाई जीवित हो गये।

धार्मिक स्वतन्त्रता का मूल मानवाधिकार

आधुनिक विश्व ने प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान किया है। धर्म के इस सुरक्षित अधिकार का सदुपयोग हम मानव चेतना के विकास के लिए कर सकते हैं। डॉक्टर राधाकृष्णन् ने लिखा है—'धर्म चरम सत्ता की प्रत्यक्ष समझ (बुद्धि) है। यह प्रकाशोद्भव की अवस्था की प्राप्ति है।' प्रकाशोद्भव की यह अवस्था ही 'भगवद्गीता' की 'समदृष्टि' है और इस प्रकार का समदृष्टि-सम्पन्न मानव ही व्यष्टि तथा समष्टि को नया आलोक दे सकता है। मानवता को नया आलोक देने वाले अनेक महापुरुष समय समय पर इस पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं और उन्होंने द्वन्द्वों तथा विषमताओ का निवारण कर इतिहास के पृष्ठो को उजागर किया है।

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में धार्मिक परम्परा का अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि ससार के हर हिस्से मे धार्मिक सघर्षों ने मनुष्यो के आपसी द्वन्द्वो को बढाया और असद्भाव के वातावरण को फैलाया। किन्तु आधुनिक विश्व पुरानी धार्मिक संकीर्णताओ की पुनरावृत्ति के पक्ष मे नही है। विश्व की सर्वोच्च सस्था सयुक्त राष्ट्रसघ ने १९४८ मे मानवाधिकारो के अपने घोषणा-पत्र मे प्रत्येक व्यक्ति को विचार, विवेक तथा धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार

दिया है। वह अपनी आस्था तथा धर्म को बदलने का अधिकारी है और उसके इस मौलिक अधिकार मे कोई भी हस्तक्षेप नही कर सकता। उसकी यह धार्मिक स्वतन्त्रता सविधान तथा कानून की दृष्टि मे सुरक्षित है। इस घोषणा-पत्र का यह सुप्रभाव अब अधिक दृढतर होता जा रहा है कि अलगाव की भावना शिथिल पडती जा रही है और आपसी आदर-भाव तथा सामजस्य का मार्ग प्रशस्त होता जा रहा है। इस आपसी मिलन से धर्मों की जीवनी शक्ति को अधिक बल मिला है। इस धार्मिक एकता ने विश्व मे प्रेम, करुणा तथा सहानुभूति के सम्बन्धो को बढाया है।

मानवता के मंगल मे धर्म का योगदान

प्रत्येक मनुष्य मे आज इस समझ की आवश्यकता तथा अपेक्षा है कि वह यह अवधारण करे कि धर्म आस्था की एक लीक मात्र नही है, एक ऐसी उद्देश्य रहित, अनपेक्ष्य प्रक्रिया नही है, जिसको हम आँख मूँद कर, मन-मस्तिष्क के कपाट बन्द कर, निर्वाह मात्र के लिए अपना कर चलें। बल्कि वह एक ऐसा अनुशासन है, जिसके सुनहरे तन्तुओ से विश्व समुदाय आबद्ध है। सेवा, त्याग, परोपकार, सहानुभूति और प्रेम—धर्मानुशासन के ये ऐसे आदर्श हैं, जो धर्म की उपज हैं तथा जिनको अपनाने से, चरितार्थ करने से, फैलाने से समस्त मानवता को एक सूत्र मे पिरोया जा सकता है। मानव-मगल के लिए, विश्व-कल्याण के लिए धर्म ही एकमात्र ऐसी अनन्य शक्ति है, जिसके द्वारा आशकाओ, द्वन्द्वो, भयो, अविश्वासो तथा सकटो से मानवता को सुरक्षा प्रदान की जा सकती है।

धर्म और अन्धविश्वास

इस पृथ्वी पर आदिम मानव-जीवन के विकास-क्रम का इतिहास विश्वासो एव अन्धविश्वासो से आरम्भ होता है। जब कि आदिमानव दर्शन तथा चिन्तन की दुरापदाओ से अपरिचित था, प्राकृतिक रहस्यो के प्रति उसकी उत्सुकता तब भी विद्यमान थी। ये उत्सुकताएँ ही उसके विश्वास थे। कुछ विश्वास तो उसमे परम्परा से थे और कुछ का प्रादुर्भाव उसने स्वय किया। उसने अपने मन मे एक ऐसी अदृष्ट शक्ति को स्वीकार कर लिया था, जो कि इस दृश्यमान् जगत् के मूल मे निहित है। जब ऋषिकुलो का उदय हुआ तो उन ज्ञानवान् महापुरुषो ने मानव के परम्परागत विश्वासो का सजोकर उन्हे कथाबद्ध किया और उनके द्वारा व्याप्त कौतूहलो का निवारण किया। ये पौराणिक गाथाएँ ही वस्तुत मानव-साहित्य की आदिम कृतियाँ है। इन गाथाओं मे ईश्वर, ससार, जीव, पाप-पुण्य, स्वर्ग नरक और लौकिक-पारलौकिक विषयो को प्रस्तुत किया गया है। भारत मे ही नही, अपितु ससार

के सभी धर्मों के इतिहास मे इस प्रकार की पौराणिक गाथाएँ मनुष्य की आदिम विश्वासो की सम्पदा हैं।

धर्म के अस्तित्व को लोकगोचर करने मे इन विश्वासो तथा अन्ध-विश्वासो का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तात्विक विश्लेषण की दृष्टि से विश्वासो तथा अन्धविश्वासो मे मौलिक अन्तर है। विश्वास हमे एक नियत अवधि या परिधि का अभिज्ञान कराके अभिज्ञात वस्तु मे हमारे मन को स्थिर कर देता है, जब कि अन्धविश्वास उस भावना-लोक के वाहक हैं, जो बुद्धि से अगोचर और अवधि परिधि रहित एव अनन्त हैं। मानव इतिहास मे इन अन्धविश्वासो ने ही विश्वासो की आधार-भूमि को प्रतिष्ठित किया है।

सृष्टि के उस काल मे जब मनुष्य इस धरती पर आया, तब उसके समक्ष एक साथ अनेक परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ उत्पन्न हुई। उसके जीवन क्रम को आगे बढाने मे वे परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ जिस रूप मे अनुकूल एव उपयोगी सिद्ध हुई, उनका उसने उसी रूप मे वरण या ग्रहण किया और उसके साथ अपने अनुभवों को जोड कर उसकी थाती आगे की पीढी को प्रदान की। प्रकृति के सहज धर्मों को, जिनसे वह सर्वथा अपरिचित था, उसने उन्हे असहज चमत्कारो तथा रहस्यो के रूप मे ग्रहण किया और उनके प्रति अपने मन मे एक दृढ धारणा बना ली। उसने वर्षा, तूफान, आँधी, रोग, व्याधि, उत्कापात आदि प्राकृतिक उद्भवो को अज्ञात एवं आकस्मिक घटनाओ का रूप दिया। दिन तथा रात और सूर्योदय तथा चन्द्रोदय की सहज नियति को भी उसने एक अदृष्ट विधान के रूप मे अपनाया। देवता, भूत प्रेत तथा तन्त्र मन्त्र आदि के प्रति उसके विश्वास सर्वथा कल्पित थे।

परम्परा से सचित अदृष्ट शक्तियो के प्रति उसके मन मे जो अज्ञात रूप तथा रहस्यो एव चमत्कारो का आतक था, उसके कारण उसने यह कल्पित किया कि वर्षा, उल्कापात, आँधी और तूफान आदि इन्द्र देवता के द्वारा सृष्ट है। इसी प्रकार समस्त रोगो तथा व्याधियो के कारण भूत प्रेत हैं। उनके उपशमन के लिए उसने तंत्र मत्रो को अपनाया। मारण, मोहन, उच्चाटन तथा वशीकरण के प्रयोगो द्वारा मनुष्य ने अपने अनिष्टो तथा अपकारो का समाधान खोज निकाला। इस तरह मनुष्य के मन मे यह आस्था सुदृढ हुई कि तन्त्र मन्त्र, टोना टोटका के प्रयोग के बिना अनिष्टो तथा आपदाओ को दूर नही किया जा सकता। यह प्रवृति यहाँ तक बढी कि कृषि-कर्म रोग निदान, सन्तति-लाभ, आयु-वृद्धि और शत्रु-पराजय आदि अनेक कार्यों की सिद्धि-उपलब्धि के लिए तंत्र मन्त्रो को एकमात्र हेतु या उपाय माना जाने लगा।

मानव ने अपनी आदिम अवस्था में उक्त प्रकार के जिन चमत्कारो, रहस्यो, आतको और भयो को एक सर्वोपरि अदृष्ट नियति के रूप मे स्वीकार किया, वे ही कालान्तर मे अन्धविश्वासो की कोटि में रखे गये। इन अन्ध विश्वासो का उदय मनुष्य के जन्म के साथ ही हुआ। ये अन्धविश्वास मनुष्य के कल्पित एव स्वय-कृत ऐसे अनुभव हैं जो अलिखित रूप मे ही आगे की परम्परा को प्राप्त होते रहे। परम्परा के द्वारा वे ऐसे भौतिक मान्य विधान हैं, जिनका उल्लघन करने पर भी कोई दण्ड-व्यवस्था नही है। वे देवताओ से भी पूर्व के और धर्म से भी पुरातन हैं।

अन्धविश्वासो की यह परम्परा सभी युगो मे एक जैसी नही रही। परिस्थितियो के अध्ययन-अनुभव द्वारा जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान-तन्तुओ का विकास होता गया, वैसे-वैसे वह अनेक स्वकल्पित आशकाओ तथा अज्ञात भयो की वास्तविकता को समझता गया और इस रूप मे बहुत काल से सजोये हुए अपने काल्पनिक बौद्धिक भार से हल्का होता गया। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता के विकास के साथ-साथ यद्यपि परम्परागत अन्धविश्वासो मे भी कमी होती गई, तथापि आज के जन जीवन मे उसका प्रचलन एव प्रसार यथावत् देखने को मिलता है।

इन अन्धविश्वासो का अस्तित्व आज के समाज मे रहस्यमयी दैवी शक्तियो, शकुन-अपशकुन, जादू-टोना और झाड फूँक आदि विभिन्न रूपो मे विद्यमान है। समाज मे उनको बनाये रखने, फैलाने, उत्तरोत्तर बढाने के लिए कुछ नीहित स्वार्थी लोग उत्तरदायी हैं। उनमे जादूगर, ओझा और पुरोहित प्रमुख हैं। अपने हितो एव स्वार्थों की सिद्ध के लिए उन्होने राक्षसी शक्तियो की अपराजेयता को, प्रेतात्माओ के अस्तित्व को और दैवी प्रकोपो को सृष्टि का अनिवार्य विधान बताकर परोक्ष रूप से उन्हे अपने व्यवसाय का साधन बना लिया। इस प्रकार परम्परागत अज्ञानजनित भयो एव सर्वथा कल्पित घटना-क्रमो के आतको को नये-नये कारणो से परिच्छन्न करके समाज को भ्रमित किया हुआ है। इन्ही अन्धविश्वासो के कारण आज भी समाज के अनेक वर्गों मे देवो को नया अन्न भेंट चढाये बिना नयी फसल के अन्न को ग्रहण करना निषिद्ध माना जाता है। उसके उल्लघन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाले अनिष्टो के भय की पहले ही व्यवस्था कर दी गई है। आज भी यह देखा जाता है कि जगल को प्रेतात्माओ की अनिष्ट निवृत्ति और मृत पुरखो की इष्ट सिद्धि के लिए मुर्गियो, कबूतरो और बकरो आदि पशु-पक्षियो की बलि चढाई जाती है। इन रहस्यमयी दैवी शक्तियों के प्रकोप-शान्ति के लिए अनेक तान्त्रिक उपाय किये जाते हैं। समस्त प्रकार की रोग-व्याधियों का

उपाय झाड फूँक है। इसी प्रकार जादू टोना, मारण मोहन उच्चाटन का भय दिखा कर समाज को आतंकित करने के लिए अफवाहो का वातावरण बना दिया गया है।

इन अन्धविश्वासो के कारण समाज मे अनेक प्रकार की कुप्रथाओ का उदय हुआ। पौराणिक युग ने उनको प्रोत्साहित कर उनकी लोकप्रियता को बढाया, जिसके फलस्वरूप आज के जन-जीवन मे उनके प्रभाव की रेखाएँ इतनी गहरी हैं कि उन्हें सहज ही मिटाया नही जा सकता है। उदाहरण के तौर पर भील जाति के लोग आज भी अपनी निर्धनता तथा भुखमरी को एक पुराण-कथा मे कहे गये अभिशाप को स्वाभाविक नियति के रूप मे स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के अन्धविश्वासो से अधिकतर ऐसा समाज ग्रसित है जो निम्न तथा अनुन्नत है। उन्होंने परम्परागत कल्पित विश्वासो को नियति-प्रदत्त अनिवार्य सामाजिक विधानो के रूप मे स्वीकार कर लिया है, जिनके उल्लघन के लिए पचायत द्वारा नियत किये गये दण्ड को भुगतना पडता है।

अन्धविश्वासो के इन परम्परागत अलिखित, किन्तु मौखिक रूप से स्वीकृत विधानो ने समाज मे एक ओर जहाँ रूढियो एव कुप्रथाओ का प्रसार किया है, वही दूसरी ओर उनके द्वारा सामाजिक नियन्त्रण और नैतिकता की स्थापना को भी बल मिला है। उनके द्वारा अनेक पारिवारिक मर्यादाओ की प्रतिष्ठा एव रक्षा हुई। उदाहरण के लिए बगाल की कुछ उच्च जातियो मे भानजी की छाया से दूर रहने के परम्परागत विश्वास का आज भी परिपालन होता है। इसी कल्पित विश्वास का परिणाम है कि जहाँ एक ओर देवर भाभी के सम्बन्ध सामाजिक सीमाओ का उल्लघन कर जाते हैं, वही दूसरी ओर जेठ के प्रति बहू के सदा ही श्रद्धेय एव सम्मानजनक सम्बन्ध बने रहते हैं।

ये अन्धविश्वास समाज के कुछ वर्गों मे अपनी विचित्रता के कारण विनोद एव मनोरजन के साधन भी बने हुए हैं। उदाहरण के लिए राँची (बिहार) के ओरॉवा किसानो मे यह प्रथा है कि उनकी स्त्रियाँ हल को हाथ नही लगाती। यदि भूल से कदाचित ऐसा हो जाये, तो उन्हे उसका प्रायश्चित करना पडता है। इसके ठीक विपरीत खडिया जाति की स्त्रियाँ कन्धे पर हल रखकर उसे खेत पर ले जाती हैं और खेतो को जोतती हैं।

इसी प्रकार की एक अन्धविश्वास-जनित प्रथा दक्षिण भारत मे त्रिवाकुर के अस्पृश्य होलिया जाति के लोगो मे प्रचलित है। वे स्वय अस्पृश्य होते हुए भी किसी ब्राह्मण का स्पर्श अपने लिए अहितकर एव अनिष्टसूचक मानते हैं। जब कोई ब्राह्मण उनकी बस्ती मे प्रवेश करता है तो वे झाड, जूतो तथा गोबर मिले पानी से उसका स्वागत करते हैं, जिससे कि उसके आगमन के

अनिष्टो से बचा जा सके। इससे अधिक आश्चर्य तब होता है, जब आगन्तुक ब्राह्मण भी इस स्वागत सत्कार को सहज विधान के रूप मे स्वीकार करता है।

इस प्रकार इन अन्धविश्वास-जनित परम्पराओ का प्रभाव न केवल मानसिक आस्थाओ के रूप मे, अपितु व्यावहारिक क्षेत्र मे भी परिलक्षित हुआ। इसका इतिहास अत्यन्त पुरातन है। उदाहरण के तौर पर प्रागैतिहासिक (Pre-historic) और पुरैतिहासिक (Proto-historic) महत्त्व के स्थानो के उत्खननो से ऐसी विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, जिसके आधार पर विद्वानो ने सहज ही यह निष्कर्ष निकाला कि आदिम मानव समाज अन्धविश्वासो के माया-जाल से कितना अधिक घिरा हुआ था।

अन्धविश्वासो का यह मायाजाल, चूँकि मनुष्य जन्म के साथ ही उदित हुआ, अत उसका प्रभाव न केवल भारत मे अपितु विश्व के सभी देशो मे अपने-अपने ढग से प्रचलित है। यद्यपि उसका प्रभाव अनुन्नत, अविकसित राष्ट्रो तथा आदिम जातियो मे ही विशेष रूप से व्याप्त है, फिर भी विश्व के प्रबुद्ध, सुविकसित एव उन्नत समाज मे भी उसका प्रत्यक्ष-परोक्ष अस्तित्व देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए एक अग्रेज अपनी प्रात कालीन चाय की प्याली मे उठे हुए बुलबुलो के आधार पर अपने दिन भरके शकुन-अपशकुनो की मीमासा करता हुआ पाया जाता है। सीढी के नीचे चलने से बचता है। इसी प्रकार कार्य सिद्धि के लिए घर से बाहर निकलते हुए अपने मन मे किसी प्रतीक को कल्पित कर लेता है। अत अशिक्षितो ने ही नही, शिक्षितो ने भी उन्हे किसी-न-किसी रूप मे अपनाया हुआ है।

इन अन्धविश्वासो ने भाग्यवाद को जन्म दिया। जो जितना अधिक महत्त्वाकाक्षी तथा प्रबुद्ध है, वह अपनी भाग्योपलब्धि के लिए उतने ही अधिक क्रिया-कलापो तथा उपायो की चिन्ता मे व्यस्त दिखायी देता है। भाग्यवाद के रूप मे अन्धविश्वास आज के वैज्ञानिक युग मे सर्वथा सत्य का आवरण धारण किये हुए है और कभी-कभी उसने कर्त्तव्यता के सिद्धान्त को भी पीछे कर दिया है।

इन अन्धविश्वासो को आज के सामाजिक जीवन मे जिस रूप मे ग्रहण किया जाता हो तथा उनका जो भी महत्त्व हो—इतना तो निश्चित है कि उनके द्वारा मानव-सस्कृति की विरासत को आगे बढने मे मदद मिली। इन अन्धविश्वासो ने आदिमानव को मर्यादाओ मे आबद्ध किया और उनके भय, आतक तथा अवश्यम्भाविता ने मनुष्य को एक ओर तो आत्मरक्षा के साधनो को जुटाने मे प्रवृत्त किया और दूसरी ओर उनमे विभिन्न उल्लासमय सामूहिक आयोजनो की सृष्टि की। आदिमानव समाज के भीतर प्रसुप्त सस्कार अन्य

विश्वासो के रूप मे प्रकाश मे आये और इसलिए मानव-संस्कृति की रचना में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। ये संस्कार-जनित कृत्रिम विश्वास आदिम समाज के बौद्धिक विकास के कारण भी सिद्ध हुए।

अन्धविश्वासो की परम्परा के इस विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि सृष्टि की उदय-वेला मे मनुष्य ने सर्वप्रथम अन्धविश्वासो का वरण किया और तब उनके आलोक मे देवताओ तथा धर्म के रहस्य को जाना। उत्तरोत्तर सामाजिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों का हेतु बनकर उन्होने मानव सभ्यता के विकास को प्रशस्त किया। उनके द्वारा इष्ट और अनिष्ट, दोनो हुए, किन्तु यह मत स्थिर करने मे किसी प्रकार का संदेह नही है कि मनुष्य को धर्म की ओर प्रवृत्त करने मे वे ही सर्वप्रथम साधन और कारण रहे। उन्होने मनुष्य मे धर्मबुद्धि का स्फुरण किया। उन्होंने भाग्यवाद, जन्मान्तरवाद, अदृष्ट कर्मफलो के प्रति निष्ठा और एक ऐसी सार्वभौम सत्ता की परिकल्पना को जन्म दिया, जो सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त है। आदिम मनुष्य की इन अज्ञानजनित कल्पनाओ एव सभावनाओ ने ज्ञानियो एव विवेकशील पुरुषो को उस सर्वव्याप्त परम सत्ता की खोज के लिए प्रेरित एव उत्कण्ठित किया, जिसे ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा या कोटि-कोटि देवताओं के रूप मे जाना तथा व्याख्यान किया गया। इस प्रकार आदिम मनुष्य के परम्परागत अन्धविश्वासो ने आधुनिक मानव जगत् के लिए विश्वासों की ऐसी सुदृढ आधार-भूमि का निर्माण किया, जिस पर उसके वैचारिक अस्तित्व की नीव खडी है।

धर्म और न्याय

धर्म और न्याय के सम्बन्ध मे आधुनिक विद्वानो के मतो मे एकता नही है। कुछ विद्वानों का मत है कि धर्म ईश्वर प्रदत्त है। इस मान्यता के प्रवर्तकों मे हजरत मूसा, ईसा, मुहम्मद, कन्फ्यूसियस और मनु आदि को रखा जा सकता है। कुछ विद्वानो की मान्यता है कि धर्म परम्परागत है और उन परम्पराओ की रक्षा का दायित्व अभिजात्यवर्ग पर या पुरोहित वर्ग पर रहता आया है। एथेन्स के डेमोस्थनीज जैसे धर्मवक्ता का अभिमत है कि धर्म की स्थापना विवेक पर हुई है। कुछ धर्माचार्यों का मत है कि धर्म प्राकृतिक नियमो पर आधारित है और उसका विकास विवेक तथा दार्शनिक सिद्धान्तो के योग से हुआ। कुछ के मत से नीति-अनीति सम्बन्धी शाश्वत नियमो पर धर्म आधारित है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि संगठित समाज के राजनीतिक अधिकारो और नियमो की पारस्परिक स्वीकृति ही धर्म है। अन्य का मत है कि ईश्वरीय तर्क और विवेक का नाम ही धर्म है।

भारत मे धर्म और न्याय का मूल स्रोत 'ऋत्' माना गया है। यही समस्त चराचर का नियामक है। उसी से धर्म का उदय हुआ। जिसके आदेशो पर राजा और प्रजा दोनो प्रतिबद्ध हैं। समस्त वैदिक युगीन धर्म-व्यवस्था ऋत् पर आधारित थी और यही धर्मसूत्रो तथा स्मृतियो के विधि विधानो का आधार बना।

धर्म की समदृष्टि

वैदिक ऋषियो ने जिस जगत्पावनी धर्मगंगा को बहाया है, वह मानव मात्र के लिए समान रूप से सेव्य है। धर्म की इस व्यापक भारतीय दृष्टि मे विरोध, वैमनस्य तथा द्वेष की भावना नही है। उसकी वर्गगत तथा जातिगत सीमाएँ नही हैं। सबके लिए वह समान रूप से ग्राह्य एव उपादेय है। धर्म की इसी व्यापक लोकदृष्टि को 'महाभारत' (वन० [illegible]) मे कहा गया है—'जो धर्म दूसरे धर्म के लिए बाधक हो, वह धर्म नही, अपितु कुधर्म है। धर्म तो वास्तव मे वह है, जो किसी अन्य धर्म का विरोध नही करता। ऐसे धर्म का आचरण एव प्रतिपालन करना श्रेयस्कर है'—

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम।
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र त धर्मं समुपाचरेत्॥

धर्म भारत की प्राणशक्ति है। यह एक ऐसी आत्मज्योति है, जो प्रत्येक भारतीय के अन्तस् मे, आत्मा मे व्याप्त है। यही कारण है कि धर्म के प्रति इतनी उदात्त एव उदार धारणा विश्व के किसी भी राष्ट्र की धर्म-परम्परा मे देखने को नही मिलती। दुःख से संतप्त प्राणि-जगत् का दुःख दूर करने के उद्देश्य, स्वय दुःख को वरण करने की ऐसी दिव्य धारणा ससार के किसी भी धर्मानुयायी समाज मे देखने को नही मिलती है—"मुझे राज्योपभोग की कामना नही है। मैं तो दुःखो से सतप्त प्राणियो को दुःख से छुटकारा दिलाना चाहता हूँ। इसका उपाय क्या है, कि जिससे मैं दुःखितो के अन्तःकरण मे प्रवेश कर आजीवन दुःख का उपयोग कर सकूँ—

न त्वह कामये राज्य न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥
कश्चास्य स्यादुपायोऽत्र येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक् सदा

भा० के

धर्म-समन्वय॥

धर्म की सनातनता और उसके परम्परागत इतिहास की ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो लगता है कि वर्गों, शाखाओ, सम्प्रदायो तथा पन्थो के रूप मे उसका जो विभाजन या रूपान्तरण तथा नामान्तरण किया गया है उससे उसके मूल उपादानो पर कोई प्रभाव नही पडता है। आर्य, सनातन, वैदिक, हिन्दू, शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध आदि उसके रूपान्तर हैं। वे उसके इतिहास के विभिन्न अध्याय हैं, किन्तु उनसे उसकी अखण्डता मे कोई अन्तर नही आने पाता। इस दृष्टि से यदि भारत के धार्मिक विकास का अध्ययन किया जाये, तो सभी धर्मों का मूल स्रोत एक ही दिखायी देता है। बहुधा यह कहा जाता है कि वैदिक धर्म से जैन-बौद्ध-धर्मों का विरोध है। किन्तु वास्तविकता यह है कि जैन स्वय को 'हिन्दू' कहते हैं। हिन्दुत्व अथवा हिन्दू धर्म वैदिक धर्म का ही रूपान्तर है। जैनमत मे 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति की गई है। वहाँ 'हिं' से 'हिंसा' और 'दू' से 'दूरीकरण' का अर्थ किया गया है। अर्थात् जैनमत मे हिन्दू उसे कहा गया है, जो हिंसा से दूर है। अत अहिंसा जिसका मुख्य लक्ष्य है, ऐसा जैन धर्म ही वास्तव मे यथार्थ हिन्दू धर्म अथवा वैदिक धर्म है।

इसके अतिरिक्त वेदो तथा स्मृतियो मे धर्म का जो स्वरूप प्रतिपादित है, जैनधर्म मे भी उसी को स्वीकार किया गया है। स्मृति-प्रतिपादित वैदिक तथा हिन्दू धर्म मे धैर्य, क्षमा तथा तप आदि धर्म के जो दस उपादान बताये गये हैं, आशिक परिवर्तन के साथ जैन धर्म मे भी उसी को स्वीकार किया गया है। जैन धर्म के शान्ति, मार्दव तथा आर्जव आदि दस उपादानो मे ठीक यही बात कही गई है।

धर्मनिरपेक्षता

वर्तमान भारतीय सविधान मे भारत को 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' (सेक्यूलर स्टेट) घोषित किया गया है। यही धर्मनिरपेक्षता ही वस्तुत आज के समाजवाद की आधारशिला है। 'सेक्यूलर' के लिए विद्वानो ने 'लौकिक' पर्याय दिया है। इस दृष्टि से धर्मनिरपेक्ष उसे कहा गया है, जिसमे समस्त धर्मों तथा सम्प्रदायो का समान आदर हैं, और सबको अपनी उन्नति करने का समान अधिकार है। वहाँ किसी धर्म-विशेष या सम्प्रदाय विशेष के प्रति कोई पक्षपात नही है। 'धर्मनिरपेक्षता' से धर्महीनता या धर्म की उपेक्षा नही है। प्राय प्रत्येक देश या राज्य मे किसी धर्म विशेष को मानने वालों की सख्या अधिक होती है। उदाहरण के लिए भारत मे हिन्दू, पाकिस्तान मे मुसलमान, इजरा-

इल मे यहूदी, योरप-अमरीका-आस्ट्रेलिया मे ईसाई और श्रीलका, बरमा आदि मे बौद्ध बहुसख्यक हैं। इन देशो में बहुसख्यक धर्मानुयायियो के कारण किसी धर्मविशेष का अधिक प्रभाव होना स्वाभाविक है। भारत को छोडकर प्राय सभी देशो के सविधान मे किसी धर्मविशेष का सम्बन्ध है। किन्तु भारत मे सविधान किसी धर्मविशेष को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। भारतीय सविधान के द्वितीय भाग के अनुच्छेद ५ और तृतीय भाग के अनुच्छेद १५, १६, २१, २५, २८ और ३० मे धर्मनिरपेक्ष सिद्धान्तो की विस्तृत व्याख्या की गई है और भारत को लोकतत्र पर आधारित यहाँ के विभिन्न धर्मानुयायी निवासियो के धर्मों को समान मान्यता एव स्वतन्त्रता दी गयी है।

धर्मनिरपेक्षता का आधार सहिष्णुता है। अर्थात् जितने भी धर्म तथा धर्मानुयायी यहाँ निवास करते हैं उनके प्रति सहनशीलता, उदारता और समानभाव के व्यवहार की व्यवस्था की गई है।

यह धर्मनिरपेक्षता ही यहाँ की राष्ट्रीयता है। इसी राष्ट्रीयता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की स्थापना हुई है। वास्तव मे राष्ट्रीयता की स्थिरता ही अन्तर्राष्ट्रीयता का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

धर्मनिरपेक्षता का आशय धर्महीनता, धर्म के प्रति उदासीनता या अधार्मिकता नहीं है। यहाँ के लोकजीवन के सामाजिक, राजनीतिक तथा शासकीय जितने भी कार्यकलाप हैं, उनसे किसी धर्म विशेष को योजित या सम्बन्धित न करना ही धर्मनिरपेक्षता है। धर्मनिरपेक्षता का आशय धर्मशास्त्र की उपेक्षा करना भी नहीं है। उसका सम्बन्ध ईश्वर या परमेश्वर का विरोध करना भी नहीं है। १९वीं शती के प्रसिद्ध विद्वान् होलीओक ने लिखा है कि 'मानव की भलाई के लिए मानव प्रयोग द्वारा, मानव बुद्धि द्वारा जो भी बाते सभव हो, जिन्हे इस जीवन मे किया जा सकता है, जिनका सम्बन्ध इस जीवन से है, वही लौकिकता या धर्मनिरपेक्षता है। उसके विचार-स्वातन्त्र्य तथा धर्मानुचरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतत्र है। समस्त नागरिको को धार्मिक प्रचार की स्वतन्त्रता है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने धर्म तथा राजनीति को सर्वथा पृथक् रखकर भारत की धर्मनीति को स्थिर किया, जब कि पाकिस्तान ने जाति, धर्म, सस्कृति और राजनीति को एक साथ मिलाकर धर्मराज्य घोषित किया। प० नेहरू ने १९४५ ई० मे घोषणा की थी कि आजाद हिन्दुस्तान की भावी सरकार धर्मनिरपेक्ष होनी चाहिए। अर्थात् वह किसी धर्म विशेष से सम्बन्धित नहीं रहेगी, अपितु सभी धर्मों के अनुयायियो के प्रति समान सहिष्णुता बरती जायेगी। नेहरू जी ने उसे धार्मिक स्वतन्त्रता तथा अपनी अन्तरात्मा के

अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता कहा है। इसमे उन लोगो की स्वतन्त्रता भी सन्निहित है, जो किसी भी धर्म को नही मानते। उससे धर्मपालन को निरुत्साहित किया जाता है। किन्तु किसी के धर्मपालन पर कोई प्रतिबन्ध नही है, यदि वह किसी दूसरे धर्म को क्षति नही पहुँचाता।

भारतीय सविधान की तत्सम्बन्धी धारणा की व्याख्या करते हुए लोक-सभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयगर ने अपने भाषण मे कहा था—'हम वचनबद्ध हैं कि हमारा राज्य धर्मनिरपेक्ष होगा। 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हम किसी धर्म मे विश्वास नही रखते और हमारे दैनिक जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नही है। इसका अर्थ केवल यह है कि राज्य सरकार किसी मजहब को दूसरे की तुलना मे न तो सहायता दे सकती है और न प्राथमिकता। इसलिए राज्य अपनी पूर्ण निरपेक्ष स्थिति रखने को विवश है'।

भारतीय लोकतन्त्र को धर्मनिरपेक्षता प्रदान करने वाले राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी थे। उसका सफल सचालन प्रधानमत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया। भारत मे जिस समाजवाद को लाने का प्रयास किया जा रहा है, उसकी आधारशिला वस्तुत धर्मनिरपेक्षता ही है। इस रूप मे भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी अपनी गुटनिरपेक्ष नीति को चरितार्थ किया।

हिन्दू और हिन्दुत्व का प्रचलन

आज के भारत मे हिन्दू तथा हिन्दुत्व का प्रचलन जिस रूप मे देखने को मिलता है, अपने पुरातन स्वरूप मे वह सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। अत्यन्त पुरातन काल मे ही 'हिन्दु' शब्द का अस्तित्व प्रकाश मे आ गया था। ऋग्वेद (८।२४।२७ आदि) मे सात नदियो के अर्थ मे 'सप्तसिन्धु' का अनेक बार उल्लेख हुआ है, जिसे फारसियो के धर्म ग्रन्थ 'जेद अवेस्ता' मे 'हप्तहिन्द' कहा गया है। न केवल इस धर्मग्रन्थ मे, अपितु वैदिक वाङ्मय मे भी 'स' के स्थान पर 'ह' का प्रयोग देखने को मिलता है। उदाहरणस्वरूप अथर्ववेद (२०।३०।४) मे 'हरितो न रह्या' का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार यास्क (७०० ई० पूर्व) ने लिखा है—'सरितो हरितो भवन्ति, सरस्वत्यो हर-स्वत्य'। अर्थात् नदीवाचक 'हरित्' शब्द को उच्चारण भेद के कारण 'सरित्' शब्द समझना चाहिए।

सकार और हकार ने इस परिवर्तन या ध्वनि भेद अथवा उच्चारण भेद की चर्चाएँ भारतीय साहित्य में, अपितु पर्शियनो के पुरातन धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' मे भी देखने को मिलती है। वहाँ 'सिन्धु' के स्थान पर 'हिन्दु' का प्रयोग हुआ है। वहाँ 'ह' तथा 'स' का इसी रूप मे उल्लेख हुआ है और उसे

देशवाची अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। कालान्तर मे जिस प्रकार 'सिन्धु' को 'सिन्ध' और 'हिन्दु' को 'हिन्द' कहा जाने लगा, उसी प्रकार उनके अर्थ प्रचलन मे भी भिन्नता आती गई। कालान्तर मे 'हिन्दु' शब्द को धर्म का पर्याय माना जाने लगा और उसे भारतीय समाज के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा, जिसके आचार विचार-ब्राह्मण कर्मकाण्ड से सम्बन्धित थे। इस सकुचित अर्थ मे भारत के मूल निवासी जैन-बौद्ध भी उससे स्वय को अलग निर्धारित करने लगे। 'हिन्दु' तथा 'हिन्दुत्व' को मुसलमान' तथा 'इस्लाम' का प्रतियोगी मानकर पारस्परिक विरोध भावना का, धार्मिक अलगाव का भी उसके द्वारा प्रचलन हुआ। धार्मिक अलगाव की इस भावना के ऐतिहासिक प्रमाण हैं और उसके लिए स्वय को 'हिन्दु' कहने वाले समाज को एक मात्र दोषी समझना न्यायोचित नही है।

अपने प्राचीन स्वरूप एव अर्थाशय मे 'हिन्दु' शब्द का प्रयोग न तो किसी जाति विशेष के लिए हुआ है और न वह किसी धार्मिक पन्थ या मत का बोधक रहा है। हिन्दु या हिन्दू भारत की सज्ञा थी, उसका अभिधान था और उस देश के निवासियो को, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग या सम्प्रदाय का रहा हो, 'हिन्दू' कहा जाता था। आज जिसको 'हिन्द महासागर' कहा जाता है, और उसका सम्बन्ध भारत मे स्थापित किया जाता है, वस्तुत वह हिन्दू और हिन्दुत्व की व्यापकता का ही ऐतिहासिक साक्षी है। 'हिन्द महासागर' के रूप मे भारत के परम्परागत हितो की रक्षा हिन्दू या हिन्दुत्व की उपेक्षा कर देने से सुरक्षित नही है। आज का भारत राष्ट्र ही हिन्दू राष्ट्र है और हिन्दुत्व की परम्पराओं तथा गरिमाओ के आधार पर ही उसका अपना अस्तित्व एव महत्त्व बना हुआ है।

इस प्रकार 'हिन्दु' या 'हिन्दुत्व' के प्रश्न को लेकर जो लोग साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते और अलगाव का आचरण प्रकट करते हैं, वे अपनी सकीर्ण मनोवृत्ति का ही परिचय देते हैं। अपने मूल आशय तथा उद्देश्य मे यह वर्ण-वर्ग-धर्म के समन्वय का परिचायक है।

भक्ति का स्वरूप और विकास

भारतीय जन मानस मे भक्ति-भावना का उदय आदिकाल मे ही हो चुका था। अनेक सम्प्रदाय प्रवर्तक या धर्म-प्रवर्तक आचार्यों, तत्ववेत्ताओ, महात्माओ, सन्तो और कवियो ने अपने-अपने मतानुसार भक्ति की विभिन्न प्रकार की परिभाषाएँ एव व्याख्याएँ की हैं। उन सबका एक ही अन्तिम सार, निष्कर्ष या उद्देश्य रहा है—भगवान् के प्रति भक्त या उपासक की आत्यन्तिकी भावना।

भगवान् के प्रति भक्त की यह आत्यन्तिकी भावना या सेवावृत्ति मानव-सृष्टि के आदि काल से ही दिखलाई देती है। मानव-मन मे भक्ति-भाव का उदय सनातन, प्राकृत एव स्वाभाविक प्रतीत होता है। विश्वास, पूजा और प्रीति भक्ति भाव के मूलाधार हैं। उसमे तर्क को, विश्लेषणात्मक बुद्धि को कोई स्थान नही दिया गया है। इस रूप मे भक्ति का अस्तित्व सार्वमागलिक एव सार्वभौमिक है।

अतीत काल से अब तक भक्ति की परम्परा भारतीय समाज मे किस रूप मे प्रवर्तित होती रही, इस जिज्ञासा के समाधान के लिए वैदिक ऋषियो के विचारो का विश्लेषण करना आवश्यक है। वेदमत्रो मे यद्यपि 'भक्ति' शब्द का कही भी प्रयोग नही हुआ, तथापि वैदिक उपासना और स्तोत्र वास्तव मे भक्ति के आदि स्रोत कहे जा सकते हैं। उनमे सर्वात्मभाव शुद्ध बुद्धि से परम कृपालु परमेश्वर की उपासना एव स्तुति का वर्णन प्रचुर रूप मे हुआ है। ऋग्वेद के 'विष्णुसूक्त' तथा 'वरुणसूक्त' मे स्पष्टत विष्णु की विभूतियो का स्तवन किया गया है। उनमे उनके उद्गाता ऋषियो को भगवान् के प्रति भक्ति एव आसक्ति के भाव अभिव्यजित हुए हैं।

भक्ति का उदय श्रद्धा से हुआ है। श्रद्धा ही वैदिक यज्ञो की अधिष्ठात्री देवी रही है। वैदिक आर्यों ने प्रत्येक घटना के मूल मे किसी-न किसी देवता की कल्पना की है और उसे प्रसन्न करने के लिए वैदिक यज्ञो के अनुष्ठान का आयोजन किया। उनका यह बहुदेवतावादी विश्वास ही उनकी श्रद्धा का सूचक था। वैदिक आर्य ऋषियो का एक वर्ग ऐसा था, जिसने बहुदेवतावाद को एकदेवतावाद मे परिणत किया। इस वर्ग ने विभिन्न नाम-रूप देवताओ को एक ही देवता मे सन्निहित एव आवृत किया। उदाहरण के लिए ऋग्वेद (१।१६४।४३) मे एक मत्र मे इसी एकत्व को लक्ष्य करके कहा गया है—

'विद्वान् लोग उसी (सत्) को इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि के नाम से पुकारते है और वही विशाल पखो वाला दिव्य गरुड भी है। वही अग्नि, यम और मातरिश्वान् भी है'।

वैदिक ऋषियो का यह एकेश्वरवाद और अनेक देवतावाद क्रमश उपनिषदो और पुराणो मे अधिक विस्तार से कहा गया है। उपनिषत्कालीन एकेश्वरवादी आर्य ऋषियो ने जीवात्मा के कर्मों और जन्मान्तर की कल्पना के अनवरत चक्कर से मुक्ति पाने के लिए एक ऐसी साधना की खोज निकाला, जिसमे निष्ठित होकर एकदेव अन्तिम परमात्म तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है। इन आत्मवादी चिन्तको ने परम उपास्य को पाने के लिए साधना तथा ज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया। ऋषियो की यह ज्ञानमार्गी निर्गुण शाखा उतनी ही आस्तिक थी, जितनी कि पुराणकालीन बहुदेवतावादी आर्य ऋषियो की सगुण शाखा। पुराणो की बहुदेवतावादी ऋषि शाखा ने अपने आराध्य एव उपास्य को अवतारी बताया और उसे मानव धरती पर उतार कर मानवीय आकाक्षाओ के अनुरूप सख्य, दाम्पत्य तथा प्रेम के आत्मीय सम्बन्धो से प्रसन्न किया।

इस प्रकार भक्ति की दोनो सगुण-निर्गुण धाराएँ वैदिक युग मे ही स्थिर हो चुकी थी और उन्ही को लक्ष्य बनाकर परावर्ती सन्तो, भक्तो एव महात्माओ ने अपने-अपने ढग से भक्ति का विकास किया। भेद केवल साधना-अराधना का था, किन्तु लक्ष्य दोनो का एक ही था।

भक्ति-भाव से ओत-प्रोत वैदिक ऋषियो ने अपने अनेक प्रकार के उद्गार प्रकट किये हैं। यजुर्वेद (३।३५) मे एक प्रार्थना परक मन्त्र मे कहा गया है—'जगत् को प्रकाशित करने वाले अत्यन्त बलवान्, शक्तिशाली, न्यायकारी, समस्त जगत् का जीवन, सबको नियमित रखने वाले परमेश्वर को हृदय मे धारण कर हम उसका ध्यान करते हैं। वह परमेश्वर हमारी बुद्धि को सदा उत्तम कार्यों की ओर प्रवृत करे' (ॐ भूर्भुव स्व ॐ तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात्)। आत्मा के वर्चस्व को प्रदीप्त करने वाले इस गायत्री मत्र मे शुद्ध बुद्धि प्रदान करने की याचना की गई है। इस प्रकार के स्तुतिपरक मत्र वेदो मे बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। ज्ञानी ऋषियो के ये भावोद्गार ही भक्ति के उद्गम स्रोत हैं।

वेदो के पश्चात् ब्राह्मणग्रन्थो के युग मे कर्मकाण्ड की प्रमुखता के कारण भक्ति की धारा कुछ मन्द पड गई थी। किन्तु उपनिषदो की ज्ञानधारा ने उसको अधिक वेगवान् एव व्यापक बनाया। उपनिषदो मे यद्यपि निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया गया है, तथापि 'छान्दोग्य', 'श्वेताश्वतर'

और 'मुण्डक' आदि उपनिषदो मे विष्णु, शिव, रुद्र, अच्युत, नारायण और सूर्य आदि के उपासनापरक प्रसगो में भक्ति की व्यापकता को ही प्रस्फुरित किया गया है। निराकार और साकार, दोनो की उपासना-आराधना का भाव ही भक्ति का रूपान्तर है।

उपनिषद् विद्या के व्याख्यान दर्शनो मे भी निर्विकार निष्काम, स्वाभाविक शुद्ध चित्तवृत्तियो द्वारा वेदानुरूप आचरण करने का निर्देश किया गया है। योगदर्शन मे शुद्ध-बुद्धि को प्राप्त करने के लिए साधनो या उपायो का निर्देश किया गया है, वे है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ साधन, अहिंसा, सत्य, अशौच, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—ये पाँच नियम, स्थिर एव सुखानुरूप पद्मासनादि आसन और इन्द्रियनिग्रहरूप प्राणायाम—ये उपाय हैं जिनको अपना कर, जीवन मे चरितार्थ कर उपासक या भक्त का उच्चासन प्राप्त किया जा सकता है।

भक्ति के व्यापक स्वरूप और भक्त की परम निष्ठा का प्रथम वर्णन 'भगवद्गीता' के 'भक्तियोग' नामक द्वादश अध्याय मे देखने को मिलता है। वहाँ कहा गया है—'जो अविनाशी, अवर्णनीय, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य अविकारी और नित्य उस परम कृपालु परमात्मा को भजते हैं, और इन्द्रियो का निग्रह करके सर्वत्र, समान बुद्धि से सबके साथ मित्रता और करुणा भाव का व्यवहार करते हैं, जिसके द्वारा कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नही होता, जो निष्काम, पवित्र और कर्तव्यविरत रहते हैं, जो शत्रु मित्र के साथ मानापमान, शीत, उत्ताप और सुख-दु ख मे समरस हैं, जो निन्दा और स्तुति मे समान बुद्धि रखते है और शान्ति तथा सन्तोष को धारण करते है, वे ही वास्तविक भक्त हैं'।

'भगवद्गीता' (७।१६) मे भक्तो के चार प्रकार बताये गये हैं—१ अर्थार्थी, अर्थात् अर्थ अथवा लाभ की दृष्टि से भजन करने वाले, २ आर्त, अर्थात् दु ख निवारण के लिए भजन करने वाले, ३ जिज्ञासु, अर्थात् भगवान के स्वरूप को जानने की इच्छा से भजन करने वाले, और ४ ज्ञानी अर्थात् भगवान् के स्वरूप से साक्षात्कार कर उनका चिंतन करने वाले। भगवद्गीता' मे कही गई भक्तो की ये चार कोटियाँ भक्ति के विकास की परम्परा को सूचित करते हैं।

उपनिषदो की उपासना पद्धति को 'महाभारत' मे अधिक विस्तार से कहा गया है। इस महाग्रन्थ के द्वारा सर्वप्रथम भारत की मानस भूमि मे भक्ति की गगा को बहाया गया है। महाभारत-युगीन सात्वतो ने भागवत

धर्म की पवित्र धारा को उत्तर भारत मे मथुरा, वृन्दावन सहित समस्त व्रज क्षेत्र मे, मध्य भारत, राजस्थान, सुदूर पश्चिम गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिणाचल मे कर्णाटक तथा तमिल (द्रविड प्रदेश) तक फैलाया। धर्मप्राण सात्वतो के उदय से पूर्व विष्णु तथा रुद्र आदि महाधिदेवो की उपासना का क्षेत्र सीमित था। महाभारत युग मे वैदिक तथा औपनिषदिक समस्त आदिदेवो एव सर्वसत्तावान् परब्रह्म की सम्पूर्ण शक्तियो, उपमानो तथा लक्षणो को वासुदेव श्रीकृष्ण मे समन्वित एव अधिष्ठित कर दिया गया। एक ओर तो श्रीकृष्ण को अखण्ड आदिसत्ता के रूप मे प्रतिपादित किया गया और दूसरी ओर उन्हें विष्णु का अवतार (आदित्यानामह् विष्णु) मानकर ध्याया गया। इस प्रकार 'गीता' के श्रीकृष्ण ज्ञानियो और भक्तो की उपासना-अर्चना के आधार बने। 'महाभारत' का एकान्तिक नारायणीय या भागवत धर्म नरदेहधारी वासुदेव श्रीकृष्ण मे केन्द्रित होकर भक्ति की पयस्विनी बनकर भागवत धर्म से रूप मे भक्तप्रवण भारतीय जनमानस मे व्याप्त हुआ।

भक्ति की परम्परागत भावधारा को पुराणकार मुनि-महात्माओ और सूत शौनकादि ऋषियो ने पूर्णता प्रदान की। आराध्य की विभिन्न कोटियो को लक्ष्य बनाकर भक्ति के अनेक रूपो की धाराएँ पुराणो से ही प्रवाहित हुई। इस दृष्टि से 'भागवत' का नाम उल्लेखनीय है। उसमे भागवत धर्म को पूर्ण प्रौढता प्राप्त हुई। भक्ति का लक्षण देते हुए 'भागवत' (१।२।६) मे कहा गया है—'भक्त की भगवान मे अहेतुक, निष्काम और निष्ठायुक्त अनवरत प्रेमभावना ही 'भक्ति' है।' 'भागवत' (७।५।२३-२४) मे भक्ति का नवधा निरूपण किया गया है, जिसके नाम हैं—१ श्रवण, २ कीर्तन, ३ स्मरण, ४ पादसेवन, ५. अर्चन, ६ वन्दन, ७. दास्य, ८ सख्य और ९ आत्मनिवेदन। यह ग्रन्थ भागवत धर्म का एकमात्र प्रामाणिक एव मान्य ग्रन्थ है। जिस प्रकार वेदान्त दर्शन के आचार्यों ने 'भगवद्‌गीता' को प्रमुख प्रस्थान मानकर उस पर भाष्य लिखे और उससे अपने सिद्धान्तो को प्रमाणित किया है, उसी प्रकार वैष्णवाचार्यों ने 'भागवत' को वैष्णव धर्म का मुख्य प्रस्थान मानकर उस पर भाष्य लिखे और उससे अपने सिद्धान्तो को प्रमाणित किया है, उसी प्रकार वैष्णवाचार्यों ने 'भागवत' को वैष्णव धर्म का मुख्य प्रस्थान मानकर उस पर भाष्य, व्याख्यान एव टीकाएँ लिख कर अपने-अपने मतो की प्रामाणिकता को सम्पुष्ट किया।

भक्ति का उदय किस प्रकार हुआ और भारत के विभिन्न अचलो मे प्रवेश कर अन्त मे वह व्रज-मण्डल मे कैसे व्याप्त हुई, इस सम्बन्ध मे 'भागवत' (१।४८-५०) मे एक रोचक वर्णन आया है। भक्ति स्वय कहती है—'मैं

वही (जो मूलतः यादवों की एक शाखा के वंशज सात्वतों द्वारा लाई गई थी) द्रविड़ देश में (रागात्मिका भक्ति के रूप में) उत्पन्न हुई। कर्णाटक में विकसित हुई, महाराष्ट्र में भी कुछ-कुछ पोषित हुई और गुजरात में जाकर वृद्ध हो गई। वहाँ घोर कलियुग (म्लेच्छवाद) के सम्पर्क में पाखण्डियों द्वारा खण्डित अंग वाली मैं दुर्बल होकर बहुत दिनों तक अपने पुत्रों (ज्ञान-वैराग्य) के साथ मन्दता को प्राप्त हुई। तदुपरान्त वृन्दावन (व्रज-मण्डल) में पहुँचकर नवीना, स्वरूपिणी, युवावस्थासम्पन्न एवं सुन्दर बन गई।' भक्ति के विकास का यह इतिहास बताता है कि व्रज-मण्डल में श्रीकृष्ण के स्वरूप में उसकी अन्तिम परिणति हुई।

ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता

'भागवत' के उक्त प्रसंग में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति के पुत्र बताये गये हैं। किन्तु उनके कारण भक्ति का विकास न होकर मन्दता व क्षीणता को ही प्राप्त हुई। इस हेतु भगवद् भक्तों में ज्ञान-वैराग्य को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। भक्तिमार्गी वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति को मुक्ति से श्रेष्ठ माना गया है। भक्तजन मुक्ति की प्राप्ति कर उस आनन्दमयी स्थिति को नहीं चाहता है, जिसमें कि उसे श्रीकृष्ण के सान्निध्य से वंचित होना पड़े। भक्त तो श्रीकृष्ण के पादमूल में ही सेवारत रहना चाहता है। यहाँ तक कि भगवान अपने भक्तों को मुक्ति देना चाहते हैं, किन्तु वे उसे वरण नहीं करना चाहते (भागवत, ११।२०।३४)—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥

ज्ञान की पूर्णावस्था में मुक्ति की उपलब्धि स्वतः हो जाती है। उसे भगवान अपने भक्त को बिना ज्ञान प्राप्ति के सहज ही देना चाहते हैं। किन्तु भक्ति की प्राप्ति तो असहज है। भक्ति की प्राप्ति तो भगवान की कृपा पर निर्भर है। वह सबको सुलभ नहीं होती। ज्ञान के द्वारा भक्तिलाभ प्राप्त कर ब्रह्मानन्द की अनुभूति की जा सकती है, किन्तु भक्ति द्वारा जिस अलौकिक रसानन्द की उपलब्धि होती है, वह नीरस ब्रह्मानन्द की अपेक्षा श्रेष्ठ है। 'भागवत' की यह भक्ति साधनरूपा वैधीभक्ति नहीं है, अपितु सिद्धरूपा रागानुगा प्रेमभक्ति है।

भक्ति को भगवत्प्राप्ति का साध्य और साधन, दोनों माना गया है। भक्ति वास्तव में एक भाव है, एक धारणा एवं निष्ठा है। उसमें ज्ञान और कर्म दोनों का पर्यवसान है। कर्म और ज्ञान दोनों ही भक्ति की उपलब्धि के साधन हैं और भक्ति भगवान की प्राप्ति का साधन है।

भक्ति की परम्परा और ग्रन्थ-निर्माण

वैष्णवधर्म या भागवतधर्म मे भक्ति की यह परम्परा निरन्तर समृद्ध होती गई। भक्ति के व्यापक महत्त्व को दृष्टि मे रखकर उस पर अनेक स्वतंत्र ग्रन्थो की रचना हुई और उनके द्वारा भक्ति के व्यापक स्वरूप एव महत्त्व को प्रतिपादित किया गया। भक्तिविषयक प्राचीन ग्रन्थो मे 'नारद-भक्तिसूत्र' और 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' का नाम प्रमुख है। उनके आरम्भ मे भक्ति का लक्षण देते हुए कहा गया है—'प्रभु मे अनुरक्ति की पराकाष्ठा ही 'भक्ति' है। 'नारदभक्तिसूत्र' मे भक्ति के ग्यारह भेदो का निरूपण किया गया है, जो कि प्रभु के प्रति भक्त की अनुरक्ति के ग्यारह मार्ग या माध्यम है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' मे भक्ति के गौणी और परा से दो प्रमुख भेद किये गये हैं। भक्त के साधनावस्था की भक्ति 'गौणी' और सिद्धावस्था की भक्ति को 'परा' कहा गया है। गौणी भक्ति के पुन वैधी (शास्त्रानुमोदित) और रागानुगा (प्रेमानुगा) दो उपभेद किये गये हैं। 'ज्ञानामृतसागर' मे भक्ति के छ प्रकार बताये गये हैं, जिनके नाम हैं—१ स्मरण, २ कीर्तन, ३. वन्दन, ४. पाद-सेवन, ५ अर्चन, और ६ आत्मनिवेदन।

वैष्णवधर्म की परम्परा मे लगभग ७वी-८वी शती तक भक्ति का निरन्तर विकास होता गया। किन्तु ८वी शती मे शकराचार्य के उदय के बाद अद्वैतवेदान्त तथा शैवो और शाक्तो के प्रभाव के कारण, भागवतधर्म की परम्परा मे कुछ गतिरोध या विरोध-बाधाएँ उपस्थित हुई। इन विरोधो से भक्ति मार्ग की परम्परा सर्वथा अवरुद्ध तथा विखण्डित नही हुई। शैव-शाक्तो पर भी भागवतो की भक्ति भाव का प्रभाव पडा। यहाँ तक कि अद्वैतवादी शकराचार्य ने भी अद्वैतब्रह्म को प्राप्त करने के लिए उपासना का आधार बताया। परब्रह्म परमेश्वर मे आत्मा के ऐक्य को स्थापित करने के लिए उन्होंने उपासना के पाँच प्रकार बताये। 'ब्रह्मसूत्र-शाकरभाष्य' (२।४२) मे उनके नाम हैं—१ अभिगमन, २ उपादान, ३ इज्या, ४ स्वाध्याय और ५. योग। उपासना के ये पाँच प्रकार वस्तुत भक्ति के ही अवान्तर रूप हैं। उनमे एकनिष्ठ रहता हुआ उपासक या भक्त भगवान् (निराकार ब्रह्म) से साक्षात्कार कर सकता है।

शकराचार्य के अद्वैतमत के विरोध मे अनेक वैष्णवाचार्यो का उदय हुआ, जिन्होने भागवत धर्मानुरूप वेदान्त-मत का बहुमुखी विकास किया। भागवतधर्म का यह पुनरुत्थान पूर्व मध्य युग १०वी शती से उत्तर मध्य युग १६वी शती तक अबाध गति से निरन्तर होता गया। इस अवधि मे अनेक आचार्यो तथा भक्त कवियो ने परम्परागत भागवतधर्म के उपादानो

को ग्रहण कर उनका विकास अपने-अपने सम्प्रदायों के रूप मे किया। श्रीनारायण और जगज्जननी महालक्ष्मी की भक्ति परम्परा दक्षिण मे शठकोप स्वामी, नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष स्वामी और राममिश्र स्वामी से प्रवर्तित होती हुई यामुनाचार्य तक पहुँची। ये सभी तमिल आलवार वैष्णव भक्त थे। 'भागवत' (एकादश स्कन्ध, ५।३८।४०) मे तमिल देशवासी द्रविडो को भगवान् वासुदेव का परम भक्त बताया गया है। अनेक विद्वानो का मत है कि 'भागवत' के वर्तमान स्वरूप की रचना तमिल देश मे हुई। तमिल आलवार भक्तो ने समस्त दक्षिण भारत मे वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रचार-प्रसार किया।

आलवार, नाथमुनि और यामुनाचार्य समसामयिक थे, जो कि १०वी शती ई० मे हुए। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के संस्थापक ये दोनो आचार्य दक्षिण भारत मे हुए और उत्तर भारत मे आकर उन्होंने भागवतधर्म के पुनरुत्थान का सूत्रपात किया। शाकरमत के बढते हुए प्रभाव को उन्होने कम किया। नाथमुनि ने वृन्दावन मे निवास कर अपने 'आगमप्रमाण' नामक गभीर ग्रन्थ की रचना कर शकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया।

नाथमुनि के बाद यामुनाचार्य ने भक्ति की परम्परा को अधिक सशक्त ढग से आगे बढाया। भक्ति द्वारा भगवद् अनुग्रह प्राप्त करने के नये मार्ग की स्थापना कर यामुनाचार्य ने शकराचार्य के अद्वैतवाद मे ईषत् परिवर्तन कर उसे महाभारतकालीन भागवतधर्म के साथ सयुक्त किया और 'विशिष्टाद्वैत' नाम से सरल एव सुगम दार्शनिक मत का प्रवर्तन किया। उन्होंने ज्ञान और कर्म दोनो को भक्ति का उपादान सिद्ध किया और भक्ति को ही ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया। यामुनाचार्य के बाद रामानुजाचार्य (११वी शती) ने भक्ति का अपना नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने आद्य विष्णु के राम तथा कृष्ण अवतारो का महत्त्व निरूपित कर भक्ति की भावधारा को आगे बढाया। उनके मत से राम और कृष्ण दोनो अवतार हैं और वे करुणामय तथा भक्तवत्सल होने के कारण भक्तो के उद्धार हेतु अवतार धारण करते है। भक्त को चाहिए कि वह समस्त नियमो का परित्याग कर भगवान् के प्रति सर्वस्व समर्पण कर दें। यही 'शरणागति' है।

रामानुजाचार्य के अतिरिक्त भक्ति को भगवत्प्राप्ति का आधार मानने वाले वैष्णवाचार्यों मे निम्बार्काचार्य (१२वी शती), विष्णुस्वामी (१३वी शती), मध्वाचार्य (१३वी शती), रामानन्द (१३वी शती), वल्लभाचार्य (१५वी शती) और चैतन्य महाप्रभु (१५वी शती) का नाम उल्लेखनीय है। इनमे से रामानन्द और चैतन्य के अतिरिक्त सभी आचार्य दक्षिण भारत के थे।

सनक सम्प्रदाय के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने अपने दार्शनिक मत 'द्वैताद्वैत' की प्रतिष्ठा की। उनके मतानुसार श्रीकृष्ण ही एकमात्र उपास्य हैं, जिन्हें उपासना तथा भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति के उन्होंने दो रूप बताये हैं—साधनरूपा और सिद्धिरूपा। इस मत में राधा-कृष्ण के युगल भाव की भक्ति को प्रमुखता दी गई है।

विष्णुस्वामी के समय जैन, बौद्ध, शैव और शाक्त धर्मों का प्रभाव था। उन्होंने सर्वव्यापी भक्तवत्सल एवं कृपालु भगवान् विष्णु की सगुण भक्ति को प्रचारित किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि त्रिलोकव्यापी भगवान् विष्णु आदिदेव हैं और वे विश्व के लिए कल्याणकारी तथा जीवों के प्रति करुणामय हैं। वे अपने भक्तों के उद्धार के लिए समय समय पर विभिन्न नाम रूपों से अवतार धारण करते हैं। निष्ठापूर्वक उनका नाम स्मरण मात्र से भक्तों का उद्धार हो जाता है।

मध्वाचार्य ने 'ब्रह्मसम्प्रदाय' की स्थापना की और अपने द्वैताद्वैत को प्रतिष्ठित किया। उनके मत से जीव तथा ब्रह्म दोनों नित्य हैं और दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र है। भगवान का भजन तथा नाम-कीर्तन के द्वारा जीव को पुरुषार्थ प्राप्त होता है। उन्होंने भक्ति के दो प्रकार बताये हैं—शास्त्राभ्यास और ध्यान। शास्त्रानुशीलन से अज्ञान तथा भ्रमादि की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा ध्यान से ईश्वरानुग्रह का लाभ होता है।

वैष्णवाचार्य रामानन्द ने 'रामावत-सम्प्रदाय' की प्रतिष्ठा कर राम-सीता की सगुण भक्ति का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। वे विशिष्टाद्वैतवादी थे, जिसमें सगुण निर्गुण भक्ति का समन्वय किया गया है। उनके मत में सीता की उपासना की प्रमुखता है। सीता यद्यपि राम की पत्नी हैं, किन्तु वे आद्या शक्ति हैं। वे दिव्यश्री तथा स्वर्गश्री हैं। उनकी निर्हेतुक कृपा प्राप्त करना ही भक्त का अन्तिम लक्ष्य है। स्वामी रामानन्द ने जिस भक्ति मार्ग का प्रचलन किया, वह पहले उत्तर भारत में और उसके पश्चात् दक्षिण महाराष्ट्र तथा गुजरात तक व्याप्त हुआ।

वैष्णवभक्ति के अभ्युत्थान और उसके प्रचार-प्रसार की जो स्थिति उत्तर भारत की रही है, उसकी अपेक्षा दक्षिण भारत और गुजरात में उसका महत्व तथा प्रभाव कम रहा। अत यदि कहा जाये कि उत्तर को दक्षिण तथा पश्चिम से ही प्रेरणा मिली तो अनुचित न होगा। महाभारतकालीन सात्वत धर्म या भागवतधर्म में वासुदेव भक्ति का जो उदय हुआ, उसका प्रभाव उत्तरोत्तर समस्त भारत में व्याप्त हुआ। संस्कृत के सहित अन्यान्य भारतीय भाषाओं के साहित्य भी इन भक्ति रचनाओं से समृद्ध हुए। भारतीय भाषाओं

के साहित्य मे भक्तियुगीन वैष्णवाचार्यों, सन्तो एव भक्त कवियो ने जिन रचनाओ का सृजन किया, उनके कारण इस भक्ति युग को इतिहास का स्वर्ण युग कहा गया।

देश के अन्य अचलो की अपेक्षा महाराष्ट्र मे भागवतधर्म के अनुयायी ऐसे बहुसख्यक भक्त कवि तथा आचार्य हुए, जिन्होने बहुमूल्य रचनाओ का सृजन कर उसकी परम्परा को उजागर किया। भागवतो की यह महाराष्ट्रीय परम्परा तमिल तथा कन्नड की परम्पराओ से कुछ भिन्न है। यह भिन्नता उपासना-पद्धति की दृष्टि से ही नही, आचार की दृष्टि से भी है।

महाराष्ट्र मे भागवत वैष्णव धर्म के प्रथम सन्त कवि ज्ञानेश्वर (१४वी शती वि० के मध्य) हुए। उन्होंने १३४७ वि० मे 'भगवद्गीता' पर मराठी मे १०,००० पद्यो का एक वृहद् ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम 'ज्ञानेश्वरी' है। इस कृति की लोकप्रियता इतनी बढी कि अनेक भारतीय भाषाओ मे उसके अनुवाद हुए। सन्त ज्ञानेश्वर ने १८ अभगो की एक कृति 'हरिपाठ' और अद्वैत शैव दर्शन पर 'अमृतानुभव' नामक ग्रन्थ का भी प्रणयन किया। सन्त ज्ञानेश्वर ने स्वय को गोरखपन्थी परम्परा के योगी *निवृत्तिनाथ* का शिष्य बताया है। वे मूलत भागवतधर्म के अनुयायी होते हुए भी शिव तथा विष्णु दोनों के परम भक्त थे।

महाराष्ट्रीय सन्तो मे ज्ञानेश्वर के पश्चात् नामदेव का स्थान है। नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुसार नामदेव ज्ञानेश्वर के शिष्य थे, किन्तु आधुनिक इतिहासकार इन दोनो सन्तो के स्थितिकाल मे लगभग १०० वर्ष का अन्तर बताते हैं। इस दृष्टि से नामदेव १५वी शती वि० के मध्य मे वर्तमान थे। नामदेव के अभगो ने महाराष्ट्र को भक्तिरसामृत मे डुबो दिया था। उसका प्रभाव उत्तर भारत और पश्चिम भारत के सन्तो मे भी लोकप्रिय हो चुका था। सिक्ख गुरुओ ने अपने पवित्र ग्रन्थ 'गुरुग्रन्थसाहिब' मे उनको स्थान दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिम भारत मे नामदेव के मतानुयायियो का एक सगठन बन गया था। गुरुदासपुर (पजाब) मे घुमन नामक स्थान पर आज भी वर्तमान नामदेव का मन्दिर इसका ऐतिहासिक साक्ष्य है।

मराठी भक्त कवियो की इस परम्परा मे तीसरा नाम सन्त त्रिलोचन (निधन १६०८ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। वे पैठन निवासी थे। बडे उदार विचारो के सन्त थे। जात-पात की सकीर्णताओ को नही मानते थे। उन्होंने भागवत का मराठी अनुवाद किया, जिसका नाम 'एकनाथी भागवत' है। महाराष्ट्र के भक्तो मे उसका प्रभाव 'ज्ञानेश्वरी' की ही भाँति व्याप्त है।

इसके अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएं हैं—३६ अभंगों की कृति 'हरिपाठ' और 'चतुश्लोकी भागवत' आदि। मराठी अभंगों के रचयिता भक्त कवि तुकाराम (१६०८-१६४९ ई०, रचनाकाल) का नाम मध्यकालीन धार्मिक इतिहास में बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है। वे भगवान विठोबा (पंढरीनाथ) के परम भक्त थे। उन्हीं के समकालीन महात्मा नारायण, जिनका प्रसिद्ध नाम समर्थ रामदास (१६०८-१६८१ ई०) था। वे महाराज शिवाजी के गुरु थे। उन्होंने अपना एक विशेष धार्मिक चिह्न प्रचलित कर 'रामदासी पन्थ' के नाम से अलग सम्प्रदाय स्थापित किया। सतारा के निकट सज्जनगढ़ में आज भी उनका स्मारक भक्तों की श्रद्धा-पूजा का पवित्र स्थल बना हुआ है। समर्थ रामदास ने 'दासबोध' के नाम से एक दर्शन विषयक कृति का निर्माण किया था, जो कि साधु-वैरागी समाज में अपनी सरलता के कारण बहुप्रचलित है।

महाराष्ट्रीय सन्तों एवं भक्त कवियों की यह परम्परा निरन्तर आगे बढ़ती गई। १८वीं शती ई० के आरम्भ में सन्त श्रीधर पण्डित हुए, जिन्होंने मराठी में 'रामायण' और 'महाभारत' को पद्यबद्ध करके मराठी साहित्य को समृद्ध किया और मराठी जनमानस को उक्त महान् ग्रन्थों से परिचित कराया। इसी शती में सन्त महीपति हुए। उन्होंने अष्टछाप के कवियों के अनुकरण पर महाराष्ट्रीय सन्तों एवं भक्तों की जीवनी पर एक उपयोगी ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त 'सन्तलीलामृत', 'भक्तविजय', 'कथासारामृत', 'भक्तलीलामृत' तथा 'सन्तविजय' आदि भी उनकी रचनाएँ हैं।

महाराष्ट्र में सन्तों एवं भक्तों की परम्परा आज तक बनी हुई है। महाराष्ट्र में आज भी वर्तमान भगवान विठोबा (विट्ठलनाथ या विष्णु) की भक्ति-सेवा में परायण भक्तजनों और वहाँ के मन्दिरों की महिमा को देखकर सहज ही यह विश्वास होता है कि वहाँ के जन-मानस में भक्ति की ज्योतिशिखा प्रज्वलित है। ये मन्दिर पण्ढरपुर, आलन्द और देहू में विशेष रूप से विद्यमान हैं। विट्ठलनाथ भगवान् की अनेक पत्नियों, यथा रुक्माबाई (रुक्मिणी), राधा, सत्यभामा तथा लक्ष्मी आदि के भी अनेक मन्दिर दर्शनीय हैं।

महाराष्ट्र के मन्दिरों की दक्षिण के मन्दिरों से भिन्न आज भी अपनी नैष्ठिक परम्परा बनी हुई है। यद्यपि वहाँ मन्दिरों में भगवान् विठोबा के अतिरिक्त शिव, गणपति, सूर्य तथा लक्ष्मी आदि अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी स्थापित हैं और उनकी भी विधिवत् पूजा होती है, तथापि

वहाँ आज भी इस नियम का कट्टरता से पालन किया जाता है कि जाति-च्युत उनमे प्रवेश नही कर सकता है।

महाराष्ट्र के समान उडीसा में भी विष्णु-भक्ति की परम्परा अब तक वर्तमान है। यद्यपि धार्मिक परिस्थितियो की दृष्टि से उडीसा की अपनी स्थिति भिन्न रही है। उडीसा मे यद्यपि सम्राट अशोक के समय मे ही बौद्धधर्म का प्रचार-प्रसार रहा और बाद मे शैवमत तथा तान्त्रिक शाक्त-मत का भी प्रभाव रहा। किन्तु वहाँ वैष्णवधर्म की ज्योति कभी भी मन्द नही पडी। बौद्धधर्म का यह प्रभाव ८वी शती तक बना रहा। ८वी शती के बौद्धानुरागी उडीसा के शासको के समय बौद्धधर्म की इस शाखा मे पर्याप्त उदारता आयी। उनके समय भगवान् जगन्नाथ को बौद्धावतार कहा जाने लगा। इसी ८वी शती में शंकराचार्य के प्रभाव के कारण उडीसा में शैवधर्म का प्रवेश हुआ और उसी के फलस्वरूप ९वीं शती में भुवनेश्वर मे लिंगराज की स्थापना हुई।

भारत मे भागवतधर्म के अनुयायी गुप्तशासको के समय उडीसा मे वैष्णवधर्म का पुनरुत्थान हुआ। तत्पश्चात् ११वी शती मे भगवान् जगन्नाथ के विशाल मन्दिर की स्थापना हुई। १२वीं शती मे रामानुजाचार्य के प्रभाव के कारण उडीसा मे वैष्णवधर्म का पुनर्जागरण हुआ। १५वीं शती तक वहाँ विभिन्न मन्दिरो की स्थापना होकर विष्णु भक्ति का प्रभाव उत्तरोत्तर बढता गया। इसी समय उडीसा मे 'पचसखा' कहे जाने वाले पाँच प्रसिद्ध वैष्णव कविभक्तो का एक साथ उदय हुआ। उनके नाम थे—बलरामदास (ज० १४७२ ई०), अनन्त (ज० १४७५ ई०), यशोवन्त तथा जगन्नाथ (ज० १४७७ ई०) और अच्युतानन्द (ज० १४८९ ई०)। इन पाच पच-सखा या पचशिखा भक्तो की रचनाओ के कारण एक ओर तो उडीसा मे वैष्णवधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ और दूसरी ओर उडिया साहित्य का सवर्द्धन हुआ। इन उडिया वैष्णव कवियो की रचनाओ मे जो विशेष बात देखने को मिलती है, वह है बौद्धधर्म के शून्यवादी विचारो का समन्वय। भगवान् जगन्नाथ को बौद्धावतार मानकर उनकी आराधना-उपासना का नया दृष्टिकोण स्थापित कर इन भक्त कवियो की वाणियो ने वैष्णवधर्म और भक्ति के पथ को प्रशस्त किया। (परशुराम चतुर्वेदी, वैष्णवधर्म पृ०–१७)।

स्वामी रामानन्द ने उत्तर भारत मे जिस भक्तिधारा को बहाया, उसको वल्लभाचार्य ने लोकव्यापी स्वरूप दिया। उन्होने 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना कर 'भागवत' के निर्देशानुसार भगवान के अनुग्रह को ही 'पुष्टि'

नाम दिया। जीव द्वारा सर्वतोभावेन समस्त विषयों का परित्याग और सर्वस्व समर्पण की भावना ही 'पुष्टिमार्ग' है। उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया और ईश्वर के प्रति जीव का सेव्य सेवक-भाव-सम्बन्ध या पति-पत्नी-भावसम्बन्ध स्थापित कर अनन्य आसक्ति रूपा भक्ति का निरूपण किया।

श्रीवल्लभाचार्य के बाद उत्तरभारत में भक्ति के प्रसार का श्रेय गो० तुलसीदास (१६वीं शती) को है। उन्होंने 'रामचरितमानस' लिखकर रामानन्द की रामभक्ति-परम्परा को प्रशस्त किया। श्रीराम को विष्णु का साक्षात् अवतार मानकर गो० तुलसीदास ने उनका सम्बन्ध जन-सामान्य की पारिवारिक परम्पराओं से जोड़ा। श्रीराम के पूर्ण परब्रह्म स्वरूप की अगम्यता को इतने सरल, सहज ढंग से व्याख्यायित किया कि वे सर्वसुगम्य हो गये। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के आदर्शमय जीवन-चरित ने उत्तर भारत के जन-मन को भक्ति की रसमयता में डुबो दिया। 'रामचरितमानस' की रचना से पूर्व रामभक्ति का इतना अधिक प्रचार-प्रसार कभी नहीं हुआ। 'रामचरितमानस' भारत के घर-घर की धर्मगीता बन गया।

वैष्णवभक्ति की यह परम्परा मध्ययुग में सारे देश में व्याप्त हुई और सूरदास, मीराबाई, कबीर, नानक तथा दादू आदि भक्त कवियों एवं सन्तों ने उनको सगुण और निर्गुण दो धाराओं में प्रवर्तित किया।

उत्तर भारत की भाँति पूर्व भारत में भी भक्ति की पुण्य-सलिला परम्परा से प्रवाहित होती रही और उसको पूर्णता प्रदान की चैतन्य महाप्रभु ने। उन्होंने 'गौडीय सम्प्रदाय' की स्थापना की और पूर्णावतार श्रीकृष्ण के गुण-कीर्तन पर अधिक बल दिया। उनका मत था—'भक्ति की विशुद्ध दीपाग्नि में पड़ कर जिसके दुर्जातिजन्य दोष भस्म हो गये, वह चाण्डाल होने पर भी उस वेदज्ञ से कहीं अधिक श्लाघ्य है, जो भक्तिशून्य और नास्तिक है।' पूर्व भारत में भक्ति की इस परम्परा के प्रवर्तक जयदेव, लीलाशुक, विद्यापति और चण्डीदास आदि भक्त कवियों की रचनाएँ न केवल बंगला साहित्य की, अपितु समस्त भारतीय साहित्य की निधि हैं।

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा भक्ति के विकास के जो स्थिर एवं शाश्वत आधार तैयार हुए, उनकी भारतीय जनता के हृदय पर इतनी स्थायी एवं चिरन्तन छाप है कि प्रत्येक भारतीय के मन में, चाहे वह कितना ही धर्म-अविश्वासी हो, धर्म का अंकुर कहीं-न-कहीं विद्यमान रहता है। भारत की भूमि में जन्म लेकर यहाँ की परम्पराओं में पला हुआ प्रत्येक व्यक्ति धर्म के प्राकृत एवं जन्मना सम्बन्ध का परित्याग नहीं कर सकता।

'भक्ति' एक प्रकार की श्रद्धा निष्ठा है। वैदिक यज्ञो की अधिष्ठातृ देवी श्रद्धा से ही भक्ति का उदय हुआ है। समस्त मानव समुदाय मे, चाहे वह आस्तिक हो, चाहे नास्तिक, अपने उपास्य, ध्येय, आराध्य के प्रति किसी भी धर्मानुयायी की श्रद्धा निष्ठा होनी स्वाभाविक है। इस दृष्टि से वैष्णव भक्तो की अपेक्षा शिव भक्तो तथा शक्ति-भक्तो की भक्ति भावना कम नही है। शैवमत तथा शाक्तमत के उपासको ने भी भक्ति का आश्रय लेकर अपने आराध्यों को प्राप्त करने के लिए ऐसे भाव-मधुर साहित्य की रचना की है, जिसका प्रचलन आज समस्त भक्त समाज मे है।

सर्वशक्तिमान् शिव भारतीय गृहस्थ जीवन के प्रतीक हैं। उनका जीवन एक साधारण गृहस्थ के जीवन की भाँति सतत सघर्षों, विषमताओ और विपदाओ मे बीता। इसलिए भारतीय धर्म प्राण जनता का शिव के प्रति श्रद्धा-पूजा-आराधना का भाव सनातन है। दक्षिण भारत मे जिस प्रकार तमिल वैष्णव आलवारो ने विष्णु तथा कृष्ण की भक्ति की, उसी प्रकार तमिल शैव नयनारो, सम्बन्धर, अप्पर और सुन्दरमूर्ति भक्त कवियो ने समाज मे अपने भजनो को गा गाकर जन-सामान्य मे अपने भक्तिमार्ग को प्रचलित किया। नयनार भक्त कवि अपने अनुयायियो के साथ मन्दिर मन्दिर मे जाया करते थ और नटराज तथा उमा की मूर्तियो के चारो ओर बैठकर अपने भजनो को गाते हुए भाव विह्वल होकर नाचते थे। उनके पीछे भक्त जनो का ताँता लगा रहता था। चैतन्यमत के भक्तो की भाँति ये नयनार शिव भक्त टोली बाँधकर 'नगर कीर्तन' करते थे।

आज भी भारत की समस्त जनता समान श्रद्धा निष्ठा से शिव को अपना आराध्य देव मानती है और उसकी पूजा मे विश्वास रखती है। अन्य देवी देवताओ का प्रभाव क्षेत्रीय या आचलिक है। दक्षिण भारत मे विष्णु की पूजा की प्रधानता है, पश्चिम मे श्रीकृष्ण भक्ति प्रमुख है। उत्तर मे राम-नाम की महिमा व्याप्त है और पूर्व मे शक्ति की उपासना का प्रचार है, किन्तु शकर के प्रतीक लिंग की पूजा भक्ति का प्रचलन समस्त भारत मे है।

शिव की ही भाँति शक्ति का अस्तित्व भी सनातन तथा सर्वव्यापी है। शक्ति, वस्तुत अपररूप 'भक्ति' ही है। बिना भक्ति के उसे प्राप्त करना असभव बताया गया है। प्राचीन धार्मिक सम्प्रदाय के उपासक की एक आराध्या शक्ति रही है और इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप मे शक्ति का उपासक रहा है। वेदो की वाक्, सरस्वती, श्रद्धा, महालक्ष्मी, महाशक्ति, पृथ्वी और अदिति आदि स्त्री शक्तियाँ आज के भारतीय जन

मानस में आराधना, श्रद्धा, पूजा, अर्चना और सर्वपापविनाशिनी के रूप में ध्यायी जाती हैं। वे आज भी विभिन्न धार्मिक कार्यों की अधिष्ठात्री मानी जाती हैं। आदिकवि वाल्मीकि और पुराणकार व्यास ने 'रामायण' तथा 'महाभारत' में सृष्टि-सम्मोहिनी जगद्धात्री की स्तुति की है। 'रामायण' की सीता और 'महाभारत' की द्रौपदी देहधारी मानव जगत् की ऐसी महाशक्तियाँ हैं, जिनके दिव्य चरितों एवं आदर्शों की पूजा आज भी प्रत्येक भारतीय करते हैं। लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती और राधा भक्त-प्रवण भारतीय समाज की आराध्या पूज्या हैं। 'दुर्गासप्तशती' का पाठ आज स्मार्तों, वैष्णवों शैवों और शाक्तों, सभी धर्मानुयायियों में प्रचलित हैं।

धर्म-प्रवर्तक पूर्वाचार्यों के मतों का अनुशीलन करने पर ज्ञान होता है कि मूल सौन्दर्य की शाश्वत सुन्दरता, जो कि विश्व को सम्मोहित किये हुए है, उसको प्राप्त करने का साधन भक्ति ही है। भगवान् के पास पहुँचने का वह एक मार्ग है। पूर्वाचार्यों ने कहा है—'जिस प्रकार अग्नि के निकट पहुँचने पर शीत की निवृत्ति या उष्णता का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रभु के निकट पहुँच कर दुःख-ताप की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। उस स्थिति में पहुँचकर भक्त समस्त दोषों, दुःखों तथा मलिनताओं से छुटकारा पा जाता है। उसके समस्त गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। भगवान् की स्तुति, प्रार्थना, आराधना से पुरुषार्थ प्राप्त होता है। आत्मा का बल प्राप्त होता है। ऐसा भक्त अपार दुःख को वहन करता हुआ अन्त में सायुज्य गति को, भगवान् के सान्निध्य को, निरतिशय परमानन्द गोलोक को प्राप्त करता है।'

इस प्रकार भारत के जन-मानस ने भक्ति को वरण कर युग-युगों में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक उद्देश्यों की पूर्ति कर आत्मसंकट और राष्ट्रसंकट की दुर्दमनीय परिस्थितियों में आत्मरक्षा तथा राष्ट्ररक्षा की। भक्ति की मंगलमय छाया में विश्व का जनमानस आज भी अटूट सूत्र में बँध कर अखण्ड एवं एकरस है।

सुदूर अतीत से अब तक भक्ति भारतीय जीवन का अभिन्न अंग बनी हुई है। उसने न केवल धर्म के अस्तित्व की रक्षा की, अपितु भारतीय संस्कृति को भी अपने मंगलमय वरदान दिये। उसमें समय-समय पर जो भारतेतर धर्म, विश्वास, आस्थाएँ, मान्यताएँ, मत-मतान्तर प्रविष्ट हुए उन सबको अपने अंचल में समेट कर उसने उन्हें संरक्षण दिया। यह सनातन भक्ति-भावना भारत की ऐसी उदात्त एवं अक्षय थाती रही है, जिसने भारतीय संस्कृति को विश्वजनीन स्वरूप प्रदान किया।

भक्ति साहित्य

भक्ति के विभिन्न पक्षों को लेकर धर्म प्रवर्तक आचार्यों ने समय-समय पर विपुल साहित्य की रचना की, जिसका अधिकतर भाग आज भी विभिन्न हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों में हस्तलेखों के रूप अप्रकाशितावस्था में है। 'भगवद्-गीता', 'महाभारत' और 'भागवत' भक्ति साहित्य के सर्वस्व एवं मूलस्रोत हैं। उनके अतिरिक्त सूत्र-शैली में विरचित 'नारदभक्ति सूत्र' 'शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र' भक्ति-विषयक प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार यामुनाचार्य की 'चतुःश्लोकी', रामानुजाचार्य के तीन स्तुति-काव्यों में 'शरणागतिगद्य', कृष्ण-लीलाशुक का 'कृष्णकर्णामृत', माधवाचार्य का 'द्वादशस्तोत्र' और वल्लभाचार्य का 'भागवतलीला-रहस्य' आदि भक्ति विषयक उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। मध्ययुगीन अन्य भक्ति रचनाओं में रूपगोस्वामी का 'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'उज्ज्वलनीलमणि', मधुसूदन सरस्वती का 'भक्तिरसायन' और नारायण की 'भक्तिचन्द्रिका' का नाम प्रमुख है।

भक्ति साहित्य का समृद्ध स्वरूप स्तोत्र-ग्रन्थों के रूप में प्रकाश में आया। ये स्तोत्र सैकड़ों की संख्या में लिखे गये और उनके रचयिता भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से सम्बन्धित थे। इन स्तोत्र-काव्यों में भक्त हृदय की ऐसी तन्मयता, आतुरता एवं विह्वलता प्रकट हुई, जिसको भक्ति की चरम परिणति कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रमुख स्तोत्रों में जैन कवि सिद्धसेन दिवाकर का 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र', मानतुंगाचार्य का 'भक्तामरस्तोत्र' और शंकराचार्य की लगभग दस स्तोत्र रचनाओं में 'शिवानन्दलहरी' और 'सौन्दर्यलहरी' प्रमुख हैं। इसी प्रकार कवि पुष्पदन्त का 'महिम्नस्तोत्र', वेदान्तदेशिक के लगभग २५ स्तोत्र-काव्यों में 'अच्युत शतक' (प्राकृत), मधुसूदन सरस्वती की 'आनन्दमन्दाकिनी' और पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' भक्ति साहित्य की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

धार्मिक सम्प्रदाय

वैदिक युग से लेकर परवर्ती पुराण युग और उत्तरमध्य युग तक अनेक धार्मिक सम्प्रदायो का उदय हुआ। पुराणो तथा तान्त्रिक ग्रन्थो मे कतिपय प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायो का उल्लेख हुआ है। किन्तु जिनका नामोल्लेख नही हुआ है, उनमे कतिपय ऐसे भी थे, जो अल्प समय मे ही काल-कवलित हो गये, अथवा ऐसे भी रहे, जिन्हे न तो शास्त्रीय मान्यता प्राप्त हुई और न सामाजिक सम्मान ही। 'पद्मपुराण' मे चार वैष्णव सम्प्रदायो का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मता ।
अत कलौ भविष्यन्ति चत्वार सम्प्रदायिन ॥
श्रीमध्व रुद्र-सनका वैष्णवा क्षितिपावना ।

इस प्रकार उक्त पुराण मे वैष्णवधर्म के केवल चार सम्प्रदाय बताये गये हैं—मध्व, रुद्र, सनक और शैव। इस गणना मे शैव सम्प्रदाय को भी वैष्णवमत के अन्तर्गत रखा गया है।

पुराणो के ही समय और उनके बाद धार्मिक सम्प्रदायो की इस सख्या मे निरन्तर वृद्धि होती गई। 'शक्तिसगमतन्त्र' के समय तक इन सम्प्रदायो की सख्या अधिक हो गई थी। उनको दो प्रमुख भागो मे विभक्त किया गया है—पाशुपत और वैष्णव। उनमे पाशुपत की सात शाखाएँ और वैष्णव की दस शाखाओ का उल्लेख हुआ है—

वैखान सामवेदादी श्रीराधावल्लभी तथा।
गोकुलेशो महेशानि तथा वृन्दावनी भवेत् ॥
पाञ्चरात्र पञ्चम स्यात् षष्ठ श्रीवीरवैष्णव ।
रामानन्दी हरिव्यासी निम्बार्कश्च महेश्वरि ॥
ततो भागवतो देवी दश भेदा प्रकीर्तिता ।
शिखी मुण्डी जटी चैव द्विनिदण्डी क्रमेण च ॥
एकदण्डी महेशानि वीरशैवस्तथैव च ।
सप्त पाशुपता प्रोक्ता दशधा वैष्णवा मता ॥

उक्त तन्त्र-ग्रन्थ की इस गणना मे सम्प्रदायो के उदय का ऐतिहासिक क्रम नही है। किन्तु जिन नामो का उल्लेख किया गया है, उन सभी का अस्तित्व था। उनमे से कुछ सम्प्रदाय तो अपनी उपशाखाओ मे भी पल्लवित हुए और

सम्प्रति उनके उपलब्ध वृहत् साहित्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि व्यापक भारतीय जन-मानस पर उनका अत्यधिक प्रभाव बना रहा।

इन विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो ने अलग-अलग रूप मे अपना विकास किया। सम्प्रति उनकी जो स्थिति है, उसके आधार पर उन्हे तीन प्रमुख वर्गों मे अलग कर के देखा जा सकता है। वे है—१ शैव सम्प्रदाय, २. शाक्त सम्प्रदाय और ३ वैष्णव सम्प्रदाय। साधना और आचार की भिन्नता के कारण इन तीनो शाखाओ का विकास अलग-अलग रूप मे हुआ।

शैव सम्प्रदाय

परमशिव या रुद्र की साधना को लेकर जिस धर्मशाखा का उदय हुआ, उसे शैवमत या शैव सम्प्रदाय कहा गया है। शैवमत के धर्म-दर्शन मे शिव को सृष्टि, स्थिति और लय तीनो का कर्त्ता बताया गया। सृष्टिकर्ता के रूप मे वे ब्रह्मस्वरूप, हरिहर के रूप में विष्णुस्वरूप और महासहारक के रूप मे रौद्ररूप हैं। वे समस्त सृष्टि के सार्वभौम क्रिया-कलापो के अधिष्ठान और जीव-जगत् के अधिपति हैं।

शिवोपासना का आरम्भ लिंगपूजा से हुआ, जो कि वैदिक आर्यों और आर्येतर जातियो मे प्रचलित थी। पुराणकाल मे आदिरुद्र को शिव के रूप मे पूजा गया। पुराणो मे ही शिव के स्वरूप का दिग्दर्शन हुआ और शिवोपासना की परम्परा प्रवर्तित हुई। शकराचार्य (८वी शती) से पूर्व ही समस्त भारत मे शिव के प्रति जननिष्ठा व्याप्त हो चुकी थी। काशी, काची, मालावार और गान्धार तक शिव-मन्दिरो की स्थापना हो चुकी थी। शकराचार्य की धार्मिक दिग्विजय मे शिव की सत्ता को सर्वोपरि महत्त्व प्राप्त हुआ।

आरम्भ मे शैवमत पाशुपत तथा आगमिक दो शाखाओ मे विभाजित हुआ। कालान्तर मे आगमिक शैवो की अनेक उपशाखाएँ बनी, जिनके नाम ये—१ सामान्य शैव, २ मिश्र शैव, ३. कापालिक शैव, ४ वीर शैव, ५ तामिल शैव, ६ काश्मीर शैव, ७ लकुलीश शैव और ८. रसेश्वर शैव। इन शाखाओ मे वीर शैवो, तमिल शैवो, कश्मीर शैवो और रसेश्वर शैवो का अधिक प्रचार-प्रसार हुआ।

वैष्णवमत की भाँति शैवमत आज भी भारत के सभी अचलो मे प्रचलित है। शिव की पूजा उपासना का जो रूप आज जननिष्ठा का विषय बना हुआ है, वह वैष्णवमत से अभिन्नता रखता है। वस्तुत जनसामान्य मे विष्णु तथा शिव दोनो की आराधना-पूजा मे किसी प्रकार का भेद-भाव नही है। विष्णु-भक्त शिव-भक्त भी हैं, और इसी प्रकार शिव-भक्त विष्णु के प्रति भी उतनी ही श्रद्धा-निष्ठा रखते हैं।

शाक्त सम्प्रदाय

शैवमत की ही भांति शाक्तमत भी अत्यन्त पुरातन है। शक्ति की उपासना आर्य तथा आर्येत्तर जातियों में समान रूप से प्रचलित थी। सृष्टि की आद्याशक्ति का अस्तित्व भारत के सभी धर्मानुयायियों ने वरण किया। पुराण काल में महाशक्ति के विभिन्न स्वरूपों की कल्पना की गई और उनकी अनेक उपासना-विधियों का प्रचलन हुआ। परमेश्वर की इच्छारूप बीजशक्ति से ही सृष्टि का उदय माना गया है।

शाक्तमत की आरम्भ में दो प्रमुख शाखाएं प्रचलित हुईं, जिनके नाम थे—पश्वाचारी और वीराचारी। पश्वाचारी शाखा के अनुयायी शाक्त मद्य-मांसादि का सेवन वर्जित मानते हैं, जब कि वीराचारी शाखा के अनुयायी उनका अनिवार्य सेवन करते हैं। इन दोनों शाखाओं के अनुयायी शक्ति उपासकों के लिए सात प्रकार के आचारों का विधान किया गया है। ये सात आचार हैं—१. वेदाचार, २ वैष्णवाचार, ३. शैवाचार, ४. दक्षिणाचार, ५. वामाचार, ६ सिद्धान्ताचार और ७. कौलाचार। यद्यपि इन सप्तविध आचारों का शास्त्र-दृष्टि से पालन करने का निर्देश समस्त शाक्तमतानुयायियों के लिए किया गया है, किन्तु वस्तुत कालान्तर में बहुधा एक-एक आचार को लेकर शाक्तों की अनेक शाखाएँ बन गईं, जिनमें पारस्परिक आचार-भिन्नता देखने को मिलती है। वामाचार या कौलाचार उपासना-पद्धति के कारण शाक्तमत की उदात्त धारणा लोकनिन्दा का विषय बनी और उसके फलस्वरूप शाक्तमत का विकास अवरुद्ध हो गया।

आज के भारतीय जनमानस में शिव और विष्णु की पूजा-प्रतिष्ठा की भांति शक्ति की पूजा-प्रतिष्ठा का भी देशव्यापी प्रचलन है। शक्ति के तान्त्रिक उपासकों की संख्या आज भले ही कम हो, किन्तु लोक-विमोहिनी, ताप-पाप-विमोचिनी भगवती दुर्गा की पूजा-प्रतिष्ठा-आराधना का प्रचलन आज भी भारत के घर-घर में है। सुदूर अज्ञात अतीत से अब तक शिव और शक्ति के प्रति नगरों से लेकर गांवों की धर्मप्राण जनता में अपार भक्ति-भावना विद्यमान है। 'भगवद्गीता' की ही भांति 'दुर्गासप्तशती' प्रत्येक धर्म-निष्ठ परिवार की पवित्र पुस्तक है।

वैष्णव सम्प्रदाय

वैष्णव सम्प्रदाय को रूढार्थ में ग्रहण करनेवाले कुछ विद्वान् स्मार्तों (स्मृति धर्मानुयायी) और श्रौतों (वेद धर्मानुयायी) भेद से वैष्णवों तथा वैष्णवेतरों की भिन्नता स्थापित करते हैं। उनकी दृष्टि से श्रौत ही

वास्तविक वैष्णव हैं और स्मार्तों से अलग हैं। किन्तु यदि देखा जाये तो श्रौत भी बहुत कुछ आचारिक दृष्टि से यज्ञोपवीत, उपनयन तथा विवाह आदि संस्कारो को गृह्यसूत्रो मे प्रोक्त कर्मकाण्डीय विधियो के अनुसार सम्पन्न करते हैं। इन संस्कारो के बिना श्रौतो का 'श्रौतत्व' सिद्ध नही होता है। इसलिए श्रुति-आधारित स्मार्त-कर्मों के अनुयायी होने के कारण वैष्णवो तथा वैष्णवेतरो मे विशेष भिन्नता दृष्टिगोचर नही होती है।

पुराणों मे विष्णु और शिव की उपासना का विशेष उल्लेख किया गया है। किन्तु उन दोनो को वैष्णव नही माना गया है, क्योंकि विष्णु और शिव, दोनो की भक्ति तथा उपासना मे अविरोध है। 'नारदपुराण' के आरम्भिक उपक्रम मे कहा गया है कि 'जो शिवार्चना मे निरत है, त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं, शिव या विष्णु का नाम जपते हैं, रुद्राक्ष से अलङ्कृत होते हैं, शिव या विष्णु मे जिनकी समान बुद्धि है, वे सब 'भागवत' हैं'—

शिवेन परमेशे च विष्णौ च परमात्मनि।
समबुद्धया प्रवर्तन्ते ते वै भागवता स्मृता॥

इस प्रकार विष्णु और शिव मे समान निष्ठा रखनेवाले दोनो प्रकार के भक्त तथा उपासक भागवत या वैष्णव हैं। जैसे विष्णुनिष्ठ वैष्णव हैं, वैसे ही शिवनिष्ठ भी वैष्णव ही हैं। इस दृष्टि से जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय वेदानुगत धर्म को मानने वाले हैं, वे सभी भागवत या वैष्णव हैं।

'वैष्णवत्व' का अधिकार प्राप्त करना असहज है। वास्तविक वैष्णव वह है, जो समस्त इच्छाओं से निर्मुक्त हो चुका है। समस्त सासारिक कर्मों से जो सन्यास ले चुका है, ऐसा परिव्राजक ही वास्तविक वैष्णव है।

धार्मिक सम्प्रदायो की परम्परा मे शैव तथा शाक्त मतो की अपेक्षा वैष्णवमत का सर्वाधिक प्रचार प्रसार एव प्रभाव रहा है। यह प्रभाव सुदूर अतीत से लेकर आज तक एक जैसे रूप मे बना हुआ है। उसका कारण विष्णु का दशावतारी स्वरूप है। विष्णु के इन दस रूपो मे राम और कृष्ण के दिव्य, लोकरक्षक एव लोकमगलकारी स्वरूपो को विभिन्न भावो मे भजा गया। राम और कृष्ण, दो ही एकमात्र ऐसे उपास्य देव रहे हैं, जिनके अलौकिक चरितो को लोकनिष्ठाओं के अनुरूप प्रस्थापित करके जन-मानस की सवेदनाओं को समरस किया गया।

विष्णु की उपासना को, उनके विभिन्न नाम रूपो, अवतारो को लेकर जिन धार्मिक सम्प्रदायो का उदय हुआ, उनकी सख्या अनन्त है। उनमे जो प्रमुख हैं और जिनकी परम्परा समृद्ध रूप मे आगे बढती रही, उनके नाम हैं—रामानुज सम्प्रदाय (११वी शती), माध्व सम्प्रदाय (१२वीं शती),

निम्बार्क सम्प्रदाय (१२वीं शती), विष्णुस्वामी सम्प्रदाय (१३वीं शती), नामदेव-तुकाराम सम्प्रदाय (१३वीं शती), चैतन्य सम्प्रदाय (१५वीं शती), वल्लभ सम्प्रदाय (१५वीं शती), कबीर सम्प्रदाय (१५वीं शती) और तुलसी सम्प्रदाय (१६वीं शती)।

इनके अतिरिक्त सनक सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय, नारायण सम्प्रदाय, रामदासी सम्प्रदाय, दत्तात्रेय सम्प्रदाय, महापुरुषिया सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय, स्कन्द सम्प्रदाय, गाणपत्य सम्प्रदाय और सौर सम्प्रदाय आदि अनेक शाखा-उपशाखाओं के रूप में वैष्णव धर्म का प्रसार हुआ।

वैष्णवधर्म की इन शाखा-उपशाखाओं पर संस्कृत, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में जितना साहित्य लिखा गया, उसका भण्डार अनन्त है। यह अपार साहित्य भारत के गौरवमय बौद्धिक चिन्तन का साक्षी है, और आज भी भारत के अस्तित्व का संवाहक है। उसकी गरिमामयी, कीर्तिशाली परम्परा का शाश्वत प्रतीक है।

योग सम्प्रदाय

वैदिक धर्मानुयायी आस्तिक समाज में शैव, शाक्त तथा वैष्णव शाखाओं के अतिरिक्त योगविद्या पर आधारित योगमत या योग सम्प्रदाय की अपनी अलग उपासना-पद्धति रही है। शाक्तमत में वामाचारी उपासना ने और बौद्ध धर्म में वज्रयान की चामत्कारिक सिद्धियों ने उसके महत्त्व को कम कर दिया था। इन वज्राचारी सिद्धों तथा वामाचारी तांत्रिकों ने परम्परागत योग साधना को विस्मृत कर दिया।

इन परिस्थितियों में योग-साधना की भारतीय परम्परा को पुनरुज्जीवित करने में जिन धार्मिक ग्रन्थों का महत्वपूर्ण योगदान रहा, उनमें 'नाथ सम्प्रदाय' का नाम उल्लेखनीय है। महाभारत काल में योग-साधना का जो स्वरूप प्रचलित था, उसी को नाथपन्थी सिद्धों ने उजागर किया। यद्यपि नाथों ने भी शिव और शक्ति को ही अपनी उपासना का आधार बनाया, किन्तु शैवों और शाक्तों से वह भिन्न है। इस सम्प्रदाय के महायोगियों में जालन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, कृष्णपाद और गोरखनाथ का नाम अग्रणी है। इन चार महायोगियों में भी मत्स्येन्द्रनाथ (९ वीं शती) और उनके शिष्य गोरखनाथ (१० वीं शती) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अद्वैत शिव की साधना पर बल दिया और सदाचार तथा ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया।

प्राचीन योग-मार्ग या योगमत की चार प्रमुख शाखाओ का उल्लेख देखने को मिलता है, जिनके नाम है—मत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इन चारो शाखाओ की साधना के लिए आठ सीढियाँ बनाई गई है—यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। मत्रयोग की साधना को 'महाभाव समाधि' हठयोग की साधना को 'महायोग समाधि' लययोग की समाधि को 'महालय समाधि' और राजयोग की समाधि को 'निर्विकल्प समाधि' कहा गया है।

इसी योगी मार्ग के उद्धारक गोरखनाथ हुए। उन्होने योगी मार्ग को स्वतत्र सम्प्रदाय के रूप मे प्रतिष्ठित किया और उसको इतना व्यापक बनाया कि उनके समय मे ही उसकी बारह उप शाखाएँ बन चुकी थी। इस योगी मार्ग के अनुयायी कानफडा सिद्ध है। इन बारह पन्थो के सिद्ध, साधक, फकीर, वैरागी आदि बाना धारण करने वाले अनेक अनुयायी हुए, जिनके कारण यह धर्म पन्थ त्वरित गति मे लोक-प्रचारित हुआ।

इस योगी मार्ग मे आगे चलकर अनेक प्रसिद्ध सिद्ध एव सन्त हुए, जो कि हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। मुसलमान फकीरो मे सन्त इमामशाह (१५ वी शती) का नाम उल्लेखनीय है। उन्होने अपना स्वतत्र 'पीराना पन्थ' प्रचलित किया। अपने धर्म मार्ग मे उन्होने गुरु के महत्व को प्रतिपादित किया। और सत्यधर्म का प्रचार-प्रसार किया। इस मत के गुरुओ को 'काका' कहा जाता है। वे हिन्दू और मुसलमान, दोनो हैं। वे मदिरा आदि दुर्व्यसनो से अलग रहकर सादा तथा पवित्र जीवन बिताने मे विश्वास करते हैं।

योग मार्ग की साधना पद्धति को कबीर, नानक, दादू, और प्राणनाथ आदि सन्तो एव समाज सुधारक भावना से ओत-प्रोत जीवन्मुक्त महात्माओ ने प्रशस्त किया। उन्होने एक ओर तो मूर्तिपूजा का खण्डन कर निर्गुण, निराकार, अद्वैत परमेश्वर की उपासना पर बल दिया और दूसरी ओर जात पाँत तथा कर्मकाण्ड के पाखण्डो का खण्डन किया। सन्तो एव साधको की यह परम्परा बहुत लम्बी है और उसका प्रचार-प्रसार सारे भारत मे हुआ।

योगमत की एक प्राचीन शाखा 'दत्तात्रेय मत' के नाम से भी प्रचलित है। भगवान् दत्तात्रेय एक ऋषिकुलीन ब्रह्मज्ञानी थे। किन्तु इस मत का प्रचलन कालान्तर मे किसी अज्ञात नाम योगी ने किया। इस मत मे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यास को ही स्थान है, गृहस्थ को कोई स्थान नही दिया गया है। गृहत्यागी एव उदासीन योगियो के लिए ही इस मत मे प्रवेश करने की अनुज्ञा है। यह पन्थ ज्ञानमार्गी है।

इसी प्रकार महाभारतकालीन धर्म शाखा 'स्कन्द सम्प्रदाय' को लोक-प्रचलित होने का समय १० वीं शती के लगभग हैं। स्कन्द सनातन ब्रह्मचारी थे, जिन्हें कुमार भी कहा गया है। योग-मार्ग की साधना मे स्कन्द को पवित्र शक्ति का प्रतीक माना गया है। तपस्या तथा योग-साधना द्वारा अर्जित ब्रह्मवर्चस्व का प्रतीक ही स्कन्द है।

सम्प्रदाय शब्द का वर्तमान स्वरूप

सम्प्रदाय शब्द अपने वर्तमान स्वरूप मे कुछ भिन्नार्थक प्रयुक्त होता है और विकृत रूप मे ग्रहण किया जाता है। उसको कौमी प्रतिद्वन्द्विता एव धार्मिक द्रोह का रूप दिया गया है। सम्प्रदाय को कौम का पर्याय मानकर आज साम्प्रदायिक सघर्ष एव साम्प्रदायिक दगे आदि का प्रयोग किया जाता है, जो कि धर्मान्धता का परिचायक है और कतिपय समाजद्रोही लोगों की देन है। 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द भी इसी प्रकार की भ्रान्ति फैलाने वाला राजनीतिज्ञों का एक अविचारित, निरर्थक, अबुद्धिमत्ता का परिचायक है। निरपेक्षता का अर्थ अपेक्षाहीन, सिद्धान्तहीन, अस्तित्वहीन हो सकता है। निरपेक्ष व्यक्ति न तो अपने प्रति और न देश के प्रति निष्ठावान् हो सकता है। अतएव 'सम्प्रदाय' और 'निरपेक्ष' इनके प्रचलन से भारत की गरिमा, उसकी उन्नत परम्परा का अपहनन हुआ है।

भारत की उन्नत धर्म-परम्परा मे 'सम्प्रदाय' शब्द को एक विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता रहा है। सम्प्रदाय वस्तुत एक ऐसी सस्था है, ऐसा समाज है, जो गुरु-परम्परागत या आचार्य-परम्परागत है। गुरु-परम्परा से जिसके आचार-विचार परिशुद्ध हैं, ऐसे सदुपदिष्ट व्यक्तियो का विशिष्ट समाज ही 'सम्प्रदाय' है। 'प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय का उद्देश्य जन कल्याण का रहा है। जितनी भी अनन्त बुराइयां और पापाचार हैं, उनसे विरत रहना और व्यापक मानव-समाज मे सद्भाव, सदाचार और सद्विचार स्थापित करना ही प्रत्येक धार्मिक पन्थ, मत या सम्प्रदाय का लक्ष्य रहा है। सम्प्रदाय का जातीय सघर्षों तथा कौमी दगों से कभी भी कोई सम्बन्ध नही रहा है। धर्मान्धता तथा हिंसा का सम्बन्ध सम्प्रदाय से जोडना न केवल देशभक्ति के प्रति अवमानना है, अपितु परम्परा के प्रति भी विश्वासघात है।

पुरातन भारतीय शासकों की धर्मानुरागिता

धर्म भारतीयता का प्रतीक या पर्याय रहा है। इसलिए प्राचीन भारत मे जितने भी शासक, सम्राट् या राजा महाराजा हुए, उन्होने धर्म का वरण किया और उसके प्रति निष्ठावान् रहकर अपने शासन का सचालन किया। प्राचीन भारत के शासको की धर्मानुरागिता उनकी प्रशस्तियो तथा उनके अभिलेखो मे सुरक्षित है।

सम्राट् अशोक भारत का प्रथम सम्प्रभुतासम्पन्न सम्राट हुआ, जिसके शासन काल से भारतीय इतिहास की गौरवशाली परम्परा स्थापित हुई। लोक को धर्म भावना की जानकारी देने और समाज को धर्ममार्ग का अनुसरण करने के उद्देश्य से उसने लेख खुदवाये और अपने साम्राज्य के विभिन्न अचलो मे उन्हे प्रतिष्ठित किया। उसने अपने शासन को धर्मराज्य घोषित किया। उसके चौथे, आठवें तथा नवें अभिलेख मे उसकी धर्म-यात्रा, धर्म-सगत तथा धर्म शासन का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। उसने अपने ग्यारहवें अभिलेख मे स्पष्ट कहा है कि 'धर्मदान के अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य बढकर नही है'। इस अभिलेख मे उसने यह राजाज्ञा उत्कीर्णित करवाई कि समस्त प्रजाजनो से उचित व्यवहार किया जाये। दास से समुचित आचरण किया जाये। माता पिता की सेवा की जाये। साधु ब्राह्मण का दर्शन कर उन्हे दान दिया जाये। प्राणिहित किया जाये। ऐसा आचरण करने पर इस लोक मे सुखोपलब्धि होगी और परलोक मे भी पुण्य प्राप्त होगा। अशोक ने अपने अभिलेखो को धर्मलिपि (अय धर्म-लिपि) नाम से कहा है।

अशोक की उक्त आज्ञाओ का अनुशीलन करने पर प्रतीत होता है कि उसने किसी विशिष्ट धर्मानुयायी के नाते अपने धर्म प्रचार के लिए राजाज्ञाएँ उत्कीर्णित नही करवाई। यद्यपि वह बौद्धधर्मानुयायी था, किन्तु धर्मस्वातन्त्र्य उसके शासन की विशिष्टता रही है। कलिंग के नर सहार ने उसको आत्मा-नुशीलन के लिए बाध्य किया और युद्धोन्माद के उद्देश्य का सर्वथा परित्याग कर उसने धर्म द्वारा विश्व विजय का सकल्प कर लिया था। उसने मानव-मगलकारी बौद्धधर्म की सार्वभौम भावना मे स्वय को समर्पित कर दिया और उसके प्रचार-प्रसार को ही जीवन का लक्ष्य बना लिया। शान्ति, सद्भाव और मानव-कल्याण की स्थापना के लिए उसने देश-विदेश मे अपने विद्वान् धर्मदूतो को भेजा। उसने कई हजार स्तूपो का निर्माण करवाया, मठ बनवाये

और विशेष रूप से नियुक्त धर्ममहापात्रों द्वारा अहिंसा का पाठ प्रचारित किया। उसने मानव मंगल के लिए धर्म को ही एकमात्र आधार स्वीकार कर लिया था।

सम्राट् अशोक की धर्म-सहिष्णुता एवं धार्मिक उदारता का अनुसरण दक्षिण के शुंगों ने भी किया। जिस प्रकार अशोक ने बौद्धधर्म के प्रति अनुराग रखते हुए भी समस्त धर्मों का सम्मान किया, उसी प्रकार शुंगों ने भी परम्परागत बौद्धधर्म के उच्चादर्शों का अनुसरण-पालन करते हुए ब्राह्मण धर्म को उजागर किया। उन्होंने एक ओर तो भरहुत वेदिका पर अभिलेख खुदवा कर बौद्धधर्म के प्रति अपनी निष्ठा अभिव्यक्त की और दूसरी ओर वैदिक यज्ञों की परम्परा को स्थापित कर ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान किया। ई० पूर्व प्रथम शती में वर्तमान पुष्यमित्र शुंग के अयोध्या अभिलेख से विदित होता है कि उसने दो अश्वमेध यज्ञों का आयोजन किया था (द्विरश्वमेधयाजिन सेनापते पुष्यमित्रस्य)।

सातवाहन शासकों ने भी धर्म के प्रति 'धर्माय नमः' कह कर अपनी निष्ठा व्यक्त की। ई० पूर्व प्रथम शती में उत्कीर्ण नानाघाट के अभिलेखों से विदित होता है कि सातवाहनों ने अग्न्याधेय, अनारम्भणीय, राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ किये थे। इस प्रकार सातवाहन शासक भी ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। किन्तु बौद्धधर्म के प्रति भी उनकी निष्ठा का परिचायक साँची स्तम्भ का अभिलेख है।

धार्मिक अभिरुचि से प्रेरित होकर नहपान के जामाता ऋषभदत्त या उषवदत्त (प्रथम शती) ने प्रभास तीर्थ में ब्राह्मण कन्या के विवाह के लिए दान दिया था। उसके नासिक अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है उसने बौद्ध धर्म को भी गुफा-दान दिया था। प्रथम शती ई० में वर्तमान महाक्षत्रप रुद्रदामन ने प्रचुर धन दान करके लोकहित के लिए विशाल बाँध बनवाया था। उसके पुत्र रुद्रसिंह प्रथम के गुफालेख से उसकी धार्मिक उदारता प्रकट होती है।

भारतीय शासकों में धर्म की ज्योति को उजागर करने और उसके प्रकाश में राष्ट्र को सन्मार्ग पर ले जाने में कनिष्क का नाम उल्लेखनीय है। प्रथम शती ई० में मौर्य अशोक की भाँति कुषाण सम्राट् कनिष्क का सुख समृद्धि-पूर्ण शासन विशुद्ध रूप से धर्म पर आधारित था। उसने अपने पूर्ववर्ती शुंग-सातवाहनों के वैदिक धर्म या ब्राह्मण धर्म को गौण और बौद्धधर्म को प्रमुखता दी थी। उसने पूर्णरूप से बौद्धधर्म का वरण कर लिया था और अपनी प्रजा को भी इसके लिए प्रोत्साहित किया। उसने चौथी बौद्ध-संगीति

(बौद्ध विद्वत्सभा) का आयोजन कर बौद्धधर्म की भावी उन्नति के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की। उसके प्रयास से मथुरा, काशी तथा सारनाथ में बौद्धारामों का निर्माण हुआ और बुद्ध प्रतिमाएँ स्थापित की गईं। उसने अनेक धर्म-लेख उत्कीर्णित करवाये। उसके इन धर्मलेखों के आधार पर ही आधुनिक इतिहासकारों ने उसके साम्राज्य की सीमाओं को खोज निकाला था। अपने सिक्कों पर उसने बुद्धाकृति उत्कीर्णित कर अपने अगाध धर्म विश्वास को अभिव्यक्त किया।

शुंगों तथा सातवाहनों का ब्राह्मण धर्म के प्रति अनुराग का प्रभाव परवर्ती शासकों पर भी परिलक्षित हुआ। उदाहरणस्वरूप तीसरी शती ई० में वर्तमान नागवंशीय राजाओं में काशीनरेश पारशिव ने दश अश्वमेध यज्ञ करके काशी में दशाश्वमेध घाट का निर्माण एवं नामकरण किया था। इसी शती में वर्तमान दक्षिण भारत के शासक वीर पुरुषदत्त के नागार्जुनी पर्वत के पास के भग्नावशेषों के स्तूप-लेख में अग्निष्टोम, वाजपेय तथा अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख हुआ है।

भारतीय शासकों में धार्मिक अभिरुचि की भावना आगे भी निरन्तर प्रवर्तित होती रही। गुप्त सम्राट् विशुद्ध रूप से परम भागवत थे। उनके समय ब्राह्मण धर्म उत्कर्ष पर था। सम्राट् समुद्रगुप्त को अश्वमेध यज्ञों का पुनरुद्धारक (चिरोत्सन्नाश्वमेधकर्त्तु) कहा गया है। गुप्तों के समय की विशेष बात यह है कि उनके संरक्षण में बौद्धधर्म भी परम्परानुरूप में आगे बढ़ता गया। उनके शासन काल में सारनाथ में अनेक भव्य बुद्ध प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। कुमारगुप्त प्रथम का एक अभिलेख मनकुवाँ (इलाहाबाद) की बुद्ध प्रतिमा पर उत्कीर्णित है। उसी प्रकार कुमारगुप्त द्वितीय तथा बुधगुप्त ने भी बौद्ध प्रतिमाओं पर अपने लेख खुदवा कर बौद्धधर्म के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की।

पाचवीं शती ई० में वर्तमान दक्षिण के वाकाटकवंशीय शासक ब्राह्मण-धर्मानुयायी थे। रानी प्रभावती के अभिलेख में अनेक अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार राजा प्रवरसेन द्वितीय के ताम्र-पत्र में उसे चार अश्वमेध यज्ञ करने वाला बताया गया है।

बौद्धधर्म की परम्परा के अन्तिम संरक्षक एवं अनुरागी बंगाल के पाल-वंशीय शासक थे। बंगाल के धर्मपाल, देवपाल, नारायणपाल और सूरपाल सभी परम बौद्ध थे। पाल शासकों ने अशोक तथा कनिष्क की भाँति बौद्ध धर्म को राजधर्म का सम्मान दिया, जिसके प्रमाण उनके अनेक अभिलेख हैं। पाल शासकों के बौद्धधर्मानुराग के कारण बौद्ध कला में पाल शैली के नाम,

से एक नई कला शैली का प्रचलन हुआ। कुर्किहार (विहार) में उपलब्ध कास्य प्रतिमाओं पर देवपाल के शासन काल के लेख उत्कीर्णित हैं। इसी प्रकार खालिमपुर, मुंगेर, भागलपुर, बोधगया और बानगढ आदि विभिन्न स्थानों पर उत्कीर्णित प्रशस्तियाँ उनके बौद्धानुराग के पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

मध्ययुगीन भारत के कुछ शासकों में बौद्ध धर्म का प्रभाव बना रहा। गहडवाल राजा गोविन्दचन्द की रानी कुमारी देवी का बौद्धानुराग सारनाथ के एक प्रस्तर लेख से विदित होता है। उसमें कहा गया है कि उसने विहार के भिक्षुसंघ को दान दिया था।

इसी प्रकार परवर्ती मध्ययुगीन शासकों ने भी धर्म को अपने शासन का अभिन्न अंग बना कर अपनी प्रजा की सुख समृद्धि को बढाया। किन्तु यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि किसी भी शासक ने कभी भी अन्य धर्मानुयायियों के प्रति कोई द्वेष-वैमनस्य प्रकट तथा आचरित नहीं किया, अपितु अन्य धर्मानुयायियों की उच्च भावनाओं को स्वयं में समाहित किया।

(तीन)

महाभारतकालीन धर्मशाखाएँ

१ सात्वत मत
२ पाञ्चरात्र मत
३ भागवत धर्म
४ पुराणों में वेदविहित धर्म की पुनः स्थापना
५ सौर सम्प्रदाय
६ स्कन्द सम्प्रदाय
७ गाणपत्य मत
८ दत्तात्रेय मत

सात्वत मत

भारत की पुरातन धर्म-परम्परा मे भागवत, सात्वत और पाचरात्र, तीन मतो का उल्लेख देखने को मिलता है। यदुवश मे सत्वत नाम का एक राजा हुआ, जिसको कि 'वशकर' कहा गया है और जिसने सात्वतवश का प्रवर्तन किया। उसके पिता का नाम अशु और पुत्र का नाम सात्वत था। इसी यदुवशीय राजा सात्वत ने सात्वत मत का प्रवर्तन एव सवर्द्धन किया।

इस मत की परम्परा राजा सात्वत को कहाँ से प्राप्त हुई और उसका आगे क्या स्वरूप रहा, इसका उल्लेख 'महाभारत' (शा० ३३६।३१-४९) मे हुआ है। सात्वत मत की परम्परा मे सनत्कुमार को एक श्रेष्ठ आचार्य माना गया है। इस मत का ज्ञान उपदेश सर्व प्रथम ब्रह्मा ने सनत्कुमार को दिया, जिसे उन्होने वीरण प्रजापति को प्रदान किया (शा० ३३६।३७)। उपदेश की यह परम्परा वीरण प्रजापति से नारद मुनि को प्राप्त हुई और नारद मुनि ने उसे शुक को प्रदान किया। शुकदेव से उसका उपदेश राजा सात्वत को मिला। इस मत का सार 'महाभारत' (शा० ३१६।६) मे इस प्रकार उल्लिखित है— विद्या के समान श्रेष्ठ नेत्र इस ससार मे नही हैं, साथ ही सत्य के समान श्रेष्ठ तप, राग के समान घोर दु ख और त्याग के समान श्रेष्ठ सुख भी इस ससार मे दूसरा नही है'—

नास्ति विद्यासम चक्षुर्नास्ति सत्यसम तप ।
नास्ति रागसम दु ख नास्ति त्यागसम सुखम् ॥

इस प्रकार सात्वतमत परम्परा द्वारा लोकविश्रुत हुआ। 'कूर्मपुराण' मे यादववशीय लोगो को सात्वत कहा गया है और 'पद्मपुराण' मे सात्वतो को विष्णुभक्त के रूप मे अभिहित किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि आरम्भ मे सात्वत मत की भागवत मत से एकता थी। किन्तु 'मनुस्मृति' म सात्वतो को धाकर जातिविशेष के रूप मे परिगणित किया गया है। सात्वतो के सम्बन्ध मे इस विविधता का कारण सभवत यह हो सकता है कि महाभारत काल मे भागवतो तथा सात्वतो मे भक्ति तथा उपासना के क्षेत्र म जो एकरूपता थी, कालान्तर मे दोनो मतो के अनुयायियो मे परस्पर विरोध उत्पन्न हो गया था। इसलिए मनु ने सात्वतो के प्रति हीनता क भाव प्रकट किय है।

परवर्ती पुराणो मे भागवत धर्म का अधिक प्रचार-प्रसार हुआ और सात्वत मत की सगुण विष्णु या केशव भक्ति को उसने अपने अन्दर समा लिया, ठीक वैसे ही जैसे कि भागवत मत में पाचरात्र मत का समावेश हुआ।

'भगवद्गीता' मे प्रतिपादित निष्काम कर्म और वासुदेव की उपासना सात्वत मत का मुख्य उद्देश्य था। सात्वतो ने निष्काम कर्म के अतिरिक्त ज्ञान तथा भक्ति को भी आत्मोद्धार का साधन बनाया। 'पद्मपुराण' मे कहा गया है कि 'जो सभी कर्मों को त्याग कर अनन्य चित्त से श्रीकृष्ण, केशव या हरि की उपासना करता है, वही सात्वत भक्त कहलाता है।' 'हरिगीता' मे भी सात्वतो का उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार सात्वत भक्तो के उपास्य श्रीकृष्ण या विष्णु बन गये और भागवत मत के व्यापक प्रचलन के उपरान्त लगभग ७वी शती ई० के बाद न तो सात्वत मत का और न पाचरात्र मत का उल्लेख देखने को मिलता है।

पांचरात्र मत

प्राचीन धार्मिक मतों में पांचरात्र मत का भी एक नाम है। पांच प्रकार की ज्ञान-भूमियों पर आधारित एवं विचारित होने के कारण इस धार्मिक मत का ऐसा नामकरण हुआ—

रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्।

'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' (अध्याय ३४९) में पितामह भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर से प्रचलित पांच ज्ञानों की चर्चा करते हुए उन पांच ज्ञानों के समन्वित स्वरूप को 'मत' की संज्ञा दी थी। इन पांच मतों या ज्ञानों में उन्होंने पांचरात्र का भी उल्लेख किया—

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥

पांचरात्र मत के सम्बन्ध में उक्त उल्लेख यह सिद्ध करता है कि उसका इतिहास बहुत प्राचीन है। ईश्वर की सगुण उपासना के रूप में शिव तथा विष्णु, दोनों का देवत्व वैदिक युग में ही स्वीकार किया जा चुका था। महाभारत-युग में शिव की अपेक्षा विष्णु की सगुण उपासना-आराधना का बहु-प्रचलन हुआ और श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में माना जाने लगा था। 'महाभारत' के युग में ही परम्परागत विष्णु की उपासना को पांचरात्र के नाम से कहा जाने लगा था। पुराणों में इस विष्णु उपासनापरक पांचरात्र मत को अधिक व्यापकता तथा लोकमान्यता प्राप्त हुई। पुराणकार ऋषियों ने धर्म का सामान्यीकरण किया और उसे समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए सहज तथा श्रेयस्कर बनाया।

पांचरात्र मत का प्रथम अनुयायी राजा उपरिचर वसु हुआ। उसने ही पांचरात्र विधि से नारायण की पूजा का प्रचलन किया। इसकी कथा 'नारायणीय उपाख्यान' (महाभारत, शा० ३३४।३९) में वर्णित है। इस मत के आधार मूलरूप में नारायण रहे हैं। उक्त उपाख्यान में कहा गया है कि स्वायम्भुव मन्वन्तर में सनातन विश्वात्मा नारायण से नर, नारायण, हरि और कृष्ण चार मूर्तियाँ उत्पन्न हुईं। उनमें नर-नारायण ऋषियों ने उत्तराखण्ड बदरिकाश्रम में जाकर तप किया। एक बार जिज्ञासु नारद मुनि ने नर-नारायण ऋषियों से धर्म विषय पर प्रश्न किये। नर-नारायण ऋषियों ने अपने उत्तर में महर्षि को पांचरात्र मत का व्याख्यान किया।

नर-नारायण द्वारा नारद को प्राप्त धर्म का उपदेश दिया। इस उपदेश मे कहा गया है कि 'जो नित्य अजन्मा और शाश्वत है, जो चौबीस तत्त्वो से परे पच्चीसवाँ पुरुष है, उसे सनातन पुरुष वासुदेव कहते हैं। वही सर्वव्यापक है। प्रलय काल मे उसके अतिरिक्त कोई नही बचता। पच महाभूतों का जो शरीर बनता है, उसमें अदृश्य सूक्ष्म रूप मे वासुदेव प्रवेश करते हैं। इस रूप मे उसे शेष तथा सकर्षण कहा जाता है।

धर्म का उक्त उपदेश स्वायम्भुव मन्वन्तर मे मरीचि, अगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ आदि सप्तर्षियो को प्राप्त हुआ। उन्होने परम्परागत मत को धर्म, अर्थ काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थ से समन्वित कर 'पाचरात्र-शास्त्र' का प्रणयन किया। उस शास्त्र मे प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनो मार्गों, अहिंसा तथा अहिंसामय वैदिक यज्ञो एव श्रद्धादि क्रियाओ का निरूपण किया गया है। यह शास्त्र अपने मूल रूप मे एक लाख श्लोक परिमाण का था। उसमे पाचरात्र के विस्तृत स्वरूप का वर्णन किया गया था।

पाचरात्र मत की यह परम्परा किस रूप मे आगे बढी तथा जन-विश्रुत हुई, इस सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार की प्रमाण सामग्री उपलब्ध नही है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पाचरात्र मत भी सात्वत मत की भाँति भागवत मत मे पर्यवसित हो गया। महाभारत काल से लेकर शकराचार्य के समय ८ वी शती ई० तक, पहले बौद्धो ने और उनके बाद शकराचार्य ने पाचरात्र मत को प्रभावहीन कर दिया था। आगे न तो सात्वत मत और न पाचरात्र मत का अस्तित्व देखने को मिलता है। भागवत मत ने एक स्वतत्र सम्प्रदाय का स्वरूप धारण कर वैष्णव भक्ति के रूप मे पहले तो द्रविड, तैलग, कर्नाटक तथा महाराष्ट्र मे अपना प्रसार किया और तत्पश्चात् वह उत्तरी भारत तथा भारत के अन्य अचलो में फैला।

पांचरात्र साहित्य

पुराणोक्त १०८ सहिताओ मे से 'लक्ष्मीसहिता' प्राचीनतम सहिताओं मे एक थी, जिसका सम्बन्ध पाचरात्र मत से था। किन्तु वह सम्प्रति वह उपलब्ध नहीं है। पाचरात्र मत पर उपलब्ध प्रमुख ग्रन्थ 'पाचरात्र सहिता' है, जो कि एक आगमिक ग्रन्थ है। उसमे वैष्णव आचारो का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस सहिता-ग्रन्थ के दो विभाग हैं—पाचरात्र और वैखानस। किसी मन्दिर मे पाचरात्र और किसी मन्दिर म वैखानस सहिता के अनुसार आचारो का सम्पादन होता है। 'नारद पाचरात्र' मे भागवत

सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थो मे 'हरिवश', 'स्कन्द उपनिषद्', 'भागवत', 'नारदभक्ति-सूत्र', 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र', 'वासुदेव गोपीनन्दन उपनिषद्', 'मुक्ताफल', 'हरिलीला' और 'भागवत तत्त्वार्थदीपिका' के अतिरिक्त 'महानारायण उपनिषद्', 'महाभारत', 'रामायण' तथा 'भगवद्गीता' का नाम उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थो के अतिरिक्त 'ज्ञानामृतसार' का इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है कि उसके कारण बौद्धधर्म तथा शकराचार्य के विरोध के फलस्वरूप भी भागवत धर्म की लोकप्रियता कम नही हुई।

इस प्रकार पाचरात्र मत के सम्बन्ध मे जो ज्ञान-सामग्री उपलब्ध होती है, उससे यह ज्ञात होता है कि कालान्तर मे वह भागवत धर्म मे विलयित होकर उसका स्वतन्त्र अस्तित्व प्राय समाप्त हो गया और भारतीय धर्म की व्यापकता को भागवत धर्म ने वरण कर अपना अस्तित्व चिरस्थायी बनाया।

भागवत धर्म

भारत की पुरातन धर्म-शाखाओ मे 'भागवत मत' या 'भागवत धर्म' का भी एक नाम है। यद्यपि कालान्तर मे भागवत धर्म का विकास वैष्णव धर्म के रूप मे हुआ, किन्तु अपने मूलरूप मे वह स्वतन्त्र धर्मशाखा के रूप मे प्रचलित था। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व उसके महामन्त्र 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' से भी स्पष्ट होता है। यद्यपि इस द्वादशाक्षरी महामन्त्र का प्रयोग वैष्णवधर्मानुयायी, विशेषरूप से वल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी भी करने लगे थे, किन्तु आरम्भ मे भागवत धर्म सर्वथा स्वतन्त्र था और उक्त महामन्त्र का प्रयोग उसके अनुयायी ही करते थे।

भागवत धर्म पुरातन पांचरात्र या सात्वत अथवा वैखानस मतो से भिन्न था। पांचरात्र या वैखानस आदि मतो मे नारायण को परमतत्त्व तथा उपास्य-आराध्य के रूप मे माना गया है, जब कि भागवत धर्म के आधार वासुदेव श्रीकृष्ण रहे हैं। भागवत धर्म मे नारायण तथा विष्णु की अपेक्षा श्रीकृष्ण को एकमात्र स्थान दिया गया है।

इन महत्त्वपूर्ण देवताओ की शास्त्रमान्यता तथा लोकमान्यता परम्परा से भिन्न रही है। ब्राह्मण ग्रन्थो तथा आरण्यक-ग्रन्थो के समय तक विष्णु, नारायण या हरि आदि देवताओ को आधुनिक भक्ति-भावना के अनुरूप करुणानिधान भगवान् के रूप मे नही माना गया है। अपने उपास्यदेव के प्रति उपासक की भक्ति-भावपूर्ण निष्ठा सात्वत धर्म या भागवत धर्म के उदय के अनन्तर ही हुई। इस धर्म के उपास्य-आराध्य वासुदेव श्रीकृष्ण थे। यद्यपि विष्णु तथा नारायण या हरि की भाँति वासुदेव या कृष्ण, इन दो नामो का प्रयोग आरम्भ मे अलग-अलग होता रहा, किन्तु बाद मे उनको वासुदेव कृष्ण एक मानकर कहा गया।

यद्यपि वासुदेव नाम का उल्लेख प्राचीनता की दृष्टि से केवल 'तैत्तिरीय आरण्यक' मे हुआ है, तथापि 'महाभारत' के अनन्तर उनके स्वरूप तथा महत्त्व म परिवर्तन हुआ। 'महाभारत' (५।७०।३०) के एक स्थल पर कहा गया है—'मैं वासुदेव इसलिए कहलाता हूँ कि मैं सभी प्राणियो को अपनी माया या अलौकिक ज्योति द्वारा आच्छादित किये रहता हूँ।' 'भगवद्गीता' मे श्रीकृष्ण ने स्वय कहा है—'वृष्णियो मे मैं वासुदेव हूँ'। (वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि)। इस कथन से यह भी ज्ञात होता है कि वासुदेव वृष्णिकुल मे उत्पन्न हुए थे। अन्यान्य इतिहास ग्रन्थो से स्पष्ट है कि वृष्णियो

का मूल निवास मथुरा के उत्तर मे था। वसुदेव-देवकी इसी कुल के थे। देवकीपुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण एक ही थे। 'भगवद्गीता' मे अर्जुन को कर्त्तव्यबोध का उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—'सब कुछ सच्चा सीधा कर्त्तव्य समझ कर उसके फल को भगवान् के हाथ मे निहित मानना चाहिए।' अर्थात् एकमात्र भगवान् पर भरोसा करना चाहिए। एकनिष्ठ भक्त ही भगवान् को प्रिय है। भागवतो ने इसी एकनिष्ठा को 'एकान्तिक धर्म' कहा है और वही भगवान् नारायण को प्रिय है (महाभारत १२।३४८।४)। 'भगवद्गीता' मे कहा गया है—'मुझ मे' ही मन लगाकर मुझ मे ही बुद्धि को स्थिर कर। इससे तू निःसन्देह मुझ मे ही निवास करेगा। ...मैं तुमसे सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ। इसके द्वारा तू मुझ मे आ मिलेगा।' आत्मसमर्पण की यह एकनिष्ठ भावना ही एकान्तिक धर्म है। इस एकान्तिक धर्म का विकास पाचरात्र धर्म मे हुआ है। पाचरात्र धर्म की पूर्णता वैष्णव धर्म के रूप मे पल्लवित हुई। प्राचीन पाचरात्र धर्म या भागवत धर्म का ही वैष्णव धर्म मे रूपान्तर हुआ।

विकास की इस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व भागवत धर्म स्वतत्र रूप से विकसित होता रहा। अपने मूल रूप मे वह उदार, सहिष्णु और मानवमात्र के लिए ग्राह्य रहा है। उसमे असमानता का कोई भाव नही था। किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कक, यवन और खस आदि जो भी तत्कालीन विभिन्न भारतेतर जातियाँ तथा निम्न वर्ग का समाज था, उसको भी भागवत धर्म को वरण करने की स्वतत्रता थी।

भागवत धर्म यद्यपि वेदानुमत धर्म है, तथापि उसमे वेदमत के विपरीत हिंसा का निषेध है। वैदिक यज्ञो मे परम्परा से पशुवध का प्रचलन था। किन्तु भागवत धर्मानुयायी राजा उपरिचर वसु ने अपने अश्वमेध मे पशु बलि नही दी थी (महाभारत, शा० ३३६।१०)। कुरुवशीय सुधन्वा की शाखा मे यह राजा कृत्तिका का पुत्र था और कृतयुग मे हुआ था। एक समय इन्द्र तथा महर्षियो का पशुवध के विहित-अविहित पक्ष पर विवाद हो गया था। उसमे निर्णायक के रूप मे राजा उपरिचर वसु ने महर्षियो का पक्ष लेकर पशुवध को अविहित ठहराया। अपने गुरु बृहस्पति के होतृत्व मे उसने अश्वमेध यज्ञ किया था, जिसमे पशु-वध नही किया गया। इस यज्ञ मे राजा ने नारायण के साक्षात् दर्शन किये थे।

भागवत धर्म की प्राचीनता तथा लोकप्रियता के कुछ ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। भारत के अनेक पुरातन राजवशो ने भागवत धर्म को राजधर्म के रूप मे प्रचलित किया था। इस प्रकार के राजवशो मे गुप्त साम्राज्य का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने अभिलेखो तथा

सिक्कों पर स्वय को 'परम भागवत' अंकित किया है। इस सामग्री का समय २०० ई० पूर्व है। इसी शती मे वर्तमान तक्षशिला के राजा भागभद्र के दरबार मे निवास करने वाला यूनान के ग्रीक शासक अन्तियोकिदस् का राजदूत हेलियोदोरस् भागवत धर्म का अनुयायी था। उसने वेस नगर (भिलसा, म० प्र०) में देवाधिदेव की पुण्य-स्मृति मे एक गरुड स्तम्भ (विष्णुध्वजस्तम्भ) का निर्माण कराया था। इस स्तम्भ मे उत्कीर्णित शिलालेख मे उसने स्वय को 'परम भागवत' कहा है। इससे यह भी सभावना की जा सकती है कि पश्चिमी यवन देशो से दौत्य सम्बन्ध होने के कारण वहाँ भागवत धर्म का प्रसार हुआ होगा। यूनानी राजदूत का भागवत धर्म वरण करने से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय धर्म को, आज की भाँति सीमा-रेखाओ मे बाँधने और उसको सकीर्ण दायरे में बाँधने की प्रवृत्ति नही थी। लगभग २५० ई० पूर्व मे उत्कीर्णित घुसुण्डी शिलालेख मे भी वासुदेव-पूजा का उल्लेख हुआ है।

भागवत धर्म के अनुयायी राजवशो मे शुंगो के बाद आन्ध्र सातवाहनो का नाम उल्लेखनीय है। सातवाहन सम्राट् द्वारा उत्कीर्णित नानाघाट शिलालेख (२०० ई० पूर्व) मे अन्य देवो के साथ भगवान् सकर्षण (बलराम) तथा वासुदेव का भी उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार ई० पूर्व प्रथम शती मे मथुरा मण्डल के अधिपति के समय वर्तमान वसु नामक एक धर्म-प्राण व्यक्ति ने मथुरा मे भगवान् वासुदेव का एक मन्दिर बनवाया था। मथुरा मे भागवतो का यह प्रथम मन्दिर था। इस मन्दिर के अस्तित्व का पता एक उपलब्ध शिलालेख से चला है।

भागवत धर्म के प्रवर्तन की यह परम्परा साहित्य के क्षेत्र मे भी प्रतिफलित हुई। वैयाकरण पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' मे वासुदेव शब्द की सिद्धि के लिए एक स्वतत्र सूत्र (४।३।८९) की रचना की और उसका अर्थ किया—'वासुदेव भक्त'। पाणिनि स्वय पश्चिमोत्तर भारत के निवासी थे। वे पारसिकों के सेवक यवनो या ग्रीको से सुपरिचित थे। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत धर्म का प्रचार पाणिनि के समय (५०० ई० पूर्व) मे वृहत्तर भारत मे हो चुका था।

भागवत धर्म मे श्रीकृष्ण को एकमेव अद्वितीय परमोच्च सत्तासम्पन्न माना गया है। ज्ञानियो ने उन्हे ब्रह्म के रूप मे, योगियो ने परमात्मा के रूप मे और भक्तो ने भगवान् के रूप मे ध्याया है। वे अगुण, अचिन्त्य होते हुए भी रूपवान् सृष्टि की सरचना करने के कारण सगुण और साकार

भी है। वे गुणवान् और अनन्त विभूतियो से सम्पन्न हैं और उनकी गुणवत्ता तथा विभूतिमत्ता उनके चार गुणो से सिद्ध होती है। वे लीलामय हैं, प्रेममय हैं, विमुग्धकारी हैं और मुरलीमनोहर हैं। उस लीलामय सगुण ब्रह्म को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय भक्ति है, जो कि मुक्ति तथा ज्ञान से भी उत्तम है। किसी भी भक्त मे इस भक्ति का उदय भगवान् की कृपा से ही होती है।

इस प्रकार भागवत धर्म का परमोच्च विकास वासुदेव श्रीकृष्ण की भक्ति मे प्रतिफलित हुआ और उस लीलामय के विभिन्न रूपो की आराधना मे भक्ति की अनेक कोटियाँ प्रचलित हुईं। उनका अलग-अलग स्वरूप वैष्णवाचार्यों के विभिन्न सम्प्रदायो मे देखने को मिलता है। वस्तुत भागवत धर्म वैष्णव धर्म का ही उपजीव्य रहा है। उसने वैष्णव धर्म के अनेक मतो को जन्म दिया और वैष्णव धर्म मे ही समायत हो गया।

भागवत धर्म का आधारभूत ग्रन्थ 'भागवत'

'भागवत' भागवत धर्म का आधारभूत ग्रन्थ है। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन सात्वत मत एव पाचरात्र मत का विकास भागवत धर्म के रूप मे हुआ और भागवत धर्म ने वैष्णव मत की अनेक शाखा-प्रशाखाओ को जन्म दिया। इस दृष्टि से वैष्णव धर्म का आधार भागवत धर्म ही रहा है। भागवत धर्म की व्यापकता 'महाभारत' तथा समस्त पुराणो, उपपुराणो मे देखने को मिलती है। किन्तु 'भागवत' मे उसको पूर्णता प्राप्त हुई। यही कारण है कि जितने भी धर्मप्रवर्तक वैष्णवाचार्य हुए उन्होंने 'भागवत' को इतनी अधिक मान्यता दी कि उसे 'प्रस्थानत्रयी' (उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र) के समकक्ष स्थापित कर 'प्रस्थानचतुष्टय' को प्रमाण माना और उस पर भाष्य लिखे। सभी वैष्णवाचार्यों ने अपने मत की पुष्टि के लिए 'भागवत' को प्रमाण माना है।

'भागवत' मुख्यत भक्तिरस का ग्रन्थ है। उसका कथन ब्रह्मज्ञानी महर्षि शुकदेव ने किया था। उसमे मुख्यरूप से विष्णु अवतार भगवान् कृष्ण की लीलाओ का वर्णन है। उसका दशमस्कन्ध इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ मे धर्म के साथ दर्शन का भी विवेचन हुआ है। श्रीकृष्ण के लीलामय स्वरूप का निरूपण द्वैतवादी आचार्यों ने और उनके परब्रह्म स्वरूप का वर्णन अद्वैतवादी आचार्यों ने किया है। 'भागवत' के वर्तमान स्वरूप की रचना ७वी शती ई० मानी जाती है।

भक्ति के क्षेत्र मे इस ग्रन्थ का जितना सम्मान हुआ, उसके साथ ही उसका महत्त्व इस रूप मे भी है कि परवर्ती आचार्य-परम्परा और भक्त-

परम्परा के ग्रन्थकारो का वह उपजीव्य भी रहा है। इस दृष्टि से 'महाभारत' और 'रामायण' के बाद उसका तीसरा स्थान है। तमिल, आन्ध्र, कन्नड, गुजरात, महाराष्ट्र और उत्तर भारत के वैष्णव कवियो ने 'भागवत' के विभिन्न सन्दर्भो पर अनेक रचनाओ का निर्माण किया। ब्रजभाषा का प्राय सारा भक्ति साहित्य इसी ग्रन्थ पर आधारित है।

'भागवत' के प्रकाश मे आ जाने से पुरातन सात्वत मत और पांचरात्र मत, दोनो का उसमे समावेश हो गया और कालान्तर मे भागवत मत की धर्मगगा से जो अनेकानेक धर्मधाराएँ प्रवाहित हुईं, वे वैष्णव धर्म की विभिन्न शाखा-उपशाखाओ के रूप मे प्रवर्तित एव विकसित हुईं।

पुराणों में वेदविहित धर्म की पुनः स्थापना

भारतीय साहित्य मे पुराणो का अपना विशेष स्थान है। पुराणो का मुख्य विषय परम्परागत वैदिक धर्म का व्याख्यान एवं प्रतिपादन करना है। युग की परिस्थितियो के अनेक रूप ऐसे धर्म की स्थापना करना है, जो सर्वग्राह्य, सर्वहितकारी एवं सर्वोपयोगी हो। पुराणो से पूर्व सूत्रग्रन्थो द्वारा स्थापित धर्म व्यवस्था ने सनातन वैदिक धर्म की उदार निष्ठाओ को कर्मकाण्ड की जटिल क्रिया पद्धतियो से एकागी एवं दुर्गम बना दिया था। जन-सामान्य की धर्म आकाक्षाओ को सर्वथा उपेक्षित कर दिया गया था। सूत्रग्रन्थो की वर्ण-वर्ण विभेद की पृथकतावादी प्रवृत्तियो ने वैदिक धर्म की सार्वभौम उदारता को सकुचित रूप देकर उसे पुरोहितो और कर्मकाण्डी ब्राह्मणो की धरोहर का रूप दे दिया था। ब्राह्मण ग्रन्थो तथा सूत्रग्रन्थो के विधिवाद यज्ञ, कर्मफल तथा पुनर्जन्म की मान्यताओ ने एक ऐसे कट्टरपन्थी धर्म की स्थापना पर बल दिया, जिसका वरण जन सामान्य करने मे असमर्थ था।

यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थो मे यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म कहकर समाज के कल्याणार्थ उसके सम्पादन पर विशेष बल दिया गया है। कहा गया है कि उसके अनुष्ठान से मेघो की प्रसन्नता और उनके द्वारा सुवृष्टि से पृथ्वी की धन-धान्य-सम्पन्नता एव प्रजा का कल्याण होता है। किन्तु यज्ञो को विशेषाधिकारो मे परिनिष्ठित करके उन्हे असामान्य बना दिया था। यद्यपि श्रौत-सूत्रो तथा गृह्यसूत्रो की कर्म-पद्धति ने पारिवारिक जीवन की पवित्रता और आध्यात्मिक अभ्युन्नति का दृष्टिकोण प्रतिपादित किया, किन्तु उसके विधि, नियम, आदेश इतने जटिल बना दिये कि उनका निर्वाह करना सर्वसामान्य के लिए सुकर नही था।

श्रौतसूत्रो और कल्पसूत्रो की जटिल कर्म-पद्धति को धर्मसूत्रो ने अपेक्षातर सरल एव उदार बनाया। धर्मसूत्रो मे सामाजिक जीवन के प्रचलित रीति रिवाजों, नियमो तथा प्रथाओ को ग्रहण कर उन्हें पारस्परिक कर्त्तव्यो का स्वरूप दिया। उनमे पारलौकिक अभ्युदय के साथ-साथ नैतिक उत्थान पर भी बल दिया गया और सामाजिक आचार विचारो तथा वर्णाश्रमधर्म की नई व्याख्या की गई। चारो वर्णों के कर्त्तव्यो तथा नियमो का निर्धारण कर उनके पारस्परिक सम्बन्धो को स्थिर किया गया। किन्तु उनकी कठोर दण्ड-व्यवस्था तथा खान-पान, विवाह-सम्बन्ध और छूआ छूत सम्बन्धी निर्देशो ने सामाजिक सामजस्य को और भी उलझा दिया।

एक ओर इन धार्मिक क्रिया विधियों ने सनातन वैदिक धारा से समाज को विच्छिन्न कर दिया था, और दूसरी ओर महावीर स्वामी तथा बुद्ध की धर्मनीतियों ने समाज पर अपना वर्चस्व स्थापित किया। जैनधर्म और बौद्ध-धर्म के अहिंसा, जीवदया तथा समान सामाजिक अधिकार-कर्त्तव्यों की व्यवस्था से बहुसख्यक समाज, जो कि कठिन क्रिया विधियों के परिपालन में असमर्थ था, उनका अनुयायी हो गया। जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म को राज्याश्रय मिलने के कारण उसके प्रचार-प्रसार को बहुत बल मिला। प्रतापी सम्राट् अशोक और कनिष्क जैसे प्रभावशाली शासकों ने बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके प्रयास से बौद्धधर्म न केवल वृहत्तर भारत में, अपितु एशिया के विभिन्न देशों में अपनी लोकप्रियता को प्राप्त हुआ। इन दोनों धर्मों ने वैदिक धर्म की परम्परा को सर्वथा विच्छिन्न कर दिया।

वैदिक धर्म की इस ह्रासोन्मुख स्थिति को पुराणकारों ने पुनरुत्थापित किया। उन्होंने वैदिक धर्म को कर्मकाण्ड की सकीर्णताओं से एव वर्ग वर्ण की सीमाओं से उभार कर उसको लोकमान्य बनाने के लिए उदार एव सार्वभौम स्वरूप दिया। आचार-पद्धति को सर्वसुलभ बनाया और उसमें समानाधिकारों की स्थापना की। पुराणकार व्यासों तथा सूतों ने वैदिक धर्म को लोकव्यापी देशधर्म बनाने के लिए उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम, भारत के विभिन्न अचलों का भ्रमण किया और सारे देश में धर्म स्थानों, देवालयों तथा तीर्थों की स्थापना कर जन-मानस की उनके प्रति क्षीण हुई श्रद्धा निष्ठा को जगाया। उन्होंने वृहत् पुराणसहिताओं का निर्माण कर विष्णु के नर रूप नारायण और कृष्ण तथा राम जैसे दयामय, अनुग्रही, हितकारी एव उद्धारक आदर्शमय अनुकरणीय चरितों की स्थापना की और जनमानस के सम्मुख भक्ति, आराधना, उपासना का नया आधार प्रस्तुत किया। शिव और शक्ति, जो कि जनसामान्य के उपास्य रहे हैं उनके परम कारुणिक भक्तवात्सल्यमय स्वरूपों के सरल उपाख्यान एव माहात्म्य प्रचारित किये। उनकी भाषा सरल थी और भाव बोधगम्य। अपनी इन दो विशेष-ताओं के कारण वे छोटे छोटे उपाख्यान व्यापक रूप में प्रचारित हुए।

पुराणकारों ने एक ओर तो बौद्धों के अनात्मवाद तथा जैनों के अणुवाद का खण्डन कर वैदिक धर्म की प्रस्थापना की, और दूसरी ओर इन दोनों धर्मों के उच्चादर्शों को अपना कर महावीर तथा बुद्ध को देवतुल्य सपूजित स्थान दिया। पौराणिक धर्म की अवतार-परम्परा में बुद्धावतार की स्थापना धार्मिक समन्वय का एक अपूर्व उदाहरण था, जिसके कारण पौराणिक धर्म की लोकव्यापी निष्ठा निरन्तर उजागर होती रही।

इस प्रकार पुराणो मे क्षीणोन्मुख वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होकर सारे भारत मे विष्णु, शिव, शक्ति और उनके विभिन्न नाम-रूपो की भक्ति-उपासना के नये धार्मिक आन्दोलन ने समस्त भारत की जनता को विमोहित कर लिया। पौराणिक धर्म के उदय के रूप मे, वैदिक धर्म का यह नवोत्थान युग था। पुराणो मे वेदविहित धर्म की पुन स्थापना होने के कारण भारत के परम्परागत धार्मिक इतिहास को नया आलोक मिला।

पुराणों की उदार धार्मिक मान्यताएँ

भारत की धार्मिक परम्परा के इतिहास मे पौराणिक धर्म का उदय एक नये युग का सूचक था। भारत ने अनेक जातियो तथा मतो के समागम ने यहाँ के धर्म तथा सस्कृति को प्रभावित किया और उनमें नई मान्यताओ की स्थापना हुई। पुराणो की धर्म-व्यवस्था मे इन नई मान्यताओ को दिग्दर्शित किया गया। वेदो की धर्म-नीति को पुराणो मे अधिक व्यापक रूप से प्रस्थापित किया गया। वेदो मे जिन अग्नि, इन्द्र, वरुण, पूषण, सोम, उषा और पर्जन्य आदि तैतीस देवताओ का प्राधान्य था, पुराणो मे उनका स्थान विष्णु तथा शिव ने लिया और कालान्तर मे विष्णु तथा शिव के प्रतीक तैंतीस कोटि देवताओ की अवधारणा हुई। यह बहु-देवतावाद पौराणिक धर्म की विशेष देन थी। पुराणकारो की यह एक ऐसी समझ थी, जिसने समस्त मानव जाति को प्रभावित किया।

वेदो की अपेक्षा पुराणो मे ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति की भक्ति-उपासना का विशेष वर्णन देखने को मिलता है। अन्य पांच देवताओ की अपेक्षा ब्रह्मा के महत्त्व की गौणता पाई जाती है। यही बात सूर्योपासना के सम्बन्ध मे भी चरितार्थ होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा तथा सूर्य की उपासना धीरे धीरे क्षीण पडती गई और सभवत यही कारण है कि सम्प्रति इन दोनो देवताओ की उपासना का प्रचलन सर्वथा ही नही रहा। सारे देश में केवल पुष्कर (अजमेर) को छोडकर ब्रह्मा का मन्दिर अन्यत्र देखने को नही मिलता। इसी प्रकार सूर्य-मन्दिर भी शिव-शक्ति के मन्दिरो की अपेक्षा इने गिने ही हैं। किन्तु जहाँ तक अन्य देवताओ के मन्दिरो का प्रश्न है, पुराणकारो ने विष्णु, शिव, शक्ति और गणेश को अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। उनकी पूजा-प्रतिष्ठा आज के समाज मे भी व्यापक रूप से प्रचलित है।

पुराणों की नई अवधारणा ने धर्म, कर्म, साधना, आराधना और रीति-रिवाजों, आचार-अनुष्ठानो के क्षेत्र में भी परिवर्तन किया। वर्ण-सकीर्णता

और जातिगत भेद-भावो को मिटा कर उदार एवं सहिष्णु आचार-संहिता की प्रस्थापना की। पुराणकारो ने सरल एवं रोचक शैली मे वैदिक धर्म की महनीयताओ का सर्वजनोपयोगी दृष्टि से व्याख्यान किया। श्रौतसूत्रो तथा गृह्यसूत्रो मे प्रतिपादित कर्मकाण्ड की रूढियो को पुराणो मे अधिक उदार बनाया गया। पुराणो की धर्म-पद्धति मे जो सबसे बडी एव अपूर्व बात देखने को मिलती है, वह है स्त्रियो तथा शूद्रो के विशिष्ट अधिकारो की व्यवस्था।

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने महाभारत-युद्ध के उपरान्त देश की, समस्त सामाजिक जीवन की, तत्कालीन परिस्थितियों का पर्यालोचन करके इतिहास-पुराण-समन्वित एवं ऐसे धर्म का प्रवर्तन किया, जो सर्वसामान्य के लिए उपादेय था। उन्होने द्विजो के लिए सामान्य रूप से, किन्तु स्त्रियो तथा शूद्रो के लिए विशेष रूप से कर्त्तव्यो तथा अधिकारो का नियमन किया। उससे पूर्व वेदोक्त धर्मो के सम्पादन का अधिकार स्त्रियो तथा शूद्रो को प्राप्त नहीं था, जो कि उन्हे सुलभ किया। वेदव्यास ने युगानुरूप धर्म-प्रवर्तन का कार्य अपने विद्वान् एव विलक्षण बुद्धि के शिष्य लोमहर्षण को सौंपा, जो कि अवर जातीय सूत थे। इस सम्बन्ध मे अनेक पुराणो मे उल्लेख हुआ है। 'भविष्य' (ब्राह्मपर्व, अध्याय १) तथा 'भागवत' (स्कन्ध १, अध्याय २) मे कहा गया है कि जिनको वेदो मे वर्णित बडे-बडे यज्ञ-यागादि कर्म करने का अधिकार तथा सामर्थ्य नही है, ऐसे स्त्रियों, शूद्रो तथा नाममात्र के ब्राह्मणों, क्षत्रियो, वैश्यो (द्विजबन्धु) के हितार्थ उनकी मोक्ष-प्राप्ति के लिए व्यासदेव ने पुराणधर्म का कथन किया है। ये द्विजबन्धु वे थे, जो वैदिक धर्म को छोडकर जैन-बौद्ध धर्मों के अनुयायी हो गये थे।

महाज्ञानी लोमहर्षण सूत ने भारत की चारो दिशाओ का भ्रमण किया। नई परिवर्तित परिस्थितियो का अध्ययन किया और विभिन्न वर्णों तथा वर्गों की अभिरुचियो तथा मान्यताओ का पर्यवेक्षण किया। देश मे धर्म की मान्यताओं के क्षेत्र मे जो द्विविधा तथा अनिश्चितता की स्थिति बनी हुई थी, उसमे समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से उन्होने नैमिषारण्य में आकर सहस्रो सनकादि ऋषियो के समक्ष नई धर्म-संहिता का व्याख्यान किया। धर्म के इस नये स्वरूप को उनके तीन शिष्यो—काश्यप, शांशपायन और सावर्णि ऋषियो ने तीन अलग-अलग संहिताओ मे निबद्ध किया।

पौराणिक युग मे इन धर्म-व्यवस्थापक व्यासो तथा सूतो ने बृहत्तर भारत मे धार्मिक एकता स्थापित करने के साथ साथ राष्ट्रीय समन्वय का भी महान् कार्य सम्पन्न किया। उन्होने पशुपतिनाथ, बद्रीनाथ, केदारनाथ, काशी,

वैद्यनाथ तथा जगन्नाथ आदि उत्तर-पूर्वी भारत मे स्थित पुरातन तीर्थों के प्रति दक्षिण-पश्चिम वासियो की श्रद्धा निष्ठा को जागरित किया। इसी प्रकार काची, रामेश्वरम्, सोमनाथ तथा प्रभास आदि दक्षिण पश्चिम के तीर्थों के प्रति उत्तर-पूर्व के निवासियो का धर्मानुराग स्थापित किया। उन्होंने सारे राष्ट्र मे धार्मिक अन्तश्चेतना को जगाया और धर्म के अभियान से भावात्मक एकता स्थापित की।

इस प्रकार पुराण-साहित्य का अध्ययन, सार्वभौम पुरातन परम्पराओ की पुन स्थापना की दृष्टि से जितना उपयोगी एव आवश्यक है, राष्ट्रीय अखण्डता और भावात्मक एकता को स्थापित करने की दृष्टि से भी उतना ही उपादेय एव प्रयोज्य है। पुराणकालीन बृहत् भारत में अनेकानेक जाति, धर्मों, वर्गों, सम्प्रदायो, मत-मतान्तरो के वैभिन्यपूर्ण समाज मे राष्ट्रीय एकता एव सर्व धर्म-समन्वय के लिए पुराणकार ऋषियो ने जो व्यापक दूर-दृष्टि अपनाई वर्तमान सन्दर्भ मे उसको उजागर करना, उसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार करना, देशहित की दृष्टि से ही नही, अपितु व्यापक मानवता के कल्याण की दृष्टि से भी आवश्यक है।

पुराणो की विशेषता इसमे है कि उनमे धर्म को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया है। उसे अति सहज बनाया गया और सार्वभौम मानवीय आदर्शों के रूप मे परिणत किया गया। गृहस्थ धर्म, जो कि आज के मानव समाज का भी मुख्य अग है, पुराणो मे उसके परिपालन पर विशेष बल दिया गया है। इस गृहस्थ धर्म को दान, दया, परोपकार, सहानुभूति, करुणा, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, ईश्वरनिष्ठा, सहिष्णुता, शिष्टता, अनुशासन और प्रेम जैसे सद्‌गुणो से सम्पन्न होना चाहिए। पुराणकारो ने धर्म को इतना व्यापक एव उदार बनाया कि उसमे 'सामान्य' तथा 'आपद्' की कल्पना कर उसे अधिकाधिक उपयोगी तथा ग्राह्य बनाया गया है।

पुराणो मे कर्मकाण्ड का विरोध नही किया गया है, अपितु उसे रूढियो से मुक्त कर जन-सुलभ बनाया गया है। पुराणकारो ने स्मृतिकारो की भाँति धर्माचरण के लिए कर्म-सम्पादन की नई प्रद्धति की प्रतिष्ठा की। उन्होंने दम्भ, हिंसा, क्रोध, अभिमान और असत्य आदि दुष्कर्मों का निषेध किया और दान, व्रत, तीर्थाटन तथा ईश्वराराधन आदि सत्कर्मों के सम्पादन करने के लिए बल दिया। पुराणो की कथाओ मे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अहितकारी कर्मों से विरत रहने का निर्देश किया। जीवन मे सदाचार तथा नैतिकता की स्थापना और उत्तरावस्था मे आध्यात्मिक चिन्तन की श्रेष्ठता को वरणीय माना। पुराणकारो ने उच्च आदर्शमय जीवन बितानेवाले

ऋषियो तथा राजर्षियो की कथाएँ देकर समाज को उनका अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया ।

पुराणो की उदार धर्म-नीति का ही परिणाम था कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और बुद्ध जैसे वैदिक धर्म के विरोधी महात्माओ को भी अवतारो की कोटि मे *परिगणित कर उनको देवतुल्य स्थान दिया।* पुराणकारो की इस उदार धर्म दृष्टि के कारण वैदिक धर्म के आलोचक अवैदिक धर्मानुयायियो ने भी पौराणिक धर्म को वरण किया । पौराणिक धर्म की यह बहुत बडी सफलता थी ।

इस प्रकार पुराणो की धर्म-स्थापना ने इस देश के परम्परागत गौरव को, उसकी सार्वभौम मान्यताओ को सुरक्षित बनाये रखा । मानवमात्र मे सद्‌विचार, समन्वय और सत्प्रेरणा को उजागर किया । पौराणिक धर्म के रूप मे भारत की सस्कृति-सभ्यता के उदात्त ध्येयो ने विश्व सस्कृति तथा सभ्यता को प्रभावित किया और आज भी मानव जीवन के लिए उसकी उपादेयता यथावत् बनी हुई है ।

पुराणो मे परिवर्तन-परिवर्द्धन

पुराणो के अनुशीलनकर्ता विद्वानो का अभिमत है कि उनकी विषय-*सामग्री मे समय-समय पर परिवर्तन परिवर्द्धन होता गया और स्थान-स्थान* पर प्रक्षेपो को जोडा गया तथा साथ ही कतिपय मौलिक अशो को छोड दिया गया । पुराणो के वक्ता प्रवक्ता व्यासो तथा सूत शौनकादि द्वारा परम्परा से जो परिवर्तन परिवर्द्धन होता गया, उसकी अपेक्षा परवर्ती युगो के राजा महाराजाओ के आश्रय मे रहने वाले पण्डितो एव विद्वानो ने अपने-अपने आश्रयदाताओ के पराक्रमो, विजयो और उनके वशो से सम्बन्धित सामग्री को भी योजित किया । विभिन्न पुराणो की वशावलियो मे जो विभिन्नता तथा अनेकरूपता देखने को मिलती है, उससे भी परिवर्तन-परिवर्द्धन की आशकाओं की पुष्टि होती है ।

पुराणो के इन परिवर्तनो, परिवर्द्धनो तथा प्रक्षेपो के अनेक कारण प्रतीत होते हैं । पहला कारण तो यह है कि अपने-अपने आश्रयदाताओ की प्रामाणिक मान्यताओ को प्रदान करने की इच्छा से उनके आश्रयदाता विद्वानो ने पुराणो की मौलिकता को भग किया । ऋषियो-महर्षियो की जो वशावलियाँ *या परम्पराएँ विभिन्न पुराणो मे देखने को मिलती हैं, उनमे सम्मिश्रण तथा* परिवर्तन की न्यूनता है, किन्तु राजवशो के वर्णनो मे तो नितान्त नवीनता का समावेश देखने को मिलता है । पुराणो की मूल हस्तलिखित प्रतियो मे

लिपिकारो तथा प्रतिलिपिकारो द्वारा जोड-तोड की प्रक्रिया को अपनाया जाना भी सभव हो सकता है, क्योकि पाठान्तरो की यह भिन्नता व्यापक रूप से प्राचीन पाण्डुलिपियो के पाठ-भेदो मे देखने को मिलती है। उदाहरण के लिए 'भविष्यपुराण' मे मुगलयुग तथा आंग्लयुग तक के परवर्ती वर्णन निश्चित ही बाद मे जोडे गये।

पुराणो मे ऐसी अतिशयोक्तियो, अत्युक्तियो एव कल्पनाओ का समावेश स्थान-स्थान पर हुआ है कि उनकी ऐतिहासिकता ही नही, वास्तविकता में भी सन्देह होता है। इस प्रकार के प्रसगो मे मौलिक विषय-वस्तु की क्रमबद्धता को उलझा दिया है और इन आधारो पर ही पुराणो मे कपोल-कल्पना का आक्षेप किया जाता है। ऐसे सन्दर्भ भी सभवत परवर्ती भावुक इतिहासकारो के स्वकल्पित उद्गारो के ही परिणाम हो सकते हैं। पुराणो मे बहुधा पुनरुक्तियो का समावेश देखने को मिलता है। एक ही प्रसग को अनेक स्थलो पर बार-बार दोहराये जाने का कारण भी विभिन्न लेखनियो का योगदान हो सकता है।

पुराणो मे प्रक्षेपो का एक कारण विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के प्रयास भी हो सकते हैं। पुराणो की जो वर्तमान स्थिति है, उसको दृष्टि मे रखकर कहा जा सकता है कि उन पर विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो तथा मतावलम्बियो का प्रभाव है। उनके 'ब्राह्म', 'शैव', 'वैष्णव' तथा 'भागवत' आदि नामो से ही स्पष्ट होता है कि वे उन-उन धार्मिक सम्प्रदायो से सम्बद्ध हैं। इस सम्बन्ध मे यह भी कहना कठिन है कि जिन जिन धार्मिक सम्प्रदायो के नाम पर कतिपय पुराण रूढ हैं, वे सम्प्रदाय पहले से ही प्रचलित थे और व्यास की शिष्य-परम्परा ने उनको अपने पूर्व से ग्रहण किया, अथवा कालान्तर मे समय-समय पर सम्प्रदाय के अनुयायी आचार्यों ने उनको योजित किया।

पुराणो मे प्रक्षेपको का एक कारण यह भी हो सकता है कि शैव तथा वैष्णव अपनी-अपनी विशेषताओ एव सम-सामयिक परम्पराओ की सामग्री को समय-समय पर उसमे जोडते गये। जिन पुराणो के एकाधिक सस्करण प्रकाश मे आ चुके हैं, उनमे पारस्परिक पाठभेद का कारण सम्प्रदायो का पक्षपात हो सकता है। पुराणो की जो हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न सग्रहालयो मे विद्यमान हैं, उनमे पाठान्तर की बहुलता का कारण प्रक्षेप ही हो सकते हैं, जो कि समय-समय पर जोड़े गये।

इस प्रकार पुराणो की मूल विषय-सामग्री मे परिवर्तन-परिवर्द्धन की प्रक्रिया निरन्तर होती गई। उसमे समय-समय पर नई सामग्री जुडती रही और पुरानी सामग्री को विच्छिन्न किया जाता रहा। पुराणो की विषय-

सामग्री की इस जटिलता को सुलझा कर उसकी मौलिकता तथा ऐतिहासिकता की प्रामाणिकता को प्रतिपादित करने वाले विद्वानो मे पार्जिटर, डा० लूडर्स, डा० हजारा और विल्सन तथा स्मिथ आदि अन्यान्य अनुशीलनकर्ताओ के प्रयास नि सन्देह पुराण साहित्य के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं ।

पुराणों की अनादिता

भारत के धार्मिक इतिहास मे यद्यपि पुराण-साहित्य को धर्म-संहिता के रूप मे नही माना गया है, तथापि धर्म की स्थापना और धर्म के उन्नयन मे पुराणो का अपना विशिष्ट योगदान रहा है। यहाँ तक कि धर्मशास्त्रकारो ने पुराणो की मान्यता को प्रमाण रूप में उद्धृत कर धर्म-स्थापना में उनके महत्त्व को स्वय ही स्पष्ट कर दिया है । पुराणो के निर्माण का अपना एक विशेष उद्देश्य था । जैनधर्म और बौद्धधर्म के आलोचको द्वारा परम्परागत वैदिक धर्म का विरोध होता आ रहा था । उनके द्वारा जिस नये सामाजिक परिवर्तन का अभियान चलाया जा रहा था, पुराणकारो ने उसका प्रतिवाद करके एव नये सार्वभौम धर्म की स्थापना की, जिसके कारण वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ । ऐसे सर्वमंगलकारी धर्म के प्रभाव से न केवल भारत का सामान्य जनमानस, अपितु बहुसख्यक जैन बौद्ध-धर्मानुरागी भी पुराण धर्म को ग्रहण-वरण करने की ओर उन्मुख हुए ।

जहाँ तक पुराणो की प्राचीनता का प्रश्न है, यद्यपि उनमें वेदोत्तर धर्म का प्रतिपादन हुआ है, तथापि उनकी स्थिति वेदों के परिपार्श्व म सिद्ध होती है। अथर्ववेद (११।६।१२, ७१।७।२४) म कहा गया है कि ऋक्, साम, छन्द, पुराण और यजु —सभी का एक साथ आविर्भाव हुआ । 'शतपथ ब्राह्मण' (१३।४।३।१३) मे पुराणो को वेद कहा गया है (पुराण वेद)। इसी प्रकार 'तैत्तिरीय आरण्यक' (२।१०) मे पुराणो, इतिहासो, ब्राह्मणो और नाराशसी गाथाओ का उल्लेख हुआ है। 'शतपथ ब्राह्मण' (१४।६।१०।६) और 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (२।४।१०) मे कहा गया है कि जैसे जलती हुई गीली लकडी मे धुआँ निकलता है, उसी प्रकार महाभूत के नि श्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान आदि उत्पन्न हुए। 'छान्दोग्योपनिषद्, (७।१।२) मे इतिहास, पुराण को पाँचवाँ वेद कहा गया है। पुराणो के अस्तित्व का उल्लेख 'रामायण' (अयो० ९५।११) और 'महाभारत' (आदि० ६२।६२) में भी हुआ है । स्मृतिकार ने लिखा है कि पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, चार वेद और छ वेदाग—ये चौदह विद्याएँ धर्म का स्थान हैं। 'ब्रह्माण्ड-पुराण' (१।१६, १।१८) मे तो यहाँ तक कहा गया है कि सागोपाग वेद

का अध्ययन करने पर भी जो पुराण-ज्ञान से शून्य है, उसे तत्त्वज्ञ नही कहा जा सकता, क्योंकि वेद का वास्तविक स्वरूप पुराणो मे ही दर्शित है।

इस दृष्टि से पुराणानुशीलन करने वाले विद्वानो का अभिमत है कि पुराण मूलत वेदो के परिपार्श्व की रचनाएँ हैं और जिस प्रकार वेदो की अनादिता है, उसी प्रकार पुराण-विद्या भी अनादि है। वेदो मे जो बातें सक्षेप मे कही गई हैं, पुराणो मे उनको व्यापक एव विशद ढग से कहा गया है।

पुराणो मे आर्ययुगीन भारत से लेकर नितान्त परवर्ती युगो, अर्थात् १९वीं शती (आग्ल-शासन) तक की घटनाओ का वर्णन है। इसलिए यह निश्चित है कि समय-समय पर, युग की परम्पराओ एव निष्ठाओ के अनुरूप उनमे परिवर्तन, परिवर्द्धन, सशोधन एव सक्षेप होता गया। इस प्रकार बहुत-कुछ पुराना छूटता गया और बहुत-कुछ नया जुडता गया। 'देवी-भागवत' (१।३।२४) मे कहा गया है कि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने पाण्डवो के राज्यकाल मे पुराणो का २८वी बार सम्पादन किया। इस दृष्टि से स्पष्ट होता है कि 'महाभारत' के वेदव्यास के समय तक पुराणो का २७ बार सम्पादन हो चुका था। इसलिए सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आज उनके जो सस्करण प्राप्त हैं, उनमे कितने प्रक्षेप जुडे होगे ? किन्तु इन प्रक्षेपो के कारण पुराणो के महत्त्व मे कोई न्यूनता नही आई और इस आधार पर उनकी प्राचीनता पर सन्देह करना समीचीन नही है।

पुराणों के आख्यान-उपाख्यानों का आधार लोकविश्वास

पुराण पुरातन कथाओ तथा आख्यायिकाओ के सग्रह हैं। 'वामनपुराण' (१।२।५) में कहा गया है कि पुरातन परम्परा से सचित घटना-चक्रो का व्याख्यान करना ही पुराणो का लक्ष्य है (पुरा परम्परा वक्ति पुराण तेन वै स्मृतम्)। न केवल भारतीय साहित्य मे, अपितु विश्व साहित्य मे इस प्रकार की पुरातन कथाओ का समावेश सर्वत्र पाया जाता है।

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि आदिम मानव-जीवन के विकास-क्रम का इतिहास उसके आन्तरिक विश्वासो से आरम्भ होता है। अपनी सभ्यता की आरम्भावस्था मे जब वह दर्शन तथा चिन्तन की दुरूहताओ से अपरिचित था, प्राकृतिक रहस्यो के प्रति उसमे उत्सुकताओ का स्फुरण हो चुका था। ये उत्सुकताएँ ही उसके विश्वास थे। कुछ विश्वास उसमे परम्परा से थे और कुछ उसके अपने अनुभवो पर आधारित थे। उसने एक ऐसी अदृष्ट शक्ति को स्वीकार कर लिया था, जो कि इन दृश्यमान क्रिया-कलापों के मूल मे निहित थी। आदिम मानव के इन विश्वासो को सजोकर

ज्ञान-सम्पन्न ऋषियो ने उन्हे कथाओ मे निबद्ध किया । ये कथाएँ ही पौराणिक गाथाओ के रूप मे विश्रुत हुई । मौलिक रूप मे परम्परागत ये पौराणिक गाथाएँ ही मानव समुदाय की प्रथम या आदिम सम्पदा हैं । ये गाथाएँ ससार, ईश्वर, जीव, पाप-पुण्य, स्वर्ग नरक और लौकिक-पारलौकिक आदि अनेक विषयो से सम्बद्ध थी । उन्हे पुराणकार ऋषि महर्षियो ने सरस, सरल तथा सहज ढग से प्रस्तुत किया और उन्ही का सग्रह पुराण-सहिताओ के रूप मे निबद्ध हुआ । विश्व के सभी धर्मों के उदय मे इन पुराण-गाथाओ की प्रेरणा रही है ।

इन पुराण-गाथाओ की अपनी विशेषता यह रही है कि मनुष्य जीवन के क्रिया-कलापो के जितने भी पक्ष हैं, उन सबमे ईश्वर के अस्तित्व को अनिवार्य रूप से माना गया है । प्रत्येक कार्य तथा कार्यफल को किसी देवताविशेष पर निर्भर किया गया और दृढतापूर्वक यह स्वीकार किया गया कि प्रत्येक कार्य का सुफल तथा कुफल उसकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता पर निर्भर है ।

आधुनिक विश्व के विचारको ने परम्परागत पौराणिक विश्वासो के दो परस्पर विरोधी मूल आधार माने हैं । एक मत के अनुसार वे विश्वास आदिमानव के सभ्यता सक्रमण काल मे वैज्ञानिक चिन्तन का फल है, और दूसरे मत से वे मानव समुदाय की काल्पनिक उडान है, दिवा स्वप्नो की भाँति हैं और कालान्तर मे जब उन्हें लोक-मान्यता प्राप्त हुई तो वे अपने पौराणिक परिवेश के रूप मे प्रकाश मे आये ।

इसमे सन्देह नही है कि पुराण कथाएँ मानव मस्तिष्क की प्रथम साहित्यिक उपज हैं और उनके आधार लोक विश्वास थे । उनके ग्रथन तथा कथन की भाषा मे परिवर्तन अवश्य होता रहा । किन्तु उनके मौलिक भावनात्मक आधारो मे कोई विकार उत्पन्न नही हुआ ।

पुराणों का विषय

पुराण वस्तुत भारतीय जीवन के विश्वकोश हैं । विभिन्न धर्मों, विचारो, विश्वासो तथा मान्यताओ के इस देश मे सबकी आकाक्षाओ का समन्वय पुराणो मे देखने को मिलता है । उसमे आर्यों तथा आर्येतर जातियो की सास्कृतिक तथा धार्मिक परम्पराओ का समन्वय है । आस्तिक तथा नास्तिक विचारधाराओ का समन्वय है और साथ ही ऐसी उदार एव सहिष्णु सार्वभौम परम्पराओ का सन्निवेश है जो कि आज भी समस्त मानव जाति की एकता के लिए उपादेय है ।

पुराणो को पचलक्षण कहा गया है। उनमे १ सर्ग (सृष्टि का आरम्भ), २ प्रतिसर्ग (सृष्टि का विलय), ३ वश (सृष्टि के आदिम काल की वशावली), ४ मन्वन्तर (विभिन्न मनुओ द्वारा शासित युगो तथा उन युगो मे घटित विशिष्ट घटनाओ का वर्णन), ५ वशानुचरित (भारतीय राजवशो का वर्णन)—इन पाँच विषयो का विशेष रूप से व्याख्यान किया गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च।
वशानुचरित चैव पुराण पञ्चलक्षणम् ॥

पुराणो का मुख्य विषय सृष्टि का विस्तार निरूपित करना है। यह सृष्टि-प्रक्रिया प्राय समस्त पुराणो मे एक ही ढग से प्रतिपादित है। यहाँ तक कि उनके भावाभिव्यजन मे ही नही, आशय मे ही नही, अपितु शब्द-रचना तथा श्लोक शैली मे भी एकता है।

भिन्न भिन्न पुराणो पर जो सम्प्रदायविशेष का प्रभाव देखने को मिलता है, उसके सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि अपने-अपने सम्प्रदायो के अनुसार समय-समय पर उनमे नई विषय-सामग्री जोडी गई। जैन-बौद्ध धर्मों के बढते हुए प्रभाव को दृष्टि मे रखकर वैदिक धर्मानुयायी वर्ग ने अपने-अपने सिद्धान्तो की विषय-सामग्री जोडकर अपनी प्रतिष्ठा को बढाया।

पुराणों की धर्मविषयक प्रामाणिकता

पुराणो तथा धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थो का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उसका कारण यह है कि पुराणो मे धर्म, आचार तथा व्यवहार सम्बन्धी अनेक विषयो का उल्लेख हुआ है। अपरार्क, बल्लालसेन, हेमाद्रि तथा कुल्लूक भट्ट प्रभृति भाष्यकारो तथा टीकाकारो ने पुराणो के धर्म विषयक कथनो को उसी प्रामाणिकता से उद्धृत किया है, जैसे धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थो के। इस दृष्टि से इन निबन्धकारो ने पुराणो को धर्म का अग माना है। जैसे कि पुराणो का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनमे परम्परा-प्राप्त वैदिक धर्म को नये परिप्रेक्ष्य मे प्रस्थापित किया गया है। इस दृष्टि से पुराण न केवल पौराणिक कथाओ, आख्यान उपाख्यानो के सग्रह मात्र हैं, अपितु धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ भी हैं। धर्मसहिताओ तथा धर्मसूत्रो और स्मृतियो की भाँति पुराण भी अपने मूलरूप मे सहिताओ मे निबद्ध होकर उत्तरोत्तर अपने नये स्वरूपो मे परिवर्तित, परिवर्धित होते रहे। किन्तु उनके धर्म विषयक मन्तव्य उतने ही प्रामाणिक एव मान्य हैं, जितने कि धर्मसूत्रो या स्मृतियो के। इस दृष्टि से पुराणशास्त्र की मान्यताओ को परवर्ती धर्मशास्त्रकारो ने प्रमाण रूप मे उद्धृत कर अपने मतो को मण्डित किया है।

पुराणो को श्रुति तथा स्मृति के समकक्ष मान्यता प्रदान की गई है। जो पवित्रता, श्रेष्ठता एव प्रामाणिकता श्रुति तथा स्मृति को प्राप्त है, वही पुराणो की भी मानी गई है। हिन्दुत्व की प्रत्येक धार्मिक प्रक्रिया के सम्पादन के लिए आरम्भ मे जो सकल्प किया जाता है, उसमे 'श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त' तीनो के महत्त्व को समान रूप मे माना गया है।

पुराणों का ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक महत्त्व

पुराण-वाङ्मय पर अब तक पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानो द्वारा विभिन्न दृष्टियो से व्यापक एवं गभीर अध्ययन-अनुशीलन हो चुका है। उनमे जो परिवर्तन-परिवर्द्धन होते गये तथा समय-समय पर नई सामग्री जुडती गई और जिन कल्पनाओ, अतिशयोक्तियो तथा अत्युक्तियो का समावेश देखने को मिलता है, उन सबका परिशीलन करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकाले गये हैं, वे अध्ययनीय हैं और उनसे पुराण-साहित्य की प्रयोजनीयता एव उपयोगिता प्रमाणित होती है।

पुराणो का सृष्टि-वर्णन इतिहास की दृष्टि से सत्य है। उसमें जो घटनाएँ दी गई हैं, वे अकल्पित हैं। पुरातत्त्व तथा विज्ञान की किसी भी प्रामाणिक खोज की तुलना मे पुराणो का सृष्टि-वर्णन किसी भी प्रकार अप्रासगिक एवं व्यतिक्रमिक नही है। विकासवाद, आधुनिक विज्ञान की जो नई खोज है, उसके तथ्य, दृष्टान्त एव विपुल विषय-सामग्री पुराणो मे वर्तमान है। पृथ्वी, पर्वत, नदी आदि की सृष्टि, पौराणिक एव दार्शनिक परमाणुवाद, महत्तत्त्व से भूतत्त्व की सृष्टि, जलचर, भूचर, खेचर तथा मनुष्य आदि प्राणियो की रचना और मानव जगत की नई योनियो के उद्भव का इतिहास पुराणो मे विस्तार से प्रतिपादित है।

पुराणो मे ऐसी अपूर्व उद्भावनाएँ हैं, जिन पर विज्ञान ने अब तक कुछ नहीं कहा है। सुदूर भूत और सुदूर भविष्य की जो बातें पुराणो मे कही गई हैं, युग-परिणाम की दृष्टि से उनकी गणना अब तक हुई ही नही। पुराणो मे सभी विषय कथोपकथन की शैली मे कहे गये हैं। प्रत्येक सन्दर्भ-गत विषय को सुगमता से हृदयगम कराने वाले इस प्रकार के ग्रन्थ विश्व को किसी भी भाषा मे नही मिल सकते। एक ऋषि ने किसी दूसरे ऋषि से सुना, उसने भी किसी देवता से सुना, देवता ने भी ब्रह्मा से सुना, इस प्रकार समस्त पौराणिक ज्ञान-थाती शिष्य-परम्परा द्वारा मौखिक रूप मे युग-युगो को प्रवर्तित होती रही। विज्ञान को भले ही इसमे तर्क प्रतीत हो, किन्तु भारतीय आचार विचारो, सस्कारो, विश्वासो और मान्यताओ का यह चिर पुरातन इतिहास अपना मौलिक महत्त्व रखता है।

पुराणो मे कल्प-कल्पान्तरो और अनेक सृष्टियो के उत्थान पतन की कथाएँ वर्णित हैं। उनमे अनेक द्वीप-द्वीपान्तरों तथा विभिन्न समुद्रो, देशो, राजधानियो का क्रमबद्ध इतिहास है। किन्तु उनमे कही भी यह नही कहा गया है कि आर्यजन कहीं बाहर से भारत आये। तब यदि कतिपय विद्वान् यह कहे कि आर्यो का मूल निवास भारत से बाहर था तो उसका कोई आधार नही है। पुराणो मे स्पष्टरूप से कहा गया है कि शक तथा मग आदि जातियाँ बाहरी थी और उन्होंने भारत मे कब तथा किस प्रयोजन से प्रवेश किया। साथ ही भारत के लोग बाहर के किन किन देशो मे जाकर बसने लगे।

इस प्रकार पुराणो मे अनेक ऐसे सन्दर्भ है, जो विज्ञान की पहुँच से बाहर और इतिहास की नई खोजो का मार्ग प्रशस्त करते हैं। पुराणो के अध्ययन-अनुशीलन से न केवल भारतीय इतिहास के गौरवमय अतीत का दिग्दर्शन होता है, अपितु व्यापक विश्व-मानव समुदाय के इतिहास का भी उद्घाटन होता है।

पुराण भारतीय साहित्य के विश्वकोश

पुराण भारतीय साहित्य के विश्वकोश हैं। उनमे इतिहास, धर्म, दर्शन, काव्य, कला, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजधर्म, सैन्यविद्या, ज्योतिष, कर्मकाण्ड और समाजशास्त्र आदि अनेक विषयो का समावेश देखने को मिलता है। भारत की परम्परागत सस्कृति, सभ्यता, शिक्षा, ज्ञान विज्ञान, सदाचार, शौर्य, नैतिकता, तीर्थ, व्रत, तप, दान, श्राद्ध, वर्ण, आश्रम, देवता, ऋषि, महर्षि, राजा, राजर्षि, सागर, द्वीप, द्वीपान्तर, लोकाचार तथा देशाचार आदि असख्य विषयो का सारगर्भित वर्णन हुआ है। सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर लय तक मानव जगत के जितने भी क्रिया-कलाप हैं, उन सबका वर्णन पुराणो मे हुआ है।

भारत का जितना भी प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य है, वह पुराणो से प्रभावित है। सस्कृत साहित्य के तो वे उपजीव्य हैं। उनमे विषय की ही नही, रचना-शैली की भी विविधता है। उनमे जहाँ एक ओर धर्म-दर्शन विषयक गूढ-गभीर तात्त्विक विवेचन देखने को मिलता है, वही दूसरी ओर काव्यात्मकता के उच्च प्रेरणाप्रद सन्दर्भ भी विद्यमान हैं। पुराणो के निर्माण का प्रयोजन जनसामान्य मे वैदिक धर्म की प्रस्थापना करना था। इस कारण उनकी भाषा शैली मे सहजता, सरलता एव रोचकता का समावेश देखने को मिलता है। उनके आख्यानो-उपाख्यानो को पढते समय ऐसा प्रतीत होता है

कि वे किसी कवि की रचनाएँ हो। पुराणो के इस काव्य-सौन्दर्य की विद्वानो ने बडी सराहना की है। पुराणो के काव्य-सौष्ठव को आधार बनाकर भास, कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट तथा दण्डी आदि काव्यकारो एव कथाकारो ने अनेक महत्वपूर्ण रचनाओ का सृजन किया। परवर्ती सस्कृत साहित्य की गद्य तथा पद्य, दोनो विधाओ को पुराणो की विषय वस्तु तथा रचना-शैली ने प्रभावित किया।

पुराणो ने काव्यकारो को ही नही, अपितु कला-आचार्यों को भी प्रभावित किया। उदाहरण के लिए 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के 'चित्रसूत्र' नामक प्रकरण मे चित्रकला-सम्बन्धी विधि विधानो पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। शिल्प और कला के विभिन्न अगो पर 'हरिवशपुराण', 'मत्स्यपुराण', 'स्कन्दपुराण,' 'गरुडपुराण' और 'पद्मपुराण' आदि मे विपुल कला सामग्री देखने को मिलती है।

इस प्रकार पुराण भारतीय साहित्य, ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशलो के उद्गम हैं और उनके अध्ययन के बिना भारतीय जीवन-दर्शन का परिचय प्राप्त करना प्राय असभव है।

पुराणों की सख्या

पुराणो की वास्तविक सख्या कितनी थी और किस क्रम मे वे रचे गये, इस सम्बन्ध मे स्पष्टरूप से कुछ नही कहा जा सकता। सभवत आरम्भ मे एक पुराणसहिता थी, जिसका सकलन-सम्पादन वेदव्यास ने किया था। तत्पश्चात् उनके विभिन्न शिष्य प्रशिष्यो द्वारा उनका अलग-अलग निर्माण हुआ। अन्तत प्रमुख पुराणो की सख्या अठारह निर्धारित हुई। ये अठारह पुराण वस्तुत भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायो की परम्पराओ के अनुसार रचे गये। विभिन्न पुराणो मे अठारह महापुराणो की सख्या इस प्रकार दी गई है— १ ब्रह्म, २ पद्म, ३ वायु, ४ भागवत, ५. नारद, ६ मार्कण्डेय, ७. अग्नि, ८. भविष्य, ९ ब्रह्मवैवर्त, १० लिंग, ११ वराह, १२. स्कन्द, १३. वामन, १४. कूर्म, १५ मत्स्य, १६ गरुड, १७. शिव और १८. ब्रह्माण्ड।

इस प्रकार पुराणो के प्रयोजन का एकमात्र लक्ष्य वेदविहित धर्म की पुन स्थापना करना था और इस दृष्टि से पुराणों की रचना के बाद भारत मे जितनी विभिन्न धर्म-शाखाएँ थीं, उन सबका समावेश पौराणिक धर्म के रूप मे प्रतिफलित हुआ। इस बृहत्तर देश के व्यापक जनमानस की निष्ठाओ और आकांक्षाओ को समाहित कर पुराणो ने धर्म का जो सार्वभौम स्वरूप प्रस्तुत किया, उसको सबने ग्रहण एव वरण किया।

सौर सम्प्रदाय

भारत की प्राचीनतम धर्मशाखाओं में सौर सम्प्रदाय का विशेष स्थान रहा है। वैष्णव, शैव, शाक्त तथा गाणपत्य मतों की भांति सौरमत भी भारतीय जनमानस में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। यद्यपि आज इस मत के अनुयायियों की संख्या न्यूनतम है, तथापि भारत के पुरातत्त्व तथा कला-संग्रहालयों और मन्दिरों में सुरक्षित सूर्य-प्रतिमाएँ अपने भारत-व्यापी बहुसंख्यक भक्त-जनों का द्योतन करती हैं।

सूर्य देवतामंडल का प्रधान देवता है और बारह आदित्यों में उसका एक स्थान है। सूर्य-पूजा करने वाले सम्प्रदाय को 'सौर सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। भारत के तीन मुख्य देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश को आधार मानकर तीन प्रमुख धार्मिक सम्प्रदायों—ब्राह्म, वैष्णव और शैव का पुरातन काल में ही उदय हो चुका था। कालान्तर में इन तीन प्रमुख धर्म-पन्थों की अनेक उपशाखाएँ पल्लवित हुईं। विष्णु तथा सूर्य दोनों आदित्य वर्ग के देवताओं में परिगणित हैं। अतः वैष्णव सम्प्रदाय की एक उपशाखा स्वतन्त्ररूप से सौर सम्प्रदाय के नाम से प्रकाश में आयी, किन्तु उसने अपनी इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी कि परम्परागत प्रमुख सम्प्रदायों—वैष्णव, शैव, गाणपत्य और शाक्त में उसको उन्हीं के समकक्ष स्थान दिया जाने लगा। 'महानिर्वाणतन्त्र' (१।१४०) में उल्लेख हुआ है—'शाक्ता शैवा वैष्णवाश्च सौरगाणपतास्तथा'।

सूर्योपासना की प्राचीनता के प्रमाण पुरातात्त्विक उत्खननों और साहित्य, दोनों में उपलब्ध होते हैं। सिन्धुसभ्यता के उत्खनना में कुछ मूर्तियाँ और अनेक रेखांकित कला-कृतियाँ ऐसी प्राप्त हुई हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि भारत सहित एशिया की अनेक आदिम जातियों में सूर्य की उपासना प्रचलित थी।

सूर्य वास्तव में जन-सामान्य का एक ऐसा देवता है, मानव धरातल पर जिसके अस्तित्व एवं प्रभाव के प्रमाण नितान्त अनादि हैं। मानव ने अपनी आदिम अवस्था में ही सूर्य के अस्तित्व को स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर लिया था। उसके सम्बन्ध में आदिम मानव समाज में विभिन्न जिज्ञासाएँ तथा कल्पनाएँ की जाने लगी थीं। एशिया, योरप तथा अमेरिका आदि विश्व के मानव समाज ने अपने-अपने विश्वासों एवं कल्पनाओं के आधार पर सूर्य के प्रचण्ड प्रभाव को स्वीकार कर लिया था और उसकी दृष्ट-अदृष्ट शक्तियों पर अपना अडिग विश्वास बना लिया था।

वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में सूर्य का बहुविध उल्लेख हुआ है। उसमें सवितृ विवस्वत् तथा पूषन् आदि विभिन्न नाम कहे गये हैं। वैदिक साहित्य में सूर्य को पृथ्वी का उत्पादक एवं विश्व का आत्मा एवं पिता कहा गया है (ऋग्वेद, १।१।१५।१)। इसी कल्पना के आधार पर सूर्य-पत्नी अदिति तथा दिति विश्व की माता उल्लिखित है। दोनों को क्रमशः दिन तथा रात्रि का प्रतीक माना गया है। इन दोनों का पुत्र अग्नि पृथ्वी पर सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार सूर्यकुल के देवताओं का सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसके सचालन में विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। ऋग्वेद के उक्त प्रसंग में सूर्य को देवताओं का मुख और दूसरे प्रसंग में मित्र तथा वरुण का चक्षु कहा गया है (ऋग्वेद, ६।५१।११-१२)। विराट् पुरुष का वह चक्षु है। उसकी तेजस्विता एवं उसके प्रभाव से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। वह रोगों का नाशक है। उसके दर्शन से नेत्रों के असाध्य रोग निवृत्त हो जाते हैं (ऋग्वेद, १।५०।११ १२)। कुष्ठ रोग की निवृत्ति का एकमात्र आराध्य देव सूर्य है। ऋग्वेद (७।६२।२) में सूर्य की उपासना की कल्पना अभिव्यक्त हुई है। विश्वामित्र ऋषि द्वारा रचित 'गायत्रीमंत्र' सूर्योपासना से सम्बद्ध है।

अथर्ववेद (१३।३।१०) में 'सप्तसूर्या' नाम से सूर्य की प्रतीकात्मक सप्तराशियों का उल्लेख हुआ है। सूर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह एक या बहुसंख्यक घोड़ों से खींचा जाता है। ये घोड़े वस्तुतः प्रकाश-किरणों के प्रतीक हैं। वह अग्नितत्त्व का आकाशीय रूप और अन्धकार तथा अन्धकार में रहने वाले राक्षसों का विनाशक है। उसके मार्ग आदि का निर्माण वरुण तथा आदित्य आदि देवता करते हैं।

वैदिक साहित्य में सूर्य का जो स्वरूप वर्णित हुआ है, उसके परवर्ती *'महाभारत' तथा पुराणों* में अपेक्षाकृत व्यापक एवं विस्तृत वर्णन देखने को मिलता है। सूर्योपासना का प्रचलन बहुत प्राचीन प्रतीत होता है। सूर्य की गति, उपासना एवं उसके एक सौ आठ नामों का जप भारत में प्राचीन काल से प्रचलित है। इसी उपासना का उपदेश सर्वप्रथम धौम्य ऋषि ने युधिष्ठिर को दिया था (महाभारत, वन० ३।१६-२३, १६०।२४ ३७)। महाभारत' (आदि० १।४०) में सूर्य के बारह नामों का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार सूर्योपासना की परम्परा यद्यपि प्राचीन है, किन्तु सम्प्रदाय के रूप में उसका आरम्भ कब से हुआ इसका निश्चय करना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत काल में ही सौरमतानुयायियों का एक अलग सम्प्रदाय विश्रुत हो चुका था। 'महाभारत (७।८२।१४-१६) में ऐसा उल्लेख है कि जब महाराज युधिष्ठिर प्रातःकाल अपने शयनकक्ष से निकले

तो उन्होंने एक सहस्र सूर्योपासक ब्राह्मणो को उपस्थित पाया। इन एक सहस्र ब्राह्मणो के भी आठ सहस्र अनुयायी थे।

सूर्योपासना की यह परम्परा पौराणिक युग मे अधिक प्रचलित एव लोकव्यापी हुई। उसी के परिणामस्वरूप उसके उपासको ने सूर्य के सहस्र नामो की कल्पना की। धौम्य ऋषि ने युधिष्ठिर को सूर्योपासना का जो उपदेश दिया था, आगे के युगो मे उसकी परम्परा किस रूप मे प्रचलित हुई, यद्यपि इसका क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नही होता, तथापि निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि पौराणिक महाकाव्यो तथा काव्यो के परवर्ती युगो मे वह बहुव्यापी रही।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणकाल मे सूर्य-पूजा का व्यापक प्रचार-प्रसार हो चुका था। प्राय सभी प्रमुख पुराणो मे सूर्यदेव को विशेष स्थान दिया गया है। उसको प्रमुख देवताओ की कोटि मे स्थान दिया गया है। 'ब्रह्मपुराण' (३३।९-१२, १५, २२, २३) के विभिन्न स्थलो पर सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के रूप मे सूर्यदेव की आराधना की गई है। इसी पुराण के अन्य सन्दर्भ (३३।३४-४५) मे सूर्य के १०८ नामो का उल्लेख हुआ है तथा उसकी आराधना पूजा का माहात्म्य वर्णित है। 'मार्कण्डेयपुराण' ने सूर्य की चार पत्नियो का उल्लेख हुआ है, जिनके नाम थे सज्ञा, राज्ञी, प्रभा और छाया। सज्ञा से मुनि, राज्ञी से यम-यमुना रेवन्त, प्रभा से प्रभात और छाया से सावर्णि शनि, तपती का जन्म हुआ।

'भविष्यपुराण' (ख० १, अ० ४८) मे श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब की कथा मे बताया गया है कि कुष्ठ रोग के निवारण के लिये उन्होंने चन्द्रभागा नदी के तट पर सूर्य-मन्दिर का निर्माण कराया था और उसकी पूजा-प्रतिष्ठा के लिये शाकद्वीपीय मग ब्राह्मणो को आमन्त्रित किया था। श्रीकृष्ण तथा जाम्बवती से उत्पन्न यादव राजकुमार साम्ब प्रबल सूर्योपासक था। अत्यन्त स्वैराचारी (स्त्री-लोलुप) होने के कारण श्रीकृष्ण ने साम्ब को कुष्ठ रोगी होने का शाप दिया था। नारदमुनि के परामर्श पर कुष्ठरोग से मुक्त होने के लिये साम्ब ने सूर्य की उपासना की थी और उससे मुक्ति प्राप्त की थी। यह सूर्योपासना उसने अपनी उत्तरावस्था मे की थी, जिससे प्रसन्न होकर भगवान सूर्यनारायण ने साम्ब को अपनी तेजोमयी प्रतिमा प्रदान की थी। 'ब्रह्मपुराण' (६६।७२-७३, ७५, १२७) तथा 'स्कन्दपुराण' (४।१।४८, ६।२९।३) मे कहा गया है कि साम्ब ने चन्द्रभागा नदी के तट पर साम्बपुर (मूलस्थान) नाम की नयी नगरी बसाई थी। आगे कहा गया है कि सूर्योपासना के विधि-विधान के लिए उसने शाकद्वीप से मग ब्राह्मण को

बुलाया था, जो स्थायी रूप से साम्बपुर (मूलस्थान) में बस गया था। 'महाभारत' (भीष्म० १२।३४) में मगों को 'मग' नाम से कहा गया है। वे वेद वेत्ता थे। 'भविष्यपुराण' (ब्राह्म० १२७, साम्ब २६) में कहा गया है कि साम्ब के आमंत्रण पर मग ब्राह्मणों के अठारह कुल चन्द्रभागा नदी के तट पर उपस्थित हुये थे और वहीं साम्बनगर में बस गये थे। आज भी भारत में मगों के वंशज विद्यमान हैं।

साम्ब द्वारा निर्मित मूलस्थान का यह सूर्य मन्दिर आज भी विद्यमान है और वहाँ पर मगों के वंशज भी वर्तमान हैं। यह मूलस्थानपुर वर्तमान मुल्तान है और शाकद्वीप का वर्तमान ईरान का सीमान्त भाग है। ईरान में प्रचलित मिथ्र पूजा और सूर्य पूजा में साम्य है। ये सूर्योपासक वेद वेत्ता मग ब्राह्मण सम्भवतः फारसी धर्म के अनुयायी थे। एक पौराणिक आख्यान से ज्ञात होता है कि मिहिर गोत्रीय सुजिह्व नामक एक ब्राह्मण की कन्या निक्षुभा पर सूर्य मोहित हो गया था। उस कन्या से सूर्य का एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम 'जरशब्द' या 'जरशस्थ' था और जो 'जरथुस्त्र' के नाम से कहा गया। मग ब्राह्मण उसी के वंशज थे और फारसी धर्म का प्रवर्तक भी उन्हीं के वंशपुरुष जरथुस्त्र को माना गया है। उनका मूल स्थान पश्चिम भारत मुलतान में था। मुल्तान (या मूलस्थानपुर) में स्थापित सूर्य मन्दिर के अस्तित्व के सम्बन्ध में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग तथा अरब इतिहासकार अल् इद्रिसी ने भी किया है। ह्वेन त्सांग ने उस सूर्य मन्दिर को देखा था। यह मन्दिर अत्यन्त प्राचीन तथा विशाल था। साम्ब ने एक सूर्य मन्दिर का निर्माण मथुरा में भी कराया था, जिसका नाम साम्बप्रिय था।

सूर्य मन्दिरों का निर्माण तथा सूर्य-पूजा का प्रचलन धीरे-धीरे सारे भारत में हुआ। गुप्तसम्राटों के समय (५वीं शती ई०) से ही सूर्य मन्दिरों का निर्माण होना आरम्भ हो गया था। उनके अभिलेखों से पता चलता है कि कुमारगुप्त प्रथम (५वीं शती ई०) के समकालीन दशपुर (मन्दसौर) के बुनकरों के एक वर्ग ने भव्य सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था। स्कन्दगुप्त (५वीं शती ई०) के इन्द्रपुर (इन्दौर-बुलन्दशहर) स्थित एक स्मारक में सूर्य मन्दिर के निर्माण का उल्लेख हुआ है। मिहिरकुल (८वीं शती ई०) के ग्वालियर स्थित अभिलेख में कवि मातृचेट द्वारा शिव मन्दिर के निर्माण का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार वल्भी का मैत्रक राजा (८वीं शती ई०) सूर्योपासक था। पुष्यभूति राजा (८वीं शती ई०) के अभिलेखों तथा ताम्रपत्रों से विदित होता है कि वे परम आदित्य भक्त थे। गुप्तसम्राट् जीवितगुप्त (६ठीं शती ई०) के शासन-काल में आरा जिले में स्थित

मगध नामक स्थान मे सूर्य-मन्दिर का निर्माण हुआ था (गुप्त अभिलेख ८०, १६२, २१८)। इसी प्रकार वालादित्य (६ठी शती ई०) ने बहराइच मे विशाल सूर्य मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसको भग्न तथा भ्रष्ट करने का अपकार्य सैयद मालार मसऊद्दी गाजी ने किया।

चीनी यात्री ह्वेन-त्साग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि कान्यकुब्ज (कन्नौज) के अधिपति सम्राट् हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन (६ठी शती ई०) सूर्योपासक थे। मुगलो के भारत प्रवेश के समय तक कान्यकुब्जेश्वर द्वारा स्थापित सूर्य मन्दिर मे अनेक भव्य सूर्य प्रतिमाएँ स्थापित थी, जिनमे से अधिकाश को मुगलो ने ध्वस्त एव भ्रष्ट कर दिया था।

कोणार्क (उड़ीसा) की खुदाई मे एक सूर्य मन्दिर के अवशेष मिले हैं, जिसकी प्राचीनता असन्दिग्ध है। धर्म द्रोहियो द्वारा यह एक बार ध्वस्त किया गया था। इस मन्दिर का नाम 'कोणादित्य' था। कोणार्क का सूर्य-मन्दिर भारत मे अपनी भव्यता एव कलाकारिता के लिये प्रसिद्ध है। इसी प्रकार कश्मीर के अनेक स्थलो पर उपलब्ध खण्डित सूर्य प्रतिमाओ से ज्ञात होता है कि वहाँ भी सूर्योपासना का प्रचलन था। इतना ही नही, अपितु द्वीपान्तर भारत जावा मे रथारूढ सूर्य प्रतिमा के प्राप्त होने से यह सिद्ध होता है कि वहाँ भी सूर्योपासना का प्रचलन था।

सूर्योपासना के अन्य अनेक प्रमाण परवर्ती समय मे भी प्राप्त होते हैं। माधवाचार्य (१२वी शती) के 'शकरदिग्विजय' नामक ग्रन्थ मे जिस सौर सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है, निश्चित ही वह परम्परागत था और शकराचार्य (८वी शती ई०) तक वह लोकव्यापी स्वरूप मे विद्यमान था।

इस सम्प्रदाय के अनुयायी बैगा जाति के लोग थे। ये गोडा के अब्राह्मण पुरोहित थे और नारायण (सूर्य) को अपना कुलदेवता मानते थे। वे सूर्य (अपर नाम नारायण) को जगदात्मा तथा आराधनीय मानते थे। ये लोग विवाह, जन्म आदि के अवसरो पर अपने कुलदेवता का यज्ञ तथा उत्सव आयोजित करते थे, जिनमे सूअरो की बलि दी जाती थी। उनमे यह प्रचलन था कि वे बलिपशु को पहले बहुत कष्ट देते थे और बाद मे शहतीर के नीचे दबाकर उसका वध करते थे। देवता की प्रसन्नता के लिये यही विधि प्रचलित थी। इस रूप मे सूर्योपासना एव सूर्य देवता की आराधना-पूजा परम्परा से आदिम जातियो मे प्रचलित थी। प्रत्येक धार्मिक पर्व पर कुलदेवता सूर्य की पूजा मे पशुबलि का प्रचलन परम्परागत था और इसीलिये आदिम जातियो मे सूर्योपासना की प्रथा प्राचीन प्रतीत होती है।

इस सम्प्रदाय के परम्परागत इतिहास का अन्वेषण करने पर विदित होता है कि जिस क्रम एवं गति से वैष्णव तथा शैव धर्मों का उत्तरोत्तर विकास होता गया, उसकी तुलना में सौर सम्प्रदाय शिथिल पड़ता गया। शंकराचार्य (८वीं शती ई०) के उदय के बाद यद्यपि परम्परागत सगुणोपासक धार्मिक सम्प्रदायों के विकास में अवरोध उत्पन्न हुआ, किन्तु सौर सम्प्रदाय *मध्ययुग तक सर्वथा क्षीण हो गया। उसका एक कारण यह भी* हो सकता है कि वैष्णवमत के बढ़ते हुए प्रभाव से सूर्योपासक समाज उसी में समाविष्ट हो गया। उसका आगे स्वतंत्र विकास न हो सका और उसके अनुयायी मध्ययुगीन मुगल धर्मद्रोहियों के आतंक से वैष्णव धर्मानुयायिओं में समा गये।

आचारसंहिता

अपने वैभव-काल में सौर सम्प्रदाय का प्रभाव काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी अर्थात् हिमालय से लेकर सुदूर दक्षिण तक व्याप्त था। आज भी उपास्य देवताओं में सूर्य का जनमानस पर प्रत्यक्ष प्रभाव है। इसीलिये भारत के विभिन्न अंचलों में आज भी न्यूनाधिक रूप में सूर्योपासकों का अस्तित्व बना हुआ है। जो वर्तमान हैं वे गले में स्फटिक की माला और ललाट पर रक्तचन्दन का तिलक धारण करते हैं। अष्टाक्षर मंत्र का जप करते हैं और रविवार तथा संक्रान्ति तिथि को नमक नहीं खाते। वर्षाऋतु में जब सूर्य मेघाच्छन्न रहता है, सौरमतानुयायी कट्टर भक्त सूर्य दर्शन न होने के कारण निराहार ही रहते हैं।

त्रिकाल सन्ध्योपासना और गायत्री जप, स्नानोपरान्त सूर्य-अर्घ्य प्रत्येक धर्मनिष्ठ हिन्दू का आज भी नियमित कर्म है। नवग्रहों में सूर्यपूजा का विधान है। आज भी कार्तिक शुक्ला षष्ठी तिथि को सप्तमी तिथि के सूर्योदय तक व्रत धारण किया जाता है और सूर्योदय के बाद अर्घ्यदान के समय उनका अर्चन किया जाता है—

नमो नमः कारणकारणाय नमो नमः पापविमोचनाय।
नमो नमस्ते दितिजार्दनाय नमो नमः रोगविमोचनाय॥

अथवा

नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे।
जगत्सवित्रे शुचये नमस्ते कर्मदायिने॥

वर्तमान हिन्दू समाज में सौर सम्वत् ज्योतिश्शास्त्र का आधार है और प्रत्येक शुभाशुभ कार्य-सम्पादन में सौर गणना का आश्रय लिया जाता है।

साहित्य निर्माण

सौर सम्प्रदाय पर व्यापक साहित्य उपलब्ध है। विश्वामित्र ऋषि द्वारा विरचित गायत्री मंत्र तथा अनेक सौरसूक्त ऋग्वेद में विद्यमान हैं, जिन्हें सूर्यदेवता विषयक प्राचीनतम साहित्य कहा जा सकता है। उपनिषद् ग्रन्थों में 'सूर्योपनिषद्' सूर्योपासना से ही सम्बद्ध है। इस सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'सौरसंहिता' हैं, जो नेपाल के राजपुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में सुरक्षित बताया जाता है। उसका लिपिकाल ९४१ वि० है। इसमें साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड एवं आचार-पद्धति वर्णित है। 'गुरुज्ञानवसिष्ठ-सत्यनाराण' नामक ग्रन्थ में अन्तर्भूत 'शिवगीता' में सूर्योपासना का ही निरूपण हुआ है। इनके अतिरिक्त 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' तथा 'भविष्यपुराण' सौर सम्प्रदाय से ही सम्बन्धित हैं। 'सूर्यशतक' के रचयिता महाराज हर्ष के राजकवि मयूर ७वीं शती ई० में हुए। उनके समकालीन बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' के आरम्भ में सूर्य की वन्दना की है। इससे सौरमत की तत्कालीन व्यापकता का पता चलता है। जैनकवि मानतुंग रचित 'भक्तामरस्तोत्र' सूर्योपासना से सम्बन्धित कृति है। इसी समय विरचित 'साम्ब-पुराण' सौर सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इन साहित्यिक कृतियों के अतिरिक्त अभिलेखों तथा प्रशस्तियों में उत्कीर्ण एवं अभिलिखित सूर्य की स्तुतियाँ उल्लेखनीय हैं।

सूर्य-प्रतिमाओं का निर्माण

वेदों तथा पुराणों में वर्णित सूर्य के शब्दचित्रों के आधार पर सूर्य प्रतिमाओं का भारत में व्यापक रूप से निर्माण हुआ। ये प्रतिमाएँ विशेष रूप से दो प्रकार की शैलियों में बनी—दाक्षिणात्य और औदीच्य। औदीच्य प्रतिमा शैली में विशेष रूप से वेश का बाह्य प्रभाव लक्षित होता है। उसमें अधिक कलात्मकता है, किन्तु दाक्षिणात्य प्रतिमाओं में सूर्य के प्रभा-मण्डल को दर्शाने में विशेष बल दिया गया है। दोनों शैलियों में मुख्यतः भारतीयता की है और प्रतिमा विज्ञान के भारतीय दृष्टिकोण को अपनाया गया है। यद्यपि सूर्योपासना के विधि विधानों के प्रथम कर्ता शाकद्वीपीय मग ब्राह्मण थे और यह स्वाभाविक था कि सूर्य की प्रतिमाओं पर ईरानी शैली का प्रभाव परिलक्षित होता, किन्तु जिस प्रकार सूर्योपासना पर वैदिक प्रभाव था उसी प्रकार सूर्य प्रतिमाओं का निर्माण भी वैदिक तथा पौराणिक आख्यानों के अनुकूल हुआ।

सूर्य-प्रतिमाएँ जो विभिन्न मन्दिरो मे स्थापित हैं, मुख्यत. उनकी दो विधाएँ हैं—रथारूढ और खड़ी। रथारूढ प्रतिमाओ मे सात अश्व जुते हैं। रथ का चालक सारथी अरुण है, जिसे पाँव से रहित दर्शाया गया है। सूर्य के दोनो पार्श्वों मे ऊषा तथा प्रत्यूषा उत्कीर्ण हैं, जो आकाश की ओर धनुष सन्धान किये हुए है। सूर्य-प्रतिमा के दोनो ओर दो पार्षद दण्ड धारण किये हुए हैं। मसिपात्र धारण किये हुए पिंगल या कुण्डी अंकित है। यह रूप-विधान दाक्षिणात्य शैली की प्रतिमाओ का है। उनमे कमलरूप नगे पाँव धोती धारण किये हुए और शरीर खुला है।

औदीच्य प्रतिमाओ का रूप-विधान कुछ भिन्न है। उनमे ऊँची एडी के उपानह् (जूते) दिखाये गये है। चुस्त पायजामा, भारी अंगा, चौडी मेखला, शिर पर किरीट और पीठ की ओर प्रभा-मण्डल दर्शित है। वैदिक गरुत्मान के प्रतीकस्वरूप सूर्यमूर्ति के दोनो ओर दो पक्ष भी दर्शाये गये हैं।

सिद्धान्त-निरूपण

सौरमत का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अद्वैतवादी है, किन्तु भक्तिमार्ग से सम्बन्धित है। 'महाभारत' तथा पुराणो मे सूर्य को सनातन ब्रह्म, परमात्मा स्वयम्भू, अज, अनन्त, सर्वात्मा और जगत का मूलकारण बताया गया है। मोक्षार्थी उसकी उपासना करते हैं। वह ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो का प्रभु है। फिर भी जैसा कि लोक प्रचलित है, सूर्योपासना या सौर सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय की एक शाखा होने के कारण उसमे सैद्धान्तिक आधार सगुण भक्ति जैसे हैं।

स्कन्द सम्प्रदाय

प्राचीन धर्मशाखाओ मे स्कन्द सम्प्रदाय का भी एक नाम है। शिव के पुत्र स्कन्द या कार्तिकेय अथवा कुमार की व्यापक साहित्य-चर्चाएँ तथा लोक-व्यापी पूजा प्रतिष्ठा के महत्त्व को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि महाभारतकालीन समाज से लेकर मध्ययुग तक स्कन्द के उपासक धर्मानुयायियो का एक अलग वर्ग था। स्कन्द की यह उपासना सात्वित धर्म का ही एक अग थी। इस सात्वित धर्म का प्रथम उपदेष्टा आचार्य सनत्कुमार था, जिसको इस धर्म का उपदेश ब्रह्मा से प्राप्त हुआ था।

पुराणो (ब्रह्माण्ड ३।१०।२२-६०, वायु ११।२०-४९) तथा 'महाभारत' (वनपर्व २१३-२१४) मे स्कन्द को शिव पार्वती अथवा अग्नि का पुत्र कहा गया है। स्कन्द के सम्बन्ध मे 'ब्रह्मपुराण' (८१) की एक कथा मे ऐसा उल्लेख है कि वह देवस्त्रियो पर बहुत आसक्त हो गया था। देवस्त्रियो द्वारा स्कन्द की स्वैराचार की शिकायत पर पार्वती ने ऐसी लीला व्याप्त की कि सृष्टि की समस्त स्त्रियो मे स्कन्द को पार्वती का ही रूप दिखाई देने लगा। इस बात से स्कन्द को अपने कृतकर्म के प्रति बडा पश्चात्ताप हुआ और माता पार्वती के पास जाकर उसने प्रतिज्ञा की कि आज से ससार की सारी स्त्रियाँ मेरे लिये माता के समान हैं।

मराठी के 'शिवलीलामृत' (शिवलीला १३) मे एक परम्परागत जन-श्रुति के आधार पर कहा गया है कि स्त्रियो के प्रति अत्यधिक विरक्त-वृत्ति के कारण स्त्रियाँ उनके दर्शन नही करती हैं। ऐसा कहा जाता है कि स्कन्द की मूर्ति के दर्शन से स्त्री को सात जन्म तक का वैधव्य प्राप्त होता है। यह जनश्रुति केवल उक्त ग्रन्थ मे है। पुराणो आदि मे कही भी उसका उल्लेख नही मिलता।

कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा से स्कन्द का सम्बन्ध था। 'छान्दोग्यो-पनिषद्' मे स्कन्द की ज्ञान-गरिमा का समन्वय सनत्कुमार से किया गया है। सनत्कुमार एक सुविख्यात तत्त्ववेत्ता, आचार्य और विष्णु के साक्षात् अवतार थे। वे ब्रह्मज्ञानी, निवृत्तिमार्गी, योगवेत्ता, धर्मशास्त्रज्ञ और मोक्षधर्म के प्रवर्तक थे। उनके ब्रह्मज्ञान का उल्लेख 'छान्दोग्योपनिषद्' (७।१७-२२) मे किया गया है। स्कन्द स्वय ब्रह्मनिष्ठ एवं ज्ञान-गुण-सम्पन्न उपनिषद्कालीन आचार्य थे। अत उक्त उपनिषद् मे सनत्कुमार के साथ उनका समन्वय बताया गया है। वैसे भी सनत्कुमार स्कन्द का नामान्तर है। किन्तु दोनो

तत्त्ववेत्ता भिन्न भिन्न थे और दोनो की भिन्नता को दर्शित करनेवाले बहुविध पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं।

गृह्यसूत्रो मे उनके शौर्यपूर्ण घोर उग्र रूप का वर्णन हुआ है। उनके उग्र स्वभाव तथा शौर्य का प्रमाण इसी से मिलता है कि केवल सात दिनो की अल्प वय मे ही उसने तारकासुर का वध कर दिया था। बाणासुर को भी उसी ने मारा था। तारकासुर के वध के बाद ही स्कन्द को देवो का सेनापति होने का गौरव प्राप्त हुआ था।

'स्कन्दपुराण' उन्ही के नाम पर है और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा तथा उनके सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है। अष्टादश महापुराणो मे यह सबसे वृहद् है। इस पुराण के उपदेष्टा स्वय स्कन्द या कुमार हैं। उसमे मुख्य रूप से शिवतत्त्व का निरूपण किया गया है। इस पुराण की 'सूतसहिता' मे शैव उपासना, वैदिक तथा तान्त्रिक पूजाओ का विस्तृत वर्णन किया गया है। 'महाभारत', 'स्कन्दपुराण', 'शिवपुराण', 'वामनपुराण और 'कालिकापुराण' आदि मे स्कन्द की कथा तथा पूजा-प्रतिष्ठा का वर्णन है। इन्ही पौराणिक आख्यानो के आधार पर महाकवि कालिदास ने 'कुमारसभव' नामक महाकाव्य की रचना की। उसमे कालिदास ने स्कन्द या कुमार के सपूज्य देवत्व रूप, उनके प्रति प्रचलित लोकभक्ति का वर्णन किया है। सृष्टि-विज्ञान मे स्कन्द सूर्य की वह शक्ति है, जो वायुमडल के ऊपर स्थिर है और जिससे वर्षा करनेवाली अग्नि (सवत्सराग्नि) उत्पन्न होती है।

इस प्रकार स्कन्द के देवत्व रूप का उल्लेख यद्यपि प्राचीन है, किन्तु उनके नाम से प्रतिष्ठित स्कन्द सम्प्रदाय का प्रचलन बहुत बाद मे हुआ। स्कन्द के आराधक समाज का पता कुषाण काल (प्रथम शती ई० पूर्व) से पूर्व का है। कुषाण राजा स्कन्दपूजक थे, क्योकि उनकी मुद्राओ पर स्कन्द का नाम अकित हुआ है। गुप्तकाल (पाँचवी शती ई०) मे स्कन्द पूजा का विशेष रूप से उत्तर भारत मे व्यापक प्रचलन था। दक्षिण मे भी स्कन्द की पूजा प्रतिष्ठा का प्रचार-प्रसार हो चुका था। चालुक्य राजाओ (१०वी शती ई०) के उपास्य देव या कुलदेवता थे। चालुक्यो के प्रभाव से दक्षिण भारत मे स्कन्द की पूजा के विभिन्न स्वरूप प्रचलित हो चुके थे। दक्षिण मे मुरुगन (बालक), वेल्लन (शक्तिधर) और शेय्यान (रक्तवर्ण) आदि विभिन्न रूपो मे स्कन्द की पूजा की जाने लगी थी। पुराण प्रचलित उनके विभिन्न नाम-रूप कुमार, कार्तिकेय, ग्रह, रुद्रसूनु, सुब्रह्मण्य, महासेन, सेनापति, सिद्धसेन, शक्तिधर, गोपुत्र, शरभू, तारकजित्, षण्मुख, षडानन और पावकि आदि समाज मे पूजे जाने लगे थे।

सनातन ब्रह्मचारी होने के कारण उन्हे कुमार कहा गया और उनके इस रूप की उपासना ब्रह्मनिष्ठ समाज द्वारा अधिक अपनाई गई। उनकी मूर्तियो को देखने से पता चलता है कि उन्हे एक या छह शिर तथा दो या बारह हाथो वाला दर्शाया गया है। उनके रक्तवर्ण वस्त्र, हाथ मे धनुषधारण, अन्यान्य हाथो मे खड्ग, शक्ति, वज्र तथा परशु आदि से सम्पन्न उत्कीर्ण किया गया है। उनका वाहन मयूर है, ध्वज-चिह्न मुर्गा और ध्वज का रग लाल है।

योगमार्ग की साधना मे स्कन्द को पवित्र शक्ति का प्रतीक माना गया है। तपस्या तथा योग-साधना द्वारा अर्जित ब्रह्मवर्चस्व का प्रतीक भी स्कन्द को ही माना गया है। वे शक्ति के महापुत्र हैं।

इस प्रकार स्कन्द सम्प्रदाय यद्यपि आज अपने अस्तित्व मे स्मृति शेष है, किन्तु इस राष्ट्र की पुरातन धर्मचेतना को उजागर करने मे उसका योगदान अति स्मरणीय है।

गाणपत्य मत

प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायो मे गाणपत्य मत का भी उल्लेख देखने को मिलता है। प्राचीन काल मे गणपति के उपासको का अपना अलग वर्ग था; किन्तु यह निश्चित है कि सम्प्रति इस मत का कोई अपना स्वतंत्र धार्मिक सम्प्रदाय नही है।

विभिन्न पुराणो, 'महाभारत' तथा उपनिषदो और परवर्ती काव्य-नाटको मे गणपति से सम्बन्धित उल्लेख देखने को मिलते हैं। पौराणिक उल्लेखो के अनुसार शंकर-पार्वती के पुत्र होने पर भी गणपति अयोनिज थे, क्योंकि पार्वती ने अपने शरीर के उबटन से मूर्ति बनाकर उसमे सजीवता का संचार कर गणपति या गणेश को जन्म दिया था। उनके विनायक, मयूरेश्वर, गजानन, धूमकेतु, निष्कुम्भ, एकदन्त और गणेश आदि विभिन्न नाम हैं। 'शिवपुराण' (कु० १६) मे कहा गया है कि एक बार शिव के साथ गणेश का युद्ध हो गया था। उसमे शिव ने उनका मस्तक तोड दिया था, किन्तु पार्वती के अनुरोध पर शिव ने इन्द्र के हाथी का मस्तक लाकर जोड दिया था। तभी से वे गजानन कहे गये। गणेश की सिद्धि और बुद्धि दो पत्नियाँ और विनायक नामक एक पुत्र था। उनके चार हाथ और वाहन मूषक है।

'महाभारत' की रचना मे व्यासजी ने गणेश की सहायता प्राप्त की थी। गणेश ने यह शर्त रखी थी कि वे बीच मे अपनी लेखनी नही रोकेंगे। इसी प्रकार व्यास ने शर्त रखी थी कि अर्थ समझे बिना गणपति आगे नही लिखेंगे। गणपति को अर्थ समझने के लिये समय मिले और व्यास को भी लिखवाने में अवकाश प्राप्त हो, इसीलिये व्यास 'महाभारत' मे स्थान-स्थान पर 'कूट' सम्मिलित करते गये (महाभारत, आ० १, परि० १, क्र० १)।

गणपति के बहुव्यापी स्वरूप को दृष्टि मे रखकर, जहाँ तक गाणपत्य मत की प्राचीनता का प्रश्न है, उसके लिये आधारो एवं प्रमाणो की कमी है। गाणपत्यो के प्राचीन अस्तित्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनके आराध्य देव गणपति की अनेक भव्य एवं विशाल मूर्तियाँ विभिन्न पुरातात्त्विक उत्खननो से प्राप्त हुई हैं। भारत के अनेक पुरातत्त्व एवं कला संग्रहालयों मे गणपति की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। इन उपलब्ध मूर्तियो के आधार पर यह माना जा सकता है कि पुरातन काल में गणपति के उपासको

का अपना अलग वर्ग था, किन्तु सभवत जो अपनी वामाचारी क्रियाओ के कारण लोकनिन्दित होने से क्षीण हो गया।

जहाँ तक गणपति-पूजन तथा देवतागण मे गणपति के उल्लेख का प्रश्न है, 'वरदतापनीयोपनिषद्', 'गणपतितापनीयोपनिषद्' तथा 'नृसिंह-तापनीयोपनिषद्' आदि मे गणपति के विभिन्न स्वरूपो का अनन्त ब्रह्मरूप में व्यापक वर्णन हुआ है। वैष्णव सहिताओ मे 'गणेशसहिता' का भी उल्लेख पाया जाता है। 'अग्निपुराण', 'वायुपुराण', 'शिवपुराण', 'गणपतिपुराण' और 'महाभारत' आदि ग्रन्थो मे गणपति की महनीयता का बहुविध उल्लेख हुआ है। परवर्ती साहित्यकारो मे महाकवि कालिदास ने गणेश के 'निष्कुम्भ' नाम का उल्लेख किया है। नाटककार भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' मे गजपति गणेश का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है और उनसे यह भी ध्वनित होता है कि भवभूति के समय (७वीं शती ई०) तक गाणपत्यो का स्वतन्त्र धार्मिक सगठन बन चुका था। गणपति की जो मूर्तियाँ मिली हैं, वे भी ५वी शती ई० के बाद की हैं।

इन आधारो पर इतिहासवेत्ता विद्वानो का अभिमत है कि भारत के गाणपत्य सम्प्रदाय का आरम्भ छठी शती ई० के लगभग हो चुका था, किन्तु उसको समृद्ध एव लोकव्यापी स्वरूप १०वीं शती ई० मे प्राप्त हुआ प्रतीत होता है। भारत मे गणपति के विभिन्न रूपो की पूजा-उपासना प्रचलित होने के कारण गाणपत्यो की अनेक शाखाएँ प्रकाश मे आ चुकी थी। उपासना की इस विभिन्नता के कारण इस मत की लगभग ६ शाखाओ का पता चलता है। 'शकरदिग्विजय' ग्रन्थ मे गणपति के ६ रूपो का वर्णन हुआ है, जिनके नाम हैं—१ महागणपति, २ हरिद्रागणपति, ३ उच्छिष्ट-गणपति, ४. नवनीतगणपति, ५ स्वर्णगणपति और ६ सन्तानगणपति। इन ६ रूपो की उपासना को लेकर गाणपत्य सम्प्रदाय की ६ उपशाखाओ का प्रचलन हुआ। उनमे उच्छिष्टगणपति की उपासना का आधार तान्त्रिक था और उसकी उपासना-पद्धति लगभग शाक्तो के वामाचार मत के समान थी, जिसके कारण गाणपत्य मत का ह्रास हुआ।

आज के भारत मे भले ही गाणपत्यो का कोई स्वतंत्र सम्प्रदाय न हो, किन्तु हिन्दू जन-जीवन मे गणपति की पूजा-प्रतिष्ठा का महत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, किसी भी देवता से कम नही है। गणपति ही एकमात्र ऐसे देवता हैं, जो प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान मे अपना प्रथम स्थान रखते हैं। कर्मकाण्डी हिन्दुओ मे आदिदेव के रूप मे सर्वप्रथम गणपति की ही प्रतिष्ठा की जाती है।

वे विघ्नविनाशक एव मगल-श्रेय-समृद्धि के अधिदेवता है। प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान मे ही नही, अपितु परम्परानुसार लेखन के आरम्भ में उन्ही का स्मरण किया जाता है। गणपति 'ओकारस्वरूप' हैं। अत गणपति की उपासना ब्रह्म की उपासना है। वे समस्त विद्याओ तथा कलाओ के अधिपति हैं। सर्वप्रथम पूजा के अधिकारी हैं। ओकार मे ही गजमुख गणेश का स्वरूप विकसित हुआ, क्योकि ओकार के लेखन और गणेश के स्वरूप मे एकरूपता है। गणपति को महाब्रह्म का स्वरूप माना गया है। वे स्वय स्रष्टा हैं और प्रलय महाकाल के बाद वे ही शेष रहते हैं तथा पुन सृष्टि की रचना करते हैं।

गणपति का जैसा स्वरूप है, तदनुसार हिन्दू जनमानस की उनके प्रति अत्यन्त हार्दिक आस्था है। हिन्दू धर्मानुयायियो मे परम्परा से घरो के प्रवेश द्वारो की चौखटों के शीर्ष भाग पर विघ्नविनाशक ऋद्धि सिद्धि एव सुख-आरोग्य के दाता गणेश की आकृति उत्कीर्ण करने की प्रथा आज भी विद्यमान है।

भारत के विभिन्न अचलो मे गणपति के १२० मन्दिर बताये गये हैं, जिनमें से ५६ विनायको की स्थापना अकेले वाराणसी मे बतायी जाती है। इनके अतिरिक्त अष्ट गणपति प्रमुख माने जाते हैं, यथा—१ मोरगाँव मे मोरेश्वर, २ राजनगाँव मे गणपति, ३. थेऊर मे चिन्तामणि, ४ जुन्नर लेण्याद्रि मे गिरिजात्मक, ५ मुरुड, पाली में बल्लालेश्वर, ६. सिद्धटेक मे गजमुख, ७ ओझर मे विघ्नेश्वर और ८ मढ मे विनायक। ये आठो गणपति अधिष्ठान पूना के आस-पास विद्यमान हैं। उनके अनुयायी 'श्रीगणेशाय नम' मत्र का जप करते हैं और ललाट पर लाल तिलक का गोल चिह्न धारण करते हैं।

परम्परा से गणपति की पूजा-उपासना का अनुमान इसी मे लगाया जा सकता है कि भारत के प्राय सभी अचलो की धर्मप्राण जनता उनको अपने आराध्यदेव के रूप मे पूजती आयी है। इसी निष्ठा के फलस्वरूप प्रत्येक घर तथा गली-कूचो मे आज भी गणपति के मन्दिर तथा उनकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। भारत मे गणपति का प्रसिद्ध एव विशाल मन्दिर श्रीरगम् पर्वत के ऊपर स्वर्णशिला (गोल्डन रॉक) पर स्थित है, जहाँ सुदूर अचलो की जनता उनके दर्शनार्थ जाती है।

लोकानुराध्य गणपति की वर्तमान भारत मे बहुमान्यता को दृष्टि मे रखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परम्परा से गाणपत्य मत का बहुत प्रचार प्रसार रहा है। न केवल भारत मे, अपितु द्वीपान्तर

बृहद् भारत मे भी गणपति के लोकानुग्रही स्वरूप के प्रति जनमानस का व्यापक प्रचलन बौद्धानुयायी समाज मे भी देखने को मिलता है। महायान बौद्धो ने भारत के लोकाराध्य आदिदेव ,विनायक को बुद्ध के साथ स्थान देकर बुद्ध की भाँति उन्हें प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार बौद्ध देशो मे तिब्बत, नेपाल, खोतान, चीनी तुर्किस्तान, बाली द्वीप और यहाँ तक कि अमेरिका जैसे अबौद्ध देशों में भी गणपति की मूर्तियाँ मिली हैं और उनकी पूजा-प्रतिष्ठा की परम्पराओ का भी पता चला है। तिब्बत और चीन के मठो मे आज भी लोकपाल आदिदेव के रूप मे गणपति की पूजा की जाती है। चीन में गणपति को विनायक तथा कागीवेन के नामो से कहा जाता है।

यद्यपि आज के भारत मे गाणपत्यो का कोई वर्ग, मत या सम्प्रदाय नही है, तथापि यह स्पष्ट है कि गणपति का स्थान आज लोकमान्य है। इस प्रकार गणपति के इस व्यापक लोकानुग्रही स्वरूप को देखकर यह सभावना करनी सर्वथा युक्तिसगत प्रतीत होती है कि प्राचीन भारत मे गाणपत्य मत का व्यापक अस्तित्व था, किन्तु धीरे-धीरे एक वर्ग विशेष से सम्बद्ध न रहकर गणपति का देवरूप लोकव्यापी हो गया।

दत्तात्रेय मत

दत्तात्रेय मत का समावेश वैष्णव धर्म के अन्तर्गत किया गया है। वैष्णव धर्म की एक प्रमुख शाखा भागवत सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी भी आगे चल कर तीन उपशाखाएँ हुई, जिन्होंने स्वतन्त्ररूप से अपना विकास किया। ये तीन उपशाखाएँ हैं—वारकरी, रामदासी, और दत्तपंथ। इन तीनो वैष्णव उपशाखाओ का उदय महाराष्ट्र मे हुआ और वही उनको लोकप्रियता एवं सम्मान भी प्राप्त हुआ। इन तीनो शाखाओ मे अनेक उच्च-कोटि के सन्त, महात्मा तथा भक्त हुए। उनमे दत्तपंथ या दत्तात्रेय मत, दोनो शाखाओ से प्राचीन है। इस सम्प्रदाय के आराध्यदेव अवधूत भगवान् दत्तात्रेय को माना जाता है।

प्राचीन काल मे महर्षि वसिष्ठ द्वारा एक योगी पन्थ का प्रवर्तन हुआ था। किन्तु कालान्तर मे उसके अनुयायियो मे मतभेद हो जाने के कारण लगभग ५वीं शती ई० मे किसी अज्ञातनामा योगी ने दत्तात्रेय पन्थ की स्थापना की थी। दत्तात्रेय स्वयं एक ब्रह्मनिष्ठ महामुनि हुए। महर्षि अत्रि उनके पिता और महासती अनुसूया उनकी माता थी।

उनके 'दत्त' नाम का भी एक आधार है। महर्षि अत्रि की सतीसाध्वी पत्नी भगवती अनुसूया के गर्भ से स्वेच्छा से भगवान् ने जन्म धारण किया था। इसीलिए उन्हें 'दत्त' नाम दिया गया। मार्गशीर्ष की पूर्णमासी को महाराष्ट्र मे दत्तात्रेय के जन्म-दिन को व्रतोत्सव के रूप मे आज भी मनाया जाता है। सोम तथा दुर्वासस उनके दो भाई थे। उनमे दत्त विष्णु का, सोम ब्रह्मा का और दुर्वासस शकर का अवतार माना जाता है।

भगवान दत्तात्रेय की पूजा-प्रतिष्ठा का विस्तृत विधान 'दत्तात्रेय संहिता' मे वर्णित है। इसके अतिरिक्त 'नारदपुराण' मे भी उनका वर्णन हुआ है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि दत्तात्रेय का जन्म महाराष्ट्र के यादवगिरि (भेलकोट) मे हुआ था। 'दत्त' उनका नाम था और 'अत्रि' उनके पिता का। इस प्रकार पिता के नाम से योजित होकर परम्परा मे उन्हें दत्तात्रेय कहा गया।

तीन मस्तिष्क वाली एक मूर्ति को दत्तात्रेय का प्रतीक माना गया है। ये तीन मस्तिष्क ब्रह्मा, विष्णु तथा शकर के प्रतीक हैं। वे षड्हस्त उत्कीर्णित हैं। उनके पीछे एक गाय और समुख चार कुत्ते दिखाये गये हैं। इन पाँचो

को चारो वेदो तथा पृथ्वी का प्रतीक माना जाता है। इस त्रिमुख मूर्ति का पुराणो मे कोई उल्लेख नही मिलता। महाकवि माघ (७ वी शती ई०) के 'शिशुपालवध' मे दत्त को विष्णु का अवतार कहा गया है। महाराष्ट्र मे सम्प्रति प्रचलित उक्त दत्तमूर्ति की उपासना के सम्बन्ध मे श्री गगाधर विरचित 'गुरुचरित्र' (१५५० ई०) मे उल्लेख हुआ है। दत्तात्रेय को क्षमा का मुख्य देवता माना गया है।

एक बार दत्त ने अपने पिता अत्रि से ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा से प्रश्न किया। उन्होने दत्त से गोदावरी तट पर महेश्वर की आराधना करने के लिए कहा। इस प्रकार महेश्वर की आराधना करने पर उन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ। गोदावरी के तट मे जिस स्थान पर उन्होंने महेश्वर की आराधना की थी उसे 'ब्रह्मतीर्थ' कहा जाता है। उनकी ब्रह्मवर्चस्विता के कारण धर्म ने उन्हे साक्षात् दर्शन दिया था। जहाँ पर उन्होने अपने शिष्यो अलर्क, प्रह्लाद, यदुराज तथा सहस्रार्जुन प्रभृति को ब्रह्मज्ञान दिया था, वहाँ पर नरसोबा वाडी मे दत्तात्रेय भगवान् का भव्य मन्दिर आज भी वर्तमान है। 'महाभारत' (वनपर्व ११५।१२) के अनुसार राजा कार्तवीर्य को दत्तात्रेय ने वरदान दिया था।

गिरिनार स्थित पश्चिमी घाट मल्लिकी ग्राम (माहूर) मे भी दत्तात्रेय का आश्रम था, जहाँ पर परशुराम ने जमदग्नि को अग्नि दी थी और रेणुका सती हुई थी। अन्तिम समय वे सह्याद्रि पर्वत पर रहे।

ग्रन्थ-निर्माण

भगवान दत्तात्रेय के नाम से विभिन्न ग्रन्थो मे उनके द्वारा विरचित ८ कृतियो के नाम उल्लिखित हैं, जो इस प्रकार हैं—१ 'अवधूतोपनिषद्', २ 'जाबालोपनिषद्', ३ 'दत्तात्रियोपनिषद्', ४ 'भिक्षुकोपनिषद्', ५. 'शाण्डिल्योपनिषद्', ६ 'अवधूतगीता', ७ 'त्रिपुटोपास्ति-पद्धति' और ८. 'परशुराम-कल्पसूत्र' (दत्ततन्त्रसार-विज्ञान)। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमे से कुछ कृतियाँ उनके परवर्ती अनुयायियो ने लिखी या सकलित की।

आचार-संहिता

इस प्रकार दत्तात्रेय एक ऐतिहासिक, ऋषिकुल के महान् तत्त्ववेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ महामुनि हुए। किन्तु उनके नाम से जो 'दत्तात्रेय मत' प्रचलित हुआ, वह बहुत बाद का है। ऐसा प्रतीत होता है कि दत्तात्रेय के सिद्धान्तो को आधार बनाकर किसी परवर्ती योगी द्वारा, जिसका नाम-धाम अज्ञात

है, दत्तात्रेय मत का प्रवर्तन किया गया। इस मत की आचार-संहिता के अनुसार कोई भी अनुयायी ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा सन्यास, तीनों आश्रमों के आचारों का प्रतिपालन कर आत्मोद्धार कर सकता है। गृहस्थ के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है क्योंकि गृहत्यागी एवं जगत् प्रपंच से उदासीन योगियों के लिए ही इस मत में प्रवेश करने की आज्ञा है। वे योगी, मुनि तथा साधु बनकर उच्च ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस मत में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य त्रिवर्ण ही सम्मिलित होने के अधिकारी हैं।

सिद्धान्त निरूपण

महामुनि दत्तात्रेय स्वयं ब्रह्मज्ञानी, महान् शास्त्रज्ञ और तत्त्ववेत्ता थे। माया का विच्छेद करने के लिए उन्होंने चौबीस तत्त्वों को वरण करने का निर्देश किया है। वे चौबीस तत्त्व हैं—१ पृथ्वी, २ वायु, ३. आकाश, ४ जल, ५ अग्नि, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८. कपोत, ९. अजगर, १० समुद्र, ११ पतंग, १२. भ्रमर, १३ हस्ति, १४. व्याध, १५ हरिण, १६ मत्स्य, १७ पिंगला, १८ चील, १९ बालक, २०. कुमारिका, २१ लुहार, २२. सर्प, २३ मकड़ी और २४ भ्रमरी। उन्होंने स्वयं इन चौबीस तत्त्वों के गुणों को ग्रहण किया और उन्हें ही अपना गुरु माना है।

आत्मा की परमोच्चता प्राप्त करने के लिए इस मत में सर्वाधिक बल दिया गया है और उसके लिए अष्टांग योग-साधना आवश्यक बताई गई है। अहिंसा और जीवदया इस मत के मान्य सिद्धान्त हैं। गुरु की आज्ञा का परिपालन, सत्यनिष्ठा और शास्त्र चिन्तन उसके प्रमुख लक्ष्य हैं।

दत्तात्रेय मत की सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुसार ईश्वर निराकार है, परात्पर परब्रह्म ही एकमात्र कारण, कार्य और साधन है। मन की अनेकान्तता या चंचलता से आत्मा में भ्रान्ति उत्पन्न होती है और उस दशा में जगत्प्रपंच की रचना होती है। आत्मा की स्थिरता के लिए यह आवश्यक है कि प्रकृति के धर्मों की उपेक्षा की जाये और निवृत्तिपरक धर्मों को अपनाया जाये। इन निवृत्तिपरक धर्मों को वरण करने के लिए सत्य, तप, अपरिग्रह, दया, धर्म, अर्थ, मोक्ष और वैराग्य को वरण करना चाहिए। जितने भी कुमार्ग प्रेरक मादक द्रव्य हैं, उनका सर्वथा परित्याग करना चाहिए। यही दत्तात्रेय मत का ज्ञान मार्ग है और यह ज्ञान प्राप्ति ही साधक का परम लक्ष्य है।

आरम्भ में दत्तात्रेय मत का अच्छा प्रचार प्रसार रहा, यद्यपि विशेषरूप से वह महाराष्ट्र तक ही सीमित रहा। मध्ययुग की तान्त्रिक (शाक्त-कापालिक) उपासना के प्रभाव से उसमें मद्य मांस का प्रयोग होने लगा और इस

प्रकार वह द्रोगियो का धर्म बन गया। अपनी उच्च योग-साधना से च्युत होकर वह तान्त्रिक गुह्य-साधना का एक अग बन गया।

यद्यपि उत्तर-मध्य युग में दत्तात्रेय मत का ह्रास होता गया किन्तु महाराष्ट्र तथा आध्र में कतिपय धर्मानुयायियो द्वारा उसके उच्चादर्शों एव उदात्त सिद्धान्तो का परिपालन होता रहा। इस प्रकार के अनुयायियो मे श्रीपाद श्रीवल्लभ (पीठापुर, आध्र) और श्रीनरसिंह सरस्वती (महाराष्ट्र) ने परम्परा को उजागर बनाये रखा और अपने सदाचरण तथा सद्गुणो के कारण समाज मे दत्तात्रेय के अवतार माने गये। इसी परम्परा में श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती (१८५४–१९१४ ई०) हुए, जो कि दत्तात्रेय के परम भक्त थे। उन्होंने दत्तात्रेय मत पर सस्कृत तथा मराठी अनेक ग्रन्थो की रचना की। उन्होंने भारत के विभिन्न अचलो की पैदल यात्रा की और स्थान-स्थान पर भगवान् दत्तात्रेय के मन्दिरो का निर्माण कराया। अपने एकाकी प्रयास से उस धर्मनिष्ठ, तत्ववेत्ता एव विद्वान् मनस्वी ने आजीवन दत्तात्रेय मत का प्रचार-प्रसार किया।

इस सम्प्रदाय के अनुयायी भूरे रग के वस्त्र धारण करते हैं। तुलसी की कण्ठी तथा तथा कुण्डल पहनते हैं। दीक्षित अधिकारी को ही अपने गोपनीय मत्र का उपदेश देते हैं। उनमें मत्र की गोपनीयता परमावश्यक बताई गई है।

इस प्रकार भारत मे दत्तात्रेय मत का यद्यपि अधिक प्रचार प्रसार नहीं रहा, किन्तु महाराष्ट्र तथा आध्र मे उसके छिट-पुट अनुयायी आज भी इस मत की परम्परा को जीवित बनाये हुए हैं।

(चार)

अवैदिक धर्म-शाखाएँ

१. लोकायतिक मत
२. आजीवक सम्प्रदाय
३. जैनधर्म और उसके तीर्थंकर
४. बौद्धधर्म और उसके प्रवर्तक

लोकायतिक मत

भारत में परम्परा से धार्मिक तथा वैचारिक दृष्टि से जिन मतों एवं पन्थों का उदय हुआ और भारतीय इतिहास पर जिनके अस्तित्व की अमिट छाप है, उनमें लोकायतिकों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस लोकव्यापी जन-समादृत विचारधारा ने पुरातन अतीत में कई शताब्दियों तक भारत में नई विचार क्रान्ति का सूत्रपात किया और लोकजीवन को अतिशय रूप में प्रभावित किया।

योरप, अमेरिका और एशिया के देशों में जब मानव-सभ्यता का अरुणोदय हो रहा था, भारत में वैचारिक प्रगति अपनी पराकाष्ठा पर थी। यह वैचारिक पराकाष्ठा मुख्यतः दो रूपों में देखने को मिलती है—आध्यात्मवादी और भौतिकवादी। इन भौतिकवादी या प्रत्यक्षवादी विचारकों को नास्तिकों में परिगणित किया गया। इन नास्तिक विचारकों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पहली श्रेणी के विचारक वे थे, जो वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे। इस दृष्टि से लोकायतिकों, जैनों तथा बौद्धों को नास्तिक कहा गया। दूसरी कोटि के विचारक वे थे, जिनका न तो परलोक में विश्वास था और जो न जन्मान्तर को मानते थे। जो प्रत्यक्ष है, यही उनकी दृष्टि से सत्य है। इस श्रेणी में केवल लोकायतिकों को रखा जा सकता है। तीसरी श्रेणी के विचारक वे थे, जो वेदों की प्रामाणिकता को तो स्वीकार करते थे, किन्तु ईश्वर का उल्लेख न करते हुए भी अदृष्ट विशेष की कल्पना करने से नास्तिक नहीं कहे गए। इस कोटि में सांख्य, योग, वैशेषिक और मीमांसा मत के विचारकों को रखा जा सकता है।

वैचारिक दृष्टि से लोकायतिक विशुद्ध भौतिकवादी हैं। इस भौतिकवादी विचारधारा का इतिहास बहुत पुरातन है। मानव जाति की अद्यतन प्रगति के इतिहास के साथ भौतिकवाद का अटूट एवं महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। भौतिकवाद भारत की व्यापक धर्म भावना का ही एक अंग है, क्योंकि उसमें मानव समानता का भाव निहित है। मनुष्य को उसकी आदिम अनुन्नतावस्था से उत्तरोत्तर उन्नतावस्था में लाने में भौतिकवाद का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। कार्ल मार्क्स, एंगेल्स और डार्विन जैसे विश्व विख्यात तत्त्ववेत्ताओं ने भौतिकवाद के सिद्धान्त पर व्यापक प्रकाश डाला है।

इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम मनुष्य की खाने, पीने, वस्त्र और आवास की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति होनी चाहिए। तभी उसकी राजनीति, विज्ञान, कला और धर्म की अन्यान्य अपेक्षाओ मे अभिरुचि हो सकती है। जीवन-धारण के आवश्यक भौतिक साधनो के सुलभ होने के अनन्तर *ही मनुष्य राष्ट्रीय तथा आर्थिक विकास की परिस्थितियो मे सलग्न हो सकता* है। यह धारणा उन सारी व्यवस्थाओ के प्रति अपना तीव्र विरोध प्रकट करती है, जिनके अनुसार इतिहास निर्माण के मूल मे प्रगति के स्वाभाविक परिस्थितियो के मूल मे भाग्य, ईश्वर तथा आदर्श जैसे भावात्मक विषयो को कारण माना जाता रहा है। मार्क्स की स्थापना है कि प्रत्येक सिद्धान्त की अपनी नियत अवधि रही है, जिसमे कि उसका जन्म हुआ। उनके मत से समय या युगविशेष सिद्धान्त का अनुवर्ती रहा है, न कि सिद्धान्त युगविशेष का *अनुवर्ती। इसलिए यह मन्तव्य अपने-आप मे नितान्त सत्य एव प्रकृत है* कि सिद्धान्त इतिहास का निर्माण करता है, न कि इतिहास सिद्धान्त का जनक है। जब हम अपने आदिम मूलस्थान की खोज करते हैं, तब हम अपने शाश्वत सिद्धान्त पर निर्भर होते हैं।

मानव प्रगति के इतिहास का निर्माण निश्चित क्रम से हुआ। आरम्भ में मनुष्य पत्थरो के औजारो से काम चलाता था, किन्तु शनै शनै उसने धनुष-बाण का आविष्कार किया। तदनन्तर उसने लोहे की कुल्हाडी तथा लोहे का *फाल आदि धातु के औजारो के साथ-साथ लकडी के हल का निर्माण किया।* यह उसकी कृषि युग की उपलब्धि थी। उसने अपने उपयोगी एव कार्यक्षम हथियारो की उन्नति के साथ-साथ कृषि के उन्नत साधनो का भी विकास किया। कालान्तर मे उसने दस्तकारी की उन्नति के साथ-साथ मशीनो और आधुनिक वृहद् पैमाने के उद्योगो को जन्म दिया। इस प्रकार प्राचीन काल से अब तक मनुष्य ने अपनी उत्पादक शक्तियो का क्रमश विकास किया और स्वय को उन्नत बनाया। इन परिवर्तित परिस्थितियो का प्रभाव उसके *आर्थिक जीवन पर भी लक्षित हुआ। उसका सामाजिक स्तर भी परिवर्तित* होता गया और उसने धीरे-धीरे जातिवाद, दासप्रथा, सामन्तवाद तथा पूँजीवाद के अनन्तर समाजवाद की स्थापना की। इस प्रकार उसने एक व्यवस्था *से दूसरी व्यवस्था के परिवर्तन द्वारा ऐतिहासिक क्रम को जन्म दिया।*

एगेल्स का अभिमत है कि मनुष्य ने ही निश्चित रूप से इतिहास का निर्माण किया, किन्तु मनमाने ढग से नही। उसकी इच्छा मात्र ही उसको उन्नत नही कर सकती थी, अपितु परम्परागत भौतिक नियमो का रहस्य समझ कर ही वह अपना विकास करता *आया है। मनुष्य-कल्पना का स्वर्ग-*

लोक अपने आप निर्मित नहीं हो जाता, अपितु उसका निर्माण परिस्थितियों की क्रमिक शृंखला से होता है। इतिहास के रूप को निश्चित करनेवाले तत्त्व ही उत्पादन और पुनरुत्पादन हैं। इसलिए सामाजिक परिवर्तनों के अन्तिम कारणों को दर्शन मे नही, अपितु युग-विशेष के अर्थशास्त्र मे ढूँढ़ना होगा। इसी खोज ने समाजवादी क्रान्ति को जन्म दिया।

पश्चिम मे जिस समय कार्ल मार्क्स, एंगेल्स और डर्विन की भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर सामाजिक विकास के इतिहास का पुनर्मूल्यांकन हो रहा था, भारत मे भौतिकवादी विचारधारा अपनी पराकाष्ठा पर थी।

पश्चिम मे भौतिकवाद का विकास नितान्त पार्थिव तत्त्वो के आधार पर हुआ, किन्तु भारत मे जिस लोकायतिक विचारधारा का उदय हुआ, वह परम्परा के विरुद्ध एक वैचारिक क्रान्ति थी। वैदिक युग मे ही इस वैचारिक विभिन्नता के सूत्र प्रकाश मे आने लगे थे। ऋग्वेद (१।१।२) में ऋषियों की दो परम्पराओ का स्पष्ट उल्लेख हुआ है—पुरातन और नूतन। किन्तु वैचारिक भिन्नता के फलस्वरूप दोनो परम्पराओ के ऋषि अग्नि को स्तवनीय मानते थे (अग्नि पूर्वेभी ऋषिभिरीड्यो नूतनैरत)। उनमे नूतन ऋषियो की परम्परा के प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति थे। वे वैदिक ऋषियो की परम्परा मे अपना प्रतिष्ठित स्थान रखते थे। बृहस्पति मूलत परम्परागत ब्राह्मण धर्म के अनुयायी आचार्य थे, किन्तु ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड, हिंसा तथा पुरोहितवाद की संकीर्णताओं और धर्मविशेष की असमानताओं से असहमत होकर उन्होंने सर्वथा नये धर्म-मार्ग का प्रवर्तन किया। उन्होंने एकांगी ब्राह्मण परम्पराओ के विरोध मे सर्वजनानुग्राह्य जिस नये पन्थ या मत का प्रवर्तन किया, उसे 'लोकायतिक' (जन साधारण मे व्याप्त) नाम से कहा।

आचार्य बृहस्पति ने जिस विचारधारा का प्रवर्तन किया, आचार्य चार्वाक ने उसका लोक मे व्यापक प्रचार-प्रसार किया। 'चार्वाक' वस्तुत एक कल्पित या उपाधि नाम प्रतीत होता है, जो कि अतिशय विचरणशील होने के कारण दिया गया। चार्वाक के विचारो का आधार, अनुभव तथा प्रत्यक्ष दृष्ट सत्य पर प्रतिष्ठित है। उनका कहना है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये चार तत्त्व सर्वत्र व्याप्त और सबको दिखाई देते हैं। इन्ही चारो की समष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति तथा जीव-अजीव, जितने भी पदार्थ हैं, उन सबका निर्माण हुआ। इन चारो तत्त्वो या भूतो का अलग-अलग कोई अस्तित्व नही, किन्तु जब उनमे ऐक्य स्थापित हो जाता है, तब चैतन्यविशिष्ट आत्मा और शरीर की सृष्टि होती है। आत्मा से भिन्न शरीर का कोई अस्तित्व नहीं है अर्थात् आत्मा के नष्ट हो जाने पर शरीर भी नष्ट हो जाता है।

अप्रत्यक्ष, परलोक या स्वर्ग, ईश्वर नाम की कोई भी वस्तु नहीं है, वह कल्पनामात्र है। पुनर्जन्म की कल्पना सर्वथा निराधार है। भस्मीभूत शरीर पुनः उत्पन्न नहीं होता है। मृत्यु या शरीर-त्याग ही मोक्ष है। इसलिए जब तक जीवन है, तब तक मनुष्य को स्त्री, पुत्रादि, धन-सम्पत्ति का जितना भी अधिक उपयोग हो सके, करना चाहिए। आनन्द और सुख की उपलब्धि ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। सुखोपलब्धि के लिए यदि अपने पास साधन नहीं है, तो ऋण लेकर भी उनको सुलभ करना चाहिए। प्राप्त-सुख का परित्याग करने वाला निरा मूर्ख है।

चार्वाक के जीवन-दर्शन की यह मान्यता आज भी लोक-विश्रुत है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
पशुश्चेन्निहितः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्व पिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥
मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्॥

चार्वाक की दृष्टि से यज्ञादि कर्म सब पाखण्ड हैं। 'यदि यज्ञ में मारे गये पशु को स्वर्ग-प्राप्ति होती है, तो यज्ञ करने वाला यजमान उसकी जगह अपने पिता की बलि देकर क्यों नहीं उसे अद्वितीय स्वर्ग के सुखोपभोगों की प्राप्ति कराता? यदि श्राद्ध और तर्पण द्वारा मृत मनुष्य को तृप्त किया जा सकता है, तो प्रवास में गये मनुष्य को अपने पास पाथेय रखने की आवश्यकता ही क्या है?

चार्वाक की दृष्टि से वर्णाश्रम धर्म, होमादि कर्तव्य तथा सन्यास आदि बुद्धिहीनों के जीविका के साधनमात्र हैं। 'इस लोक में दिये गये दान से यदि परलोक के मनुष्य तृप्त होते हैं, तो मकान की छत पर बैठे हुए मनुष्यों को उसका फल क्यों नहीं पहुँचता है? इस देह से निकल कर प्राण यदि स्वर्ग को जाता है, तो स्वजनों के विरह से पीडित होकर वह वापस क्यों नहीं आता? इन तथ्यों के विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि मृत मनुष्यों के क्रिया-कलापों की सृष्टि ब्राह्मणों के जीविकोपार्जन का साधनमात्र है। उसमें कोई सच्चाई नहीं। चार्वाक के मत से वेदों के रचयिता ठग और निशाचर थे। उनमें कही गई सब बातें केवल पाखण्ड हैं।

इन तर्कों को प्रस्तुत कर चार्वाक ने लोगों को खाने-पीने, मौज उड़ाने का अपना नया पन्थ प्रचलित किया।

जाबालि की भौतिकवादी विचारधारा

लोकायतिक विचारधारा का प्रभाव 'रामायण' मे भी देखने को मिलता है। अयोध्याकाण्ड (१०९।३४) मे यद्यपि लोकायतिको, बौद्धो तथा नास्तिको की घोर निन्दा की गई है, तथापि इसी काण्ड (सर्ग १०८) मे प्रत्यक्षवादी या भौतिकवादी विचारधारा का उल्लेख भी देखने को मिलता है। इस सर्ग मे 'जाबालि-राम' का एक सवाद वर्णित है। उसमे जाबालि का उपदेश लोकायतिक विचारधारा को परिपुष्ट करता है। राम को सम्बोधित कर जाबालि ने कहा है—'हे राम कौन किसका बन्धु है और किससे किसने क्या प्राप्त किया है? मनुष्य अकेला जन्म धारण करता है और अकेला ही मरता है। अत माता-पिता समझकर जो मनुष्य व्यक्ति विशेष से प्रेम करता है, उसे उन्मत्त ही समझना चाहिए, क्योकि कोई किसी का नही है। जिस प्रकार दूसरे गाँव को जाता हुआ कोई मनुष्य मार्ग मे थोडी देर के लिए विश्राम करता है और दूसरे दिन उस स्थान को छोडकर चला जाता है, उसी प्रकार मनुष्यो के लिए माता-पिता, घर-बार आदि केवल आश्रय-स्थान हैं। उनमे विवेकवान् पुरुष कभी भी अनुराग नहीं करता है। प्रत्यक्ष अर्थ को छोडकर जो लोग धर्म का आश्रय ग्रहण करते हैं, मैं उन्ही के लिए शोक करता हूँ, दूसरा के लिए नही, क्योकि वे इस लोक मे कष्ट उठाते ही हैं, परलोक मे भी नष्ट हो जाते हैं। पितरो के उद्देश्य से लोक मे श्राद्धादि करने का जो विधान प्रचलित है, उसमे केवल अन्न को नष्ट किया जाता है, क्योकि मृत मनुष्य उसे कैसे खा सकता है? यदि एक खाया हुआ अन्न दूसरे के उदर मे जाता हो, तो प्रवास मे गये मनुष्य का भी श्राद्ध किया जा सकता है, जिससे कि उसे मार्ग मे भोजन प्राप्त हो सके। यज्ञ करो, दान करो, यज्ञ के लिए दीक्षा ग्रहण करो, तपस्या करो, सन्यास धारण करो—आदि बातो का निर्देश करने वाले ग्रन्थ उनके बुद्धिमान् निर्माताओ के स्वार्थ साधन हैं। हे राम, इस लोक के अतिरिक्त दूसरा लोक नहीं है। यह तुम समझो। जो प्रत्यक्ष है, उसी को सत्य मानो और जो परोक्ष है, उसका परित्याग करो।'

किन्तु राम ने जाबालि मुनि के इन भौतिकवादी अभिमत को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सत्य की महिमा को सर्वोपरि बताया और लोक-परलोक के लिए उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—'हे महामुनि, चार्वाक मत के अनुकूल बुद्धि रखकर ससार के नाश के लिए भ्रमण करने वाले और वेद विरुद्ध मार्ग मे आस्था रखने वाले आप नास्तिक को मेरे पिता ने जो याजक बनाया है, मैं पिता के उन कार्य की निन्दा करता हूँ, क्योकि

आप वैदिक धर्म से च्युत हैं। जैसे चोर दण्डनीय है, वैसे ही आपकी यह बुद्धि भी दण्डनीय है' (अयोध्याकाण्ड, ११२।१८)।

लोकायतिक मत का उच्छेद

चार्वाक के बाद भी उसके अनेक अनुयायियों ने इस लोकायतिक मत का प्रचार-प्रसार किया। इस मत का प्रसार लम्बे समय तक होता गया। चार्वाक मत के अनुयायियों में क्षपणक नामक एक आचार्य का पता चलता है। लगभग ८वीं शती तक इस मत के मानने वालों का अस्तित्व बना रहा। किन्तु शंकराचार्य के उदय के बाद लोकायतिकों का प्रायः मूलोच्छेद हो गया। शंकराचार्य ने जैन-बौद्धों सहित लोकायतिकों के नास्तिकवाद का घोर विरोध किया और भौतिकवादी विचारधारा का देशव्यापी विखण्डन कर वैदिक मत को मण्डित किया। शैवों ने भी लोकायतिकों का तीव्र विरोध किया।

इस प्रकार ८वीं शती के पश्चात् भौतिकवादी विचारधारा का उच्छेद होकर वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हुई और अवैदिक मतों का निरन्तर ह्रास होता गया।

आजीवक सम्प्रदाय

भारत के पुरातन धार्मिक पन्थो मे आजीवको का भी एक वर्ग था। यह धार्मिक पन्थ सभवत महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध से भी पहले का था। वैदिक मान्यताओ के विरोध मे जिन अनेक श्रमण पन्थो का उदय हुआ और जिनका समय बुद्धपूर्व था, उनमे आजीवक सम्प्रदाय भी एक था। वैयाकरण पाणिनि ने परिव्राजको के एक 'मस्करी सम्प्रदाय' का उल्लेख किया है। बौद्ध-साहित्य मे आजीवको के जो वैचारिक एव व्यावहारिक क्रिया कलाप वर्णित हैं, पाणिनि द्वारा वर्णित मस्करियो के आचार-विचारो से उनका पर्याप्त साम्य है। सम्राट अशोक के सातवें स्तम्भ-लेख से विदित होता है कि उस समय ब्राह्मणो तथा जैनो (निर्ग्रन्थो) के साथ-साथ आजीवको का भी एक पृथक् सम्प्रदाय था, जिसको आदर एव सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

बौद्ध-ग्रन्थो मे भी मस्करियो का उल्लेख हुआ है। वहाँ उन्हे हठयोगी और तपस्वी कहा गया है, जो पचाग्नि-साधन द्वारा शरीर को कृष करते थे और अपने शरीर को धूल तथा विभूति से चर्चित रखते थे। उनके सम्बन्ध मे जो अन्यान्य उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार पर उनकी उदात्त परम्परा का पता चलता है।

बुद्ध ने अपने समकालीन जिन छह तीर्थंकारो का उल्लेख किया है, उनमे मक्खलि गोशाल का भी एक नाम है। मक्खलि सभवत 'मस्करि' का ही पालि रूप है। गोशाल का उल्लेख जैन-ग्रन्थो मे भी हुआ है। कुमारदास (७ वी शती) के महाकाव्य 'जानकीहरणम्' मे कहा गया है जिस समय रावण सीता-हरण के लिए आया था, उस समय उसने मस्करि वेश धारण किया था—

दम्याजीवकमुत्तुङ्गजटामण्डितमस्तकम् ।
कश्चिन्मस्करिण सीता ददर्शाश्रममागतम् ॥

इस धार्मिक पन्थ का प्रवर्तक आचार्य उदापी कुण्डियानन था। किन्तु उसके सम्बन्ध मे अधिक जानकारी उपलब्ध नही है। इस परम्परा को आगे मक्खलि गोशाल ने बढाया और सभवत उसी ने इस पन्थ को लोक मे प्रचारित प्रसारित किया।

'आजीवक' या 'आजीविक' शब्द का सामान्य अर्थ है—'जीविकोपार्जन के लिए भ्रमण करने वाला'। इस पन्थ मे दो प्रकार के अनुयायी थे—भिक्षु और गृहस्थ। भिक्षु वीतराग सन्यासी होते थे। वे ज्योतिषशास्त्र (*निमित्तविद्या*) के *पारगत विद्वान्* हुआ करते थे। उनका एक कार्य यह भी था कि घूम घूम कर लोगो को मुहूर्त बताना या भविष्य फल कथन करना। इस रूप मे उनका जन-सामान्य मे अत्यधिक प्रचार प्रसार तथा लोकप्रियता थी। इन भिक्षुओ के भी दो वर्ग थे। एक वर्ग निर्वस्त्र था और सुदूर निर्जन वनो मे रहता हुआ कठिन तप करता था। इस वर्ग के भिक्षुओं का नियम था दूसरे, तीसरे और सातवें घर से भिक्षाटन करके जीविकोपार्जन करना और कभी-कभी भिक्षा प्राप्त न होने पर उपवास करना या निराहार ही रह जाना। उनका यह भी नियम था कि देहली पर रखा हुआ, ओखली पर कूटा हुआ और चूल्हे पर पका हुआ भोजन ग्रहण नही करना। जीवन को कठोर तप मे लगाये रखना उनके पन्थ का प्रमुख उद्देश्य था।

दूसरी श्रेणी के गृहस्थ आजीवक भी सात्त्विक जीवन व्यतीत करते थे। माता पिता की सेवा करना उनका मुख्य कर्तव्य था। अहिंसा धर्म का पालन करते हुए वे जीवहत्या से दूर रहते थे। वे कृषि-कर्म भी करते थे। बिना दागे या नाथे बैलो से हल चलाते थे। भोजन मे वे गूलर, बड, बेर, शहतूत, प्याज, लहसुन और कन्दमूल आदि आहारो का कट्टरता से परहेज करते थे। इस दृष्टि से यद्यपि आजीवको के आचार दिगम्बर जैनियो से मिलते जुलते हैं, तथापि मूलत दोनो सम्प्रदाय अलग-अलग है। दोनो की आचार विधियाँ भिन्न भिन्न हैं।

यह सम्प्रदाय लम्बे समय तक समस्त भारत मे प्रचलित रहा। शकराचार्य के उदय के पश्चात् आजीवको का प्रभाव कम होने लगा। लगभग ९वी शती मे उसका स्वतन्त्र अस्तित्व क्षीण हो गया और उसके अनुयायी वैष्णवो तथा शैवो मे मिल गये। इन दोनो धर्म शाखाओ के उदार आचारो में अपने सिद्धान्तो का उन्होने समन्वय कर लिया।

यह आजीवक सम्प्रदाय जब तक अपने अलग अस्तित्व को बनाये रखा, लोक मान्य बना रहा। जैन-बौद्ध-ग्रन्थो मे आजीवक सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे जो सामग्री मिलती है, उससे स्पष्ट होता है कि समाज मे वह लम्बे समय तक समादृत रहा और उसके आदर्श एव पवित्र आचार लोकनिष्ठ बने रहे।

आचार और सिद्धान्त

इस सम्प्रदाय का अपना कोई स्वतन्त्र साहित्य तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थ उपलब्ध नही है। बौद्ध साहित्य मे उल्लिखित सन्दर्भों से ही इस धार्मिक

पंथ के आचार-विचारो का पता चलता है। इन उल्लेखो से ज्ञात होता है कि आजीवक सम्प्रदाय के अनुयायी नियतिवादी थे और एकमात्र भाग्य पर विश्वास करते थे। वे आत्मवादी थे और पुनर्जन्म तथा मोक्ष को मानते थे। ईश्वर तथा कर्म मे उनका विश्वास नही था। फिर भी वे कठिन तपश्चर्या और पवित्र कर्माचरण करते थे। उनके मतानुसार ससार की कोई भी घटना पुरुष प्रयत्न पर नही, अपितु नियति के अधीन है। पुरुष का कोई भी पराक्रम, उपाय, इच्छा कोई महत्व नही रखते। सभी भूत एव समस्त जीव परवश, निर्जीव, तथा निर्वीर्य है। भाग्य तथा सयोग के अधीन होकर वे सुख-दु ख, सयोग वियोग का भोग करते हैं।

इस प्रकार आजीवक सम्प्रदाय की स्वतत्र सत्ता को प्रगट करने वाले साहित्यिक सैद्धान्तिक सामग्री का सम्प्रति अभाव है। किन्तु अन्यान्य ग्रन्थो मे उनके सम्बन्ध मे जो कुछ उल्लेख मिलते हैं, उनसे यही विश्वास होता है कि अपने समय मे इस सम्प्रदाय का बड़ा महत्व था और लोक-जीवन मे उसको प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था।

जैनधर्म और बौद्धधर्म का उदय

अनादि काल से ही भारतीय विचारधारा दो रूपो मे विभक्त हुई मिलती है। प्रथम परम्परामूलक माहात्म्य या ब्रह्मवादी, जिसका विकास वेदो, ब्राह्मण-ग्रन्थो, श्रौतसूत्रो, उपनिषदों तथा पुराणो के रूप मे हुआ, और द्वितीय पुरुषार्थ-मूलक, प्रगतिशील, श्रामण्य या श्रमणप्रधान, जिसमे आचार को प्राथमिकता दी गई थी। ये दोनो विचारधाराएँ एक-दूसरे की पूरक भी रही और पारस्परिक विरोधी भी। जहाँ सामजस्य के आधार पर इन दोनो विचारधाराओ मे आदान प्रदान हुआ और राष्ट्र की बौद्धिक एकता मे तथा उनति मे उनका योगदान रहा, वही दूसरी ओर वे एक-दूसरे की आलोचक-प्रत्यालोचक भी बनी रही। पहली ब्रह्मवादी विचारधारा के सस्थापक एव प्रवर्तक यज्ञो के अधिष्ठाता ऋषि महर्षि थे और दूसरी श्रामण्यप्रधान विचारधारा के जन्मदाता जैन थे। जैन अर्थात् जिन्होंने काम, क्रोध आदि अठारह प्रकार के दोषो पर विजय प्राप्त कर ली थी, जिन्होंने ज्ञान तथा दर्शन को आच्छादित कर देने वाले और पापो को उभारने वाले दुर्भावो या कर्मशत्रुओ को जीत लिया था, उन्हें 'जिन' कहा जाता है। जो उन पवित्र जिनो के इच्छुक (उपासक या अनुयायी) हैं, वे ही 'जैन' कहे जाते हैं (रागद्वेषादि दोषान् वा कर्मशत्रून्जयतीति जिन, तस्यानुयायिनो जैना)।

जैनधर्म और बौद्धधर्म, जिन्होंने वैदिक यज्ञ तथा कर्मकाण्ड के विरोध

मे अपनी अलग-अलग परम्पराएँ स्थापित की, उनके उदय की अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। इन दोनो धर्म शाखाओ के प्रवर्तक महावीर और बुद्ध के समय भारत की सामाजिक तथा प्रशासनिक स्थिति अनेक छोटे छोटे राज्यो मे विभक्त थी। धर्म तथा दर्शन की मान्यताओ को लेकर अनेक मत तथा सिद्धान्त अपनी-अपनी स्थिति को प्रतिष्ठित करने की दिशा मे अग्रसर थे। कभी कभी उनमे पारस्परिक टकराव भी हो जाया करता था। वे एक दूसरे की कटु आलोचना भी करते रहे। खण्डन-मण्डन की यह स्थिति लम्बे समय तक बनी रही।

परम्परागत धर्मों के प्रवर्तको मे ब्राह्मणवादी मीमासको की प्रधानता थी, किन्तु समाज का एक विचारप्रधान वर्ग ऐसा भी था, जो वैदिक यज्ञो मे की जाने वाली पशुबलि तथा कर्मकाण्ड के क्रिया-कलापो को पाखण्ड समझता था। यज्ञो मे की जाने वाली हिंसा को, हिंसा न समझ कर उसे देवताओ की सन्तुष्टि का प्रयोजन माना जाता था। भगवदनुग्रह प्राप्त करने के लिए हिंसा को सामान्य रूप दिया जाने लगा था। श्रौतसूत्रो तथा गृह्यसूत्रो मे परम्परागत वर्ण-व्यवस्था को जन्मजात माना जाने लगा था और समाज मे ब्राह्मणो ने स्वय को सर्वोच्च धर्म प्रतिनिधि घोषित कर दिया था। ब्राह्मणातिरिक्त वर्णों को प्राय उपेक्षित कर दिया गया था। शासक उनके सकेतो पर चलते थे और कर्मकाण्ड की अतिवादिता ने ज्ञान, उपासना तथा चिन्तन की उदात्त परम्पराओ को निष्प्रभावी बना दिया था। इस प्रकार समाज कर्मकाण्ड के पाखण्डो तथा वर्णभेद की विषमताओ से प्रभावित होकर निरन्तर बिखरता जा रहा था। धर्मों तथा वर्णों की असमानता के कारण राष्ट्र की एकता विकेन्द्रित होती जा रही थी।

धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाला अल्प वर्ग स्वय को वीतराग, त्यागी, सन्यासी घोषित कर परम्परागत प्रकृत ज्ञान, तप, पवित्रता और ईश्वर-चिन्तन की आध्यात्मिक परिपाटी को त्याग कर केवल बाह्याचारो मे ही रत रहने लगा था। धर्म के नाम पर परलोक, पुनर्जन्म, आत्मा, परमात्मा के सम्बन्ध मे ऐसा भ्रमजाल फैलाया जा रहा था, जो कि सर्वसामान्य के लिए दुर्गम एव आश्चर्यकारी था। स्त्रियो तथा शूद्रो को निकृष्ट मान कर उनको अधिकारच्युत किया जा रहा था। चारित्रिक शुद्धता के लिए जिन शुद्धाचारो की व्यवस्था एव अपेक्षा थी, वे अब प्रदर्शनमात्र, आडम्बरो तक ही सीमित हो गये थे। इस प्रकार समस्त आर्य-परम्पराएँ प्राय क्षीणोन्मुख थी और इन परिस्थितियों मे प्रभावित समाज भीतर-ही भीतर परिवर्तन की प्रतीक्षा मे था।

इसी समय महावीर और बुद्धदेव का उदय हुआ। उन्होंने समाज में व्याप्त अनीति, अन्याय, वर्ग-स्वार्थ और आचारभ्रष्टता के प्रति सामाजिक चेतना की अपेक्षाओं को हृदयंगम करके धर्म के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से विचारों का नया अभियान चलाया। इन दोनों महात्माओं ने परम्परागत ब्राह्मण धर्म की सार्वभौम महानताओं एवं उदारताओं को ग्रहण कर वर्णभेद, पशुबलि तथा कर्मकाण्ड की संकीर्णताओं का विरोध किया। जिस वर्ग-विशेष ने इन धर्माचारों को अपने स्वार्थ-साधन एवं अपनी वरिष्ठता का साधन बनाया हुआ था, उनकी वास्तविकता को समाज के सामने रखा।

इन दोनों युगविधायक महापुरुषों ने निरीश्वरवादी अकर्मण्य मीमांसकों द्वारा फैलाये गये जटिल दार्शनिक विचारों और सामाजिक आचार-संहिता को नया रूप दिया। उन्होंने आत्मा-परमात्मा के दिग्भ्रमित करने वाले दार्शनिक जंजालों से समाज को सचेत कर एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया, जिसमें सर्वसामान्य के लिए आचार की शुद्धता तथा आत्मोद्धार के सहज उपाय निहित थे। उन्होंने जीव-दया और धर्माचरण के समानाधिकार का नया अभियान चलाया। ये दोनों धर्म-शाखाएँ इसी सामाजिक और धार्मिक चेतना के प्रेरक एवं उन्नायक हैं, और इसी रूप में उन्होंने अपना भावी विकास-विस्तार किया।

समाज में आचारप्रधान नयी धर्म-संहिता की प्रस्थापना करने वाला जैन-धर्म उतना ही प्राचीन है, जितना कि वैदिक धर्म। वह बौद्धधर्म से भी प्राचीन है। जैनमत की विचारधारा का जन्म वैदिक परिपार्श्व में ही हो चुका था। मोहन-जो-दारो की उपलब्ध ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों से जैनधर्म की अति प्राचीनता सिद्ध होती है। ऋग्वेद (केशीसूक्त १०।१३६) में वात्यों एवं श्रमण योगियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ही करता है।

जैनधर्म में आचारों की शुद्धता पर बल दिया गया है। उसमें जातिभेद एवं वर्णभेद को स्वीकार नहीं किया गया है। उसमें जन्म से नहीं, अपितु कर्म के अनुसार समाज की वर्ण-व्यवस्था मानी गई है। वहाँ कहा गया है कि ब्राह्मण वह है, जो राग-द्वेष से रहित और इन्द्रियजयी है। इसी प्रकार अन्य वर्णों के सम्बन्ध में भी कहा गया है। इन नये विचारों के प्रवर्त्तक एवं उन्नायक तीर्थंकर हुए, जिन्होंने समाज को आचारों की नई पद्धति दी और चिन्तन की नई विचारधारा को जन्म दिया।

जैनधर्म और उसके तीर्थंकर

ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म को अनादि धर्मों की परम्परा मे माना गया है। जैनियो के मत से अपसर्पिणी तथा उपसर्पिणी नाम से कालचक्र के दो विभाग माने गये हैं, जिनकी काल गणना अनन्त है। अपसर्पिणी अर्ध-चक्र के चतुर्थ काल मे चौबीस तीर्थंकर उत्पन्न हुए, जिन्होंने सद्धर्म का उपदेश देकर लोक के लिए मोक्ष या आत्मोद्धार का नया मार्ग प्रशस्त किया और धर्म की दिशा मे नयी मान्यताएँ स्थापित की।

'तीर्थंकर' शब्द का अपना विशेष पारिभाषिक अर्थ है। तीर्थ-स्थानो मे जो साधु समाज (सध्नोति शुभान् नामाद् इति साधु), तपस्वी तथा विद्वान् निवास करते हैं वे ही तीर्थंकर हैं। 'तीर्थ' उसे कहते हैं, जो शोक का निवारण करे (तरति शोक येन सहाय्येन स तीर्थ)। अथवा धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण करनेवाले ज्ञानमना मुनिजन ही तीर्थंकर थे (तरति ससारमहार्णव येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति)। इसीलिए 'भागवत' मे कहा गया है कि जल से तीर्थ नही बनते और न ही मिट्टी तथा पत्थर से देवता बनते हैं। सच्चे साधुओ के दर्शन तथा सत्सग से चित्त शुद्धि होती है। ये ही सच्चे साधु 'तीर्थंकर' थे।

कर्मों के नाश करने वाले 'जिन' भगवान् के जितने भी अनुयायी हुए, उन सबको जैन कहा गया है। जैनधर्म की अनन्त-अनादि सत्ता स्वीकार की गई है। उसके अस्तित्व को बनाये रखने के लिए युगजीवी अनेक तीर्थंकर समय समय पर उत्पन्न होते गये, जिन्होंने सार्वभौम मानव महत्त्व पर बल दिया और जीवो को ससार सागर से पार उतरने के लिए उपाय सुझाये। उनकी सख्या २४ है। उनमे ऋषभदेव प्रथम और महावीर स्वामी अन्तिम हुए। शेष २२ तीर्थंकरो के नाम क्रमश इस प्रकार हैं—१ अजितनाथ, २ सभवनाथ ३ अभिनन्दन, ४ सुमतिनाथ ५ पद्मप्रभु ६ सुपार्श्वनाथ, ७ चन्द्रप्रभ, ८ सुविधिनाथ, ९ शीतलनाथ, १० श्रेयासनाथ, ११ वासुपूज्य, १२ विमलनाथ, १३ अनन्तनाथ १४ धर्मनाथ, १५ शान्तिनाथ, १६ कुन्थुनाथ, १७ अरनाथ १८ मल्लिनाथ, (मल्लिदेवी) १९ मुनि सुव्रत, २० नमिनाथ २१ नेमिनाथ और २२ पार्श्वनाथ।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ भगवान की चर्चाएँ ऋग्वेद (१०।१६६।१), अथर्ववेद (११।५।२४ २६), 'गोपथब्राह्मण' (पूर्व २।८)

और 'भागवत' (५।२८) आदि मे हुई हैं, जिससे उनकी अति प्राचीनता और उनके ज्ञानी व्यक्तित्व का पता चलता है। उनकी माता का नाम मरुदेवी और पिता का नाम नाभिराय था। चक्रवर्ती भरत उन्ही के ज्येष्ठ पुत्र थे। पुराणो मे उन्हे अवतार माना गया है। उन्होने लोक को सत्यमार्ग का उपदेश दिया। दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ वैदिक युग के महापुरुष प्रतीत होते हैं। ११ वें तीर्थंकर श्रेयासनाथ के पिता का नाम विष्णु तथा माता का नाम विष्णुश्री था। उनका जन्म सिंहपुर (सारनाथ) मे और निर्वाण समेदशिखर (पार्श्वनाथ पर्वत, जिला हजारीबाग) मे हुआ था। उनके नाम पर सारनाथ (वाराणसी) को पवित्र-स्मृति आज भी एक महान् तीर्थ के रूप मे विद्यमान है।

इस चौबीस तीर्थंकर महात्माओ मे अन्तिम पार्श्वनाथ और महावीर ही ऐसे है, जिनके सम्बन्ध मे कुछ विस्तार से जानने को मिलता है। शेष तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे जैन पुराणो के अनुवश्य प्रसगो तथा ब्राह्मण पुराणो मे जो उल्लेख मिलते हैं, वे अपर्याप्त हैं और उनमे अतिरजना अधिक है।

स्वामी पार्श्वनाथ

तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ बडे ही प्रतिभाशाली महात्मा हुए। उन्हें पुरुषो मे श्रेष्ठ (पुरिमादरणीय) कहा गया है। वे ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका जन्म महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व ८०० ई० पूर्व मे क्षत्रिय कुल के इक्ष्वाकुवश मे वाराणसी मे हुआ था। उनके पिता का नाम अश्वसेन या अश्वपति और माता का नाम वामा था। तीस वर्ष की युवावस्था मे ही राज-पाट त्यागकर बनारस को चल दिये थे। घोर तपस्या के ८३ वें दिन उन्हे ज्ञानोपलब्धि हुई। लगभग ७० वर्ष तक धर्म प्रचार करने के उपरान्त १०० वर्ष की अवस्था मे पार्श्वनाथ पर्वत (समेदर शिखर) पर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

पार्श्वनाथ स्वामी ने ही सर्वप्रथम आर्य-आर्यिका तथा श्रावक-श्राविका नाम से चतुर्विध सघ की स्थापना की थी। उनके शिष्य पार्श्वपत्य नाम से कहे जाते थे। उनके अनुयायी उपाश्रयो, चौराहो, शून्यगृहो तथा श्मशानो मे तपस्या करते थे। इन्ही पार्श्वनाथ के समय सर्वप्रथम आर्यिकाओ तथा श्राविकाओ का सघ मे प्रवेश हुआ और इस प्रकार स्त्रियो को धर्म मे दीक्षित किया जाने लगा।

स्वामी पार्श्वनाथ ने अहिंसा, सत्य, अचौर्य तथा अपरिग्रह—इस चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया था, जबकि महावीर स्वामी ने उसमे ब्रह्मचर्य का भी समावेश कर पाँच महाव्रतो के पालन का प्रचलन किया। पार्श्वनाथ

ने सचेल (वस्त्रसहित) और महावीर ने अचेल (वस्त्ररहित) धर्म का उपदेश किया था। यही से वस्तुत श्वेताम्बरो तथा दिगम्बरो के विभेद का पता चलता है। श्रमण सम्प्रदाय के वे ही प्रतिष्ठापक थे। पार्श्वनाथ 'जिन' के नाम से लोक मे विश्रुत हुए और तभी से उनके अनुयायी जैन कहे जाने लगे।

उन्होने साकेत (अयोध्या), श्रावस्ती (गोडा जिला), कौशाम्बी (इलाहाबाद जिला) और अहिच्छत्रा (मुरादाबाद जिला) आदि विभिन्न स्थानो का भ्रमण कर वहाँ अपना उपदेश दिया था। ये सभी स्थान आज धार्मिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व के माने जाते हैं। पश्चिम बगाल की आर्येतर जातियो मे भी उन्होने जैनधर्म का प्रचार किया। वहाँ की आदिवासी जातियाँ आज भी पार्श्वनाथ स्वामी की उपासक है।

महावीर स्वामी

जैनधर्म के सस्थापक, प्रवर्तक एव उन्नायक चौवीस तीर्थंकर महात्माओ ने मानव जगत् के श्रेय के लिये जो प्रयत्न किये उनका इतिहास लम्बा है। और उनमे से कुछ के सम्बन्ध मे ही आज विदित होता है। वर्तमान जैनधर्म आज जिन आचार-विचारो पर आधारित है, उनके स्रष्टा एव उपदेष्टा के रूप मे *अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का नाम* विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होने एक ऐसे धर्म-मार्ग का प्रवर्तन किया जिसमे सर्वसामान्य को समान अधिकार है।

महावीर स्वामी की जीवनी जैनधर्म के अनेक पुराणो मे उल्लिखित है। समस्त महावीर पुराण' उन्ही पर लिखा गया है। महावीर स्वामी के माता-पिता का नाम क्रमश त्रिशला देवी और सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ एक पराक्रमी क्षत्रिय राजा हुए जो महाज्ञानी, जैनधर्म के परम भक्त और दानी थे। वे कुण्डलपुर (बिहार) के शासक और गणराज्य के नेता थे।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी ५३९ वि० पूर्व मे महावीर स्वामी का जन्म हुआ। उनका नाम वर्द्धमान रखा गया। अपने पूर्व सस्कारो के कारण वर्द्धमान सब शास्त्रो मे पारगत होकर पैदा हुए थे। अत उन्हे किसी भी गुरु के पास अध्ययन करने के लिये न जाना पड़ा। जब वे आठ वर्ष के हुए तो उन्होने *गृहस्थो के बारह व्रतो को ग्रहण किया, क्योकि कुमार को मति, श्रुति और* अवधि तीनो प्रकार का ज्ञान पहले से ही प्राप्त था, अत मनुष्य योनि मे जन्म धारण कर भी ससार के व्याकपणो ने उनके मन को न मोह सका। वे जल मे कमल की भाँति ससार मे निर्लिप्त बने रहे। इसी उदासीन एव विरक्तावस्था म वे ३० वर्षों तक राज्य का भार सँभाले रहे। विवाह की

ओर उनका सर्वथा ध्यान नही था। उन्होने बाल ब्रह्मचारी रहकर ही पवित्र जीवन बिताया।

एक दिन सहसा मन मे तीव्र वैराग्य का उदय हुआ। इसके पश्चात् उनके मन मे ससार के प्रति, घर परिवार एव राज्य के प्रति उदासीनता बढती ही गयी। गृहत्याग के सम्बन्ध मे उन्होने विचार किया और तत्काल ही राजपाट, माता पिता, कुटुम्ब और सर्वस्व त्यागकर तप द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से वन की ओर चल दिये। मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को बच्चो की तरह नग्न होकर वे मुनि बन गये। तत्पश्चात् इधर-उधर आत्म चिन्तन मे भटकते भटकते वे उज्जयिनी के श्मशान मे पहुँचे और वही बैठकर तप मे लीन हो गये। उन्होने अपनी आत्मा को जान लिया था और शरीर को सर्वथा अलग करके उसके कष्टो को जीत लिया था।

उज्जयिनी से वे कौशाम्बी गये। वहाँ उन्होंने वृषभसेन नामक एक धर्मात्मा सेठ के यहाँ आहार लिया। उसके पश्चात् वे घूमते-घूमते 'जृम्भिका' नामक गाँव के बाहर 'ऋजुकूला' नामक नदी के किनारे पहुँचे। वहाँ 'शालमू' वृक्ष के नीचे उपयुक्त स्थान जानकर वे ध्यान मे खो गये। उस वृक्ष के नीचे १२ वर्ष तक तपस्यारत होकर स्वामी जी ने 'घातिया' कर्मों को नष्टकर 'केवल ज्ञान' या 'प्रत्यक्ष ज्ञान' प्राप्त किया। वे पूर्ण ज्ञानी हो गये थे।

स्वामीजी ने वीतराग होकर वन मे एकान्त जीवन बिताने की अपेक्षा लोकसेवा का व्रत धारण किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने 'सघ' की स्थापना की, जिसको चार अगो मे विभाजित किया गया—मुनि (साधु), आर्यिका (साध्वी), श्रावक और श्राविका। उनका सचालन उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्यो को सौंपा। इनमे से सबसे मुख्य इन्द्रभूति थे, जिनका नया नाम गौतम स्वामी हुआ। सुधर्मा, वायुभूति तथा अग्निभूति आदि ९१ गणधर हुए। आर्यिकाओ मे मुख्य स्थान सति अजना का था।

पीडित मानवता का दुख दूर करने के लिये, जीवो के लाभ के लिये भगवान दिन-रात चार बार उपदेश दिया करते थे। उनके उपदेश को देव, देवी, मनुष्य और यहाँ तक कि पशु पक्षी आदि सभी जीव अपनी-अपनी भाषा में सुना करते थे। श्रोताओ मे मुख्य श्रोता राजगृह के अधिपति राजा श्रेणिक थे। उन्होंने ध्यान के बाद जो ज्ञान प्राप्त किया उसे 'केवलज्ञान' (प्रत्यक्ष ज्ञान) कहा जाता है। ज्ञानी हो जाने के उपरान्त अपने शिष्यो एव अनुयायियो को उन्होंने जो ज्ञानोपदेश किया, उसे 'श्रुतिज्ञान' (परोक्ष ज्ञान) कहा गया।

निरतर ३० वर्षों तक भगवान् ने देश के विभिन्न अचलो का पैदल भ्रमण कर अपने उपदेशो द्वारा धर्म का प्रचार-प्रसार किया। उनके उपदेशो को उनके बाद गौतम स्वामी ने 'आचाराग' आदि बारह अंग-ग्रन्थो मे निबद्ध किया।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रात काल ४६७ वि० पूर्व मे ७२ वर्ष की आयु-भोग के उपरान्त बिहार के पावापुरी वन मे मुक्तिधाम को सिधारे। यह स्थान बिहार स्टेशन से लगभग ६ मील की दूरी पर स्थित है। जैन-धर्म का यह परम पवित्र तीर्थ है। गाँव के बाहर सरोवर के बीच मे एक जैन-मन्दिर है। उसमे भगवान की चरण-पादुकाएँ शोभित हैं। वहाँ प्रति वर्ष भगवान की निर्वाण तिथि (कार्तिक कृष्णा अमावस्या) को उनकी पुण्य-स्मृति में मेला लगता है।

महावीर स्वामी के उपदेशो मे दो बातो पर विशेष बल दिया गया है। वे हैं त्याग और सत्य। सत्य की उपलब्धि के लिये उन्होंने कषायो (मलिनताओ) की निवृत्ति को आवश्यक बताया। यह सत्य ज्ञान तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब जीवन मे त्याग का उदय होता है। वीतराग (त्यागी) होने पर ही 'समदर्शिता' की उपलब्धि होती है।

महावीर स्वामी ने अपने उपदेशो को बहुधा लोकभाषा प्राकृत मे अभिव्यक्त किया। उन्होने अपने अनुयायियो को 'त्रिपदी' की शिक्षा दी। जिनके नाम हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु सदा उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी बनी रहती है।

यद्यपि उनके अनुयायियो ने उनके सम्बन्ध मे अत्युक्तियो तथा अतिशयोक्तियों का जाल बिछाकर अनेक प्रकार की कल्पित घटनाओं को प्रचलित किया, किन्तु उनके सम्बन्ध मे सामान्यत जो भी जानने को मिलता है, उससे उनके विलक्षण महापुरुष होने मे किसी प्रकार का सन्देह नही है।

महावीर स्वामी की जीवनी से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ही भाँति उन्होंने भी चतुर्विध सघ का सचालन किया। पार्श्वनाथ के चतुर्विध शिष्यो मे आर्य और आर्यिका, श्रावक और श्राविका सम्मिलित थे, किन्तु महावीर स्वामी के चतुर्विध शिष्यो मे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका सम्मिलित थे। पार्श्वनाथ ने सचेल (वस्त्रसहित, श्वेताम्बर) धर्म का उपदेश दिया और महावीर स्वामी ने अचेल (वस्त्ररहित, दिगम्बर) धर्म का उपदेश दिया। पार्श्वनाथ स्वामी ने संघ में स्त्रियो को भी सम्मिलित किया। महावीर स्वामी ने भी पार्श्वनाथ स्वामी के समान सघ के नियमो मे स्त्रियो को सम्मिलित किया और उन्हें समानता का

अधिकार दिया। यद्यपि वैदिक धर्म मे भी स्त्रियाँ मन्त्रद्रष्टा थी, किन्तु उनका अधिकार अध्ययन तक ही सीमित था। महावीर स्वामी ने स्त्री समाज को भी पुरुष समाज के समान समस्त अधिकार प्रदान किये।

महावीर और बुद्ध के जीवन-चरितो मे समानता

महावीर स्वामी और बुद्धदेव के जीवन-चरितो मे आश्चर्यजनक समानता देखने को मिलती है। दोनो महापुरुषो के जन्मधारण की घटनाएँ, उनके गृह-त्याग, तप, ज्ञानोपलब्धि और लोक कल्याण-सम्बन्धी सभी प्रसग एक जैसे हैं। दोनो के धर्म-कर्म-विषयक विचारो और तात्त्विक सिद्धान्तो, जीवन-जगत् सम्बन्धी मान्यताओ मे सर्वत्र एकता लक्षित होती है। दोनो का उदय भी एक ही लक्ष्य एव उद्देश्य को लेकर हुआ और दोनो के परमपद, मोक्ष या निर्वाण का स्वरूप भी एक जैसा है। दोनो ने क्षत्रिय कुलो मे जन्म धारण किया और दोनो का सम्बन्ध अपने-अपने समय के उच्च राजकुलो से था। दोनो महापुरुषो की जीवनी की यह रहस्यमय एकता स्वतत्र चिन्तन का विषय है।

जैनधर्म के सम्प्रदाय

जैनधर्म के मुख्य दो सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। एक ही धर्म की ये दो शाखाएँ कब और क्यो हुईं, इस सम्बन्ध मे मत-मतान्तर हैं। किन्तु सामान्यत यह कहा जा सकता है कि लम्बी अवधि से चले आ रहे पारस्परिक मतभेदो के कारण यह विभाजन हुआ होगा।

महावीर स्वामी जीवन्मुक्त सन्त थे। अत नाममात्र का वस्त्र धारण करने पर भी प्राय वे दिगम्बर ही थे। किन्तु श्रावक-श्राविकाएँ अवश्य सवस्त्र रहते होंगे। भिक्षुओ का एक वर्ग सर्वथा त्यागमय जीवन व्यतीत करता था। अत प्राय वस्त्रहीन रहता था। किन्तु दूसरा वर्ग ऐसा था, जो वस्त्र धारण करना आवश्यक समझता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार तथागत बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् बौद्धधर्म के क्षेत्र मे आचार-सहिता को लेकर मतभेद प्रारभ हो गये थे, उसी प्रकार महावीर स्वामी के पश्चात् सैद्धान्तिक मतभेदो के कारण जैनधर्म का विभाजन हुआ। महावीर स्वामी के निर्वाण के लगभग ६८ वर्ष वाद यह विभाजन हुआ और उनका यह मतभेद विचारभेद के रूप मे बढता ही गया। जैसे-जैसे समय बीतता गया, दिगम्बर जैन भी वस्त्र धारण की ओर प्रवृत्त होने लगे। उसका एक कारण यह भी था कि धर्म प्रचार, जनसेवा और राजसभाओं मे जाने के लिए निर्वस्त्र रहना सभव नही था। अधिक उचित यह प्रतीत होता है कि वस्त्ररहित का वस्त्रधारण करना सभव है। किन्तु

वस्त्रधारण के बाद निर्वस्त्र हो जाना, ऐसा सभव प्रतीत नही होता । यदि वस्त्रधारी वस्त्रो का परित्याग कर दे, तो लोक मे उसकी अवमानना होती है और लोक-प्रतिष्ठा से वह च्युत हो जाता है । इसलिए यह मानना सर्वथा युक्तिसगत प्रतीत होता है कि जीवन्मुक्त तीर्थंकरो को वस्त्रधारण की आवश्यकता नही थी, किन्तु जब धर्म का विकास हुआ और उसमे श्रावको के अतिरिक्त श्राविकाओ का भी प्रवेश हुआ, तो उनका वस्त्ररहित रहना सभव नही था ।

महावीर स्वामी के नौ प्रकार के शिष्य थे, जिन्हें 'स्थविरावली' मे 'गण' कहा गया है । गणो के निरीक्षक को 'गणधर' कहा गया है । इस प्रकार के ११ गणधर (प्रमुख शिष्य) थे, जिन्होने महावीर स्वामी के बाद जैनधर्म का प्रवर्तन किया । उनके नाम थे—१. गौतम इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ आर्य व्यक्त, ५ आर्य सुधर्मा, ६. मण्डितपुत्र, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकम्पित, ९ अचलभ्राता, १० मेतार्य और ११. प्रभास । इनके अतिरिक्त गोशाल और जमालि भी महावीर स्वामी के प्रमुख शिष्यो मे से थे । किन्तु वे 'गणधर' नही थे । यह शिष्य-परम्परा ३१७ ई० पूर्व तक अटूट रूप मे बनी रही ।

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान देने योग्य बात है कि महावीर स्वामी सहित पूर्ववर्ती सभी तीर्थंकरो को क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न बताया जाता है । इसलिए पुराकाल मे यह क्षत्रियो का धर्म था । किन्तु उक्त सभी ११ गणधर ब्राह्मण कुल से सम्बन्धित थे । शनै शनै सामान्यत सभी वर्णों के लोग जैनधर्म को वरण करने लग गये थे और आज भी यही स्थिति है ।

महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद सुधर्मा ने सघ का सचालन किया । तदनन्तर जम्बूस्वामी उनके उत्तराधिकारी हुए । तत्पश्चात् महावीर स्वामी की शिष्य परम्परा मे जिन शिष्यो ने सघ का कार्य सुचारु रूप से सचालित किया, और अपने प्रशस्त कार्यों के कारण लोकप्रियता प्राप्त की उनमे आर्य भद्रबाहु का नाम उल्लेखनीय है । ३१७ ई० पूर्व मे सघ का कार्य उन्होने अपने हाथो मे लिया । ३१० ई० पूर्व मे सात वर्ष के बाद सघ का कार्य अपने शिष्य आर्य स्थूलभद्र को सौंप कर भद्रबाहु दक्षिण यात्रा पर चले गये । ये दोनो जैनाचार्य *नन्द राजाओं के समकालीन हुए । भद्रबाहु की अनुपस्थिति मे स्थूलभद्र ने* पाटलीपुत्र (पटना) मे साधुओ की एक वृहत् सभा का आयोजन किया, जिसमे जैनधर्म के अग ग्रन्थो का सकलन करने का निश्चय किया गया ।

कुछ वर्षों के पश्चात् जब भद्रबाहु दक्षिण यात्रा से लौटे तो उनके समक्ष पाटलिपुत्र की विज्ञ-सभा मे पारित प्रस्तावो को स्वीकृत्यर्थ रखा गया, किन्तु

भद्रबाहु ने उन पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। भद्रबाहु की अनुपस्थिति मे स्थूलभद्र द्वारा घोषित नयी आचार-संहिता के अनुसार जैन साधुओ ने वस्त्र धारण करना आरम्भ कर दिया था। भद्रबाहु को यह आचार-परिवर्तन भी स्वीकार नही था। फलत विवाद बढता ही गया। अन्तत भद्रबाहु अपने पक्ष की शिष्य-मण्डली के साथ अलग हो गये और अपनी पुरानी परम्परा पर ही अडिग बने रहे। इस प्रकार जैन साधुओ के दो वर्ग बन गये—एक श्वेताम्बर और दूसरा दिगम्बर। दिगम्बर दक्षिण की ओर एव श्वेताम्बर उत्तर की ओर अग्रसर हुए। भद्रबाहु का परलोकवास २९७ ई० पूर्व मे और स्थूलभद्र का २५२ ई० पूर्व मे हुआ। इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायो के विभाजन का समय लगभग ३०० ई० पूर्व मे रखा जा सकता है।

स्थूलभद्र की परम्परा को उनके शिष्य महागिरि ने और तत्पश्चात् उनके शिष्य सुहास्ति ने प्रवर्तित किया। इस परम्परा के परवर्ती सघ-संचालको मे पादलिप्त, वज्रस्वामी, आर्यरक्षित, उमास्वाति और कुन्दकुन्दाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। इसी प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों एव ग्रन्थकारो मे स्थूलभद्र के अतिरिक्त मल्लवादि, धनपाल (द्वितीय), पद्मसेन, पद्मसुन्दर और हीरविजय का नाम उल्लेखनीय है।

बौद्धधर्म की भाँति जैनधर्म का उदय भी यद्यपि एक ही उद्देश्य को लेकर हुआ था, किन्तु आचार-विचारो की विविधता के कारण दिगम्बरो और श्वेताम्बरो की भी आगे चल कर अनेक शाखाएँ बन गई। उनकी सख्या ८४ तक बताई जाती है। उन सबकी नामावली प्रस्तुत करना इसलिए सभव नही है कि उनमे से अधिकतर समय के साथ ही समाप्त हो गई। लगभग १२वी शती तक जैनधर्म अनेक शाखा-उपशाखाओ मे पल्लवित होता रहा।

दोनों सम्प्रदायों की आचार-पद्धति

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर, दोनो सम्प्रदायो के तत्त्वदर्शन में प्राय कम अन्तर है, किन्तु उनके आचारो मे पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है। दोनो मे प्रथम अन्तर तो यह है कि जहाँ दिगम्बर केवल नग्न मूर्तियो का पूजन करते हैं, और उनके साधु नग्न रहते हैं, वहाँ श्वेताम्बर साधु वस्त्रसहित मूर्तियो का पूजन करते हैं और स्वयं भी वस्त्र धारण करते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी स्त्रियो तथा शूद्रो को भी मोक्ष-लाभ का अधिकारी मानते हैं, जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी इस नियम को नही मानते। श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थों को प्रमाण मानते हैं, जिनकी सख्या

४५ है। किन्तु दिगम्बर आगम-साहित्य को कालदोष से युक्त मानते हैं और उनकी जगह षट्खण्डागमों को स्वीकार करते हैं। दिगम्बर मोक्षत्व के लिए नग्नता को मुख्य आचार मानते हैं, जब कि श्वेताम्बर उसे आवश्यक नहीं मानते।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर, दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी आचार्यों ने समस्त आर्यदेश का भ्रमण किया और अपने उपदेश लोकभाषा में दिये, जो कि सर्व-सामान्य के अनुरूप थे और जिसके कारण धर्म-प्रचार में पर्याप्त प्रगति हुई। दिगम्बरों ने अपने उपदेशों के लिए शौरसेनी अपभ्रंश को अपनाया और श्वेताम्बरों ने अर्धमागधी को। जैनाचार्यों का यह लोकभाषा-अनुराग इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

वर्तमान समय में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों की आचार-पद्धति में सामान्यतया अन्तर देखने को मिलता है। दिगम्बर साधु कमण्डलु तथा मोरपखों की पिच्छि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रखते। वे केशों का वपन नहीं करते, अपितु उन्हें हाथ से उखाड़ कर फेंक देते हैं। आहार के समय पात्र के स्थान पर खड़े-खड़े हाथों पर खाते हैं। आचार-पालन में वे कट्टर होते हैं और तप-त्याग का सहिष्णु जीवन व्यतीत करते हैं। श्वेताम्बरी साधु लंगोटी और चादर धारण करते हैं। उनके अन्य नियम प्रायः दिगम्बरियों जैसे हैं।

जैनधर्म के अनुयायी प्रायः समस्त भारत में हैं। उनकी परम्परा आज भी अपनी उन्नतावस्था में है। वैसे प्रायः सभी वर्गों के लोग जैनधर्मानुयायी हैं, किन्तु उनमें व्यापारी वर्ग की अधिकता है। उनके पुस्तक भण्डार और कला-संग्रह बड़े महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् हैं। जैनधर्म की ये उपलब्धियाँ अतुलनीय हैं।

जैनधर्म का मुख्य प्रार्थना मंत्र, जिसे 'नामोकार मंत्र' कहा जाता है, इस प्रकार है—

'णमो अरहंताणं'
'णमो सिद्धाणं'
'णमो आइरियाणं'
'णमो उवज्झायाणं'
'णमो लोए सव्व साहूणं'

जैनधर्म और बौद्धधर्म की एकता

जैनधर्म और बौद्धधर्म भारत के धार्मिक इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस देश के सर्वांगीण निर्माण में इन दोनों धर्मों का समान

योगदान रहा है। बौद्धधर्म यद्यपि अपनी जन्मभूमि भारत में क्षीणप्राय हो चुका है, किन्तु सारे देश में व्याप्त उसके स्मारक आज भी उसकी वैभवपूर्ण पुण्य-स्मृति को उज्जीवित बनाये हुए हैं। आज भी विश्व के अनेक देशों में राष्ट्रधर्म के रूप में विद्यमान भारत के नाम को यह सहस्राब्दियों से पूर्व से आज तक गौरवान्वित किये हुए है। उसके मंगलकारी सन्देश आज भी मानवता का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। जैनधर्म की परम्परा आज तक भारत में बनी हुई है और उसको अपने पुरातन की भाँति, वर्तमान में भी समान आदर तथा लोकप्रियता प्राप्त है।

इन दोनों धर्मों का अपने मूल रूप में प्रायः एक ही उद्देश्य था। अतः उनमें मौलिक एकताएँ होनी स्वाभाविक हैं। एक-दूसरे पर उनके प्रभाव की छाप आज भी विद्यमान है और वे उनकी पारस्परिक एकता को प्रकट करते हैं। 'जिन' और 'वीर' जो महावीर स्वामी तथा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के के लिए आदरसूचक सम्बोधन प्रकट किये गये हैं, पालि साहित्य (विनय-पिटक, महावग्ग, मज्झिम० १।३।६, 'थेरीगाथा', गाथा १५७) में बुद्ध के विशेषणों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार महाप्रजापति गोतमी ने भगवान् बुद्ध की वीर कहकर वन्दना की है। बौद्धभिक्षु अपना परिचय 'श्रमण' कहकर दिया करते थे (मज्झिम० १।४।९-१०)। इसलिए उन्हें भी लोग 'श्रमण' कह कर पुकारते थे।

पालि साहित्य में जैनधर्म के अनुयायियों को 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थ) और इसलिए महावीर स्वामी को 'निगण्ठ नाटपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) कहा जाता था। उनके मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख भी पालि साहित्य में देखने को मिलता है (धम्मपदट्ठकथा, जिल्द २, पृ० ४८९)। श्रवणप्रधान जैनधर्म से बौद्धधर्म की इस मौलिक एकता के कारण बहुत समय तक योरोप में इन दोनों धर्मों को एक ही धर्म माना जाता रहा और इसी कारण कुछ विद्वानों ने आरम्भ में महावीर और बुद्ध को एक ही व्यक्ति समझने का भ्रम किया (बार्थ दि रिलिजन्स आफ इण्डिया, पृ० १४, १५०)।

'मज्झिमनिकाय' (भाग १) में एक कथा उल्लिखित है। बुद्ध एक समय राजगृह के गृद्धकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने यह देखा कि राजगिरि के कालशिला नामक पर्वत पर कुछ निर्ग्रन्थ (मुनि-जन) तीव्र तपस्या में लीन हैं। उनके पास जाकर बुद्ध ने पूछा—'अहो निर्ग्रन्थ, तुम आसन छोड़ उपक्रम कर क्यों ऐसी घोर तपस्या की वेदना अनुभव कर रहे हो ? इस पर निर्ग्रन्थ बोले—'अहो निर्ग्रन्थ, ज्ञातपुत्र, सर्वज्ञ और दूरदर्शी हैं। अनेक ज्ञान तथा दर्शन के ज्ञाता हैं। हमारे चलते, ठहरते,

सोते, जागते—समस्त अवस्थाओं में सदैव उनका ज्ञान और दर्शन अवस्थित रहता है।' इस पर बुद्ध ने कहा—'हे निर्ग्रन्थों, तुमने पूर्वजन्म में पापकर्म किये हैं। उनको इस घोर दुस्तर तपस्या से निर्जरा कर डालो। मन, वचन और काय की समवृत्ति से नये पापों का उदय नहीं होता और तपस्या से पुराने पापों का व्यय हो जाता है। इस प्रकार नये पापों के रुक जाने और पुराने पापों के व्यय से आयति रुक जाती है। आयति रुक जाने से कर्मों का क्षय हो जाता है, कर्मक्षय से दुःखक्षय होता है, दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से समस्त दुःखों की निर्जरा हो जाती है।' बुद्ध ने आगे कहा—'यह कथन हमारे लिए रुचिकर प्रतीत होता है और हमें ठीक लगता है।'

इसी प्रकार की अन्य भी अनेक गाथाएँ हैं, जिनके अध्ययन से दोनों धर्मों के समान उद्देश्यों, तपस्या के समान प्रयोजनों का पता चलता है।

पालि साहित्य और जैन साहित्य, दोनों में समान विचार तथा उद्देश्य निहित होने पर भी दोनों धर्मों की दार्शनिक दृष्टि में मतान्तर है। इसी प्रकार आचार की दृष्टि से भी कुछ भिन्नताएँ हैं। उदाहरण के रूप में मुख्य अन्तर रहन-सहन का है। गृहस्थ रहकर जैनधर्म का वरण एवं पालन किया जा सकता है और सम्प्रति जैनों की अधिकतर संख्या गृहस्थों की ही है। किन्तु बौद्धधर्म को वरण करने का सर्वप्रथम रास्ता गृहत्याग का है। उसमें स्त्रियाँ भी भिक्षुणी पद प्राप्त कर सकती हैं, किन्तु उन्हें भी गृहत्याग करना होता है। वैराग्य और सन्यास बौद्धधर्म का मुख्य आधार है, जब कि जैनधर्म मे सासारिक जीवन मे रहकर भी धर्म का पालन किया जा सकता है।

इस प्रकार दोनों धर्मों में एकता भी है और भिन्नता भी। महावीर और बुद्ध, दोनों की जीवनी, उनके जन्म, गृहत्याग, तप, व्रत तथा ज्ञान-प्राप्ति के वृतान्तो म आश्चर्यजनक एकता देखने को मिलती है। महावीर स्वामी की जीवनी पढ़ते समय सहसा बुद्धदेव की जीवनी की एकरूपता उभर आती है। इसी प्रकार बुद्धदेव की जीवनी का तारतम्य महावीर स्वामी की जीवनी में देखने को मिलता है।

जैनधर्म और ब्राह्मणधर्म की एकता

आज जैनधर्म तथा ब्राह्मणधर्म के अनुयायियों में किसी भी प्रकार का अन्तर तथा मतभेद देखने को नहीं मिलता है। परम्परा से भी दोनों धर्मों में कोई विशेष भिन्नता नहीं रही है। दोनों धर्मों में मौलिक मतभेद यह रहा है कि जैनधर्म वैदिक कर्मकाण्ड के प्रतिबन्धों तथा उसके हिंसा-सम्बन्धी

विधानों को स्वीकार नहीं करता है, जबकि ब्राह्मणधर्म वैदिक निर्देशों को ही अन्तिम प्रमाण मानता है। समाज में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए जैनधर्म में वैदिक मान्यताओं का घोर विरोध किया गया। तत्कालीन समाज सम्भवतः पुरोहितवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को स्वीकार भी करता, किन्तु वेदों के प्रति उसकी जो निष्ठा थी, उसको मिटाने के लिए जैनधर्म में अहिंसा का आधार लिया गया, जिसके प्रति समाज पूर्णतया निष्ठावान् था। इसके साथ ही जैनधर्म में वैदिक तपश्चर्या को यथावत् अपनाया गया और साधना तथा वैराग्य के सिद्धान्त उसने वेदान्त से ग्रहण किये।

जैनधर्म का त्रि-रत्न-सिद्धान्त—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य—ब्राह्मणधर्म के भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग का रूपान्तर है। आचार-विचार की समानता की दृष्टि से, बौद्धधर्म की अपेक्षा, जैनधर्म, ब्राह्मणधर्म के अधिक निकट है। जैनधर्म मूलतः ब्राह्मणधर्म और विशेषतः वैष्णवधर्म से अधिक समानता रखता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से भी सांख्य, योग तथा मीमांसा दर्शनों के निरीश्वर-वादी सिद्धान्तों से जैनधर्म की पर्याप्त एकता है। सृष्टि तथा ब्रह्म की पृथक् सत्ता का जितना समर्थक सांख्यदर्शन है, उतना ही जैनधर्म का अर्हद् दर्शन भी। वेदान्त का मुमुक्षु या जीवन्मुक्त ही जैनदर्शन का अर्हद् या सिद्धजीव है। दोनों दर्शन आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं। आत्मा और मोक्ष के स्वरूप सम्बन्धों को दृष्टि में रखकर विचार किया जाये तो जैनदर्शन उतना ही आस्तिक है, जितना कि ब्राह्मण दर्शन।

सिद्धान्त-निरूपण

परमात्मा या ईश्वर

जैनधर्म निरीश्वरवादी है। जैनमत में परमात्मा (परम आत्मा) या जिनेश्वर ही ईश्वर है। तीर्थंकर परमात्मा के रूप हैं। ये जीवन्मुक्त तीर्थंकर तपाये हुए सुवर्ण की भाँति विशुद्ध एवं पूज्य हैं और वे ही ईश्वर हैं। ये तीर्थंकर जन्म-जन्मान्तरों के संसार-चक्र से विमुक्त और दैवी आत्मा-सम्पन्न होने के कारण पूज्य हैं। उस परमात्मा के मुख्य चार गुण हैं—१ अनन्त ज्ञान, २ अनन्त दर्शन, ३. अनन्त वीर्य और ४. अनन्त सुख। वह परमात्मा अपने ही अनन्त गुणों में विराजमान है। उसको इस संसार की किसी भी वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं है। वह इस जगत् के नियमों तथा कर्मों से ऊपर है। पाप तथा पुण्य से अछूता है। वह न तो कर्मों का फल भोगता है और न मनुष्यों को उनके कर्मों का फल देता है। वह सर्वज्ञ है, अमर है, अजर है।

पुनर्जन्म और मोक्ष

जैनधर्म कर्मवादी तथा पुनर्जन्मवादी है। जैन मतानुसार जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। अपने द्वारा अर्जित कर्मों के अनुसार ही उसको दूसरा जन्म मिलता है। ब्राह्मण दर्शनों के अनुरूप जैनधर्म में भी यही माना गया है कि पुण्यार्जन से स्वर्ग और पापार्जन से नरक प्राप्त होता है। पुण्यों के निरन्तर करते रहने से सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है और उस स्थिति में मनुष्य देवतास्वरूप हो जाता है। मोक्ष का मूल कारण ज्ञान है। सदाचार (सम्यक् चारित्र्य), सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् चारित्र्य से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष-साधन के तीन रत्न या उद्देश्य बताये गये हैं (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः)।

सदाचार (सम्यक् चारित्र्य)

शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए रागद्वेषादि दुर्व्यसनों का परित्याग करने के लिए जो आचरण किया जाता है, उसी को सदाचार, संयम या सम्यक् चारित्र्य कहते हैं। पाँच प्रकार के पापों—हिंसा, असत्य, चोरी, दुश्चारित्र्य और आसक्ति—का परित्याग करना ही सम्यक् चारित्र्य है। वह दो प्रकार का है—सकल और विकल। पहला मुनियों के लिए और दूसरा गृहस्थों के लिए है। अहिंसा, सत्य भाषण, दी गई वस्तु को न लेना, क्रोध न करना और किसी भी वस्तु के प्रति अनासक्ति (अपरिग्रह)—ये पाँच महाव्रत हैं। सदाचार का आधार दया है। दया के चार रूप हैं—१ प्रतिफल की भावना न करके दूसरे की भलाई करना, २ दूसरे के उत्कर्ष पर प्रसन्न होना, ३. दुखियों के प्रति सहानुभूति और ४ पापियों के प्रति करुणा।

सम्यक् दृष्टि

सम्यक् दृष्टि मनुष्य के लिए सत्य तथा कल्याण का निर्माण करती है। वह श्रद्धा की जननी है और असत्य ज्ञान को निराकृत करनेवाली तथा सत्य ज्ञान की ओर प्रवृत्त करनेवाली सद्वृत्ति है। उससे सद्विचार, स्थिरता और विवेक का उदय होता है तथा भ्रम और अन्य विश्वासों का ध्वंस होता है। उसमें मोहबुद्धि नहीं होती। उसकी विश्वप्रेम में निष्ठा होती है। उसमें स्वदेश, स्वजाति तथा स्वधर्म की सकीर्णताएं नहीं होतीं। उसमें समभाव का उदय होता है। सम्यक् दृष्टि जीव सात प्रकार के पापों से विमुक्त होता है। वे सात प्रकार के पाप हैं—१. इहलोकभय, २. परलोक-

बिरये वियाहिए त्तिबेमि)। जो प्रज्ञा (मुनि या ज्ञान) की आँखो से लोक के स्वरूप को अच्छी तरह से देखता है, या जानता है, वही 'मुनि' या 'यति' है।

जो जीव मुनिपद को प्राप्त करना चाहता है, वह सर्वप्रथम अपने परिवार या कुटुम्ब के लोगो से अपना पीछा छुड़ा ले। एक गाथा मे कहा गया है—'हे भव्य जीवो, समझो, समझते क्यो नही ? परलोक मे धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है। बीता समय फिर हाथ नही आता।...क्षणिक सुखाभास के लिए सागर के समान दुःख को क्यो अपनाते हो ?...जिस कुटुम्ब के लिए तुम प्रयत्न कर रहे हो, वह तुम्हारे साथ चलनेवाला नही है ...यह ससार सागर की तरह अनन्त है और जीवो को चौरासी लाख योनियो मे भटकाने वाला है।'

यति व्रत को धारण करनेवाला मनुष्य समस्त सासारिक क्लेशो से छुटकारा पा सकता है। तीर्थंकर महावीर स्वामी ने कहा है—जो भिक्षु, १ भिक्षा के समय को जानने वाला (कालज्ञ), २ भिक्षा देने वाले की शक्ति को जानने वाला (शक्तिज्ञ), ३ भिक्षा की मात्रा को जानने वाला (मात्रज्ञ), भिक्षा के अवसर को जानने वाला (क्षणज्ञ), ५ भिक्षा के नियमो को जानने वाला (विनयज्ञ), ६ अपने सिद्धान्त और दूसरे के सिद्धान्त को जानने वाला (स्व-समयज्ञ, पर-समयज्ञ), ७ दूसरे के अभिप्राय को जानने वाला (भावज्ञ), ८ भोगोपभोग की सामग्री (परिग्रह) मे ममता न रखने वाला, ९ समय से अनुष्ठान करने वाला और १० प्रतिज्ञा को जानने वाला होता है, वह राग-द्वेष का छेदन कर मोक्ष-मार्ग मे आगे बढता है।

भिक्षुक को चाहिए कि वह वस्त्र, पात्र (परिग्रह), कम्बल, रजोहरण (पादपुछनक), स्थान (अवग्रह), शय्या (कटासन) और आसन आदि सामग्री गृहस्थो से माँग ले। भिक्षुक को चाहिए कि भिक्षा मिल जाने पर वह गर्व न करे। न मिलने पर शोक न करे। अधिक मिलने पर उसका सग्रह न करे। भोगो से अपने को दूर रखे।

इस प्रकार जैनधर्मानुयायी समाज मे आचारो के नियमो का पालन करना आवश्यक बताया गया है। यति-जीवन के अभ्युदय के लिए उक्त नियमो का पालन करना अनिवार्य है।

अहिंसा का स्वरूप

जैनधर्म का अहिंसा-व्रत जीवन का सर्वोत्तम आदर्श एव कर्तव्य माना गया है। प्रत्येक ससारी व्यक्ति और यतिधर्म मे दीक्षित यति या विरक्त, दोनो के लिए अहिंसा का परिपालन करना अनिवार्य है।

यद्यपि अन्य धर्मों में भी, विशेष रूप से बौद्धधर्म में, अहिंसा के परिपालन पर बड़ा बल दिया गया है, किन्तु जैनधर्म में अहिंसा का विचार सर्वथा नये ढंग का है। महावीर स्वामी का तो यहाँ तक कहना है कि अन्य धर्मों तथा शास्त्रों में हिंसा के पक्ष पर जो विचार किया गया है, वह भ्रामक है।

जैनधर्म के अपकाय, जलकाय तथा वनस्पतिकाय आदि छ प्रकार के जीव बताये गये हैं। चीटी से लेकर हाथी तक, जितने भी चेतन प्राणी हैं, और राई से लेकर पर्वत तक, जितने भी जड या अचेतन पदार्थ हैं, जैनधर्म मे उन सबको 'जीव' माना गया है। इन अचेतन पदार्थों का स्वरूप वैसा ही है, जैसा मनुष्य आदि चेतन प्राणियो का।

उदाहरण के रूप मे जैसे मनुष्य उत्पन्न होता है, वैसे ही वनस्पति (पेड-पौधे) पैदा होते हैं। जैसे मनुष्य का शरीर बढता है, वैसे ही वनस्पतियाँ भी बढती हैं। जैसे मनुष्य का शरीर काट देने से वह सूख जाता है, वैसे ही वनस्पतियो को काट देने से वे कुम्हला जाती हैं। जैसे मनुष्य अनित्य है, वैसे ही वनस्पतियाँ भी अनित्य हैं।

वनस्पतियो की ही भाँति पाँच प्रकार के अन्य जीवो की भी यही स्थिति है। जब कि ससार की प्रत्येक वस्तु (चेतन-जड) मे प्राण है, तो निश्चित ही जाने या अनजाने मे निरन्तर हमारे द्वारा हिंसा होती रहती है। इस हिंसा से बचने के लिए जैन तीर्थंकरो, विशेषरूप से महावीर स्वामी ने कुछ उपाय बताये हैं।

इन अनेक प्रकार की हिंसाओ से बचने के लिए पहली आवश्यकता है इन्द्रिय निग्रह की। जिसकी इन्द्रियाँ वश मे नही हैं, ऐसा विषयो मे फँसा हुआ मनुष्य हर किसी को कष्ट पहुँचाता है। ये हिंसाएँ हमारे द्वारा अनजाने मे भी हो जाती हैं। उसका कारण यह है कि जीव इतने सूक्ष्म हैं कि वे पलक मारते ही मर जाते हैं। इन जीवो को हम अर्थ के लिए भी मारते हैं और बिना अर्थ के लिए भी। इन सूक्ष्म जीवो की हम अनेक उद्देश्यो से हिंसा करते हैं, यथा—

१ इसने मुझे कभी मारा था, अत इसको भी मारना चाहिए—इस भावना से।

२. यह मुझे मारता है, अत इसको भी मैं मारता हूँ—इस भावना से।

३ यह मुझे आगे चलकर मारेगा, अत इसको अभी मारना चाहिए—इस भावना से।

ये अनेक प्रकार की भावनाएं हैं, जो हमे अनेक प्रकार की हिंसाओ की ओर प्रवृत्त करती हैं।

महावीर स्वामी ने जीवो की हत्या को चोरी (अदत्तावदान) कहा है। जो व्यक्ति अपने सुख की तरह दूसरो के सुख का भी ध्यान रखता है, वह हिंसा के कुकर्म से बच जाता है। इन हिंसाओ से बचने के लिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह उक्त सभी प्रकार की हिंसाओ का परित्याग कर दे। इस लोक मे जो व्यक्ति प्रयोजन या बिना प्रयोजन के लिए षट्काय (छ प्रकार के) जीवो की हिंसा करता है, वह उन्ही जीव-योनियो मे बार-बार जन्म लेकर पुन -पुन मारा जाता है।

अहिंसा ही एकमात्र उपाय है, जिस पर चलकर सभी रास्तो का पता लग जाता है। मोक्ष की इच्छा रखनेवाले पुरुष को चाहिए, चाहे वह यति हो या गृहस्थ, वह किसी भी जीव की हिंसा न करे, न कराये और न करने वाले का साथ दे।

यह ससार (नर भव) एक अवसर है, ऐसे अवसर को पा जाने के बाद प्रमाद नही करना चाहिए। दूसरे प्राणियो को अपने ही समान देखना चाहिए। किसी भी प्राणी की सभी तरह की हिंसा से दूर रहना चाहिए।

अहिंसा, सदाचार या सम्यक् चारित्र्य प्रमुख उपादान हैं। स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर, किसी भी जीव की मन, वाणी तथा शरीर से हिंसा नही करनी चाहिए।

साहित्य-निर्माण

जैनधर्म की भाँति उसकी साहित्य-परम्परा भी प्राचीनतम एव व्यापक है। जैन तीर्थंकरो मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी ने ग्रन्थ-निर्माण की दृष्टि से कुछ नही लिखा। उन्होने तथा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरो ने केवल उपदेश दिये और प्रवचन किये। उनका सकलन-सम्पादन परवर्ती आचार्यों ने किया। यद्यपि जैनधर्म के सिद्धान्तो तथा आचारो से सम्बन्धित सामग्री वेदो जितनी प्राचीन है, तथापि उसको ग्रन्थ रूप मे निबद्ध करने का समय बाद का है। वैदिक युग के व्रात्यो तथा श्रमणज्ञानियो की परम्परा से ज्ञात होता है कि जैनधर्म की विचारधारा अतिप्राचीन है। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की चर्चाएँ 'ऋग्वेद', 'अथर्ववेद', 'गोपथब्राह्मण' और 'भागवत' आदि पुरातन वाङ्मय मे बिखरी हुई हैं। दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ भी वैदिकयुग के और २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ निश्चित ही महाभारतकालीन अथवा उससे पूर्व के हैं।

साहित्य निर्माण की परम्परा का जहाँ तक सम्बन्ध है, ईसा की प्रथम शती से उसका आरम्भ माना जा सकता है, जो कि अब तक निरन्तर रूप से हो रहा है। फिर भी एक ऐसे सर्वांगीण इतिहास का अभाव आज भी बना हुआ है, जिसमे जैन साहित्य की क्रमबद्ध परम्परा का उल्लेख हो। जैन साहित्य की उपलब्ध सामग्री को देखकर ज्ञात होता है कि उसमे संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती तथा कन्नडी आदि अनेक भाषाओ मे ग्रन्थ-रचना हुई। तत्कालीन प्रचलित मागधी और शौरसेनी लोक-बोलियो मे उल्लिखित साहित्य जैनधर्म की विशेषता का परिचायक है। लोकभाषा पालि को यद्यपि बुद्ध तथा बौद्धधर्म के ग्रन्थकारो ने भी अपनाया, किन्तु जैन साहित्यकारो ने उसमे विशेष रुचि दिखलाई।

विषय-वस्तु की दृष्टि से जैन-साहित्य सर्वांगीण है। उसके अपने वेद, पुराण हैं और उसमे दर्शन, धर्म, कला, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, महाकाव्य, काव्य, नाटक तथा कथा आदि समस्त विषयो पर ग्रन्थो की रचना हुई। जैन साहित्य का एक बहुत बडा भाग हस्तलिखित ग्रन्थो के रूप मे विभिन्न हस्तलेख संग्रहो मे पडा हुआ अभी तक अप्रकाशितावस्था मे है। जैन चित्रकला अपना अनन्य स्थान रखती है। ऐसे सहस्रो सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थ अभी प्रकाश मे नही आये हैं, जो बहुमूल्य तो हैं ही विषय की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं।

बौद्धधर्म के क्षेत्र मे जिस प्रकार समय-समय पर आयोजित चार बौद्ध संगीतियों (परिषदो) मे विद्वान् बौद्ध भिक्षुओ द्वारा त्रिपिटको और उनके अग-ग्रन्थो का संकलन सम्पादन हुआ, उसी प्रकार जैन धर्मानुयायी विद्वान् आचार्यों एव मुनियो द्वारा जैन वाड्मय के अग ग्रन्थो तथा प्रकीर्ण-ग्रन्थो के संकलन-सम्पादन के लिए समय-समय पर बृहत् परिषदो का आयोजन किया गया। इस प्रकार की सर्वप्रथम विद्वत् परिषद का आयोजन आचार्य स्थूलभद्र ने पाटलिपुत्र (पटना) मे किया था। यह परिषद् ३०० ई० पूर्व के लगभग आयोजित हुई थी। उसमे अग ग्रन्थो का संग्रह-सम्पादन हुआ और संघ के लिये नये नियम बने। जब आचार्य भद्रबाहु दक्षिण यात्रा पर थे, उस समय उनके शिष्य आचार्य स्थूलभद्र ने इस परिषद् का आयोजन किया था। किन्तु यात्रा से लौट आने पर जब परिषद् के निर्णयो को आचार्य भद्रबाहु के सामने रखा गया तो उन्होंने उनको अस्वीकार कर दिया। तभी से संघ दिगम्बर तथा श्वेताम्बर, दो सम्प्रदायो मे विभक्त हुआ।

उक्त परिषद् के लगभग साढ़े सात सौ वर्ष पश्चात् ४५४ ई० मे आचार्य देवधर्मा की अध्यक्षता मे जैन मुनि समाज की दूसरी परिषद् का आयोजन

हुआ। यह परिषद् भावनगर (गुजरात) के समीप वलभी नामक स्थान पर आयोजित की गई थी। इस परिषद् मे आचार्य स्थूलभद्र द्वारा आयोजित परिषद् के अग-ग्रन्थो तथा नियमो को पुन विचारार्थ रखा गया। इसी परिषद् से श्वेताम्बर के १२ आगमो या अग-ग्रन्थो के संग्रह-सम्पादन को अन्तिम रूप दिया गया।

बारह अंग-ग्रन्थ

श्वेताम्बरो के मुनि समाज द्वारा सर्वसम्मत निर्णय पर जिन १२ अग-ग्रन्थो को स्वीकार किया गया, उनके नाम हैं—१. आचारागसुत्त (आचारागसूत्र), २ सूयगण्डक (सूत्रकृताग) ३. याणग (स्थानाग), ४ समवायाग, ५ भगवतीसूत्र, ६. नायाधम्मकहाओ (ज्ञातधर्मकथा), ७. उवासकदसाओ (उपासकदशा), ८. अन्तगडदसाओ (अन्तकृतदशा), ९ अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपादिकदशा), १० पण्हावागरिणिआइ (प्रश्नव्याकरणादि), ११. विवागसुय (विपाकश्रुत) और १२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)। ये अग-ग्रन्थ दो को छोडकर शेष १० लोकवाणी प्राकृत मे हैं। दो सस्कृत मे हैं। इन बारह अग-ग्रन्थो मे आज कुछ ही उपलब्ध हैं। किन्तु समस्त जैनधर्मानुयायियो मे उनको एकमत से मान्य समझा जाता है।

बारह उपांग-ग्रन्थ

उक्त १२ अग ग्रन्थो के उतने ही उपाग ग्रन्थ भी हैं। उनके नाम हैं—१. औपपतिक, २ राजप्रश्नीय, ३ जीवाभिगम, ४ प्रज्ञापना, ५ सूर्यप्रज्ञप्ति, ६ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ७ चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८ निर्यावलिका, ९ कल्पावतमिका, १० पुष्पिका, ११ पुष्पचूलिका और १२. वृष्णिदशा।

दस प्रकीर्ण ग्रन्थ

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अग-उपाग ग्रन्थो के अतिरिक्त दस प्रकीर्ण ग्रन्थ भी हैं। जैनो के धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य मे इन ग्रन्थो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये प्रकीर्ण ग्रन्थ हैं—१ चतु शरण, २ आतुरप्रत्याख्यान, ३. भक्तिपरिज्ञा, ४ सस्तार, ५. ताण्डुलवैतालिका, ६ चन्द्रवेध्यक, ७. देवेन्द्रस्तव, ८. गणितविद्या, ९ महाप्रत्याख्यान और १०. वीरस्तव।

तीन सूत्र

इनके अतिरिक्त जैनधर्म के पुरातन प्रामाणिक साहित्य मे—१ छेदकसूत्र, २ मूलसूत्र और ३ चूलिकासूत्र नाम से तीन सूत्र ग्रन्थ भी हैं।

चार वेद

जैनधर्म के अपने पृथक् वेद भी हैं, जो सख्या मे चार हैं और जिनके नाम हैं—१ प्रथमानुयोग, २. चरणानुयोग, ३ करणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग।

चौबीस पुराण

जैनधर्म के चार वेदो की भाँति अपने पुराण भी है, जिनकी सख्या चौबीस है और जिनमे चौबीस तीर्थंकर महात्माओ की दिव्य कथाओं का वर्णन है। इन चौबीस पुराणो मे सम्प्रति कुछ ही उपलब्ध हैं। उनमे चार पुराणो का विशेष महत्त्व माना जाता है। उनके नाम हैं—१ 'आदिपुराण', २. 'उत्तरपुराण' तथा ३ 'अरिष्टनेमिपुराण' और रविषेण कृत ४ पद्म-पुराण।

राजधर्म के रूप मे सम्मानित जैनधर्म

बौद्धधर्म की ही भाँति जैनधर्म को भी लोक और शासक, दोनो ने अपनाया। महावीर स्वामी के समकालीन मगध के बिम्बिसार (श्रेणिक) और अजातशत्रु (कूणिक) ने महावीर स्वामी के दर्शन किये थे और उनसे प्रश्न पूछे थे। पाटलिपुत्र पर जब मौर्य चन्द्रगुप्त का शासन था, उस समय जैन आगमो की प्रथम वाचना हुई थी। स्वय चन्द्रगुप्त ने जैनधर्म की दीक्षा ली थी। चन्द्रगुप्त के प्रपौत्र और अशोक के पौत्र सम्प्रति (२२०-२११ ई० पूर्व) का जैन-ग्रन्थो मे उल्लेख है। आचार्य सुहस्ति ने उन्हे जैनधर्म मे दीक्षित किया था। सम्प्रति ने दक्षिण भारत मे अपने सुभटो को भेजकर जैन-धर्म सघ की प्रसिद्धि मे विशेष योगदान किया था।

कलिंगराज खारवेल (२०० ई० पूर्व) स्वयमेव जैन था और उसने जैनधर्म के सरक्षण तथा प्रवर्तन मे महत्वपूर्ण योगदान किया था। उसने जैन साधुओं के निवास के लिए उदयगिरि की कलात्मक भव्य गुफाओ का निर्माण कराया। गुप्तो के समय अन्य धर्म-पन्थों की भाँति जैनधर्म का भी उल्लेखनीय विकास हुआ। गुजरात मे गिरनार और शत्रुजय मे प्रसिद्ध जैन तीर्थ इसी समय निर्मित हुए। जैन मुनि शीलगुणसूरि के उपदेशो से प्रभावित होकर राजा वनराज ने गुजरात के प्रसिद्ध अणहिल्लपुर पाटण नाम के नगर को बसाया। गुजरात से जैनधर्म का परम्परा से गहरा एव अटूट सम्बन्ध रहा है। चालुक्य मूलराज (९६१-९९६ ई०), सिद्धराज जयसिंह (११ वी शती) और उनका भतीजा कुमारपाल जैनधर्म के परम अनुरागी एव

संरक्षक रहे हैं। इस धर्मानुराग के कारण बहुसंख्यक विशाल जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ और उनमें बृहदाकार कलात्मक जिन मूर्तियाँ स्थापित की गयी। दक्षिण के चोल, चेर, गंग और राष्ट्रकूट राजवंशों के अनेक शासकों ने जैनधर्म को प्रश्रय देकर उसके प्रति अपने अनुराग को व्यक्त किया। न केवल हिन्दू शासकों ने, अपितु मुगल शाहंशाहों ने भी जैनधर्म के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करके उसकी परम्परा को बढ़ाया। शाहंशाह अकबर ने हीरविजय सूरि को सम्मानित किया था। यहाँ तक कि औरंगजेब ने भी जैन साधुओं के प्रति सम्माननीय व्यवहार किया।

इस प्रकार जैनधर्म अपनी महनीयता तथा लोकप्रियता के कारण निरन्तर अपना महत्त्व बनाये रहा। उसका सम्बन्ध लोक और लोकवाणी, दोनों से बना रहा और इसलिए उसकी परम्परा कभी भी क्षीण नहीं हुई। आज भी जैनधर्म का अस्तित्व पूर्ववत् बना हुआ है।

बौद्धधर्म और उसके प्रवर्तक

तथागत बुद्ध

भारत के धार्मिक इतिहास में बौद्धधर्म का अपना विशिष्ट स्थान है। ईसा के लगभग ६००-५०० वर्ष पूर्व भारत में इतिहास प्रसिद्ध प्रतापी मगध साम्राज्य का प्रभाव था, जिसकी राजधानी राजगृह थी। इस साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक गणतन्त्र थे जिनमें लिच्छवी गणतन्त्र का नाम उल्लेखनीय है। उसकी राजधानी वैशाली थी। वैशाली गंगा के उत्तर में स्थित थी। गंगा के उत्तर में ही अगराज्य और उत्तर-पश्चिम में कोसल राज्य अवस्थित थे। कोसल राज्य की राजधानी अयोध्या थी, किन्तु बाद में वह ध्वस्त हो गयी थी और श्रावस्ती को नयी राजधानी बनाया गया था। कोसल राज्य के पूर्व शाक्य और कोलिय नाम के दो स्वतंत्र जातियों का शासन था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु और कोलियों की राजधानी रामगाँव थी। इस शाक्य राजवंश में यशस्वी एवं धर्मप्राण राजा शुद्धोदन हुए। उनकी दो रानियाँ थीं, जो कि कोलिय-कुल की थीं। उनका नाम था मायादेवी और प्रजापति गौतमी। ऐसा कहा जाता है कि जन्म-ग्रहण करने से पूर्व ही बुद्ध ने यह विचार कर लिया था कि उन्हें किस देश में किस माता-पिता के घर जन्म लेना है। वे यह सुनिश्चित कर चुके थे कि मध्यदेश के कपिलवस्तु नामक नगर में क्षत्रिय राजा शुद्धोदन की सदाचरशीला पत्नी मायादेवी की कोख से जन्म लेना है। उस समय कपिलवस्तु में लोग आषाढ़ का उत्सव मना रहे थे। उत्सव की अन्तिम रात्रि पूर्णिमा को मायादेवी ने स्वप्न देखा कि कोई दिव्य ज्योति उनकी कोख (कुक्षि) में प्रविष्ट हुई है। गर्भ धारण के दसवें मास वे अपने मायके (नैहर) देवदह चली गयीं।

कपिलवस्तु और देवदह नगर के बीच लुम्बिनी नामक एक सुन्दर वन था। वहाँ शाल (साखू) वृक्ष के नीचे ५०५ वि० पूर्व (५६२ ई० पूर्व) में बुद्ध का जन्म हुआ। लुम्बिनी नामक वन के जिस पवित्र स्थान पर बुद्ध का जन्म हुआ, बाद में वहाँ पर सम्राट् अशोक ने बुद्ध-जन्म की पवित्र स्मृति में एक पाषाण स्तम्भ का निर्माण कराया था।

जन्म के पाँचवें दिन वेद-वेदांग-पारंगत एवं भविष्यफलवेत्ता दैवज्ञों (ज्योतिषियों) को बुलाकर जब शकुन विचारा गया, तो उनमें से सात ने कहा—'ऐसे शुभ लक्षणों वाला गृहस्थ चक्रवर्ती राजा होता है, और साधु

होने पर बुद्ध।' उनमे कम उम्रवाले कौण्डिन्य नामक तरुण दैवज्ञ ने कहा—'इसके घर मे रहने का कोई कारण नही है। अवश्य ही यह महाज्ञानी होगा।' यथासमय बालक का नामकरण हुआ—सिद्धार्थ। सिद्धार्थ के पैदा होने के कुछ दिन बाद उनकी माता मायादेवी का निधन हो गया। उसके बाद उनकी सौतेली माता प्रजापति गौतमी ने उनका लालन-पालन किया।

सिद्धार्थ जब युवक हुए, तो युवकोचित उल्लास के विपरीत उनकी गम्भीर एव चिन्तायुक्त मन स्थिति से आशकित होकर महाराज शुद्धोदन ने १८ वर्ष की अवस्था मे ही उनका विवाह कोलिय प्रजातत्र की कन्या यशोधरा (कपिलायनी) से कर दिया। इस विवाह की रोचक चर्चा 'ललितविस्तर' मे विस्तार से वर्णित है।

आगे चलकर यथासमय यशोधरा ने राहुल को जन्म दिया। युवराज के जन्म की खुशी मे सारे राज्य मे हर्ष मनाया गया। किन्तु सिद्धार्थ उदास बने रहे। उनके मन मे वैराग्य के बढते हुए प्रभाव को न तो विवाह और न ही पुत्ररत्न की प्राप्ति दूर करने मे सफल हो सके।

एक एकान्त रात्रि को सिद्धार्थ ने महाभिनिष्क्रमण (गृहत्याग) कर दिया। कुछ दिनो वे ब्रह्मचारी वेष धारण कर वैशाली मे रहे और तदनन्तर पैदल चलकर राजगृह पहुँचे। राजगृह मे वे उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् एव योगी आलार कालाम तथा उद्रक रामपुत्र से मिले। उद्रक रामपुत्र से कुछ दिनो तक उन्होने तन्त्रविद्या के विषय मे ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् अपने पाँच साथियो को लेकर वे बोधगया के निकट उरुवेला के रमणीय अरण्य प्रदेश मे जा पहुँचे। वहाँ ६ वर्षों तक उन्होने कठिन तप किया। किन्तु उन्हें सन्तोष न हुआ। फलस्वरूप देह-कष्ट के प्रयोजन को व्यर्थ समझ उन्होने उसे भी त्याग दिया। उनके पाँच साथियो ने उनकी इस दुर्बलता से असहमत होकर उनका साथ त्याग दिया। पुन वहाँ से वे बोधगया गये और वहाँ बरगद के वृक्ष के नीचे समाधि लगाकर बैठ गये। आत्मकेन्द्रित होकर उन्होने अपने जन्मान्तर की अनुभूतियो का साक्षात्कार किया। उन्हे स्वत ही यह अनुभूति हुई कि आत्मज्ञान की खोज के लिये उनके समस्त विगत प्रयत्न और अधीत शास्त्र कोई भी सहायक नहीं बन सकते हैं।

इसके पश्चात वे बोधिवृक्ष (बोधगया का प्रसिद्ध पीपल का पेड) के पास गये। उन्होने उसकी परिक्रमा की और यह प्रतिज्ञा कर उसके नीचे बैठ गये कि 'चाहे मेरा चर्म मांसपेशियाँ और अस्थि मात्र ही शेष रह जायें, चाहे मांस तथा रक्त क्यो न सूख जायें, किन्तु 'सम्यक् सम्बोधि' प्राप्त किये बिना इस आसन से नही उठूँगा'। सिद्धार्थ उस बोधिवृक्ष के नीचे एक सप्ताह तक मोक्ष

का आनन्द लेते हुए वे ध्यानस्थ बैठे रहे। सातवीं रात के प्रथम याम में उन्हें संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने जाना कि अज्ञान, वेदना, तृष्णा, उपादान, जन्म, जरा, मरण, शोक और दुःख आदि अतियों का रहस्य क्या है।

दूसरे दिन बोधिवृक्ष की समाधि से उठकर वे पुनः बरगद वृक्ष के नीचे गये और वहाँ एक सप्ताह तक चिन्तन में बैठे रहे। वैशाखी पूर्णिमा की दिव्य निशा में उन्होंने आँखें खोलीं, तो उन्होंने पूर्णता प्राप्त कर ली थी। वे आत्म-ज्ञानी बन गये थे। 'बुद्धत्व' प्राप्त कर लिया था। प्रातः उन्होंने करुणामयी दृष्टि से प्राणियों को देखा। प्राणियों पर दया करके वे धर्मोपदेश के लिये उद्यत हुए। इस समय उनकी आयु ३६ वर्ष (५२८ ई० पूर्व) की थी।

बोधगया से वे वाराणसी गये। रास्ते में उन्हें उदय भी मिला। उसने बुद्ध से अनेक प्रश्न किये। वाराणसी में उन्हें उनके बिछुड़े हुए पाँच साथी मिले। उन्होंने अपना पहला उपदेश पाँचवर्गीय भिक्षुओं को दिया। बुद्ध ने कहा—'हे भिक्षुओ, इन दो अन्तों (अतियों) का प्रव्राजितों (भिक्षुओं) को सेवन नहीं करना चाहिये—एक तो मनोविकार उत्पन्न करने वाली काम-वासनाओं में काममुख-लिप्त होना और दूसरा अनर्थों से युक्त पीड़ा से आत्मा को सतप्त करना, अर्थात् दुःखदायी तपश्चर्या से विरत रहना। भिक्षुओ, इन दोनों का परित्याग कर मैंने मध्यम मार्ग को खोज निकाला है। यह मध्यम मार्ग आँख देनेवाले, ज्ञान करानेवाले निर्वाण का है।' उन्होंने 'निर्वाण' के कल्याणकारी परिणामों को विस्तार से समझाया। वाराणसी में वे पाँच मास तक रहे। वहाँ उन्होंने साठ शिष्यों को पूर्णतया शिक्षित-दीक्षित किया। उन्हें जनता के बीच भेजा। बहुत समय तक उन्होंने स्त्रियों को दीक्षित नहीं किया। उसके बाद वे उरुवेला, उत्तर कुरु (मेरु पर्वत की उत्तर दिशा में) और अनवतप्त सरोवर (मानसरोवर) तक उपदेश करने के लिये गये।

उत्तर दिशा का भ्रमण करने के पश्चात् बुद्ध बोधगया गये। वहाँ उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उनके अनेक शिष्य बन गये। उन शिष्यों में काश्यप का नाम अग्रणी है। महाराज बिम्बसार ने भी बुद्ध का शिष्यत्व वरण किया। राजगृह में उनका शिष्यत्व ग्रहण करनेवाले अनुयायियों में सारिपुत्र तथा मौद्गलायन का नाम उल्लेखनीय है।

बुद्ध अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु भी गये। वहाँ घर-घर जाकर उन्होंने भिक्षाटन किया। अन्त में अपने पिता महाराज शुद्धोदन की रुग्णावस्था का समाचार सुनकर वे कपिलवस्तु गये और उन्होंने पिता की समुचित सेवा की। पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी छोटी माता प्रजापति गौतमी और पत्नी

यशोधरा ने भिक्षु सम्पदा प्राप्त की। ये दोना प्रथम महिलाएँ थी, जिन्हे बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द के अनुरोध पर भिक्षुणी बनने की अनुज्ञा दी, किन्तु साथ ही यह नियम भी बनाया कि भिक्षुपद ग्रहण करनेवाली भिक्षुणियाँ, भिक्षुओं के नियन्त्रण म रहेगी।

अन्त मे ४२५-२४ वि० पूर्व (४८३ ८२ ई० पूर्व) मे तथागत ने ८० वर्ष की अवस्था व्यतीत कर यह कहते हुए परिनिर्वाण प्राप्त किया—'आश्चर्य भन्ते, अद्भुत भन्ते, मैं भगवान की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षुसघ के भी। भन्ते, मुझे भगवान् के पास से प्रव्रज्या मिले उपसम्पदा मिले।'

बुद्ध के जन्म तथा निर्वाण के सम्बन्ध मे मतमतान्तर है। सिंहली (श्रीलका) परम्परा के अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ वि० पूर्व मे माना जाता है। इसी परम्परा को मान्य समझ कर भारत मे मई १९५६ को बुद्ध की २५०० वी जयन्ती मनाई गई। ऐतिहासिक साक्ष्यो के आधार पर बुद्ध राजगृह के शासक बिम्बसार और उनके पुत्र अजातशत्रु के समकालीन थे। उनके परिनिर्वाण के २१८ वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक का राज्याभिषेक हुआ था।

बुद्ध के उपदेशो के प्रवर्तक प्रमुख शिष्य

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनका शवदाह किया गया और उनकी भस्मी को आठ भागा मे विभाजित किया गया। उसको लेकर मगध के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियो कपिलवस्तु के शाक्यो, अलकप्पा के बुलियो, रामगाँव के कोलियो, वठ द्वीप के ब्राह्मणो पावा के मल्लो और कुशीनगर के मल्लो ने अलग अलग स्तूप बनाये। पिप्पलीवन के मौर्यों ने शवदाह के स्थान से कोयला तथा भस्म का सग्रह कर नवाँ स्तूप बनाकर तथागत के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की।

बुद्ध के प्रमुख शिष्या म सारिपुत्र, मौद्गलायन, आनन्द, देवव्रत, उपालि और अनिरुद्ध के नाम उल्लेखनीय हैं। उनमे से आनन्द का नाम अग्रणी है। बुद्ध के पश्चात् आनन्द ने ही सघ का सचालन किया। एक बार बुद्ध ने आनन्द को लक्ष्य कर कहा था—हे आनन्द, तुम स्वय अपने लिए प्रकाश हो। मेरे बाद तुम किसी अन्य की शरण न लेना। (सघ के) रक्षक की भाँति सत्य मे दृढ रहना।' जब बुद्ध के निर्वाण की वेला निकट आई तो आनन्द खूँटी पकड कर विलाप करने लगा। तब बुद्ध ने पास बुलाकर उससे कहा—'आनन्द, अब दु ख न करो। क्या मैंने तुमसे यह बात नही कही थी कि यह स्वाभाविक है कि प्रियजन पृथक् हो जाते है। जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह नाशवान् है। यह कैसे सभव है कि नाश न हो? तुमने मेरे प्रति प्रेम व्यवहार रखा।

तुम्हारा प्रेम कभी न्यून नही हुआ। तुम आगे भी अपने प्रयत्न मे रत रहो। बुराई से शून्य हो जाओ। तुम्हे भी निर्वाण प्राप्त होगा। ससार मे मैं पहला बुद्ध नही हूँ और न अन्तिम होऊँगा। (मेरे बाद) सघ के नियम तथा सिद्धान्त ही तुम्हारे गुरु होगे।'

इस प्रकार आनन्द ने आजीवन बुद्ध की शिक्षाओ का परिपालन करते हुए उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण किया और सघ' के प्रचार प्रसार मे लगा रहा। उसने राजगृह मे ५०० भिक्षुओ की एक सभा का (जिसे प्रथम सगीति कहा जाता है) आयोजन किया और उसमे बुद्ध की शिक्षाओ तथा उनके सिद्धान्तो का सकलन कर उन्हे क्रमबद्ध रूप मे व्यवस्थित किया। उनके प्रचार-प्रसार के लिए योजना तैयार की। आनन्द को 'सुत्तपिटक' का सग्रह्-कर्ता माना जाता है। बुद्ध का दूसरा शिष्य उपालि हुआ, जो जाति से नापित था, किन्तु एक विख्यात आत्मज्ञानी के रूप मे वह सघ का नेता बना। उसने 'विनयपिटक' का सग्रह कर उसको क्रमबद्ध स्वरूप दिया। अनिरुद्ध बौद्धधर्म का विलक्षण विद्वान् हुआ। बुद्ध के बाद उसने बौद्धधर्म के सिद्धान्तो का विद्वत्तापूर्ण ढग मे व्याख्यान किया। देवदत्त बुद्ध के आत्मीयजनो मे से था। किन्तु वह बुद्ध से परोक्ष रूप मे ईर्ष्या करता था। उसने बुद्ध के जीवनकाल मे ही उनका विरोध करना, उनके उपदेशो की आलोचना करना आरम्भ कर दिया था, जो कि बुद्ध को विदित था। वह राजगृह गया और महाराज बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु से मिलकर बुद्ध के विरुद्ध षड्यत्र रचने लगा। जब बुद्ध राजगृह गये तो देवदत्त ने अपने द्वारा बनाये गये सघ के कठोर नियमो की एक तालिका बुद्ध के समक्ष स्वीकृति हेतु प्रस्तुत की, किन्तु बुद्ध ने उसे स्वीकार नही किया। उन्होने देवदत्त से कहा कि अपने द्वारा निर्मित कठोर नियमो के धारण-पालन करने के लिए वह स्वतन्त्र है। जन-सामान्य के लिए उनको अनिवार्य बनाना श्रेयस्कर न होगा। इस पर देवदत्त ने अजातशत्रु से मिलकर बुद्ध की हत्या करने का षड्यत्र रचा, किन्तु उसको कार्यान्वित करने मे विफल रहा। कुछ समय पश्चात् एकाएक देवदत्त भयकर रूप से रोगग्रस्त हुआ और उस अवस्था मे उसने अपने कुकृत्यो पर घोर पश्चात्ताप का अनुभव किया। वह बुद्ध की शरण मे जाने के लिए व्याकुल हो उठा। रुग्णावस्था मे ही पालकी पर बैठकर वह बुद्ध से मिलने के लिए चल दिया। किन्तु दैवयोग से रास्ते मे ही बुद्ध का स्मरण करते हुए उसने शरीर त्याग कर दिया। देवदत्त की इस दुखद मृत्यु से बुद्ध ने पीडा का अनुभव किया।

एक बार बुद्ध गृद्धकूट पर्वत पर ठहरे हुए थे। वहाँ उन्होने राजगिरि के कालशिला पर्वत पर कठोर तप करते हुए कुछ 'निर्ग्रन्थ' जैन साधुओ को देखा

और उनसे इस कठोर तपस्या का कारण पूछा। इसी समय अजातशत्रु वैशाली पर आक्रमण करना चाहता था। तब बुद्ध की अनुमति प्राप्त करने के लिए वहाँ गया। किन्तु बुद्ध ने अजातशत्रु को आक्रमण करने के लिए रोक दिया। देवदत्त की मृत्यु के बाद अजातशत्रु बुद्ध का भक्त बन गया था और अपने पिता बिम्बसार की भाँति बौद्धधर्म के प्रचार प्रसार मे तल्लीन हो गया था।

चार बौद्धधर्म परिषदों का आयोजन

बौद्धकालीन भारत मे आयोजित चार परिषदें, जिन्हे 'सगीति' भी कहा जाता है, वैचारिक एव आचारिक सक्रान्ति की परिचायिका हैं। धर्म के क्षेत्र मे, समाज के क्षेत्र मे, ज्ञान तथा अधिकारो के क्षेत्र मे जो पारस्परिक मतभेद उत्पन्न हो गये थे, उनके समाधान के लिए समय समय पर इन परिषदो का आयोजन हुआ था। समाज की व्यवस्था का दायित्व शासको पर था और वे शासक विद्वानो के अधीन थे। जब भी राष्ट्र मे किसी प्रकार के विवाद उत्पन्न होते थे, चाहे उनका सम्बन्ध धर्म या राजनीति अथवा ज्ञान विज्ञान से रहा हो, उनके समाधान के लिए शासक विद्वानो को आमंत्रित कर उनका अधिवेशन आयोजित करते थे। बौद्ध भारत मे इस प्रकार की विश्रुत चार परिषदो का आयोजन हुआ था। वस्तुत ये चार धर्म-परिषदें थी, जिनमे सामूहिकरूप से बौद्धधर्म के सर्वांगीण विकास पर विचार विनिमय होता रहा।

प्रथम परिषद्

बुद्ध निर्वाण के लगभग चौथे मास ही प्रथम परिषद् का आयोजन राजगृह के कुशीनगर मे हुआ था। महाराज अजातशत्रु इसके आयोजक और महा-कस्सप सभापति थे। इस परिषद् मे लगभग पाँच सौ विद्वान् भिक्षु सम्मिलित हुए थे, जिससे कि इस परिषद् को 'पचशतिका' नाम दिया गया है। बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द और उपालि इसके प्रमुख विद्वानो मे से थे। इस परिषद् का प्रमुख उद्देश्य बुद्ध के वचनो का सम्पादन तथा प्रामाणिक सकलन तैयार करना था। इसमे चार बातो का निर्णय किया गया था—१ उपालि के नेतृत्व मे विनय का निश्चय २ आनन्द के नेतृत्व मे धम्मपाठ का निश्चय, ३ आनन्द पर किये गये आक्षेपो तथा उनका समाधान और ४ चन्न को ब्रह्मदण्ड की व्यवस्था।

द्वितीय परिषद्

द्वितीय परिषद् का आयोजन बुद्ध निर्वाण के लगभग सौ वर्ष पश्चात् हुआ। इस परिषद् मे सात सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे, जिससे कि उसको

'सप्तशतिका' नाम से कहा जाता है। यह परिषद् अजातशत्रु के वंशज कालाशोक के समय वैशाली में आयोजित हुई थी और इसके सभापति आचार्य सब्बकामी और प्रधान भिक्षु अजित थे। इस परिषद् में कुछ विवादग्रस्त प्रश्नों का समाधान करना तथा प्रथम परिषद् के नियमों को पुनः संशोधित करना था। इस परिषद् में करण्डकपुत्र भदन्त यश और वज्जी के भिक्षुओं के पारस्परिक विवाद पर विचार-विनिमय हुआ और भदन्त यश के पक्ष का समर्थन करते हुए वज्जियों के आचरणों को अधर्मयुक्त घोषित किया गया।

इस परिषद् में 'विनय' तथा 'धम्म' का संशोधित पाठ निर्धारित किया गया। धम्म के संपादन और पुनः संकलन के फलस्वरूप बुद्धवाणी के तीन पिटक, पाँच निकाय, नव अंग और अड़तालीस हजार धर्मस्कन्धों का वर्गीकरण हुआ।

तृतीय परिषद्

बौद्धधर्म की तृतीय परिषद्, बुद्ध-निर्वाण के २३६ वर्ष पश्चात् सम्राट् अशोक के समय पाटलिपुत्र में आयोजित हुई थी। इस परिषद् के अध्यक्ष प्रियदर्शी अशोक के गुरु तिस्स मोग्गलिपुत्त थे। इस परिषद् में अशोक ने विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित कर उन्हें उनके सम्प्रदायों की सापेक्षता का प्रतिपादन करने का आग्रह किया था। यह अधिवेशन निरन्तर नौ मास तक चलता रहा। इस परिषद् में त्रिपिटकों का अन्तिम रूप से संकलन तैयार किया गया और 'कथावत्थुप्रकरण' का भी निराकरण हुआ।

इस परिषद् में निर्णीत विनय के नियमों के प्रचारार्थ अशोक ने अपने धर्मोपदेशक भिक्षुओं को यवन, कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिय, पितनिक, भोज, आंध्र, पुलिन्द, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पाड्य तथा सिंहल आदि प्रदेशों तथा देशों को भेजा।

चतुर्थ परिषद्

कुषाण साम्राज्य के संस्थापक सम्राट् कनिष्क के समय प्रथम शती ई० में चतुर्थ परिषद् का आयोजन हुआ। कुछ विद्वानों ने इसे जालधर (पंजाब) में किन्तु अधिकतर विद्वानों ने काश्मीर में आयोजित होना सिद्ध किया है। आचार्य पार्श्व इसके सभापति थे और इसमें पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया था। इस परिषद् में प्रथम बार पिटकों पर भाष्य लिखने का निर्णय किया गया। इसी परिषद् में संस्कृत भाषा को मान्यता प्राप्त हुई और उसे बौद्ध-न्याय तथा धर्म नियमों पर ग्रन्थों के निर्माण की अनुज्ञा दी गई। इससे पूर्व पालि ही ग्रन्थ-रचना की भाषा रही।

बौद्धधर्म की दो मुख्य शाखाएँ

बुद्ध अपने जीवनकाल मे विवादो तथा मतभेदो से सदा दूर रहे और अपने अनुयायियो को भी उन्होने तर्क वितर्क के जाल मे न उलझने के लिए निर्देश दिये। उन्होने धर्म के शाश्वत मार्ग से अलग होकर दार्शनिक मतभेदो मे विभाजित होने की कल्पना ही नही की थी। किन्तु बुद्ध के जीवन काल मे ही धर्मसघ के सम्बन्ध मे वाद-विवाद उठ खडे हुए थे। बुद्ध का भतीजा देवदत्त उनके सिद्धान्तो का प्रबल प्रतिद्वन्दी था। उपनन्द, चन्न, भेत्तिय भुम्मजक और षड्वर्गीय भिक्षु बुद्ध के जीवनकाल मे ही विनय के नियमो की कटु आलोचना करने लगे थे। देवदत्त ने अजातशत्रु से मिलकर विनय के नियमो मे सशोधन कर उन्हे स्वीकृति के लिए राजगृह मे बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत किया। किन्तु बुद्ध ने उन कठोर नियमो को मानना अस्वीकार कर दिया था। समुद्र जैसे उद्दण्ड मति के लोग भी उस समय विवाद के विषय बने हुए थे, जिन्हे जीवन की स्वच्छन्दता मे नियमो की हथकडी पसन्द न थी। जब बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया तो वह प्रसन्न ही हुआ।

जिस प्रकार आचार विचारो के मतभेदो के कारण महावीर स्वामी के निर्वाण के लगभग सौ वर्षों के बाद जैनधर्म अनेक मतो तथा पन्थो मे विभाजित हो गया था, उसी प्रकार बुद्ध के निर्वाण (४८२ ई० पूर्व) के लगभग सौ वर्ष बाद ही भिक्षुओ के एक वर्ग ने बुद्ध की शिक्षाओ तथा विचारो के विरोध मे नये मतो को प्रचलित करने का प्रचार किया। वैशाली के वज्जियो का उसमे प्रमुख योगदान रहा। महाकस्यप की अध्यक्षता मे आयोजित राजगृह की पाँच सौ भिक्षुओ की उपस्थिति मे प्रथम सगीति का जो अधिवेशन हुआ था, उसमे सम्मिलित पुराणपन्थी या गर्वापन्थी भिक्षुओ ने निर्णीत नियमो को अस्वीकार कर दिया। उन्होने, उसमे बुद्ध की वाणियो का जो सकलन किया था, उसको अप्रामाणिक एव अमौलिक घोषित कर दिया। यह सगीति आनन्द के प्रयास से आयोजित हुई थी।

सघ के प्रधान महादेव नामक विद्वान् भिक्षु ने जो नियम बनाये थे, उनका विरोध किया गया। उसके फलस्वरूप वैशाली मे दूसरा सघ आयोजित किया गया और उसमे नये नियम बनाये गये। इन मतभेदो के कारण बौद्ध भिक्षुओं मे दो वर्ग बन गये—एक कट्टर पुराणपथी और दूसरा उदार मतावलम्वी। पुराणपन्थी भिक्षुओ का वर्ग थेरवादिन् (स्थविरवादिन्) और उदार मतावलम्बी वर्ग महासघिके (महासाघिके) कहलाये। स्थविरवादी आगे चलकर हीनयानी और महासघिके महायानी कहलाये।

वैशाली में स्थविरवादियों की जो दूसरी परिषद् आयोजित हुई थी, उसके विरोध में महासाधिकों ने तीसरी परिषद् का अधिवेश बुलाया, जिसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए। इस परिषद् में संघ के नये नियमों को अन्तिम रूप दिया गया।

आगे चलकर उक्त हीनयान तथा महायान मतावलम्बियों में भी एकता स्थिर न रह सकी और ईसा की दूसरी-तीसरी शती तक हीनयानियों की ग्यारह तथा महायानियों की सात उपशाखाएँ हो गयी। इस समय के जो शिलालेख उपलब्ध होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि बौद्धधर्म की अनेक शाखाएँ प्रकाश में आ गई थी। उनके नाम थे—सर्वास्तिवादिन्, महासांघिके थेरवादिन्, चैत्यक, साम्मितीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, महाशासकीय, पूर्व-शैलीय, बहुश्रुतीय, काश्यपीय, राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुव्वसेलिय, वाजिरिय उत्तरापथ, वेतुल्य, हेतुवादिन्, एकव्याहारिक, लोकोत्तरवादिक, कक्कुटिक (गोकुलिक) और प्रज्ञप्तिवादी।

हीनयान

यद्यपि बौद्धधर्म अनेक शाखा उपशाखाओं में विभाजित होता रहा, किन्तु मूलरूप में उसकी दो प्रधान शाखाएँ ही प्रचलित रहीं। हीनयान भी प्रमुख दो शाखाओं में विभक्त हुआ—स्थविरवाद (सौत्रान्तिक) और वैभाषिक। वैशाली में सर्वास्तिवादी दार्शनिकों की चौथी बौद्ध-संगीति में भारतीय बौद्धसंघ थेरवाद (स्थविरवाद) सब्बत्थिवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंघिक (महासांघिक)—इन तीन शाखाओं में विभाजित हुआ।

स्थविरवाद बौद्धधर्म का सर्वाधिक प्राचीन सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के प्रवचनकार स्वयं बुद्ध थे। स्थविरवादी, अर्थात् वृद्ध ज्ञानी पुरुषों एवं तत्त्व-दर्शियों का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिए 'स्थविर' शब्द का प्रयोग किया गया है। बुद्ध-मन्तव्य के विषय में उन स्थविरों का मत ही अन्तिम प्रमाण है। स्थविरवादी भिक्षु विभज्यवाद के अनुयायी थे। विभज्यवाद का अर्थ है—विभाग कर, विश्लेषण कर प्रत्येक वस्तु के अच्छे अंश को अच्छा और बुरे अंश को बुरा बतलाना।

सौत्रान्तिक

हीनयान की स्थविरवादी विचारधारा को 'सौत्रान्तिक' कहा गया है। बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा मन को पवित्र करने, अच्छी बातों का संग्रह करने और पापों से अलग रहने का उपदेश दिया है। बुद्ध का कथन है कि गृहस्थ को चाहिए कि वह हिंसा, चोरी, असत्य, व्यभिचार और मादक वस्तुओं का परित्याग कर दें। उनके दस अकुशल कर्मपथ है—हिंसा,

चोरी, व्यभिचार, मिथ्याचार, निन्दा, कठोर वाणी, अहम्मन्यता (अभिमान), लोभ, असूया और असत्य दार्शनिक विचार। इन दस अकुशल कर्मों से प्रत्येक गृहस्थ को पृथक् रहने के लिए कहा है।

ध्यान के चालीस प्रकारों द्वारा समाधि प्राप्त की जा सकती है। उससे मन सतुलित तथा एकाग्र बना रहता है। ऐहिक पदार्थों की निस्सारता, अनित्यता और दुःख से मुक्ति के लिए छह चेतनाओं, बारह आयतनों से बनी अष्टादशविध धातुओं का ज्ञान आवश्यक है। इन सभी विचारों को सैद्धान्तिक रूप पाटलिपुत्र की परिषद् में दिया गया था।

सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य कुमारलात हुए और आचार्य बुद्धघोष, बुद्धदत्त तथा धम्मपाल ने इस परम्परा को अपनी गंभीर कृतियों द्वारा परिपुष्ट किया।

सौत्रान्तिकों का दार्शनिक अभिमत है कि संसार सत्य है और निर्वाण भी सत्य है। अर्थात् चित्त और बाह्य पदार्थ, दोनों सत्य हैं। यदि बाह्य पदार्थों की सत्यता को नहीं माना जाता तो बाह्य वस्तुओं की प्रतीति नहीं हो सकती है। विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए सौत्रान्तिक कहते हैं कि वस्तु और उसका ज्ञान समकालीन नहीं है। जब हम घट को देखते हैं, तो वह बाहर विद्यमान रहता है, किन्तु उसका ज्ञान हमारे अन्दर निहित है। इसलिए वस्तु का अलग स्थान है और उसके ज्ञान का अलग। जिस प्रकार बाह्य वस्तुओं की निश्चित संख्या नहीं है, उसी प्रकार उनके ज्ञान की श्रेणियाँ अनन्त हैं। सौत्रान्तिकों ने ज्ञान के चार कारण बताये हैं—आलम्बन, समनन्तर, अधिकारी और सहकारी। ज्ञान के इन्हीं चार प्रत्ययों या कारणों के आधार पर समस्त वस्तुओं को चार कोटियों में निर्धारित किया गया है।

वैभाषिक

हीनयान सम्प्रदाय की दूसरी शाखा वैभाषिक के नाम से प्रचलित है। यह मत सर्वास्तिवादी है। सम्राट् अशोक के संरक्षण और आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में पाँच सौ भिक्षुओं की बौद्ध संगीति ने आर्य कात्यायनीपुत्र विरचित 'ज्ञानप्रस्थानशास्त्र' पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम 'विभाषा' रखा गया। इसी टीका के आधार पर इस सम्प्रदाय का नामकरण 'वैभाषिक' हुआ। सम्राट् कनिष्क ने इस सम्प्रदाय को संरक्षण प्रदान किया था। आर्य कात्यायनीपुत्र बुद्ध के शिष्य माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय की समस्त ग्रन्थ-सम्पदा, संस्कृत तथा पालि में न होकर चीनी तिब्बती अनुवादों के रूप में उपलब्ध है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों में मनोरथ तथा संघभद्र का नाम प्रमुख है।

वैभाषिकों के मतानुसार प्रत्येक सांसारिक वस्तु में अनन्तसत्ता विद्यमान है। इसलिए प्रत्येक सांसारिक वस्तु सत्य है और निर्वाण भी सत्य है। प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हम तभी प्राप्त कर सकते है, जब प्रत्यक्ष उपाय से काम लें। यह ठीक है कि धुआँ को देखकर हम आग के होने का अनुमान लगा लेते हैं। यह इसलिए सम्भव है, क्योंकि धुआँ और आग के सान्निध्य का हमारा संस्कार अनादि है। इसके विपरीत यह भी सम्भावना की जा सकती है कि जिस व्यक्ति ने आग और धुआँ को कभी भी एक साथ नहीं देखा है, वह धुआँ मात्र को देखकर आग का अनुमान कैसे लगा सकता है? इसलिए यह सिद्ध होता है कि जिसने वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया है, वह कल्पना या अनुमान के आधार पर उसका स्वरूप निश्चित नहीं कर सकता है। अतः हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि वस्तु के प्रत्यक्ष हुए बिना उसका ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः वैभाषिक मत प्रत्यक्षवादी है।

महायान

महासांघिकों ने ही महायान-सम्प्रदाय को जन्म दिया। महासांघिक भिक्षुओं ने विनय के नियमों को सुसम्बद्ध करके बौद्धधर्म की लोकप्रियता को बढ़ाया। उन्होंने धर्म तथा संघ के तीन नये आदर्शों को स्थापित किया, नये सूत्रों का निर्माण किया और प्रथम संगीति में निर्णीत सूत्रों के साथ उनको योजित किया। इस प्रकार सूत्रपाठों का पाठ निश्चित किया। थेरवाद से अलग करने के लिए महासांघिकों ने अपने सूत्रपाठों के नये संकलन को 'आचारिकवाद' नाम से प्रचलित किया।

महासांघिकों का एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'महावस्तु-अवदान' है। अन्य ग्रंथ तिब्बती-चीनी अनुवादों के रूप में मिलते हैं। यद्यपि इस सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ हुई, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से दो प्रमुख हैं, जिनके नाम हैं योगाचार और माध्यमिक।

योगाचार

महायान-सम्प्रदाय की एक शाखा योगाचार नाम से प्रसिद्ध हुई। उसके संस्थापक आर्य मैत्रेय या आचार्य मैत्रेयनाथ (३०० ई०) थे। इस शाखा के अनुयायी ग्रन्थकारों में असंग, वसुबन्धु, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील आदि का नाम उल्लेखनीय है। असंग ने इस शाखा को 'योगाचार' नाम दिया और वसुबन्धु ने 'विज्ञानवाद'।

योग द्वारा बोधि (ज्ञान) प्राप्त करने के कारण इस सम्प्रदाय को 'योगाचार' नाम से कहा गया। योगाचार नाम के विचारकों ने दर्शन के

व्यावहारिक पक्ष की व्याख्या की, जबकि विज्ञानवाद नाम के अनुयायियों ने इसके वैचारिक पक्ष की व्याख्या की।

योगाचार मत के सैद्धान्तिक या वैचारिक दृष्टिकोण को 'विज्ञानवाद' कहा जाता है। विज्ञानवाद के अनुसार, प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब का आनुमानिक ज्ञान असत्य एवं मिथ्या है। चित्त ही एकमात्र सत्ता है, जिसके अभाव को हम जगत् के नाम से कहते हैं। चित्त ही विज्ञान है।

चित्त की सत्ता को सर्वोपरि मानने के कारण विज्ञानवादी आचार्यों का कहना है कि शरीर तथा जितने भी अन्य पदार्थ हैं, वे सभी हमारे चित या मन के भीतर विद्यमान हैं। जिस प्रकार हम स्वप्न तथा मतिभ्रम के कारण वस्तुओं को बाह्य समझ बैठते हैं, उसी प्रकार मन की साधारण अवस्था में हमें जो पदार्थ बाहरी प्रतीत होते हैं, वे वास्तव में वैसे नहीं हैं। दृष्टिविकार के कारण हम वस्तुओं को बाह्य समझ बैठते हैं। उदाहरण के रूप में यदि भ्रमवश हम एक चन्द्रमा को दो देखते हैं, तो वह हमारे वस्तुज्ञान की न्यूनता है। जो वस्तु बाह्य प्रतीत होती है, वह मन के विकार के कारण है, यथार्थ में वह वैसी नहीं है। इसलिए ज्ञान से वस्तु को भिन्न मानने का कोई कारण नहीं है। इस मत के अनुसार संसार असत्य और निर्वाण सत्य है।

माध्यमिक

महायान सम्प्रदाय की दूसरी शाखा माध्यमिक है। भगवान् तथागत ने बाराणसी में जो प्रथम धर्मोपदेश दिया था, वह मध्यममार्ग से सम्बन्धित था, जिसके आधार पर आगे चलकर माध्यमिक मत का प्रवर्तन हुआ। इस सम्प्रदाय की स्थापना यद्यपि नागार्जुन से पहले हो चुकी थी, किन्तु उसको सैद्धान्तिक रूप देकर स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य आचार्य नागार्जुन (२०० ई०) ने किया। नागार्जुन का 'प्रज्ञापारमिता-सूत्र' या 'माध्यमिककारिका' इस सम्प्रदाय का प्रौढ़ ग्रन्थ है। नागार्जुन के बाद आर्यदेव, बुद्धपालित, भावविवेक, चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव आदि विद्वानों ने मौलिक कृतियों तथा भाष्यों का निर्माण कर इस मत को परिपुष्ट किया। बुद्धपालित ने माध्यमिक मत की 'प्रासंगिक' और भावविवेक ने 'स्वातन्त्र', दो उपशाखाओं की स्थापना की। चीन, तिब्बत और जापान आदि में माध्यमिक मत का पूर्ण विकास हुआ।

माध्यमिक मत का दार्शनिक सिद्धान्त 'शून्यवाद' के नाम से कहा जाता है। शून्यवाद के अनुसार चित्त अस्वतन्त्र पदार्थ है, उसी प्रकार विज्ञान भी क्षणिक है। 'शून्य' ही परमार्थ है। जगत् की सत्ता व्यावहारिक और शून्य की सत्ता पारमार्थिक है, जो कि अन्तिम सत्य है। 'निर्वाण' भाव तथा

अभाव से पृथक् एक अनिर्वचनीय तत्त्व है। नागार्जुन ने 'शून्यवाद' की 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के नाम से व्याख्या की है।

महायान की लोकप्रियता

बौद्धधर्म नैतिक नियमो पर आधारित धर्म है। उसमे ईश्वर का कोई स्थान नहीं है और न ही ईश्वर को मनुष्य का भाग्यविधाता माना गया है। बुद्ध ने कर्म द्वारा मुक्ति (निर्वाण) प्राप्त करने का सहज मार्ग बताया है। किन्तु बुद्ध-निर्वाण के तीन-चार सौ वर्ष बाद महायानी बौद्धो ने बुद्ध को मनुष्य के भाग्य का शासक और वरदान देनेवाला बताया। बौद्धधर्म भक्ति पर आधारित धर्म बन गया और मुक्ति भक्ति एव भावनामय प्रार्थना पर आधारित हो गई। महायान के इस ईश्वरवादी दृष्टिकोण ने ब्राह्मण-परम्परा के धर्म-सम्प्रदायो को भी प्रभावित किया। इससे महायान की लोकप्रियता को बल मिला। महायान के अनुयायी बोधिसत्त्वो की स्वार्जित पुण्यकर्मो को परार्पित करने की यह उदार भावना वस्तुतः परम्परागत वासुदेव भक्ति के आत्मसमर्पण की भावना से प्रभावित हुई। उधर पौराणिक धर्म ने बुद्ध को अवतारो की श्रेणी मे परिगणित कर उन्हे देवत्व का स्थान दिया गया और विष्णु के नारायण, कृष्ण तथा राम के अवतारो की भाँति पूजा गया। वैदिक धर्म और बौद्धधर्म मे एकता स्थापित करने का यह लोकप्रिय प्रयास महायानी बौद्धो की देन है। बौद्धधर्म की इस लोकप्रियता का प्रसार चीन, तिब्बत जापान तथा एशिया के विभिन्न देशो मे हुआ।

बौद्धधर्म और ब्राह्मण-धर्म

परम्परागत वैदिक धर्म, उत्तर वैदिक युग मे कर्मकाण्ड की जटिल क्रिया-पद्धतियो से समावृत्त होकर एक वर्ग विशेष का धर्म बन गया था और उसी के विरोध मे जैन-बौद्ध धर्मों का उदय हुआ। फिर भी हिन्दुत्व (भारतीयता) की जिस उदात्त परम्पराओं एव सनातन मान्यताओ की रक्षा तथा उनके सवर्द्धन और विकास के लिए जिस प्रकार वैदिक एव पौराणिक परम्परा के विभिन्न धर्म-सम्प्रदायो का योगदान रहा है, ठीक उसी प्रकार जैन तथा बौद्ध धर्मों का भी योगदान रहा। इस रूप मे भारत-मूल के जितने भी धर्म-सम्प्रदायों का उदय हुआ, उन सबका एक ही उद्देश्य या लक्ष्य रहा—हिन्दुत्व या भारतीयता की उन्नत परम्पराओ एव आस्थाओ को परिपुष्ट तथा सवर्द्धित करना।

बृहत्तर वैदिक भारत मे आर्य तथा आर्येत्तर जातियो के समन्वित आचार-विचारो के समन्वय से जिन सार्वभौम एव व्यापक हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा हुई

थी, ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म और बौद्धधर्म आदि जितनी भी धर्म शाखाओं का समय-समय पर उदय हुआ, वे सब उसी मूल सार्वभौम धर्म के अंग थे। जिस प्रकार जैन और बौद्ध धर्मों के अनुयायी ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतर जातियो के लोग रहते आये हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण धर्म के विकास में भी समाज के सभी जाति-वर्गों के लोगों का समान योगदान रहा है।

उत्तर वैदिक युग मे जिस वर्णाश्रम व्यवस्था का उदय हुआ, वह कर्म पर आधारित न होकर जन्म पर आधारित थी। सामाजिक व्यवस्था का एकाधिकार या स्वामित्व एक वर्गविशेष में केन्द्रित हो गया था। समस्त सामाजिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का सार्वभौम स्वरूप अवरुद्ध हो गया था। इस अवरोध तथा एकाधिकार का विखण्डन कर बुद्ध ने राष्ट्र में सामाजिक सामजस्य की स्थापना की। 'भगवद्गीता' (९।२१) मे वैदिक यज्ञों की विनश्वरता का उपनिषदो में भी समर्थन किया गया। साख्यदर्शन में (साख्यकारिका, कारिका २) मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वैदिक यज्ञ पशुहिंसा के कारण अपवित्र हैं, वे विनाशयुक्त हैं और उनमे वर्णगत भेद भाव है। 'भगवद्गीता' (२।५७, १।२६-२७) में स्पष्ट कहा गया है कि यदि कर्म भक्ति तथा वैराग्य की भावना से किये जायें, तो वे अनुकूल फलदायी होते हैं।

बुद्ध ने वैदिक यज्ञो मे विहित पुण्यो मे दान को श्रेष्ठतर यज्ञ कहा है। धर्म तथा सघ के शरणागत हो जाना और नियमित होकर शिक्षा-पदो का पालन करना ही श्रेष्ठ यज्ञ है (थामस लाइफ ऑफ बुद्धा, पृ० १७६)। दान करने से पुण्यलोक की प्राप्ति होती है। ऐसा दान द्वेष-मुक्त और प्रसन्नचित्त होकर किया जाना चाहिए (अगुत्तर० ३।३३७)। बौद्धधर्म मे जो सत्य, अहिंसा, अस्तेय तथा सर्वभूतानुकम्पा के नीति नियम एव आचार धर्म हैं, उनका आधार धर्मसूत्र तथा स्मृतियाँ हैं। इस दृष्टि से 'मनुस्मृति' तथा 'धम्मपद', दोनो मे एकसमानता देखने को मिलती है (मैनुअल ऑफ बुद्धिज्म, पृ० ६८)।

यद्यपि जीवन तथा जगत् के प्रति वैराग्य एव निरपेक्षता का प्रतिपादन उपनिषदो मे हो चुका था। किन्तु उनको व्यावहारिक रूप मे लोक प्रचारित करने का प्रयास बुद्ध की शिक्षाओ से हुआ। बुद्ध ने समाज के समक्ष वैराग्य के दृष्टिकोण को बडे सरल ढग से प्रस्तुत किया। उन्होने बताया कि जीवन का वास्तविक सुख जीवित रहकर सासारिक उपभोगो मे नहीं, अपितु मरणोपरान्त पुन जीवन धारण न करने मे है। बुद्ध का यह निवृत्तिवादी दृष्टिकोण था, जिसने ब्राह्मण धर्म-शाखाओ तथा दर्शनकारो को प्रभावित किया।

बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया, उसमे आचार की श्रेष्ठता थी। उन्होने बताया कि मनुष्य इसलिए इतनी वेदनाओ दुःखों तथा पीड़ाओ से सतप्त एव

आक्रान्त है, क्योंकि वह आचारों का पालन नहीं करता। कर्मों के अभ्यास से आचारों के सम्पादन में अभ्यास होता है और आचारनिष्ठ जीवन में निर्मलता तथा शान्ति का आधान होता है।

बुद्ध ने उपनिषदों (ईश ६) के 'सर्वभूतहिते रत' की भावना को प्राणिमात्र की दया भावना के रूप में अपनाया। 'भगवद्गीता' में 'स्थितप्रज्ञ' का जो स्वरूप है वही स्वरूप बौद्धधर्म में 'निर्वाण' का है।

इस प्रकार कर्मों के सम्पादन और आचारों के प्रतिपालन की दृष्टि से बौद्धधर्म तथा ब्राह्मण-धर्म की मूल मान्यताओं में पूर्ण सामंजस्य है और इस दृष्टि से दोनों धर्मों की मूल प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से प्रभावित हैं।

सिद्धान्त-निरूपण

चार आर्य सत्य

तथागत बुद्ध ने चार आर्य (सनातन) सत्यों के अन्तर्गत जगत् के मूल में जो महान् अभाव दुःख है, उसको भली भाँति समझाया है। उसको बुद्ध ने संसार की अशान्ति तथा उत्पीडन का मूल कारण बताया है। बुद्ध ने दुःख, दुःख का कारण, दुःख का अन्त और दुःख के अन्त का उपाय—इन चार आर्यसत्यों की विस्तार से व्याख्या की है। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित दुःख और दुःख-क्षय के सिद्धान्त को समस्त भारतीय दर्शनों में अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित किया गया है।

१. दुःख का स्वरूप

मानवमात्र की सुख-शान्ति के लिए भगवान् बुद्ध ने जिस सरल उपाय को खोज निकाला था, उसकी प्रेरणा उन्हें 'दुःख' से मिली थी। जरा, मरण, शोक और रोग की विभीषिकाओं के कारण उन्होंने गृह-त्याग किया था। बोधि प्राप्त करने के बाद सबसे पहले उन्होंने इन्हीं विभीषिकाओं पर विचार किया। दुःख-सत्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—'यह जन्म भी दुःख है, यह बुढ़ापा भी दुःख है, मरण, शोक, रुदन, अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग और इच्छित वस्तु की अप्राप्ति—ये सभी दुःख हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँचों उपादान स्कन्धों को उन्होंने 'दुःख' कहा है।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारों महाभूत ही 'रूप' हैं। वस्तुओं से हमारा सम्बन्ध स्थापित होकर उनके कारण जब हम सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, उस स्थिति का नाम 'वेदना' है। पूर्व संस्कारों के कारण हमारे हृदय में जो 'यह वही वस्तु है' ऐसा भावोदय होता है, उसी को 'संज्ञा' कहते हैं। रूपों तथा संज्ञाओं की जो छाया तथा स्मृति हमारे मस्तिष्क में बनी

रहती है और जिनकी सहायता से हम किसी वस्तु को पहचानते हैं, उसी का नाम 'संस्कार' है। चेतना या मन को 'विज्ञान' कहते हैं।

ये पाँच 'उपादान स्कन्ध' हैं जो तृष्णा का स्वरूप धारण करके दुःख का कारण बनते हैं।

२. दुःख का कारण

दुःख समुदय (हेतु) दूसरा आर्यसत्य कहा गया है। जिन पाँच उपादान स्कन्धों का ऊपर उल्लेख किया गया है वे ही दुःख के कारण हैं। दुःख को यद्यपि सभी दार्शनिक मानते हैं किन्तु उनके कारणों के सम्बन्ध में मत-मतान्तर है। दुःख का प्रबल कारण तृष्णा है। भोग की तृष्णा, भव की तृष्णा और विभव की तृष्णा—ये अनेक रूप तृष्णा के हैं। इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उनकी स्मृति तृष्णा को जन्म देती है। इसी 'तृष्णा' के लिए पारस्परिक द्वन्द्व तथा संघर्ष होते हैं।

बुद्ध ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त में बतलाया है कि द्वादश निदान दुःख के मूल कारण हैं। वे त्रिकालजीवी हैं और उनकी शृंखला ऐसी बनी है, जो निरन्तर उत्पन्न होती रहती हैं। इस शृंखला को 'भवचक्र' कहा गया है।

३ दुःख का अन्त

ऊपर दुःख का कारण जिस तृष्णा का उल्लेख किया गया है, उसी के निरोध से ही दुःख का अन्त बताया गया है। इस तृष्णा का परित्याग तथा विनाश तब होता है, जब कि मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाले विषयों से विमोह हो जाता है। विषयों की ओर से जब मन विमुख हो जाता है, तब भव (लोक) का निरोध होता है। भव के निरोध से पुनर्जन्म की आशंकाएँ मिट जाती है, और जब जन्म-मरण पर नियन्त्रण पाया जाता है, तब शोक, विषण्णता, दुःख, तथा कष्ट आदि सब भयों का नाश हो जाता है, अर्थात् इन सब का उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी को 'दुःखों का अन्त' कहा गया है। यह दुःख निरोध समस्त बौद्ध-दर्शन और तथागत के उपदेशों का सार है। इस दुःख निरोध की अवस्था को प्राप्त करके मनुष्य जीवितावस्था में ही निर्वाण का सुख प्राप्त कर सकता है।

४ दुःखों के अन्त का उपाय

दुःख क्या है, वह क्यों होता है और उसके अन्त कर देने से क्या लाभ है—बुद्ध के इन तीन आर्यसत्यों के अनन्तर चौथा आर्यसत्य है—दुःखों के अन्त करने का उपाय। जिन कारणों से दुःख का उदय होता है, उनके नष्ट

करने के उपायों को ही निर्वाण-मार्ग कहा गया है। इस दुःखनिरोध के उपायों या *निर्वाण-मार्ग* को *'अष्टांगिक'* कहा गया है। गृहस्थ हो या सन्यासी, इन आठ मार्गों पर चल कर अपना अभ्युदय कर सकता है। इन आठ मार्गों के नाम हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् *जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।*

अनात्मवाद

तथागत बुद्ध अनात्मवादी विचारक थे। बुद्ध के मतानुसार इस दृश्यमान जगत् की सभी वस्तुएं विनाशशील, अतएव अनित्य हैं। उनमे एक क्षण के लिए भी स्थिरता नही है। इसलिए जीव के भीतर कोई भी वस्तु ऐसी नही है, जिसको आत्मा कहा जा सके। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान—इन पाँचो का सघात ही यह जीवन (शरीर) है। जगत् की ये सार-स्वरूप पाँचो *मेरु* वस्तुएँ *अनित्य हैं,* और अनित्य होने के कारण दुःखप्रद हैं। यदि वे दुःखप्रद हैं तो उनके सम्बन्ध मे यह सोचना है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरी आत्मा है', सर्वथा अयुक्त है।

बुद्ध की मान्यता है कि इस क्षणभगुर ससार मे निर्वाण को छोडकर सभी वस्तुएँ विनाशशील तथा परिवर्तनशील हैं। हमारी यह काया ही जब विनाशशील है, तो आत्मा जैसी स्थिर वस्तु उसमे रह ही कैसे सकती है? जन्म मरण के सम्बन्ध मे जब किसी ने बुद्ध से प्रश्न किया, तो उस जिज्ञासु को बुद्ध ने समझाया कि *'शरीर ही आत्मा है'*—ऐसा मानना एक अन्त है और 'शरीर से भिन्न आत्मा है'—ऐसा मानना दूसरा अन्त है। मैं इन दोनो को छोडकर मध्यमार्ग का उपदेश देता हूँ।'

बुद्ध को केवल 'शरीरात्मवाद' ही अमान्य नही, अपितु सर्वान्तर्यामी, नित्य, ध्रुव तथा शाश्वत ऐसा अनात्मवाद भी उन्हें अमान्य है। उनके मत से न तो आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा शरीर से अत्यन्त अभिन्न है। ससार में सुख, दुःख, कर्म, जन्म, मरण, बन्ध, मोक्ष आदि सब हैं, किन्तु इन सबका कोई स्थिर आधार नही पाया है। ये अवस्थाएँ एक नई अवस्था को उत्पन्न कर फिर नष्ट हो जाती हैं। पूर्व का न तो सर्वथा उच्छेद होता है और न वह नित्य ही है। इसलिए 'आत्मा' नाम से कोई स्थिर, नित्य एव शाश्वत वस्तु नही है।

पुनर्जन्म

बुद्ध अनात्मवादी थे, किन्तु पुनर्जन्म को मानते थे। बुद्ध का कथन है कि जीव का इससे पहले कोई जन्म अवश्य था, जिसके कारण वह अनादि

काल से अज्ञान (अविद्या) के अन्धकार में पड़ा हुआ है। ये जन्मांतर के बुरे कर्म ही 'संस्कार' हैं। उन कर्मों को भोगने के लिए मनुष्य इस जन्म मे आया इसका रहस्य 'विज्ञान' बताता है। जन्म धारण करने के बाद मनुष्य को नाना 'नामरूप' अर्थात् भौतिक तथा मानसिक स्वरूप मिला। उनके बाद उसमे छ इन्द्रियो का समावेश हुआ और तब उसको 'षडायतन' कहा गया। इन्द्रियो के प्राप्त हो जाने के बाद जीव म बाह्य जगत् के 'स्पर्श' का आधान हुआ, जिसके फलस्वरूप उसको 'वेदना' का अनुभव हुआ। इन्द्रिय तथा विषयो का संयोग होने पर उसमे 'तृष्णा' का आविर्भाव हुआ, जिससे उसकी सुखप्रद वस्तुओं के प्रति अभिरुचि हुई। इसी अभिरुचि को 'उपादान' (ग्रहण करना) या आसक्ति कहा जाता है। इस प्रकार वह 'भव' (ससार) के अच्छे-बुरे कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ। इन कर्मों के परिणाम-स्वरूप उसको दूसरे जन्म (जाति) मे लिप्त होना पडा, जिसका कारण मृत्यु, अर्थात् जरा-मरण है।

इस दृष्टि से पूर्वजन्म का सम्बन्ध भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालो से हैं। यह 'भवचक्र' मनोवैज्ञानिक है। किन्तु बुद्ध का कहना है कि मनुष्य या जीव जब तक इस 'भवचक्र' मे घूमता रहता है तब तक उसका यह अज्ञान नष्ट नही होता है, जो कि तृष्णा का कारण है। इस प्रकार बुद्ध ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और उससे मुक्ति पाने के लिए अविद्या से लेकर जरा मरण के बारह कारणो की शृंखला को विच्छिन्न करने के लिए ज्ञान को एकमात्र साधन बताया है।

जीव का वर्तमान जीवन, उसके पूर्ववर्ती जीवन के कर्मों का परिणाम है। और उसके वर्तमान जीवन के कर्म उसके भावी जीवन का फल निर्धारित करते हैं। यह कर्मफल जीव के चरित्र के अनुसार मिलता है। जैसा कर्म जो करेगा, वैसा ही फल उसको मिलेगा। किन्तु यह समझना भूल है कि जीव कर्मों के अधीन है। वह कर्मों से नहीं बँधा है। उसके वर्तमान चरित्र पर निर्भर है कि वह अपना भविष्य पापमय बनाये या पुण्यमय। कर्मों को करने के लिए मनुष्य धार्मिक जीवन बिताता है। दु खो से छुटकारा पाने के लिए वह अच्छे कर्म करता है। 'भवचक्र' के अनुसार कारण कार्य तथा कर्म-कर्मफल की शृंखला अटूट रूप से बनी रहती है। जन्म और मरण उसी के फल हैं। इस भवचक्र' से, आध्यात्मिक जीवन बिताते हुए पूर्व कर्मों का नाश और पर कर्मों का सचय करके मुक्ति पाई जा सकती है।

जन्म मरण का आत्यन्तिक अभाव ही मुक्ति या निर्वाण है। निर्वाण ज्ञान की अन्तिम अवस्था है। उससे पूर्व कर्मों की शृंखला अज्ञान और

वासनाओं का कारण है। निर्वाण के बाद वह (शृंखला) विच्छिन्न हो जाती है।

इस प्रकार बुद्ध ने पुनर्जन्म का कारण कर्मों की शृंखला बताई है और सत्कर्मों के द्वारा पुण्यों का संचय करने के उपरान्त ज्ञान का उदय होता है और तब वह भवबन्ध से मुक्त होकर 'निर्वाण' की सदाशय अवस्था को प्राप्त करता है।

निर्वाण और उसका स्वरूप

बौद्धधर्म दर्शन में निर्वाण का सिद्धान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म के अनुसार मोक्ष ही निर्वाण है। निर्वाण, अर्थात् जीव के मर जाने के बाद क्या होता है, इस सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा है कि जो व्यक्ति अनात्मवाद को जान लेता है, उसके लिए निर्वाण की अवस्था का जानना शेष नहीं रह जाता है। इस सम्बन्ध में अधिक कहना उन्होंने वैसे ही व्यर्थ समझा, जैसे कि अज्ञानी बालक के सामने रहस्यात्मक गूढ बातों की व्याख्या करके उसे चौंका दिया जाये। इसको उन्होंने 'अव्याकृत' (अकथनीय) कहा है। लोक, अनित्य, जीव, शरीर, पुनर्जन्म और निर्वाण के सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा कि उन्हें बताने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने स्पष्ट किया कि 'मैं इन दस अव्याकृतों (अकथनीयों) के सम्बन्ध में कुछ कहना इसलिए उपयुक्त नहीं समझता हूँ, क्योंकि न तो ये ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त हैं और न वैराग्य, न शान्ति तथा न निर्वाण के लिए ही।'

बुद्ध की विचारदृष्टि में 'सर्वथा बुझ जाने' की अवस्था ही निर्वाण है। विच्छिन्न प्रवाह के रूप में उत्पन्न नाम रूप तृष्णा के वशीभूत होकर जो एक जीवन का रूप धारण कर सतत गतिशील है, इसी गति या प्रवाह का सर्वथा विच्छेद हो जाना ही निर्वाण है। दीपक में डाले गये तेल के समाप्त हो जाने पर जैसे दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार काम, भोग, पुनर्जन्म और आत्मा के नित्यत्व आदि आस्रवों के क्षीण हो जाने पर आवागमन नष्ट हो जाता है। बुद्ध ने उस अवस्था को निर्वाण की अवस्था कहा है, जहाँ तृष्णा नष्ट हो जाती है और भोगादि आस्रवों का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है।

भोगादि आस्रवों के सम्बन्ध में बुद्ध ने कहा है—'जिनके पापों का संचय नहीं रहा, या जिनका भोजन मात्र परिग्रह शेष रह गया है, तथा आस्रव क्षीण हो गये हैं, उन्हें यह शून्यात्मक या अनिमित्तक मोक्ष गोचर के समान है, (धम्मपद, गाथा ९२-९३)। 'जो पापकर्मी मनुष्ययोनि या पशुयोनि में उत्पन्न होते हैं। कोई नरक और कोई सुमति से स्वर्ग को जाते हैं। किन्तु जिनमें आस्रव नहीं रहा वे परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। अन्तरिक्ष, समुद्र,

पर्वतशिखर आदि ससार भर मे कोई ऐसा स्थान नही, जहाँ जाकर पापी कर्मफल पाने से छूट सके' (धम्मपद, गाथा १२६-२७)।

राग, द्वेष, घृणा और कर्म—ये सब बन्धन के बीज हैं। इन्ही से पूर्वजन्म परजन्म का चक्र चलता है। किन्तु बीज का निरोध कर देने से वह अकुरित तथा पल्लवित नही हो पाता। जैसे भूँजे हुए बीज को धरती मे बोने से वह उग नही पाता, उसी प्रकार कर्म-बन्धनो के बीजो को निरुद्ध कर देने से वे फिर फलते नही है।

निर्वाण का आशय जीवन की समाप्ति नही है, अपितु वह जीवन की अनन्त शान्ति की अवस्था है। निर्वाण का आशय है मृत्यु के बाद सर्वथा अस्तित्वरहित हो जाना। निर्वाण से जो 'बुझने' का अर्थ लिया जाता है, उसका आशय जीवन का अन्त न होकर लोभ, घृणा तथा हिंसा आदि प्रवृत्तियो का बुझ जाना है। जब वासनाएँ बुझ जाती हैं, तो भूत जीवन, वर्तमान जीवन और भावी जीवन के जो द्वादश 'भवचक्र' हैं, उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। जीवन मे इन आसवो (नशो) का ठण्डा पड जाना ही निर्वाण है। इसलिए निर्वाण को 'शितिभाव की अवस्था' कहा गया है। जीवन की यह पवित्रता, शान्ति, शिवत्व और प्रज्ञा की अवस्था है।

निर्वाण वस्तुत नि श्रेयस, मुक्ति, अमृत, परमानन्द और परमशान्ति की अन्तिम अवस्था है। वह वर्णनातीत है। वह तर्क और प्रमाण से रहित अकथनीय एव अलौकिकावस्था है। उस अवस्था तक पहुँचने के लिए बौद्ध दर्शन मे आठ मार्ग (अष्टागिक) बताये गये हैं। बौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'धम्मपद' (गाथा १२८) मे कहा गया है कि 'स्वास्थ्य की प्राप्ति का बडा लाभ है, सन्तोष ही सबसे बडा धन है, विश्वास ही सबसे बडा सम्बन्धी है, और निर्माण ही परम सुख है।'

आरोग्या परमा लाभा सतुट्ठि परम धन।
विस्साम परमा जाति निब्बाण परम सुख॥

निर्वाण की अवस्था के सम्बन्ध मे बुद्ध ने कई तरह से कहा है। जन्म-मरण की परम दु खदायी व्याधि से मुक्ति पाने के लिए बुद्ध ने कहा है—'मै अनेक जन्मो रूप ससार मे लगातार दौडता रहा, और उस गृहकारक शरीर के निर्माता को ढूँढता रहा, क्योकि यह बार-बार का जन्म-मरण दु खदायी है। रे गृहकारक, अब मैंने तुझे देख लिया है। अब तू पुन घर न बना पायेगा। मैंने तेरी सब कडियो को भग्न कर डाला है। गृहकूट बिखर गया है, चित्त सस्काररहित हो गया है और मेरी तृष्णा क्षीण हो गई है' (धम्म-पद, गाथा १५३-५४)। यही अवस्था निर्वाण की है।

साहित्य निर्माण

बौद्ध साहित्य की सम्पदा बहुत समृद्ध एवं सर्वांगीण है। उसकी विपुल ग्रन्थ सामग्री को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। उसके प्राचीनतम ग्रन्थ पालि भाषा में लिखे गये। उसके अतिरिक्त दूसरे विभाग के अन्तर्गत उन ग्रन्थों को रखा जा सकता है, जिनका निर्माण संस्कृत में हुआ। तीसरे प्रकार की ग्रन्थ-सम्पदा वह है, जो कि तिब्बती, चीनी तथा सिंहली भाषाओं में सुरक्षित है। बहुधा अनुवादों के रूप में उपलब्ध हैं और वस्तुतः बहुसंख्यक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ऐसे हैं जो अपनी मूल भाषा पालि तथा संस्कृत में प्राप्त न होकर अनुवादों के रूप में या तिब्बती, चीनी, सिंहली आदि लिपियों के रूपान्तरों के रूप में प्राप्त हुई है। उसके प्राचीनतम एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ त्रिपिटक हैं, जो कि पालि में उल्लिखित हैं।

त्रिपिटक

तथागत बुद्ध के बुद्धत्व (ज्ञान) प्राप्त करने से लेकर निर्वाण प्राप्त करने तक, उन्होंने जो कुछ भी कहा उसका संग्रह-संकलन त्रिपिटकों में है। त्रिपिटकों में है। त्रिपिटक, अर्थात् बौद्ध ज्ञान-सम्पदा की तीन पिटारियाँ। बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करने के उपरान्त उनके शिष्यों तथा अनुयायी भिक्षुओं ने समय-समय पर बृहद् परिषदों का आयोजन कर उनका संग्रह-संकलन-सम्पादन कर प्रामाणिक पाठ निर्धारित किया। त्रिपिटक वस्तुतः अनुश्रुति ग्रन्थ हैं और बहुत समय तक वे श्रुतजीवी रहकर लिपिबद्ध हुए। इन त्रिपिटकों के नाम हैं—सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक। 'सुत्तपिटक' में अनुशासन (नियम-आचार) विषयक उपदेश संकलित हैं, 'विनयपटिक' में उपदेशात्मक वाणियों का संग्रह है और 'अभिधम्मपिटक' में अध्यात्म तथा नीतियों का संकलन है। राजगृह वैशाली और पाटलिपुत्र की विद्वत्परिषदों में इनको अन्तिम रूप दिया गया। ३०० ई० पूर्व से लेकर प्रथम शती ई० पूर्व तक इस त्रिपिटक साहित्य का पाठ निर्धारित होता रहा। इन त्रिपिटकों के अन्तर्गत ३४ विभिन्न ग्रन्थ संगृहीत हैं। 'सुत्तपिटक' के अन्तर्गत 'थेरगाथा' 'थेरीगाथा' और 'जातकों' का विशेष स्थान है।

अनुपिटक

पिटकों के पश्चात् पालिभाषा में लिखे गये ग्रन्थों को अनुपिटक कहा जाता है। इस अनुपिटक साहित्य के अन्तर्गत 'नेत्तिप्रकरण', 'पेटकोपदेश' 'सुत्तसंग्रह', 'मिलिन्दपन्ह', 'विसुद्धिमग्ग', 'अट्ठकथाएँ' और 'अभिधम्मत्थसंग्रह' का नाम

उल्लेखनीय है। 'मिलिन्दपञ्ह' (मिलिन्दप्रश्न) का विशेष स्थान है। नागसेन ने उसको सकलित किया था। त्रिपिटको के बाद उसका स्थान है।

वंशग्रन्थ

इनके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य के वशग्रन्थो का नाम उल्लेखनीय है, जो कि सख्या में १२ हैं। ये वशग्रन्थ वस्तुत महापुराणो की कोटि के है। ये भी पालि मे उल्लिखित है। इनमे 'दीपवश' 'महावश' और 'थूपवश' का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इनमे ऐतिहासिक तथा धार्मिक कथाएँ सकलित हैं और उनकी रचना शैली तथा विषय-प्रतिपादन महापुराणो जैसा है।

पुराण

यद्यपि बौद्ध साहित्य मे पुराणो का कोई अलग विभाजन नही हुआ है, तथापि जातक ही ऐसे ग्रन्थ है, जिनमे बुद्ध के पूर्वजन्मो के वृत्तान्त दिये गये हैं। उनकी उपकथाओ मे दशरथ, राम तथा कृष्ण की जीवन घटनाएँ भी वर्णित हैं। किन्तु नेपाली बौद्ध साहित्य मे 'नवधर्म' के नाम से नौ पुराणो का उल्लेख हुआ है। उनके नाम है—'प्रज्ञापारमिता', 'गण्डव्यूह', 'समाधिराज', 'लकावतार', 'तथागतगुह्यक', 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'ललितविस्तर' 'सद्धर्मप्रभा' और 'दशभूमीश्वर'। इनके अतिरिक्त 'बृहत्स्वयम्भुपुराण' और 'मध्यम-स्वयम्भुपुराण' नामक दो पुराण भी हैं।

पुराणो के नाम से कहे जाने वाले उक्त 'नवधर्म' ग्रन्थो मे ब्राह्मण पुराणो की भाँति कथाएँ तथा उपाख्यान आदि सम्मिलित नही हैं। किन्तु परम्परा से उनको पुराण ही कहा जाता है।

अन्यान्य ग्रन्थ

पालि भाषा मे उल्लिखित प्राचीन ग्रन्थो मे काव्यो का उल्लेखनीय स्थान है। इस प्रकार वर्णनात्मक पालि काव्यो मे कस्सप का 'अनागतवश', भिक्षु कल्याणप्रिय की 'तेलकटाहगाथा' तथा मेधकर का 'जिनचरित' प्रमुख है। इसी प्रकार आख्यानात्मक काव्यो मे स्थविर रट्ठपाल तथा स्थविर वैदेह की 'रसवाहिनी', शीलवश का 'बुद्धालकार' और सकलित कृतियो मे 'सहस्सवत्थुप्पकरण' तथा 'राजाधिराजविलासिनी' मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं।

पालि भाषा मे व्याकरण ग्रन्थो की लम्बी परम्परा है। उसमे 'कच्चायन व्याकरण', 'मोग्गलान व्याकरण', 'सद्दनीति व्याकरण', और 'कच्चवाचक' आदि बहुसख्यक ग्रन्थो का नाम लिया जा सकता है। श्रीलका और बरमा की बौद्ध परम्परा मे विपुल व्याकरण-ग्रन्थो का निर्माण हुआ। इसी प्रकार

'अभिधानप्पदीपिका' कोश-ग्रन्थ और 'वृत्तोदय' नामक छन्द-ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत के ग्रन्थकार

बौद्ध साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत भाषा में विभिन्न विषयों पर उच्चकोटि की कृतियों का निर्माण हुआ। वस्तुतः बौद्ध साहित्य का व्यापक विस्तार और तत्कालीन ब्राह्मण, जैन आदि प्रतियोगी धर्म-दर्शनों की समकक्षता में बौद्धधर्म तथा दर्शन का सर्वांगीण विवेचन संस्कृत के ग्रन्थकारों ने ही किया। जिस प्रकार बौद्धधर्म की स्थविरवादी शाखा का साहित्य पालि में लिखा गया, उसी प्रकार सर्वास्तिवादी शाखा का समग्र साहित्य संस्कृत में उल्लिखित है।

इस प्रकार के संस्कृतानुरागी बौद्ध विद्वानों में अश्वघोष का नाम प्रथम है। वे संगीतज्ञ, कवि और दार्शनिक थे। उन्होंने 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द' महाकाव्यों के अतिरिक्त 'सूत्रालंकार' तथा 'महायान श्रद्धोत्पाद' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। वे प्रथम शती ई० में हुए और काश्मीर में आयोजित चतुर्थ 'बौद्ध-संगीति' के अध्यक्ष थे। आचार्य नागार्जुन (२री शती ई०) का नाम बौद्ध-जगत् में सुप्रसिद्ध है। वे बौद्ध तत्त्वज्ञान तथा ब्राह्मण दर्शनों के समान रूप से ज्ञाता थे। उन्होंने लगभग १२ कृतियों का प्रणयन किया, जो कि अधिकतर चीनी तथा तिब्बती अनुवादों के रूप में मिलती हैं। उनकी 'माध्यमिककारिका' और 'दशभूमिविभाषाशास्त्र' बौद्ध-दर्शन की प्रामाणिक कृतियाँ हैं। उनका 'सुहृल्लेख', जो गोतमीपुत्र को सम्बोधित करके लिखा गया है, नीति तथा सदाचार विषयक लोकप्रिय कृति है। आर्य असंग और वसुबन्धु दोनों सहोदर भाइयों (५ वीं शती ई०) ने योगाचार एवं विज्ञानवाद पर उच्चतम कृतियों का निर्माण किया। वे दोनों विद्वान् बौद्ध दर्शन में 'शास्त्रीय युग' के संस्थापक माने जाते हैं। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में 'योगाचार भूमिशास्त्र' और 'महायानसूत्रालंकार' का विशेष महत्त्व है। इसी प्रकार वसुबन्धु की श्रेष्ठ कृतियों में 'परमार्थसप्तति', 'अभिधर्मकोश', और 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' का विशेष स्थान है।

आचार्य दिङ्नाग (५ वीं शती ई०) को बौद्धन्याय का पिता कहा गया है। उन्होंने बौद्धन्याय पर लगभग सौ ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो कि अधिकतर चीनी तथा तिब्बती अनुवादों के रूप में सुरक्षित रहकर आज तक पहुँचे हैं। उनकी प्रसिद्ध कृतियों में 'प्रमाणसमुच्चय', 'न्यायप्रवेश' 'हेतुचक्रनिर्णय' और 'प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश' का नाम उल्लेखनीय है। इस परम्परा

मे आचार्य धर्मकीर्ति (६ ठी शती ई०) विज्ञानवादी दार्शनिको मे प्रमुख स्थान रखते हैं। वे वसुबन्धु के शिष्य थे। उनके ग्रन्थो मे 'प्रमाणवार्तिक', 'प्रमाणविनिश्चय' और 'न्यायबिन्दु' का विशेष स्थान है। तिब्बती भाषा मे धर्मकीर्ति के ग्रन्थो की बडी लोकप्रियता रही है।

इनके अतिरिक्त भी बौद्ध साहित्य के निर्माता अनेक संस्कृतज्ञ ग्रन्थकार हुए, जिन्होने विभिन्न विषयो पर उच्चतम कृतियो का प्रणयन कर उसकी ख्याति को बढाया। किन्तु यह एक आश्चर्यजनक बात देखने को मिलती है कि भारत मे बौद्धधर्म जिस प्रकार प्रभावहीन होता गया उसी प्रकार उसका साहित्य भी क्षीण होता गया। आज बौद्ध साहित्य की जो कृतियाँ उपलब्ध हैं, वे अधिकतर तिब्बती, चीनी तथा सिंहली भाषाओ मे सुरक्षित रहकर अब तक पहुँची हैं।

(पांच)

शैव-सम्प्रदाय और शाक्त-सम्प्रदाय

शैवमत

भारत के धार्मिक इतिहास मे शैव तथा वैष्णव, दो मुख्य तथा प्राचीनतम धर्म-शाखाएँ है। अपने मूलरूप मे दोनो का स्वरूप अभिन्न है, किन्तु क्योंकि वैदिक युग मे शिव (रुद्र) और विष्णु, दोनो वैदिक देवताओ के रूप मे अलग-अलग उल्लिखित हैं, अत दोनो की उपासनाओ के मार्ग भी पृथक्-पृथक् रूप से प्रशस्त हुए। फिर भी यह कहना सहज तथा अतर्क्य नही है कि दोनो मे से प्राचीन कौन है। उपनिषदो मे ब्रह्म का तादात्म्य शिव और विष्णु, दोनो मे पाया जाता है। इस रूप मे भारत की धर्मप्राण जनता ने मुख्य रूप से शैव होने पर भी विष्णु के प्रति देवत्व की निष्ठा बनाये रखी और इसी प्रकार वैष्णव होने पर भी शिव के प्रति श्रद्धा का भाव बनाये रखा। भारत की यह समन्वयात्मक धर्म-भावना उसकी विशेषता रही है।

शिव का स्वरूप

शैवमत मे शिव की आराधना-उपासना का विधान है। यह शैव-साधना कब से प्रचलित हुई और उसका स्वरूप क्या था, इस ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करने से पूर्व भारत के मनीषी शास्त्रकारो ने शिव के स्वरूप को किस रूप मे प्रतिपादित किया और लोक मे उसकी मान्यता किस रूप मे थी, इस मन्तव्य पर विचार करने के उपरान्त ही शिव-साधना की परम्परा पर विचार करना समीचीन होगा।

शास्त्रो मे एक ही परमतत्त्व के तीन रूप बताये गये हैं—'ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्मा का कार्य सृष्टि-रचना, विष्णु का कार्य सृष्टि-पालन (स्थिति) और महेश या शिव का कार्य सृष्टि-लय है। किन्तु शैव धर्म-दर्शन मे शिव को स्वयमेव परमतत्त्व माना गया है और सृष्टि, स्थिति तथा लय, तीनो का कर्ता माना गया है। सृष्टिकर्ता के रूप मे शिव ब्रह्मस्वरूप हैं और हरिहर के रूप मे विष्णुस्वरूप भी।

शिव परम कारुणिक हैं। उनमे अनुग्रह तथा प्रसादगुणो का समन्वय है। उनका उद्देश्य भक्तो का कल्याण करना है। वे शुभ, कल्याण, मंगल, तथा श्रेय के पर्याय हैं। वे विभिन्न कलाओ तथा सिद्धियो के अधिष्ठाता हैं। योगविद्या, व्याकरण और भैषज्य के प्रवर्तक भी शिव ही हैं। नाट्यशास्त्र मे जनक होने के कारण वे 'नटराज' कहलाते हैं और उनके द्वारा संगीत, नृत्य (लास्य तथा ताण्डव) एवं १०८ प्रकार की नाट्य-मुद्राओं की सृष्टि

हुई। समस्त जीवधारियों के स्वामी होने के कारण उन्हें पशुपति, भूतनाथ एवं भूतपति आदि विभिन्न नामों से स्मरण किया जाता है। वे महाशक्ति से सम्पन्न हैं, अतः 'मायापति' कहे जाते हैं। उमा के पति होने के कारण उन्हें 'उमापति' भी कहा जाता है। कण्ठ में गरल धारण करने से उन्हें 'नीलकण्ठ' कहा जाता है।

पुराणों तथा परवर्ती साहित्य में शिव की योगिराज के रूप में वन्दना की गई है। वे कैलासवासी हैं और व्याघ्रचर्म पर ध्यानलीन हैं। उनके शिर पर जटा-जूट है, जिसमें द्वितीया का नवचन्द्र सुशोभित है। उनकी इसी जटा से जगत्पावनी भगवती गंगा का उद्गम हुआ है। उनके ललाट पर स्थित तृतीय नेत्र ज्ञानलोक का प्रतीक है। इसी से उन्होंने कामदेव का दहन किया था। समस्त अनिष्टों के प्रतीक विष को समाहित करने के कारण वे 'विषपायी' कहे जाते हैं। कण्ठ तथा भुजाओं में वे रुद्राक्ष धारण करते हैं। उनके वाम भाग में पार्वती और सम्मुख नन्दी विराजमान हैं। कर में वे त्रिशूल धारण किये हुए हैं।

उनका मूर्त स्वरूप लिंग है, जो कि उनके अविचल स्वभाव, अपरम्पार ज्ञान तथा अनन्य तेज-बल का प्रतीक है, और जनमानस की उपासना-भक्ति का अधिष्ठान है। उनका एक रूप (रुद्र) प्रलयकारी है। अपने इस रूप में वे श्मशान, रणक्षेत्र तथा मृत्यु-स्थानों पर निवास करते हैं और मुण्डमाला धारण किये हुए भूत-प्रेत-गणों से घिरे रहते हैं। वे साक्षात् महाकाल हैं और उन्हीं के भ्रू-विक्षेपमात्र से महाप्रलय की विनाशलीला होती है।

शिव अष्टमूर्ति हैं, अर्थात् पंचमहाभूत, सूर्य, चन्द्र तथा पुरुष उन्हीं के स्वरूप हैं। बन्धन तथा प्रपंच से जीवन्मुक्ति के वे ही एकमात्र आधार हैं। गृहस्थ जीवन की जितनी समस्याएँ-विषमताएँ है, जितने अनन्त क्रिया-कलाप, जो सम्बन्ध तथा व्यवहार, जितनी मान्यताएँ तथा परम्पराएँ और भारतीय ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र है, उन सब का यदि एकत्र समन्वय देखने को मिलता है तो वह एकमात्र शिव के स्वरूप में सन्निहित है। भारत की जितनी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक मान्यताएँ हैं, उन सब का सपुंजन यदि किसी एक स्वरूप में देखने को मिलता है, तो वह सर्वांगीणता, सार्वभौमिकता में ही समाहित है। इसलिए शिव समस्त भारतीय जनमानस के, चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक हो, किसी-न-किसी रूप में उनका अस्तित्व या उनकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है।

इस प्रकार शिव समस्त सृष्टि के सार्वभौम क्रिया-कलापों के अधिष्ठान और इस जीव-जगत के अधिपति हैं।

शैवमत की प्राचीनता

पुराण साहित्य ही एकमात्र ऐसी विपुल ज्ञान-सामग्री है, जिसमे विभिन्न देवी-देवताओ तथा धर्म शाखाओ का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। पुराणो मे वर्णित जिन अनेक धर्म शाखाओ का भारत मे उदय हुआ उनमे शैवमत का प्रमुख स्थान है। शिव की उपासना आराधना से सम्बन्धित वर्तमान मे प्रचलित शैवमत कितना प्राचीन है, इसका निर्धारण करना नितान्त दुष्कर है। यद्यपि रुद्र महाशिव की उपासना-पूजा (लिंगपूजा) का पुरातन अस्तित्व सिन्धु सभ्यता के पुरावशेषो से सिद्ध होता है, यथापि जहाँ तक वर्तमान मे शैवमत के प्रचार का प्रश्न है, निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वह पौराणिक धर्म के उदय के बाद ही लोकप्रिय हुआ।

लिंगपूजा एवं शिश्नपूजा

इतिहासकार विद्वानो का अभिमत है कि समाज मे जिस सुदूर पुरातन से मूर्तिपूजा का आरम्भ हुआ, तभी से लिंगपूजा का अस्तित्व विद्यमान था। आर्यों की अपेक्षा आर्येतर समुदाय मे लिंगपूजा का अधिक प्रचलन था और इसलिए यदि कहा जाये कि लिंगपूजा आर्येतर जातियो की देन है, तो अनुपयुक्त न होगा। मोहेन-जो-दडो की खुदाई मे योगमुद्रा मे ध्यानस्थ एक मूर्ति और उसके निकट ही नन्दी अवस्थित हुआ मिला है। इस ध्यानस्थ मूर्ति को शिवमूर्ति कहा गया है और इस आधार पर यह माना गया है कि सिन्धु देशवासी शिव के उपासक थे।

इतिहासकारो और पुरातत्त्वविदो का यह भी अभिमत है कि ईसा से कई शताब्दियो पूर्व न केवल भारत मे, अपितु समस्त विश्व मे लिंगपूजा का प्रचलन था। पुरातत्त्व के उत्खननो से जो सामग्री प्राप्त हुई है, उससे यह सिद्ध होता है कि मिश्र, यूनान, काबुल आदि असुरोपासक देशो मे और इटली, फ्रान्स, अमेरिका तथा पालिनेशिया आदि द्वीपो मे परम्परा से लिंगपूजा का व्यापक प्रचलन था। मक्का की प्रसिद्ध मस्जिद मे लिंगात्मक प्रस्तर स्वय मुहम्मद साहिब द्वारा स्थापित बताया जाता है, जिसका प्रत्येक यात्री श्रद्धा से चुम्बन करता है।

लिंगपूजा के अस्तित्व को बताने वाली जो प्रमाण-सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसकी आदिप्रवर्तक आर्येतर जातियाँ थी। कुछ विद्वानो ने ऋग्वेद के दो मत्रो (७।२१।५, १०।९९।३) मे उल्लिखित 'शिश्नदेव' शब्द के आधार पर आर्यो को शिवोपासक माना है, किन्तु निरुक्तकार यास्क (७०० ई०-पूर्व) ने उसका अर्थ 'अब्रह्मचर्य आसक्त'

किया है। इस दृष्टि से ऋग्वेद में उल्लिखित उक्त शब्द का सम्बन्ध शिवलिंग से स्थापित करना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

लिंगपूजा और शिश्नपूजा में व्यापक अन्तर है। ऋग्वेद का उक्त शिश्नदेव हिन्दुओं की लिंगपूजा का प्रतीक नहीं है, अपितु शिश्नपूजा हिन्दूधर्म में निम्नतम कार्य माना जाता था। हिन्दू परम्परा में शिश्न कामेन्द्रिय का द्योतक है, जब कि लिंग को ज्ञानस्कन्ध का प्रतीक माना गया है। इस प्रकार के प्रधान एवं सर्व सपूज्य लिंगों की संख्या द्वादश (बारह) मानी जाती है।

पुरातन पुरातात्त्विक उत्खननों से भी भारत में शिवलिंग प्राप्त हुए हैं, जिनसे लिंगपूजा की प्रसिद्धि का पता चलता है। उदाहरण के लिए बसाढ (वैशाली) और सारनाथ स्थित धामेक स्तूप की खुदाइयों में शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार मोटा ग्राम गुडीमाल्लम (मद्रास) से भी शिवलिंग मिले हैं। रानीगुंटा स्टेशन से ६ मील की दूरी पर स्थित गुडीमालम स्थान से जो लिंग मिला है, उसकी लम्बाई लगभग ५ फुट है और उसका समय पुरातत्त्वविदों ने २०० ई० पूर्व निर्धारित किया है (टी० एन० राव हिन्दू इकनोग्रैफी, पृ० ६३)।

रुद्र और शिव

पौराणिक आर्य देवता शिव से आर्येतर देवता रुद्र का तारतम्य स्थापित करने से अनेक नये तथ्य प्रकाश में आये हैं। पुरातन आर्य तथा आर्येतर सभ्यता में रुद्र की पूजा उपासना के पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध हैं। वेदमन्त्रों में रुद्र का अनेक बार उल्लेख हुआ है। एशिया के विभिन्न अंचलों में बिखरी हुई आर्येतर जातियों के उपास्यदेव रुद्र ही रहे हैं। देवताओं में रुद्र का जो स्वरूप, स्वभाव एवं वैभव प्रकाश में आया है, उससे प्रतीत होता है कि रुद्र भयंकर क्रोधी तथा संहारक देवता हैं। आरम्भ में आर्य तथा आर्येतर जातियों के पारस्परिक युद्धों के कारण रुद्र जैसे शक्ति-सम्पन्न संहारक देवता की आवश्यकता हुई। यही प्रभाव रुद्र का आगे भी बना रहा। उत्तर वैदिक युग, विशेष रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों के समय, अश्वमेधादि यज्ञों की सम्पन्नता के लिए विजिगीषु राजाओं ने रुद्र को अपना उपास्यदेव वरण किया और उसके अनुग्रह से शक्तिशाली शत्रु पर विजय प्राप्त की।

शिव, जो कि पुरातन रुद्र हैं, अपने विभिन्न नाम रूपों में मूलतः वे आर्येतर जातियों के आराध्यदेव थे। पुराणों से ज्ञात होता है कि हिरण्यकशिपु, रावण, बाणासुर तथा भस्मासुर आदि जितने भी प्रभावशाली आर्येतर प्रतिनिधि हुए, वे सब शिवोपासक थे और उन्हें शिव का वरदान प्राप्त था। इन वर-प्राप्त आर्यभिन्न प्रतिनिधियों को पराजित करने के लिए आर्यजनों ने इन्द्र

तथा विष्णु का आश्रय लिया था और उनके सहयोग से लम्बे युद्ध के बाद किसी प्रकार उन पर विजय प्राप्त की। इन्ही विजयो का परिणाम था कि रावण के भाई विभीषण और हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद ने विष्णु भक्ति मे अपनी निष्ठा व्यक्त की।

शैव मतानुयायियो मे शिवोपासना का जो स्वरूप वर्तमान समय मे प्रचलित है, उसका सम्बन्ध पुरातन रुद्र से है इस सम्बन्ध मे विद्वान् एकमत नही है। मूल मन्त्र संहिताओ मे बहुत बाद तक, लगभग पुराणो के समय तक, शिवभक्ति का प्रचार नही हुआ था। प्रमुख एकादशोपनिषदो मे 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के अतिरिक्त किसी भी अन्य उपनिषद् मे शिव का उल्लेख नही हुआ है। इस उपनिषद् के एक स्थान (३।२) पर 'अद्वितीय रुद्र' का उल्लेख हुआ है, जिसका सम्बन्ध शिव से स्थापित किया जा सकता है। इसी उपनिषद् के एक दूसरे स्थल (४।१०) पर स्पष्टत 'महेश्वर' शिव का उल्लेख हुआ है—'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'।

उक्त उपनिषद् ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य उपनिषदो मे शिव के अद्वैत, अनादि, परब्रह्म स्वरूप को ही ग्रहण किया गया। उनके आराधनीय स्वरूप को नही। पुराणो के समय तक शिवोपासना प्राय आर्येतर जातियो मे ही प्रचलित थी। आर्यों के शिवोपासना के प्रचलन के मूल मे सभवत सती का प्राणत्याग था। प्रजापति दक्ष ने यद्यपि अपनी कन्या सती का विवाह शकर से किया था, किन्तु शकर के प्रति दक्ष की अनिच्छा तब भी बनी हुई थी। परम्परा से आर्यों तथा आर्येतर जातियो मे जो सघर्ष चला आ रहा था, इस पारस्परिक विरोध को समाप्त करने के लिए सती ने अपना प्राणोत्सर्ग किया था। तभी से आर्य-सभ्यता मे शिव को आराध्यदेव के रूप मे अपनाया गया।

पशुपति और शिव

'महाभारत' के समय जिस प्रकार रुद्र के साथ शिव की अभिन्नता स्थापित हुई, उसी प्रकार पशुपति को भी शिव का स्वरूप माना जाने लगा। अर्जुन ने शकर की उपासना करके उनसे अविजेय पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया था। 'महाभारत' (शा० १८४) के एक सन्दर्भ मे दक्ष प्रजापति द्वारा शकर की गद्गद् हृदय से स्तुति करने का वर्णन हुआ है, जिसके फलस्वरूप शकर ने दक्ष को पाशुपत व्रत धारण करने के लिए कहा था। महाभारत काल मे पाचरात्र मत के समान पाशुपत मत को भी मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। 'महाभारत' (शा० १८०-१८४) मे पाचरात्र तथा पाशुपत, दोनो धर्मों के उपाख्यान वर्णित हैं। इसी सन्दर्भ मे पाशुपत व्रत के माहात्म्य का वर्णन करते हुए उसे समस्त वर्णों तथा आश्रमो के लिए मोक्षप्रद बताया गया है।

अतएव यह मानना समीचीन प्रतीत होता है कि महाभारत काल मे ही पाशुपत मत अथवा शिवभक्ति का प्रचार हो चुका था, जिसको पुराणकार सूतो तथा मुनियो ने व्यापकता प्रदान की।

शैवमत के पुराण-साहित्य से ज्ञात होता है कि पाशुपत मत का अस्तित्व बहुत पुरातन है। अनेक ऋषि-महर्षियो ने इस मत को वरण किया था और तब से लेकर परवर्ती युगो तक उसकी परम्परा लोक मे उत्तरोत्तर विकसित होती रही। पुराण-साहित्य से ज्ञात होता है कि अगस्त्य, दधीचि, विश्वामित्र, शतानन्द, दुर्वासा, गौतम, ऋष्यशृङ्ग, उपमन्यु और बादरायण व्यास शिवोपासक थे। बादरायण व्यास ने केदारखण्ड की दिव्य तपोभूमि मे महाज्ञानी योगी घण्टाकर्ण से पाशुपत धर्म की दीक्षा ली थी। घण्टाकर्ण उनका नाम इसलिए प्रचलित हुआ क्योकि उनके दोनो कानो के पास दो घण्टे बँधे हुए थे। वे इतने कट्टर शिवभक्त थे कि अन्य शब्द कानो मे पडते ही अपना सिर हिला देते थे, जिससे कि घण्टो की ध्वनि से शिव नाम के अतिरिक्त दूसरा शब्द न सुनाई दे।

परम शिवज्ञानी घण्टाकर्ण से दीक्षा प्राप्त कर बादरायण व्यास काशी मे आकर बस गये थे। महाज्ञानी घण्टाकर्ण के काशीवास के अनेक स्मारक आज भी वर्तमान हैं। वर्तमान काशी के नीचीबाग मुहल्ले मे (जो सम्प्रति घण्टा-कर्ण के नाम से कहा जाता है), घण्टाकर्ण (कर्णघण्टा) नामक तालाब आज भी विद्यमान है, जिसके एक किनारे पर व्यास जी का मन्दिर स्थापित है। इस मन्दिर की एक मूर्ति मे घण्टाकर्ण हाथ मे शिवलिंग धारण किये हुए है। इस दृष्टि से यह मन्दिर और तालाब अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं।

पाशुपत मत का प्राचीन ग्रन्थ 'अथर्व शिरस उपनिषद्' है। उसमे पशुपति रुद्र को प्रथम तत्त्व माना गया है। उसमे 'ओम्' के पवित्र उच्चारण के साथ ध्यान करने की यौगिक पद्धति का निरूपण किया गया है। इस मत मे शरीर पर भस्मावलेपन करना आवश्यक बताया गया है। इस मत मे तात्त्विक दृष्टि से परम शिव (पशुपति) ही पति हैं, मनुष्यमात्र पशु है, जो कि पाश, अर्थात् सासारिक माया-जाल से बँधा हुआ है। वे पाश चार प्रकार के हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। स्वभावजन्य अपवित्रता का नाम 'मल' है। धर्माधर्म का नाम 'कर्म' है। प्रलय काल मे जिसके भीतर समस्त विश्व समाहित हो जाता है, और सृष्टिकाल मे जिससे समस्त विश्व का विस्तार होता है, वह 'माया' है। साधक की गति मे अवरोध उत्पन्न करने वाले कर्म ही 'रोधशक्ति' हैं। इस प्रकार पति, अर्थात् शिव के अनुग्रह से ही पशु अर्थात् मनुष्य, पाश अर्थात् सासारिक बन्धनो से मुक्त हो सकता है।

पाशुपत मत में साधकों के लिए पाँच तत्त्व बताये गये हैं, जिनके नाम हैं—पति (कारण), पशु (कार्य), योगाभ्यास, विधि और दुःखान्त। धर्मार्थ साधना के लिए जो क्रियायें नियत हैं, उन्हें 'विधि' कहा गया है। वह दो प्रकार की है—'व्रत' और 'द्वार'। भस्मस्नान, भस्मशयन, जप, प्रदक्षिणा और उपवास आदि व्रत हैं। शिवनाम का उच्चारण कर हँसना, गाल बजाना, गाना, नाचना, वषट्कार करना तथा जप आदि उपहार हैं। द्वार के अन्तर्गत क्राथन (जागृतावस्था में शयन मुद्रा), 'स्पन्दन' (वायुवेगों की भाँति घूमना), 'मन्दन' (उन्मत्त की भाँति आचरण करना), 'शृंगारण' (कामातुरों जैसा व्यवहार करना), 'अवित्करण' (अविवेकियों जैसा निषिद्ध व्यवहार करना) 'अविद्भाषण' (अर्थहीन तथा व्याहत शब्दों का व्यवहार करना), ये छः क्रियाएँ हैं।

शिवोपासना का प्रचलन

ऊपर शिवोपासना की प्राचीन परम्परा के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। 'महाभारत' की रचना के समय तक रुद्र के अनेक रूप प्रचलित हो चुके थे और शिव के साथ उनकी अभिन्नता स्थापित हो चुकी थी। 'भगवद्गीता' (१०।२३) में श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कहा है—"रुद्रों में मैं शंकर हूँ (रुद्राणां शङ्करश्चास्मि)।" महाभारत (शां० अ० ३४९) में नारायणीय विष्णु के अनन्तर शिव का माहात्म्य वर्णित है। शिव का महत्त्व विष्णु से भी पुरातन है। उनकी सगुणोपासना का प्रचलन पुराण काल में ही हो चुका था। इसी सगुणोपासक शिव आराधना में पाशुपत मत का प्रवर्तन हुआ। पुराणों में शिवोपासना या शिवभक्ति का विस्तार से उल्लेख हुआ है। अधिकतर पुराणों में शिव को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। वहाँ शिव को सृष्टि-विधायक बताया गया है और शिव-पार्वती के संवाद में पारमार्थिक विषयों का वर्णन किया गया है। 'शिवपुराण' तथा 'लिंगपुराण' शिव की व्यापक महिमा को वर्णित करने वाले प्रमुख पुराण-ग्रन्थ हैं। 'लिंगपुराण' में कहा गया है कि शिव ने स्वेच्छाशक्ति से सर्वप्रथम नारायण को तथा ब्रह्मा को उत्पन्न किया और तत्पश्चात् सृष्टि का विस्तार हुआ। 'विष्णुपुराण' विशुद्ध शैवपुराण है। उसके 'रुद्रमाहात्म्य' में शिव शक्ति द्वारा सृष्टि रचना का विस्तार से उल्लेख हुआ है। उसमें पाशुपत योग का भी गंभीर विवेचन हुआ है, जो अन्य पुराणों में नहीं है।

यद्यपि पुराण युग में भी परम्परा के अनुकरण पर आर्येतर देवता रुद्र या शिव के प्रतीक लिंग की पूजा-अर्चना का विरोध किया जाता रहा है, किन्तु 'वामनपुराण' (४३।९१-९९) के दो सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि ऋषियों के घोर प्रतिरोध के बावजूद ऋषि पत्नियों ने लिंगपूजा की निष्ठा का परित्याग

नहीं किया। ठीक यही धारणा 'कूर्मपुराण' (४७।२२) में भी देखने को मिलती है। 'शिवपुराण' (१०।१८७-२०७) में कहा गया है कि ऋषि-पत्नियों का अनुकरण कर अन्ततः ऋषियों ने भी लिंगपूजा को वरण किया।

उक्त पुराणों में मुनि पत्नियों द्वारा शिव के प्रति जो आसक्ति भाव देखने को मिलता है विद्वानों का कहना है कि उससे यह सिद्ध होता है कि पुराण-युगीन आर्यों ने लिंगपूजा को व्यापकता से ग्रहण एवं अंगीकार कर लिया था। जो ऋषि-पत्नियाँ लिंगपूजा के प्रति आसक्त दिखाई देती हैं, संभवतः वे आर्येतर कुलों से आई थी और आर्यकुलों में आकर भी उन्होंने अपने मातृ-पितृ-कुल के आराध्यदेव रुद्र या शिव की लिंगपूजा का परित्याग नहीं किया था (क्षितिमोहन सेन भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० ६७)।

पुराणों में शिव के सर्वव्यापी स्वरूप का जो दिग्दर्शन हुआ है, पश्चात्कालीन समाज तथा साहित्य पर उसका व्यापक प्रभाव लक्षित हुआ। साहित्य के साथ साथ कला के क्षेत्र को भी उसने अतिशयता से प्रभावित किया। संस्कृत के ग्रन्थकार भास, कालिदास, शूद्रक तथा भवभूति से लेकर परवर्ती कवियों तथा नाटककारों ने शिव को ही एकमात्र वन्दनीय एवं आराध्य माना।

ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य के उदय से पूर्व ही सारे भारत में शिव के प्रति जन निष्ठा व्याप्त हो चुकी थी। ७ वीं शती ई० में भारत के अन्तिम सम्राट् हर्षवर्द्धन के शासन काल में भारत भ्रमण के लिए आये चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने अपने यात्रा वृत्तान्त में काशी, कन्नौज, काबी, मालाबार और गान्धार आदि विभिन्न प्रदेशों में स्थापित बहुसंख्यक शिव-मन्दिरों तथा शिवोपासकों का उल्लेख किया है। काशी में उस महाज्ञानी ने अनेक शिव-मन्दिरों को देखा था और वहाँ के एक मन्दिर में स्थापित पीतल की शिवमूर्ति की कलात्मकता की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। उसने यह भी लिखा है कि उस समय देश के अनेक भागों में पाशुपत, दिगम्बर, जटाधारी तथा निर्ग्रन्थ आदि अन्यान्य शिवमतानुयायी लोग विद्यमान थे।

शंकराचार्य की दिग्विजय के पश्चात् ८ वीं शती ई० में समस्त भारत के धार्मिक तथा वैचारिक क्षेत्रों में शिव की सत्ता को सर्वोपरि महत्व दिया जाने लगा था। देश के विभिन्न क्षेत्रों में, गाँवों से लेकर नगरों तक शिव मन्दिरों की स्थापना होकर शैवमत का व्यापक प्रचार प्रसार हुआ।

मेवाड़ (राजस्थान) में सिरोही के अर्बुदगिरि पर स्थापित शिव-मन्दिरों पर ८ वीं शती से लेकर १९ वीं शती तक के अनेक शैव धर्मावलम्बी शासकों के नाम शिलापट्टों पर उत्कीर्णित हैं, जो कि आज भी सुरक्षित हैं।

देवताओ के प्रति भी उनकी पूर्णत श्रद्धा-निष्ठा है। शिव के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओ के प्रति समान पूजाभाव होने के कारण ही उनको मिश्र शैव कहा गया है।

३ कापालिक शैव

मध्ययुगीन साधना एव उपासना की भिन्नता को लेकर जो विविध धर्म-मार्ग प्रचलित हुए, उनमे कापालिक शैवमत का भी उल्लेखनीय स्थान है। इस मत या पन्थ का मूल स्रोत पाशुपत शाखा है। पाशुपत मत के सस्थापक का नाम नकुलीश या लकुलीश था। लकुलीश (जिसके हाथ में लकुट हो) एक ऐतिहासिक व्यक्ति था या उसका यह प्रतीकात्मक नाम था, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ कहना सभव नही है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वह दाक्षिणात्य था, क्योंकि दक्षिण मे ही विशेष रूप से इस पन्थ के बहुसख्यक अनुयायी पाये जाते हैं। या यह भी हो सकता है कि पाशुपत मत से सम्बन्धित जो लकुटधारी मूर्तियाँ पाई जाती हैं, सभव है कि इसलिए भी उसके प्रवर्तक का लकुलीश नामकरण किया गया हो। इस मत के सस्थापक ने एक सूत्र-ग्रन्थ की भी रचना की थी, जो कि सम्प्रति उपलब्ध नही है। उनका लिखा हुआ 'पचाध्यायी' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है, जिसमें कि सर्वप्रथम शैव-सिद्धान्तो का निरूपण किया गया है।

पाशुपत मत की प्राचीनता २०० ई० पूर्व से भी पहले मानी जाती है। 'महाभारत' मे माहेश्वरो के चार सम्प्रदाय बताये जाते हैं—शैव, पाशुपत, कालदमन और कालमुख। यामुनाचार्य ने कालदमन को कारुमुख नाम से कहा है। आगे चलकर इस धार्मिक पन्थ से कालमुख तथा कापालिक मतो का प्रचलन हुआ। कालमुख का प्रचलन नगरो तथा राजदरबारो तक ही सीमित रहा, किन्तु कापालिको का प्रसार अपेक्षाकृत व्यापक जन समाज मे हुआ।

पाशुपत मत के जो मूल सिद्धान्त हैं, कालमुख तथा कापालिको के सिद्धान्तो से उनकी स्पष्ट भिन्नता है। पाशुपत मत की मूल साधना-पद्धति हठयोग से सम्बन्धित है। उनके योगी कापालिक तथा अघोरी क्रियाओ के अनुयायी हैं। उनकी योग-साधना के—१ लाभ, २ मल, ३. उपाय, ४. देश, ५ अवस्था, ६. विशुद्धि, ७ दीक्षाकारत्व और ८ बल—ये आठ पचक कहलाते हैं। इसी प्रकार उनकी तीन वृत्तियो के नाम हैं—भैक्ष्य, उत्सृष्ट और उपलब्ध। इस सिद्धान्त के अनुसार मिथ्या-अज्ञानादि जो पच मल हैं, वे जीवत्व (पशुत्व) के मूल हैं, जिनका उन्मूलन गुरु से ज्ञान प्राप्ति के अनतर सभव हो सकता है। इन मिथ्या अज्ञानादि मलो की क्षीणता

के लिए भिक्षाटन, पथ मे विकीर्ण अन्नाहार तथा जूठन-भक्षण करना बताया गया है। आत्मा की उन्नति के लिए जप तथा ध्यानादि उपाय बताये गये है। उनके नैसर्गिक व्रत हैं—भस्म-शयन और भस्म-स्नान। उनकी योग-साधना के अन्तिम लक्ष्य हैं—दु ख-निवृत्ति तथा ऐश्वर्य-प्राप्ति। यही उनका मोक्ष है। पाशुपत मतानुयायी ललाट, हृदय, नाभि आदि पर शिवलिंग का चिह्न अंकित करते हैं। उनके प्रतीक चिह्न हैं—कण्ठहार, आभूषण, चूडामणि, और यज्ञोपवीत। बाद मे इस धर्म-शाखा का लक्ष्य परिवर्तित हो गया।

कालमुख अनुयायियो की परम्परा उत्तरोत्तर क्षीण होती गई, किन्तु कापालिको का प्रसार मुख्यत दक्षिण भारत तथा पूर्वोत्तर भारत के अनेक क्षेत्रो मे हुआ। कापालिको की गुह्यसाधना, उनके रहस्यमय क्रियाकलापो का प्रभाव जन-सामान्य मे प्रत्यक्ष रूप से कम, किन्तु परोक्ष रूप से अधिक व्यापक होता गया।

कापालिको के उदय तथा नामकरण के सम्बन्ध मे 'गोरक्षसिद्धान्त-सग्रह' मे कहा गया है कि श्रीनाथ के दूतो के रूप मे विष्णु के चौबीस अवतारो के कपाल (सिर) काट देनेवाले इस नये मत के प्रवर्तकों को ही कापालिक कहा जाने लगा। उनका अधिष्ठाता एव आराध्य देवता माहेश्वर है। शिवोपासक होने के कारण कापालिको तथा वैष्णवो मे परम्परा से घोर सैद्धान्तिक मतभेद तथा विरोध रहा है।

कापालिक मत शैव-सम्प्रदाय तथा पाशुपत मत की वह शाखा है, जिसमे विलासी तथा घोर क्रिया-कलापो से सम्बद्ध शिव की गुह्य-साधना प्रचलित थी और जिसमे वामाचार चरम रूप मे पाया जाता है।

इस शाखा के शैव गृहस्थ नही हैं। वे वाममार्गी साधु हैं और महाकाली के उपासक हैं। वे मद्य-मासादि का सेवन करते हैं और श्मशान मे रहकर मृतक की खोपडी से तान्त्रिक साधना द्वारा विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। उनमे नरबलि की प्रथा भी प्रचलित थी। साधना के क्षेत्र मे कापालिको की वज्रयानियो से समानता है। इस दृष्टि से उनका सम्बन्ध वज्रयानियो से भी रहा है। बौद्ध सम्प्रदाय के सहजयान वज्रयान मे भी स्त्री साहचर्य को अनिवार्यता स्वीकार की गई है और इस मत के बौद्ध साधक स्वय को 'कपाली' कहते हैं। 'चर्याचर्य-विनिश्चय' मे स्त्रियो को कपालवनिता (कापालिनी) कहा गया है। स्त्री सर्व-जन-सुलभ होने के कारण ही सभवत इस गुह्य-साधना को कापालिक नाम से कहा गया।

कापालिको की गुह्य-साधना का बहुत-कुछ तारतम्य नाथ सम्प्रदाय एव हठयोगियो के योगाभ्यास मे भी देखने को मिलता है. विशेष रूप से षट्-

चक्र क्रिया के आधार पर। कापालिक साधना में शिव से जीव की अभिन्नता मानी गई है और योगाभ्यास द्वारा ही शिव को प्राप्त किया जा सकता है। शिव के शक्तियुक्त रूप को वह प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। शिवशक्ति का जो मिलन-सुख है, उसे कापालिक अपनी कापालिनी के माध्यम से प्राप्त करता है और उसको महासुख या परमसुख की संज्ञा से अभिहित करता है। सोम (स+उमा) को भी कापालिक शक्तियुक्त शिव का प्रतीक मानकर उसके पान से अभिभूत हो योगिनी के साथ विहार करता हुआ कैलासवासी शिव-उमा की भाँति स्वयं को आनन्दनिमग्न हुआ अनुभव करता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कापालिकों, शाक्तों, सहजयानियों तथा वज्रयानियों का मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—इन पाँच मकारों से घनिष्ट सम्बन्ध था। उनकी स्थूल उपासना में ये पाँच प्रतीकात्मक साधन थे।

४. वीर शैव

भगवान शिव की अनन्य भक्ति करनेवाले वीर शैव या वीर माहेश्वर कहलाते हैं। यद्यपि ये लोग स्वयं को माहेश्वर कहते हैं, पाशुपत नहीं, तथापि उनकी समस्त धार्मिक परम्पराएँ 'महाभारत' के पाशुपत सिद्धान्त पर आधारित हैं। शैव मत के अन्तर्गत जिन सात शाखाओं का उदय हुआ, उनमें वीर शैव मत का विशेष स्थान है। वस्तुतः शैव मत की परम्परा को अन्य शाखाओं की अपेक्षा, वीर शैव शाखा ने प्रभावी ढंग से प्रवर्तित किया। वीर शैव मत को 'लिंगायत' या 'जंगम' भी कहते हैं। लिंगायतों के भी दो वर्ग हैं—एक तो लिंगधारी और दूसरे अलिंगी। लिंगधारी ही लिंगायत कहलाते हैं, जो मद्य मांस आदि का सेवन करते हैं। उनमें वीर, नन्दी, भृंगी वृषभ और स्कन्ध नाम से पाँच गण या गोत्र हैं। इस मत के अनुयायियों के एकमात्र उपास्यदेव परम शिव हैं। सृष्टि को वे शिवमय कहते हैं और शिव-लिंग धारण करते हैं। शिव ही सृष्टि के निमित्त और उपादान कारण हैं।

वीर शैव शाखा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतान्तर है। परम्परानुसार यह सम्प्रदाय पाँच सन्यासियों द्वारा स्थापित हुआ, जो भिन्न भिन्न युगों में शिव के मस्तिष्क से उत्पन्न हुए थे। कुछ विद्वानों का मत है कि वीर शैव शाखा के संस्थापक का नाम बसव था, जो कि कर्नाटक (कल्याण) के राजा विज्जल (१२ वी शती ई०) का प्रधान आमात्य था। पुरातत्त्वज्ञ विद्वान् डा० फ्लीट का कथन है कि चालुक्य के राजा विज्जल का आमात्य या प्रधानमंत्री बसव न होकर अब्लुर एकान्तपद रामाय्य था, जिसकी पुष्टि

उपलब्ध शिलालेख में होती है। वे ही दक्षिण में वीर शैव मत के संस्थापक थे। बसव उसका पुनरुद्धारक हो सकता है।

वीर शैव मत का उदय कर्नाटक के समुद्र तट पर १२ वीं शती ई० में हुआ, इसमें कोई सन्देह या द्विविधा नहीं है। उसके प्रवर्तन में बसव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। उसी के नाम से लिंगायतों की यह वीर शैव शाखा 'बसव' के नाम से प्रचलित हुई। कर्नाटक की पुरातन धार्मिक परम्परा वीर शैवों तथा दिगम्बर जैनों में आरम्भ होती है।

वीर शैवों की इस बसव शाखा के सम्बन्ध में 'बसवेश्वर पुराण' में कहा गया है कि जब इस पृथ्वी पर वीर शैव मत का ह्रास हो रहा था, तब देवर्षि नारद की प्रार्थना पर स्वयं परमेश्वर शिव ने अपने गण नन्दीश्वर को पृथ्वी पर भेजा। नन्दीश्वर ने बागेवाड़ी में जन्म-धारण किया और बसव नाम से कहे जाने लगे। 'बसव' अर्थात् बसह या 'वृषभ' (नन्दी)। उन्हें सूर्य की उपासना स्वीकार नहीं थी। अतः उन्होंने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया। वे कुछ समय बाद बागेवाड़ी से कल्याण आये। उस समय वहाँ बिज्जल नामक चालुक्य राजा राज्य कर रहा था, जिसका प्रधान आमात्य बसवेश्वर का मामा बलदेव था। जब मामा की मृत्यु हो गई तो उस प्रधान आमात्य पद पर बसवेश्वर नियुक्त हुआ।

उक्त प्रकरण में आगे कहा गया है कि बसवेश्वर वीर शैवों का पक्षपाती तो था ही। अतः उसने वीर शैवों को पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान की और उनके उत्थान पर राज्य का राजस्व व्यय किया। बसवेश्वर के इन पक्षपातपूर्ण कार्यों से राजा असन्तुष्ट हो गया। फलस्वरूप राजा-मंत्री का युद्ध छिड़ गया। युद्ध में राजा की पराजय हुई और दोनों की सन्धि हो गई। पुनः मंत्रिपद पर प्रतिष्ठित होने के बाद बसवेश्वर ने राज्य में वर्णेतर विवाह-सम्बन्धों का प्रचार किया और ब्राह्मण तथा चमार परिवारों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये। इस पर राजा ने हरलय्या चमार और मधुवय्या ब्राह्मण की आँखें निकलवा दीं। बसव ने इस घटना को असह्य अनुभव किया और अवसर पाते ही राजा का वध करवा दिया।

'बसवेश्वर पुराण' के इस वर्णन पर विद्वानों का मतभेद है। इस पुराण-ग्रन्थ की मूल रचना तेलुगु में हुई है और पुनः उसका अनुवाद कन्नड़ में हुआ। इसका मूल रचयिता पाल्कुर्की सोमनाथ १३वीं शती ई० में हुआ। उसके कन्नड़ अनुवाद का नाम 'भीमकवि' था। आधुनिक विद्वानों ने इस ग्रन्थ की प्राचीनता पर सन्देह किया है। किन्तु बसव वीर शैव लिंगायतों का मूल आचार्य एवं इस मत का संस्थापक तथा प्रवर्तक था, इसमें सन्देह नहीं है।

वसव वस्तुत विख्यात सघटनकर्ता, परम योगी और सिद्ध महापुरुष थे। उन्होने एक ऐसे सार्वभौम धर्ममार्ग का प्रवर्तन किया, जिसके द्वारा सामाजिक सुधार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। उन्होने एक ऐसे सामाजिक सगठन को जन्म दिया, जिसमे समानता तथा बन्धुत्व की भावना निहित थी। उनके इस धर्म-सगठन मे ऊँच-नीच, जाति, धर्म, वर्ण, वर्ग तथा सम्प्रदाय और यहाँ तक कि स्त्री-पुरुषो की वैषम्य-भावना का भेद-भाव नही था। उन्होने आचार-विचारों की पवित्रता पर बल दिया।

उदार एवं सार्वभौम आचार-पद्धति

वसव द्वारा प्रवर्तित आचार-पद्धति के सम्बन्ध मे 'वसवेश्वर पुराण' मे जो उल्लेख हुआ है, तदनुसार इस मत मे लिंगधारण परम्परा को अधिक पुष्ट किया गया और शैव मत-परम्परा के विपरीत वर्णाश्रम धर्म का खण्डन किया गया, ब्राह्मणो, वेदो तथा देवी-देवताओ को नही माना गया। प्रायश्चित, तीर्थयात्रा, अन्त्येष्टि-कर्म तथा शौचाशौच आदि कर्मकाण्ड के सकीर्ण आडम्बरो को मिथ्या घोषित किया गया। सगोत्र तथा वर्णेतर विवाहो को विहित बताकर विधवा विवाह को उचित ठहराया गया।

सामाजिक समुदय के लिए उनके द्वारा किये गये कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वसव द्वारा प्रवर्तित 'धर्म मार्ग मे सवर्ण तथा असवर्ण जाति के बहुसख्यक लोग अनुयायी बने और उनके समय मे दक्षिण भारत मे इस उदारतावादी धर्म शाखा का अत्यधिक प्रचार-प्रसार रहा।

वसव के बाद यद्यपि उनके अनुयायियो ने स्वय को वीर शैव लिंगायत कहा, किन्तु आचार-विचार तथा धार्मिक परम्पराओ की दृष्टि से वीर शैवो या पाशुपत शैवो से लिंगायत शैवो की मान्यताओ मे बहुत अन्तर दृष्टिगोचर हुआ।

वसव मत के अनुयायियो को 'वचनकार' कहा गया है। उन्होने परम्परागत समाज-सुधार की उदार मान्यताओ को तो ग्रहण किया, किन्तु आचार विचार सम्बन्धी नियमो की नयी परिपाटी को प्रचलित किया। इन वचनकारो ने वेद, उपनिषद्, गीता और अष्टादश शैवागमो का सार लेकर सर्वप्रथम कन्नडी भाषा मे उनका सग्रह किया और अपनी धार्मिक सहिष्णुता से समाज मे अपना समान्य स्थान बनाये रखा। परमेश्वर की अनुग्रह प्राप्ति के लिए उन्होंने भक्तिपरक सरल पूजा-अर्चना तथा ध्यान-आराधना की नयी पद्धति का प्रचलन किया। ईश्वर-प्राप्ति के लिए उन्होने ज्ञान तथा कर्म की आवश्यकता पर तो बल दिया, किन्तु भक्ति को सर्वोपरि स्थान पर माना। इस प्रकार

१२वी शती से १६वी शती तक कर्नाटक महाराष्ट्र, आंध्र तथा तमिल क्षेत्रो मे लिंगायत शैवो का निरंतर प्रचार प्रसार बना रहा।

इस प्रकार वीर शैव मत वास्तव मे उदार सहिष्णु तथा सार्वभौम धर्म बन गया और उसमे व्यक्ति के अन्तःकरण की पवित्रता तथा सद्व्यवहार और उन्नत आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने का मार्ग प्रशस्त किया। उसमे सामाजिक सुधारवादी भावना की भी प्रधानता रही और एकता तथा बन्धुत्व के उन्नयन पर बल दिया गया। इस रूप मे वीर शैव मत के अनुयायियो द्वारा धार्मिक सामाजिक तथा नैतिक एकता स्थापित करने का सत्प्रयास किया गया। उनके साहित्य और सिद्धान्तो का व्यापक प्रचार प्रसार वर्तमान भारत के सामाजिक जीवन के कल्याण क्षेम तथा मंगल के लिए आज भी आवश्यक है।

वीर शैवो के मठ मन्दिर-तीर्थ

वीर शैवो के समस्त धर्मानुयायियो को समान धार्मिक अधिकार प्राप्त है। सभी का सम्बन्ध मठो एव मठाध्यक्ष गुरुओ से होता है। वीर शैवो मे भारत मे पाँच प्रधान मठ है और प्राचीनता की दृष्टि से उनका अपना महत्त्व है। इन पाँच मठो मे अलग अलग पाँच प्रधान महन्त, गुरु या आचार्य हुआ करते है। इन आचार्यो की परम्परा के सम्बन्ध मे 'सुप्रभेदागम' आदि ग्रन्थो मे कहा गया है कि कलियुग के आरम्भ मे पाँच शिवाचार्य हुए तथा प्रत्येक मठ के शिवलिंग से एक एक गुरु या आचार्य का आविर्भाव हुआ और उन्ही की शिष्य परम्परा मे उन उन मठो के अधिष्ठाता होते गये। इन प्रमुख पाँच मठो [redacted] विवरण इस प्रकार है—

मठ	प्रदेश	प्रथम आचार्य
केदारनाथ	गढ़वाल (उ० प्र०)	एकोराम
श्रीशैल	तेलंग प्रदेश (दक्षिण)	पण्डिताराध्य
बलेहल्ली	पश्चिम मैसूर	रेवणाराध्य
उज्जयिनी	बेल्लारि (म० प्र०)	मरुल
वाराणसी	उत्तर प्रदेश	विश्वाराध्य

इन पाँच प्रमुख मठो के अतिरिक्त विभिन्न गाँवो तथा नगरो मे लिंगायत वीर शैवो ने मठो की स्थापना की। किन्तु उन समस्त उप मठो का सम्बन्ध किसी न किसी प्रधान मठ से होता है। मठो तथा मन्दिरो की स्थापना का यह प्रचलन बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। इन मठ मन्दिरो की प्राचीनता को दृष्टि मे रखकर भारत मे सहज ही शैव सम्प्रदाय की प्राचीनता

का पता चलता है। उनमें से अनेक प्राचीन शैव मठ विनष्ट हो चुके हैं, किन्तु अनेक अभी भी वर्तमान हैं और प्रत्येक के साथ परम्परागत लोक-अनुश्रुतियाँ जुड़ी हुई हैं।

इसी प्रकार का एक प्राचीन मठ या शैव तीर्थ कर्नाटक प्रदेश में गोवा के निकट स्थित है जिसे गोकर्ण क्षेत्र के नाम से कहा जाता है। यह शैव तीर्थ लंकेश्वर रावण द्वारा स्थापित बताया जाता है। इस क्षेत्र के आस पास अनेक अन्य तीर्थ स्थान हैं। गोकर्णनाथ को मिलाकर इस क्षेत्र में आज भी पंचलिंगों का महत्त्व बना हुआ है। शेष चार शैव तीर्थ हैं—देवकी के पास सरोवर के तट पर देवेश्वर महादेव, भोंटा स्टेशन के पास गंगेश्वर महादेव, बागर गाँव में बटेश्वर महादेव और गुनेश्वर गाँव में पश्चिम में स्वर्णेश्वर महादेव।

इसी प्रकार उज्जैन या अवन्तिका (म० प्र०) में ज्योतिर्लिंग महाकाल का मन्दिर भारत के प्रसिद्ध शैव तीर्थों में से एक है। यह द्वादश ज्योतिर्लिंगों और पाँच शक्तिपीठों में गिना जाता है। दक्षिण भारत चिदम्बरम् में शिव के पंचतत्त्व लिंगों में से आकाश लिंग विराजमान है। इस मन्दिर में ताण्डव नृत्य करती हुई नटराज की भव्य एवं बहुमूल्य स्वर्ण-प्रतिमा स्थापित है। इस मन्दिर को धर्म तथा कला का अनन्य संगम माना जाता है। पतितपावनी नर्मदा नदी के मध्य में मान्धाताद्वीप पर ओंकारेश्वर भगवान का लिंग स्थापित है। इस शैव तीर्थ की गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में है। पश्चिम भारत के सौराष्ट्र प्रदेश में प्रभास नामक पौराणिक पवित्र तीर्थ है, जो कि शैवों तथा वैष्णवों का धार्मिक समन्वय का संगम-स्थल है। यहाँ पर भगवान सोमनाथ का भव्य मन्दिर है, जो कि द्वादश ज्योतिर्लिंगों में प्रथम गिना जाता है। यह लकुलीश पाशुपतों का महातीर्थ है। धर्मद्रोहियों द्वारा इसे कई बार नष्ट किया गया।

इसी प्रकार राजस्थान में उदयपुर—नाथद्वारा के बीच ऐतिहासिक हल्दी घाटी के निकट घोर जंगल में चतुर्मुख एकलिंग महादेव का मन्दिर है। काशी में भगवान विश्वनाथ का मन्दिर भारत के सभी धर्मानुयायियों का प्रमुख तीर्थ है। वीर शैवों का एक मठ जंगमबाड़ी के नाम से भी कहा जाता है। शैवों के एक महान् तीर्थ काठमाण्डू (नेपाल) में स्थित भगवान् पशुपतिनाथ का मन्दिर है। इसकी गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में है।

भारत में जहाँ भी वीर शैवों के मठ-मन्दिर और देवी-देवता हैं, उनका पूजन अर्चन दर्शन का प्रकार सगुणोपासकों के समान है। किन्तु उनमें शिवलिंग का सर्वाधिक महत्त्व है। अन्य प्रदेशों की अपेक्षा तमिलनाडु (आंध्र प्रदेश) में शैव मन्दिरों के प्रति जन भावना अधिक व्यापक है। वहाँ के शिव मन्दिर स्मार्त, वैष्णव, शैव, लिंगायत आदि सभी धर्मावलम्बियों के पवित्र स्थल हैं।

यहाँ के मन्दिरों के पुजारी प्राय ब्राह्मण हुआ करते हैं। किन्तु कुछ मन्दिरों मे अब्राह्मण पुजारी भी है जिन्हे पन्दरम् कहा जाता है।

गुरुपद की मान्यता और दीक्षा

वीरशैवों मे प्रत्येक लिंगायत का सम्बन्ध किसी एक मठ से होता है और प्रत्येक मठ का एक गुरु होता है। यह गुरुपद सभी को प्राप्त नही होता है। जगम जाति के लिंगायत ही उस पर अभिषिक्त होते है। जगमाभ्यास करने वाला व्यक्ति ही गुरुपद का अधिकारी होता है। अभ्यासी जगम आजीवन ब्रह्मचारी का कठिन व्रत धारण करता है और किसी प्रधान मठ की आचार-पद्धति के अनुसार उसकी विधिवत् शिक्षा दीक्षा होती है। गुरुपद प्राप्त जगमो की दो श्रेणियाँ है। एक श्रेणी के अभ्यासी जगम वे हैं, जो गुरुस्थल (मुख्य मठ) से पारिवारिक सस्कारो को सम्पादित कराने की शिक्षा दीक्षा लेकर गुरुपद धारण करते है और दूसरी श्रेणी के विरक्त जगम वे हैं, जिनके लिए विशेष मठ होते है और जिन्हे मठो का अन्तेवासी बनकर सम्प्रदाय की तात्त्विक दीक्षा दी जाती है। ये गुरुपद जगम ही तत्त्वचिन्तक एव एक प्रकार के आध्यात्मिक गुरु हैं। इस तात्त्विक शिक्षा म उन्हे शिवतत्त्व स एकता स्थापित करने हेतु षडाविध साधना का उपदेश दिया जाता है। साधना के ये षडग हैं—भक्ति, महेश, प्रसाद, प्राणलिंग, शरण और ऐक्य। अन्तिम ऐक्य साधना शिव के साथ भक्त या आराधक की तादात्म्य या मोक्ष की अवस्था है। गुरुदीक्षा के समय उक्त छ अवस्थाओ का नियमत पालन करना कहा गया है। भक्ति, जो प्रथम आचार है, उसका बडा महत्त्व बताया गया है। विरक्त या सन्यासी जगमो मे यह प्रथा प्रचलित है कि जब बालक आठ वर्ष का होता है, तभी उसको शिवदीक्षा दी जाती है।

इन दो श्रेणियो के अभ्यासी या गुरुपद जगमो क अतिरिक्त कुछ साधारण जगम होते है, जो विवाह करके साधारण गृहस्थ की भाँति जीवन यापन करते हैं। ये गृहस्थ जगम वर्णाश्रम धर्म क अनुयायी होते हैं और अपने गोत्र या गण के अन्तर्गत विवाह सम्बन्ध स्थापित करत है। दीक्षा के समय उन्हे जो शिवलिंग दिया जाता है, उसकी वे त्रिकाल पूजा करते हैं।

प्रत्येक लिंगायत परिवार म बाल्यकाल स ही बालक को सम्प्रदाय मे दीक्षित कर लिया जाता है। जब किसी गृहस्थ क घर मे बालक का जन्म होता है तो गुरु को आमन्त्रित किया जाता है। सर्वप्रथम गुरु नवजात शिशु पर शिवलिंग बाँधता है, रुद्राक्ष की माला पहनाता है और शरीर पर विभूति लगाता है तथा अन्त मे उसके कान मे 'ओम् नम शिवाय' इस षडक्षरी मन्त्र का उच्चारण कराता है।

दीक्षागुरु प्रत्येक दीक्षित वीर शैव को 'ओम् नमः शिवाय' इस षडक्षर मन्त्र को और इष्टलिंग को अर्पित करता है। दीक्षा के समय उस इष्टलिंग को हथेली पर रखकर प्रत्येक वीर शैव चिन्तन, ध्यान तथा आराधना करता हुआ सत्य, अहिंसा तथा सार्वभौम मैत्रीभाव जैसे उच्च नैतिक गुणों के अर्जन के लिए सचेष्ट रहने की प्रतिज्ञा करता है। गुरुदीक्षा के समय उसे सादा निरामिष जीवन व्यतीत करने और किसी भी मादक वस्तु के प्रति निरपेक्ष रहने तथा अपने इष्ट की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहने की दीक्षा दी जाती है। चोरी न करना, हिंसा से विरत रहना, असत्य भाषण न करना, अपनी प्रशंसा तथा दूसरों की निन्दा न करना और अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियों को माता के समान मानना, इन आचरणों का पालन करना प्रत्येक शैव की दीक्षा के अनिवार्य अंग हैं।

इन सार्वभौम उच्च आचारों तथा आदर्शों के कारण ही वीर शैव मत को समाज में आज भी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बनी हुई है।

सिद्धान्त-निरूपण

वीर शैवों के अपने स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त हैं। वे परम चैतन्य या परम संविद को मानते हैं, जो देशकालातीत है। उनका दार्शनिक मत 'शक्ति विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। उनके अनुसार परम चैतन्य या परम संविद ही विश्व की उत्पत्ति का कारण है। विश्व मिथ्या या भ्रममात्र है। मनुष्य उसी परम चैतन्य का विशिष्टीकरण है। साधना या भक्ति द्वारा आत्मचैतन्य का परम चैतन्य के साथ समरसता या पुनर्मिलन होता है। यही मोक्ष या परमानन्द की स्थिति है। उसमें आत्मसमर्पण पर बल दिया गया है और भक्त या उपासक का शिवस्वरूपवत हो जाना ही अन्तिम लक्ष्य माना गया है।

इस दृष्टि [redacted] वस्तुतः वीर शैव दर्शन अद्वैतवादी है; किन्तु उस परम सत्ता से ऐक्य स्थापित करने के लिए इच्छा, क्रिया और ज्ञान की आवश्यकता है। इस ऐक्य-स्थापना के लिए शिव में शक्ति सिद्धान्त की कल्पना की गई है। प्रेमशक्ति (भक्तियोग), चिन्तनशक्ति (ज्ञानयोग) और कर्मशक्ति (कर्मयोग) के सतत प्रयास से ही परमेश्वर के साथ एकता स्थापित की जा सकती है।

९ तामिल शैव

शैव सम्प्रदाय समय-समय पर अनेक शाखाओं में पल्लवित होकर अपनी लोकप्रियता को समाज में निरन्तर बढ़ाता रहा। दो प्रमुख रूपों में वह विकसित हुआ। उसका एक रूप तो भारतव्यापी था और दूसरा क्षेत्रीय या

आचलिक। तामिल शैव मत, शैव सम्प्रदाय की एक ऐसी ही शाखा है, जो क्षेत्रविशेष में ही पनपी और वहीं तक सीमित भी रही। प्राचीनता की दृष्टि से तामिल शैवमत अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वीर शैवमत की अपेक्षा वह प्राचीन है और दक्षिण भारत में उसकी परम्परा आज तक बनी हुई है।

दक्षिण भारतीय तमिल समाज में प्राचीन काल से ही स्मार्तों, वैष्णवों तथा शैवों के अलग-अलग वर्ग या सम्प्रदाय अपनी अपनी धार्मिक परम्पराओं का बड़ी निष्ठा से विकास करते आ रहे हैं। जिस प्रकार तमिल वैष्णवों को 'आलवार' कहा जाता है उसी प्रकार तामिल शैवों को 'नयनार' कहा जाता है। तामिल शैवभक्तों में लगभग ५वीं छठी शती में वर्तमान भक्त-कवि नक्कीरदेव का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'तिरुमुरुत्तुप्पदइ' नाम से सुब्रह्मण्य या मुरुह देवता की आराधना पर एक ग्रन्थ लिखा था। नयनार शिवभक्तों में सम्बन्धर, अप्पर और सुन्दरमूर्ति का नाम उल्लेखनीय है। ये तीनों व्यक्ति भक्त होने के साथ-साथ कवि भी थे और आलवार भक्तों की भाँति स्वरचित भजनों को गा गा कर जन-सामान्य को अपने भक्तिमार्ग से सहज ही मोह लेते थे। भक्त सम्बन्धर तथा अप्पर ७वीं शती ई० में और भक्त सुन्दरमूर्ति ९वीं शती ई० में हुए। ये भक्तकवि अपने अनुयायियों के साथ मन्दिर-मन्दिर में जाते थे और नटराज तथा उमा की मूर्तियों के चारों ओर बैठकर अपने भजनों को गाकर भाव विह्वल होकर नाचते थे। उनके पीछे भक्तजनों की तांता लगा रहता था। चैतन्य सम्प्रदाय के भक्तों की भाँति ये नयनार तामिल शिवभक्त टोली बाँधकर 'नगर संकीर्तन' करते थे।

सुन्दरमूर्ति से लगभग सौ वर्ष पूर्व ८वीं शती ई० में कविभक्त तिरु-मूलर हुए। उन्होंने आगमों के धार्मिक नियमों के अनुरूप तिरुमन्त्रम्' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसका बड़ा सम्मान हुआ। उनके बाद शैवमत पर सुन्दरमूर्ति के समकालीन माणिक्कवाचकर ने ९वीं शती ई० में तिरुवाचकम्' (पवित्र भजनावली) नामक बहुमूल्यक भजनों एवं गेय पदों की रचना की। वे मदुरा के निवासी थे। बाद में उन्होंने सन्यास धारण कर लिया था। उनके पदों में तिरुमूलर भक्तकवि की भाँति परम्परागत पुराणों तथा आगमों का प्रभाव था।

तामिल शैवमत की इस परम्परा को आगे बढ़ाने वाले आचार्यों, भक्तों, कवियों एवं सन्तों ने १०वीं से १४वीं शती के बीच तामिल शैवों की उपासना-विधि को शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया और १२ सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना कर तामिल शैवमत को व्यवस्थित किया। १३वीं शती ई० में वर्तमान भक्तकवि मेयकण्ड तामिल शैव-परम्परा के आधार माने जाते हैं।

उनका जन्म मद्रास के उत्तर पेन्नार नदी के तट पर एक शूद्रकुल में हुआ था। वे एक महात्मा थे और उन्होंने मूल संस्कृत शैवागम के १२ सूत्रों [illegible] तमिल भाषा में अनुवाद किया था। साथ ही उन पर अपनी टिप्पणियाँ भी लिखी। उनके शिष्यों में अरुलनन्दीदेव और मरैज्ञानसम्बन्दर हुए। अरुलनन्दी के शिष्य मरै ज्ञान सम्बन्ध थे, जो कि शूद्रकुल में पैदा हुए थे। उनके शिष्य उमापति शिवाचार्य हुए, जो कि ब्राह्मणवंशीय थे। इन चारों को तमिल शैव परम्परा के चार सनातन आचार्य कहा जाता है। उमापति शिवाचार्य इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हुए जिन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और तमिल शैवमत को अधिक परिपुष्ट बनाया।

उक्त आचार्यों के बाद तमिल शैवमत की परम्परा को प्रवर्तित करने वाले आचार्यों तथा कवियों का लम्बे समय तक अभाव बना रहा। १८वीं शती में इस मत के प्रवर्तकों में शिवज्ञानयोगी, काजी अप्पर, परज्योति और तायुमानवर हुए। इस शैवमत का 'शिवज्ञानबोध' प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। उस पर शिवज्ञानयोगी ने दो भाष्य लिखे, एक बड़ा और दूसरा छोटा। बड़े भाष्य का नाम 'द्राविड़ महाभाष्य' और छोटे का नाम 'लघुटीका' है। अपने शिष्य काजी अप्पर के साथ उमापति ने एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा, जिसका नाम है—'काञ्चीपुराणम्'। आचार्य परज्योति रचित कथा संग्रह 'तिरुविलैआसपुराणम्' का नाम भी उल्लेखनीय है।

इन १८वीं शती के भक्तकवियों ने अपने भजनों में इस ग्रन्थ की लुप्तप्राय प्रतिष्ठा को पुनरुज्जीवित किया। किन्तु उनके बाद नयनार शिवभक्तों की परम्परा उनके धार्मिक मठों तक ही सीमित हो गई। जिस परम्परा को अनेक कवियों तथा आचार्यों ने प्रतिष्ठित तथा प्रवर्तित किया था, सुयोग्य उत्तराधिकारियों के अभाव में वह अवरुद्ध हो गई। यद्यपि तमिलनाडु में आज भी शिवभक्तों तथा अनेक मठ मन्दिरों का अस्तित्व बना हुआ है, तथापि परम्परा का यह चिह्नमात्र है। अपनी प्राचीन परम्परा में तमिल शैवमत गरिमामय ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

इस प्रकार दक्षिण भारत में तमिल शैवों ने शिवोपासना एवं शिवभक्ति को अनेक शताब्दियों तक अक्षुण्ण बनाये रखा और उदार तथा सार्वभौम आचारों का प्रचार-प्रसार कर समाज में एकता तथा समन्वय की भावना को सुदृढ़ बनाने में अपना अविस्मरणीय योगदान किया।

६ काश्मीर शैवमत

शैवमत से सम्बन्धित भारत के विभिन्न अंचलों में, वहाँ के जन-मानस की निष्ठाओं, विश्वासों तथा मान्यताओं के अनुसार जो अनेक धाराएँ

प्लवित हुई, उनमें काश्मीर शैवमत का भी अपना अलग महत्त्व है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में काश्मीर शैवमत अद्वैतवादी था। किन्तु ८वीं शती ई० में जब आचार्य शंकर दिग्विजय के लिए काश्मीर गये तब उनके प्रभाव से शैव आचार्य अद्वैतवादी हो गये। किन्तु शांकर अद्वैतवाद से काश्मीर प्रत्यभिज्ञादर्शन भिन्न है। अद्वैतवेदान्त में जगत् को ब्रह्म का विवर्त (भ्रम) माना गया है जब कि काश्मीर अद्वैतवादी में जगत् को ब्रह्म का आभास बताया गया है।

काश्मीर शैव शाखा के प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त (९वीं शती) को माना जाता है। उन्होंने ९०७ वि० में 'शिवसूत्र' की रचना कर शैवागमों की द्वैतवादी शिक्षाओं के स्थान पर अद्वैतवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपनी इस कृति में काश्मीर शैवमत पर द्वैतवादी आगमों के प्रभाव को पूर्णतया समाप्त किया और अद्वैतवादी मत का मण्डन किया। उनके बाद कल्लटाचार्य ने 'स्पन्दसूत्र' या 'स्पन्दकारिका' नाम से एक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की और उसमें आचार्य वसुगुप्त के सिद्धान्तों को परिपुष्ट किया। 'स्पन्दकारिका' काश्मीर शैवमत की इतनी महत्त्वपूर्ण कृति सिद्ध हुई कि उसी के नाम से काश्मीर शैवमत को 'स्पन्दशास्त्र' के नाम से कहा गया। उसमें प्रत्यभिज्ञा पर विशेष बल दिया है जिसमें सृष्टि को शक्ति के माध्यम से शिव का आभास बताया गया। उन्होंने त्रिक् के सिद्धान्त का विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रतिपादन किया। त्रिक् शिव, शक्ति एवं अणु अथवा पति, पाश एवं पशु। इस त्रिक् के अनुसार ज्ञान ही मुक्ति का साधन है और त्रिक् सिद्धान्त द्वारा जीव तथा ईश्वर में ऐक्य स्थापित हो सकता है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार महेश्वर ही जगत के कार्य और कारण, दोनों हैं, वही ज्ञाता तथा ज्ञानस्वरूप है। यह समस्त जगत् शिवमय है। घट-पटादि का ज्ञान भी शिवमय है। पूजा, पाठ, जप, तप आदि सब व्यर्थ हैं। शिव के साथ तादात्म्य स्थापित करना, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा या ज्ञान मुख्य है। प्रत्यभिज्ञा की स्थिति ही मोक्ष है। जीवात्मा-परमात्मा में जो भेद है, वह वास्तविक नहीं, भ्रमजनित है। भक्त का ध्यान में शिव की अनुभूति करना ही जीव तथा ब्रह्म के तादात्म्य की चरम स्थिति है।

इस धर्मशाखा के सिद्धान्तों के अनुसार कठोर यौगिक साधना द्वारा परम शिवतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है। परम शिव का अनुभव ही मोक्ष है। काश्मीर शैवमत पर सोमानन्द की 'शिवदृष्टि', उत्पलाचार्य की 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' और अभिनवगुप्त का 'तन्त्रालोक' द्रष्टव्य है।

७ लकुलीश शैवमत

शैवमत की विभिन्न शाखाओ मे लकुलीश का भी एक नाम है। इस शाखा के सम्बन्ध मे पुराण ग्रन्थो मे चर्चा की गई है। वहाँ कहा गया है कि एक समय भगवान् शकर योगबल से किसी मृतक के शरीर मे प्रवेश कर गये थे और वह जीवित हो उठा। *उसे शिव का लकुलीश अवतार कहा गया।* 'वायुपुराण' मे पाशुपतो की लकुलीश शाखा का उल्लेख हुआ है। उसमे कहा गया है कि अट्ठाईस युगो मे प्रत्येक युग मे शिव स्वय अवतार धारण करेंगे। *जब कृष्ण वासुदेव अवतार लेंगे, तब शिव अपनी योगशक्ति से कायारोहण* नामक स्थान पर किसी मृतक व्यक्ति के शरीर मे प्रवेश कर लकुलीश नामक सन्यासी के रूप मे उनका प्रादुर्भाव होगा। उनके चार शिष्य होगे—कुशिक, गार्ग्य, मित्र या मैत्रेय और कौरुष्य। वे भस्म धारण कर पृथ्वी पर पाशुपत योग की स्थापना करेंगे। इस पुराण-कथा मे कितनी सत्यता है, कहा नहीं जा सकता है।

इस कायारोहण, कारोहण या करजण नामक स्थान के सम्बन्ध मे मत-मतान्तर देखने को मिलते हैं। उदयपुर (राजस्थान) से नाथद्वारा जाते समय ऐतिहासिक हल्दीघाटी के पास घोर जगल मे एकलिंग भगवान का शिव मन्दिर है। उसमे प्राप्त एक शिलालेख मे ऐसा उल्लेख हुआ है कि परम शिव भडोच (गुजरात) मे अवतरित होकर हाथ मे लकुलीश (लाठी) धारण करेंगे। जिस स्थान पर उन्होने अवतार धारण किया उसे कायारोहण कहा जाता है। 'चित्रप्रशस्ति' के अनुसार शिव लाटदेश के कारोहण (काया-वरोहण या कर्जण) नामक स्थान मे पाशुपत मत के प्रचारार्थ अवतरित हुए। वहीं उनके उक्त चार शिष्यो का आविर्भाव हुआ। भूतपूर्व बडोदा राज्य के करजण नामक स्थान पर आज भी शिवावतार लकुलीश भगवान का एक मन्दिर स्थित है। इस प्रकार भडोच, लाटदेश तथा बडोदा मे पारस्परिक *भौगोलिक तारतम्य स्थापित करने और कारोहण, कायारोहण या करजण* अथवा कर्जण नामक स्थान की वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाने के उपरान्त ही उक्त उल्लेखो की ऐतिहासिक सत्यता का पता लगाया जा सकता है।

विद्वानो का अभिमत है कि 'पचाध्यायी' के निर्माता आचार्य लकुलीश प्रथम शती ई० मे हुए। उन्होने ही शैव सिद्धान्तो का सर्वप्रथम विवेचन किया।

माधवाचार्य (१४वीं शती ई०) के 'सर्वदर्शनसग्रह' मे शैव सम्प्रदाय की तीन शाखाओ का उल्लेख किया गया है, जिनके नाम हैं—नकुलीश, पाशुपत और प्रत्यभिज्ञा (शैव सिद्धान्त)। नकुलीश या लकुलीश शाखा के सस्थापक आचार्य लकुलीश थे, जिन्होंने शकर भगवान से पाँच तत्त्वो का

द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है और इस विधि से मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

शरीर की अमरता के लिए रासायनिक प्रक्रियाओं का आधार बताया गया है। इस मत के अनुयायियों का सिद्धान्त है कि पारदादि रसायनों के विधिवत् सेवन से शरीर को अमर बनाया जा सकता है। पारद से मारण, मूर्छीकरण और बन्धनादि क्रियाएँ सिद्ध की जा सकती हैं। पारद का शिवलिंग ही इस मत के अनुयायियों का आराध्यदेव है। उनके मत से पारद एक ऐसा रसायन है जिससे रसमय ब्रह्म से साधक तारतम्य स्थापित कर सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से उनका कहना है कि जीवन रूप जड़ धातु को ज्ञानरूप रसायन से ब्रह्मरूप सुवर्ण में परिवर्तित किया जा सकता है।

इस प्रकार शैवमत में रसेश्वर शैवों का अपना अलग सिद्धान्त और साधना की सर्वथा निराली प्रक्रियाएँ रही हैं। इस रसमय सिद्धान्त के द्वारा उन्हें किस सीमा तक सफलता मिली, कहा नहीं जा सकता है। किन्तु अपनी विभिन्न स्थापनाओं के कारण उनका अस्तित्व अधिक समय तक नहीं बना रहा।

साहित्य-निर्माण

शैवमत से सम्बन्धित धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। धार्मिक साहित्य के निर्माण में लिंगायत शैवों का विशेष योगदान रहा। यद्यपि यह ग्रन्थ निर्माण बहुत प्राचीन समय से ही होता रहा, किन्तु १३वीं शती के बाद उसकी अधिकता देखने को मिलती है। आगे निरन्तर १८वीं शती तक उनका निर्माण होता गया।

लिंगायत शैवों का साहित्य निर्माण विशेष रूप से दक्षिण भारत में हुआ। उसकी भाषा या तो संस्कृत है या कन्नड अथवा तेलुगु। शैवमत पर लिखी हुई प्राचीनतम कृति 'सूतसंहिता' है, जो कि संस्कृत में है और जिसकी रचना पुराणों से पहले हुई। उनके प्रमुख ग्रन्थों में 'पण्डिताराध्य का जीवन' बड़े महत्त्व का है, जिसे आचार्य पाल्कुर्की सोमनाथ ने लिखा। उसकी भाषा संस्कृत-तेलुगु मिश्रित है। इन्हीं आचार्य ने 'बसन्तपुराण' नाम से विरचित तेलुगु रचना वीरशैव सम्प्रदाय की प्राचीनतम कृतियों में से है। इन ग्रन्थों की रचना आचार्य सोमनाथ ने १३वीं शती में की। 'बसन्तपुराण' का आचार्य भीमचन्द्र ने कन्नड़ में अनुवाद किया। कन्नड़ में इस सम्प्रदाय पर अनेक ग्रन्थों की समय-समय पर रचना हुई। कन्नड भाषा में रचित 'शिक्षाएँ', जिन्हें 'वचन' कहा जाता है, का शिवभक्त जनता में व्यापक प्रचार प्रसार है।

वीर शैवमत के एक आचार्य राघवाङ्क नाम से १४वीं शती में हुए। उनके गुरु का नाम हरिहर था। 'सिद्धराय' नाम से उनका लिखा हुआ कन्नड़

भाषा का पुराण प्रसिद्ध है। इसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थों में 'महावसवपुराण' या 'वसवपुराण' उल्लेखनीय है। इस पुराण ग्रन्थ का इसलिए भी महत्त्व है कि उसमें शैवमत का और विशेष रूप से १२वीं शती के बाद प्रचलित एवं प्रसिद्ध शैवधर्म का व्यापक विवेचन हुआ है। शैवधर्म सम्बन्धी आचार तथा दर्शन का भी उसमें समावेश है। इस पुराण के रचयिता आचार्य सिंगीराज ने १४५० वि० में उसकी रचना की। इस पुराण के तेलुगु तथा तमिल, दो भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। इसी से उसकी लोकप्रियता तथा मान्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन-संग्रह' में शैवदर्शन के प्रसंग में अघोर शिवाचार्य के मत को उद्धृत किया गया है। श्रीकण्ठ ने ५वीं शती में जिस शैवमत का पुनरुत्थान किया, उसको अघोर शिवाचार्य ने ११वीं-१२वीं शती में पुनरुज्जीवित किया। उसकी 'मृगेन्द्रसंहिताव्याख्या' शैवमत का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है।

१५वीं शती में आचार्य तोण्ट सिद्धेश्वर ने 'वीरशैवप्रदीपिका' लिख कर सम्प्रदाय की आचारिक एवं वैचारिक परम्परा को अधिक शास्त्रीय ढंग से प्रतिपादित किया। लिंगायत शैव शाखा से सम्बन्धित एक ग्रन्थ 'प्रभुलिंगलीला' नाम से आचार्य चामरस ने १५१७ वि० में लिखा। उसका तमिल पद्यानुवाद १७वीं शती में शिवप्रकाश स्वामी ने किया। यह ग्रन्थ वसव के सहयोगी मन्त्र अरननाम प्रभु के जीवन से सम्बन्धित है। किन्तु समस्त शैवानुयायियों में उसका समान रूप से सम्मान है। १६वीं शती में षडक्षरदेव ने कन्नड भाषा में 'राजेश्वरविलास' नाम से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। 'नरसिंह आगम' भी शैव आगम का एक प्राचीन ग्रन्थ है जिसके अन्य नाम 'शर्वोक्ति' या सर्वेत्तिर' है।

आगमिक शैवों में आचार्य नीलकण्ठ १७वीं शती में हुए। उन्होंने 'वेदान्तसूत्र' के 'श्रीकरभाष्य' पर 'क्रियासार' नाम से संक्षिप्त टिप्पण लिखा। यह ग्रन्थ वस्तुतः लिंगायतों से सम्बंधित है। किन्तु शैवतत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्तों को उसमें सरल ढंग से प्रतिपादित किया गया है। वीर शैव सम्प्रदाय के एक विश्वकोशात्मक ग्रन्थ 'विवेकचिन्तामणि' की रचना आचार्य निजगुण शिवयोगी ने १७वीं शती में की थी। इस विशाल ग्रन्थ में सम्प्रदाय की गरिमा-महिमा तथा निर्देश-उपदेश विस्तार से वर्णित हैं। वीरशैवों का एक अन्य ग्रन्थ 'वेदसार-वीरशैवचिन्तामणि' है, जो कि १८वीं शती में रचा गया और जिसके रचनाकार का नाम नन्नाचार्य था।

इस प्रकार शैवमत पर संस्कृत, कन्नड, तमिल, तेलुगु आदि अनेक भाषाओं में लम्बे समय तक ग्रन्थ-रचना होती रही और उन अमर एवं

गंभीर ज्ञान-सम्पन्न कृतियो मे सजीवित तथा पल्लवित होता हुआ शैवमत व्यापक समाज मे अपनी लोकप्रियता एव महत्त्व को बनाये रखा। भारत की धार्मिक परम्परा मे शैवमत का इस दृष्टि से भी महत्त्व है कि उसके द्वारा सामाजिक सुधारो पर भी नया प्रकाश पडा। समाज को नया प्रगतिशील जीवन-दर्शन मिला।

शैवो का प्रतीक चिह्न त्रिपुण्ड्रेखा

शैव सम्प्रदाय के अनुयायियो की विशेष पहचान उनकी तिलक-रचना से परिलक्षित होती है। शैवो मे सम्प्रति उदासीन मत के लोग अधिक हैं। उन्हे सन्यासी और गोसाईं या गुसाईं कहा जाता है। वैष्णवो में भी गोसाईं होते हैं, किन्तु दोनो की पहचान उनके ललाट पर अंकित तिलक द्वारा स्पष्ट हो जाती है। वैष्णव गोसाईं नासामूल से लेकर केशपर्यंत, ललाट पर खड़ा तिलक धारण करते हैं, जब कि शैव गोसाईं ललाट के वाम पार्श्व से दक्षिण पार्श्व पर्यन्त समानान्तर भस्म की तीन पडी रेखाएँ अंकित करते हैं। शैव वैष्णवो की तिलक रेखा ऊर्ध्वपुण्ड्र होती है और शैवो की लम्बायन त्रिपुण्ड्र रेखा। ललाट के अतिरिक्त वक्षस्थल, भुजाओ तथा शरीर पर और अन्य अगों पर भी त्रिपुण्ड्र भस्म रेखाएँ अंकित होती हैं। इन रेखाओ को शिवभक्ति के सायुज्य (एकत्व) का प्रतीक माना जाता है।

शाक्तमत

भारत के धार्मिक इतिहास मे शाक्तमत जितना प्राचीन है, उतना ही उसका व्यापक प्रचार-प्रसार भी देखने को मिलता है। शाक्तमत का आधार श्रुति और स्मृति रही है। आदिम महाशक्ति के रूप मे जगद्‌विधायिनी महाकला की उपासना-पूजा-प्रतिष्ठा एवं स्तवन-अर्चन मानव जाति के अभ्युदय के साथ ही जुडा हुआ मिलता है। वैदिक युग की आर्य-आर्येतर जातियो की पुरातन संस्कृति एवं आस्थाओ मे शक्ति की उपासना के बीज अंकुरित हुए मिलते हैं, जो परवर्ती युगो मे अधिकाधिक व्यापक तथा अनेक रूप-रूपान्तरो मे पल्लवित एवं विकसित होते गये। भारत मे आदिकाल से जितने भी सम्प्रदाय, मत या पन्थ प्रकाश मे आये, उन सबकी आस्थाओ के मूल मे एक शक्ति या महाशक्ति का अस्तित्व सन्निहित रहा है। प्रत्येक सम्प्रदाय के उपासक की एक आराध्या शक्ति रही है और इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय किसी-न-किसी रूप मे शक्ति का उपासक रहता आया है। इसी शाश्वत, पुरातन एवं सार्वजनीन भावना से जन-सामान्य मे अनादि आराध्या शक्ति को प्रथम संपूजित माना गया है।

सृष्टि की आद्याशक्ति की उपासना के सूत्र वेदो से लेकर उपनिषदो, 'रामायण', 'महाभारत', 'गीता', पुराणो और जैन-बौद्धो के साहित्य में सर्वत्र प्रचुर रूप मे बिखरे हुए हैं। वेदो मे वाक्, सरस्वती, श्रद्धा, महालक्ष्मी, महाशक्ति, पृथ्वी, अदिति आदि स्त्री-शक्तियो की कल्पना की गई है। समस्त देवो तथा सहचरी देवियो का आधान भी वेदो मे ही वर्णित है। ऋग्वेद के अष्टम अष्टक मे 'इयं शुष्मेभि' कह कर महाशक्ति सरस्वती की वन्दना की गई है। ऋग्वेद के एक मंत्र (६।६१) मे कहा गया है कि "हे इन्द्र, मे अग्नि और अश्विनीद्वय का अवलम्बन करती हूँ। मेरा आश्रय-स्थान विशाल है। मैं समस्त प्राणियो मे आविष्ट हूँ। जो मुझे नही मानते हैं, वे क्षीण हो जाते हैं। जिस पर मेरा अनुग्रह हो जाता है, उसे मैं बलवान् स्तोता, ऋषि या बुद्धिमान् बना सकती हूँ...।' सामवेद के 'वार्चयस सूक्त' मे 'हु-वाइ वाचम्' तथा 'ज्योतिष्टोम सूक्त' के 'वाक् विसर्जन स्तोत्र' मे वाणी की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती के बहुविध रूपो की कल्पना की गई है। यजुर्वेद (अ० २।२) मे 'सरस्वत्यै स्वाहा' मंत्र मे सरस्वती को आहुति-दान का उल्लेख हुआ है। यजुर्वेद (अ० ५।१६) मे ही पृथ्वी तथा अदिति आदि देवियो का स्तुत्य वर्णन हुआ है।

इसी वेद (अ० १७।५५) मे पाँच दिशाओ के विघ्न-बाधा-निवारक इन्द्र, वरुण, यम, सोम तथा ब्रह्मा आदि देवो की रक्षात्मक पाँच शक्तियो का आवाहन किया गया है। अथर्ववेद (४।३०) मे वर्णन हुआ है कि 'मैं सभी रुद्रो, वसुओ तथा आदित्यो और समस्त देवो के साथ सचरण करती हूँ।' इसी वेद (१०।१२५) मे भुवनमोहिनी आद्याशक्ति कहती हैं—'मैं समस्त देवो के साथ उनमें व्याप्त हूँ।' इसी प्रकार अथर्वशीर्ष, 'श्रीसूक्त', 'देवीसूक्त' आदि सन्दर्भों मे शक्ति के विराट स्वरूप, सृष्टि का एकमात्र आधार सर्वव्यापिनी महाशक्ति का स्तवन किया गया है।

. वेदो की अपेक्षा उपनिषदो मे सृष्टि की सर्जनात्मक आद्याशक्ति का अधिक स्पष्ट तथा प्रभावकारी वर्णन देखने को मिलता है। 'केनोपनिषद्' मे कहा गया है कि हैमवती (पार्वती) ने महाशक्ति के रूप मे प्रकट होकर ब्रह्मतत्व का उपदेश दिया था। दस प्रमुख उपनिषदो मे दस महाविद्याएँ दस महाशक्तियो की प्रतीक हैं। उपनिषदो की ब्रह्मप्रतिरोधिनी माया एव अविद्या जगत्प्रपच मे विमोहित करने वाली ऐसी दिव्य शक्तियाँ हैं, जो द्वन्द्वात्मक एव भ्रमजनित मिथ्यात्व की विधायिनी हैं, किन्तु जो ब्रह्मरूप मे ही पर्यवसित है। उपनिषदो की कलाएँ-विकलाएँ, जो सृष्टि-रचना की अपरिहार्य साधन हैं, वस्तुत शक्ति के ही सर्वव्यापी स्वरूप की प्रतीक हैं।

वेदो तथा उपनिषदो के ऋषि-महर्षियो के कार्य-कारण रूप जिस माया शक्ति का वर्चस्व स्वीकार किया है और जिसकी अपराजेय, अपरम्पार सत्ता को बार-बार नमन किया है। आदिकवि वाल्मीकि और पुराणकार व्यास ने भी उसकी सर्वव्यापकता के प्रति विनम्र वन्दनाभाव व्यक्त किये हैं। 'रामायण' तथा 'महाभारत' मे सृष्टि समोहिनी जगद्धात्री की स्तुति वर्णित है। 'रामायण' की सीता 'महाभारत' की द्रौपदी देहधारी मानव जगत् की ऐसी महाशक्तियाँ हैं, जिनके चरित्रों मे दिव्यता एव भव्यता परिव्याप्त है और जिनके उदात्त, सर्वगुणोपेत आदर्शों की पूजा आज भी प्रत्येक भारतीय करता है। 'भगवद्-गीता' मे भगवान् ने अपनी द्विधा प्रकृति और माया का जो विस्तार, स्वरूप एव प्रभाव बताया है, वह महाशक्ति का ही व्युत्पन्न स्वरूप है।

परवर्ती पौराणिक युग मे जगद्विधायिनी आद्याशक्ति ने अनन्त रूपो को लेकर जिन बहुविध तन्त्र-ग्रन्थो का निर्माण हुआ और कई युगो तक भारत के वेद-वेदान्त-विद् मनीषियो ने तान्त्रिक उपासना के सर्वव्यापी प्रभाव को वरण किया, उसके स्वरूप एव अस्तित्व के सूत्र बहुत पहले प्रकाश मे आने लगे थे। 'रामायण' मे बला और अतिबला नामक विद्याओ का उल्लेख हुआ है, जो कि तान्त्रिक महाविद्याओ की भाँति हैं और जिनकी उपासना का

प्रकार तांत्रिक है। इसी प्रकार 'महाभारत' (शा०, अ० २५९) में कहा गया है कि सर्वतोमुखी वेदतंत्र द्वारा समान रूप से सभी वर्णों को मोक्ष प्राप्ति का समान अधिकार है। उन अन्त्यजों को भी, जिन्हें वेदों तथा स्मृतियों के अध्ययन-आचरण से वंचित किया गया है। इस प्रकार महाभारतकार ने तंत्र-विद्या को स्वतंत्र वेद मानकर उसकी सार्वभौमिकता और सर्वजनोपयोगिता को प्रमाणित किया है।

वेदों तथा उपनिषदों और 'रामायण', 'महाभारत' की अपेक्षा पुराणों में शक्ति के स्वरूप और उसकी उपासना पद्धति पर विस्तार से चर्चाएँ हुई हैं। 'मार्कण्डेय', 'देवीभागवत', 'कालिकापुराण' तथा 'भागवत' आदि पुराणों में महाशक्ति के विराट् स्वरूप की कल्पना की गई है और उसके विभिन्न स्वरूपों की साधना उपासना की विधियों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। वेदों तथा उपनिषदों में आद्या महाशक्ति के स्वरूप की सूत्ररूप में जो चर्चाएँ वर्णित हैं, पुराणों में उनका व्यापक व्याख्यान किया गया है। 'मार्कण्डेय-पुराण' का 'दुर्गासप्तशतीस्तोत्र' यह स्थापित करता है कि विश्वरूपात्मक आद्याशक्ति भगवती दुर्गा समस्त देवताओं की अधिष्ठात्री है। भगवद्गीता' की ही भाँति 'दुर्गासप्तशती' भी प्रत्येक धर्मप्राण भारतीय परिवार की पवित्र पुस्तक है। वर्ष में दो बार चैत्र और आश्विन मास में प्रत्येक शक्तिपीठ और परिवार में भगवती दुर्गा के विभिन्न रूपों की पूजा-अर्चना की परम्परा आज भी विद्यमान है। 'भागवत' (स्क० ४, अ० ४) में शिव को शाप देते हुए भृगु ऋषि ने जिस शिवदीक्षा का वर्णन किया है उसका सम्बन्ध स्पष्टतः तांत्रिक शाक्तमत से है। इसी पुराण के ग्यारहवें स्कन्ध में केशव की पूजा तांत्रिक विधि से करने का उल्लेख है।

पुराणों पर आधारित 'नारद पांचरात्र' में शिव के साथ शक्ति और महाशक्तिरूपा दस महाविद्याओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। पुराणों के युग में प्रत्येक देवता के साथ उसकी शक्तिरूपासहचरी का उल्लेख हुआ मिलता है, यथा—नारायण के साथ लक्ष्मी, शिव के साथ शिवा, सूर्य के साथ सावित्री और गणेश के साथ अम्बिका आदि। सीताराम, राधाकृष्ण, लक्ष्मी-नारायण, उमामहेश्वर और गौरीगणेश के युगल पति-पत्नी-सम्बन्धों में शक्ति-स्वरूपा स्त्रीतत्त्व का उल्लेख पहले हुआ है।

परवर्ती साहित्य में शाक्तमत से सम्बन्धित, विशेषरूप से तांत्रिक वाम-मार्ग के सम्बन्ध में, बहुविध सामग्री देखने को मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरी शती ई० तक तंत्रविद्या का पर्याप्त प्रचार हो चुका था और ऐसे तांत्रिक उपासकों को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था।

बौद्ध महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थ 'ललितविस्तर' (३०० ई०) मे कहा गया है कि 'कुछ लोग श्मशानो तथा चौराहो पर बैठकर साधना करते थे। वे अपनी पूजा मे मद्य-मांस का प्रयोग करते थे। इसी से विदित होता है कि तथागत बुद्ध के समय मे ही वाममार्गियो का प्रभाव प्रकाश मे आ गया था। बुद्ध ने ऐसे उपासको को निरा पाखण्डी बताया है। जैन-साहित्य मे बुद्धकीर्ति नामक एक ऐसे मुनि का उल्लेख हुआ है जो कि समस्त शास्त्रो मे विख्यात था, किन्तु मछलियो का आहार करता था। अपने उस आचरण के कारण वह उच्च जैनाचार से भ्रष्ट होकर रक्ताम्बर धारण करने लग गया था और एकान्त मत का अनुयायी एव प्रचारक हो गया था।

इस प्रकार न केवल शाक्तमतानुयायियो मे, अपितु जैन-बौद्धो मे भी वाममार्गी उपासना-पद्धति का प्रचार प्रसार हो चुका था और उनमे आचार की स्वतत्र, उन्मुक्त एव स्वेच्छाचारी परम्पराएँ प्रचलित हो चुकी थी। लगभग ७ वी शती ई० तक इन वाममार्गी उपासको मे नरबलि की प्रथा भी व्याप्त हो चुकी थी। सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय भारत-यात्रा पर आये चीनी यात्री ह्वेन त्साग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त मे लिखा है कि एक बार अयोध्या मे पूर्व दिशा मे वे शक्ति-उपासको के एक ऐसे सगठन से घिर गये थे, जो उनकी नरबलि देना चाहता था। किन्तु वे किसी प्रकार वहाँ से भाग निकले थे।

उपर्युक्त बहुविध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक परिपार्श्व मे ही शाक्तमत का अस्तित्व प्रकाश मे आ चुका था। वेदो, उपनिषदो तथा पुराणो की सृष्टि प्रक्रिया मे सर्वत्र ही कहा गया है कि एकमेव परमतत्त्व परमेश्वर की इच्छा या वासना के फलस्वरूप इस ब्रह्माण्ड की रचना हुई। परमेश्वर की इच्छारूपी बीजशक्ति ही सृष्टि के उदय का कारण बनी। इस इच्छा से उसने स्वय को दो भागो मे विभक्त किया—एक से पुरुष तत्त्व और दूसरे से स्त्री तत्त्व का आविर्भाव हुआ। इन्ही दोनो के सयोग से सृष्टि की उत्पत्ति हुई।

सृष्टि-विधायक इस स्त्री तत्त्व को आद्याशक्ति, महामाया या प्रकृति आदि विभिन्न नामो से कहा गया। उसकी सत्ता ब्रह्म की सत्ता की भाँति अनादि, अनन्त एव अपरिमित है। परब्रह्म के समस्त गुणो एव विभूतियो का उसमे स्वत आधान है। इस आद्याशक्ति या मूल प्रकृति का विस्तार सर्वथा स्वतत्र रूप मे हुआ। उसके द्वारा सृष्टि-रचना का विस्तार अश, कला, कलाश और अशाश आदि विभिन्न रूपो हुआ। उसके कलारूप मे स्वाहा, स्वधा, दक्षिणा, स्वस्ति, पुष्टि, तुष्टि, दिति और अदिति की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार कलांश तथा अशाश से विभिन्न देवियाँ, अप्सराएँ, मानव देहधारी स्त्रियाँ तथा

पशु शरीरधारी स्त्रीलिंगों की सृष्टि हुई। उसी आद्याशक्ति से लक्ष्मी, दुर्गा, सावित्री तथा पार्वती आदि का आविर्भाव हुआ, जिनके महनीय वरदानों तथा कृपाओं से देवताओं तथा मानव-जाति के संकटों का निवारण होता रहा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विश्व के मूल में आद्याशक्ति ही विद्यमान रही है और उससे आविर्भूत विभिन्न शक्तिरूपों की आराधना-उपासना के फलस्वरूप शाक्तमत का जन्म हुआ। इस मत के अनुयायियों द्वारा दस महाविद्याएँ परम आराध्या मानी जाती हैं। 'निगमों' में जिसे विराट् विद्या' कहा गया है, 'आगमों' में उसे महाविद्या' नाम दिया गया है। दक्षिण तथा वाम, दोनों मार्गों के शाक्त समान रूप से इन दस महाविद्याओं की उपासना और साधना करते है। ये दस महाविद्याएँ हैं—१ महाकाली, २. उग्रतारा, ३. षोडसी, ४. भुवनेश्वरी, ५. छिन्नमस्ता, ६ भैरवी, ७ धूमावती, ८ बगुलामुखी, ९ मातंगी और १० कमला।

तांत्रिक दीक्षा

शाक्तमत की तांत्रिक दीक्षा बड़ी जटिल और ऊहापोहमयी है। उसमे विधिवत् दीक्षा प्राप्त करने वाले विरले ही अधिकारी होते हैं। दीक्षा के समय सर्वप्रथम शिष्य को देवता का गूढ अर्थ एवं रहस्य समझाया जाता है और साथ ही उसे गुगोपित रखने के कठोर निर्देश दिये जाते है। गोपनीयता के ये निर्देश नितान्त भावेतिक होते हैं और उनके अर्थ भी सर्वथा काल्पनिक होते हैं। बीजमन्त्र एकाक्षरी और अर्थहीन होते हैं, यथा—ह्रीं, क्लीं, श्रीं ऐं, क्रूं आदि। इन बीजमन्त्रों की गोपनीयता के सम्बन्ध में कहा गया है कि धन, स्त्री और यहाँ तक कि स्वयं को भी अर्पित करके उनकी रक्षा करनी चाहिए। दीक्षित एवं अभिषिक्त व्यक्ति के अतिरिक्त मन्त्रों के रहस्य को किसी अन्य के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए।

दीक्षित साधक की अन्तर्बाह्य मलिनताओं के पवित्रीकरण के लिए पाँच प्रकार की शुद्धियाँ बताई गई हैं, जिनके नाम हैं—१. आत्मशुद्धि, २. स्थानशुद्धि, ३. मन्त्रशुद्धि, ४. द्रव्यशुद्धि और ५ देवताशुद्धि। इन शुद्धियों से परिशुद्ध साधक देवता के पूजन का अधिकारी होता है।

साधना के समय साधक अनेक दिव्य नामों तथा बीजाक्षर मन्त्रों का उच्चारण करते हुए साथ ही तदनुसार अनेक प्रकार के अंगन्यासों तथा करन्यासों का प्रयोग करता है। मन्त्राक्षरों के उच्चारण के साथ शरीर के विभिन्न अंगों का स्पर्श करते जाते हैं, जिससे कि शरीर के उन-उन अंगों में दिव्य शक्ति का आधान हो।

उपासना पद्धति

शाक्तमत की उपासना-पद्धति भी, तांत्रिक दीक्षा की भाँति, नितान्त सुगोपित एवं निजी है। उपासना के लिए तीन भावों और सात आचारों का विधिवत् पालन करना होता है। भाव साधक की आन्तरिक मानसिक अवस्थाओं के परिष्कार से सम्बन्धित है, जब कि आचारों का सम्बन्ध बाह्यावस्थाओं से है।

भाव तीन प्रकार के हैं—१ पशुभाव, २ वीरभाव, और ३ दिव्यभाव। उन्हें क्रमशः पश्वाचार, वीराचार और दिव्याचार भी कहा जाता है। *मन की वह अवस्था, जिससे अविद्याजनित अद्वैतभाव सर्वथा विलुप्त हो* जाता है, 'पशुभाव' कहलाता है। साधक की वह मन स्थिति, जिसमें स्थिर या एकनिष्ठ रहता हुआ वह भ्रान्तिजनित अज्ञान का ध्वंस करने में सतत प्रयत्नशील रहते हुए सफलता की ओर अग्रसर रहता है, 'वीरभाव' कहलाता है। साधक के मन की वह अवस्था, जिसमें अवस्थित रहता हुआ वह *अद्वैतानन्द का अनुभव करता है, 'दिव्यभाव' कहलाती है।* इस प्रकार पशुभाव से ज्ञानसिद्धि, वीरभाव से क्रियासिद्धि और दिव्यभाव से देवता का साक्षात्कार होता है। साधक पशुभाव से ज्ञानोपलब्धि करके वीरभाव से साक्षात् रुद्रत्व प्राप्त करता है और दिव्यभाव से देवता की भाँति क्रियाशील हो जाता है।

सप्तविध आचार

साधक के अन्तर्मन से सम्बन्धित उक्त तीन प्रकार के भावों की सिद्धि के लिए बाह्यशुद्धि से सम्बन्धित सात प्रकार के आचारों का विधिवत् आचरण या परिपालन करना आवश्यक बताया गया है। 'कुलार्णवतन्त्र' के अनुसार शाक्तमत के प्रमुख दो वर्ग हैं—पश्वाचारी और वीराचारी। पश्वाचारी मत *के अनुयायी शाक्त मद्य मांस का भक्षण नहीं करते हैं, किन्तु वीराचारी मत* के अनुयायी मद्य-मांसादि का अनिवार्यरूप से सेवन करते हैं। दोनों वर्गों के शाक्तों की साधना में पशु-पक्षी मनुष्य की बलि द्वारा देवी को शान्त करने का विधान है।

इन दोनों वर्गों के अनुयायियों के लिए सप्तविध आचारों का परिपालन करने का निर्देश तन्त्रग्रन्थों में वर्णित है। ये सप्तविध आचार हैं—१ वेदाचार, २ वैष्णवाचार, ३ शैवाचार, ४ दक्षिणाचार, ५ वामाचार, ६ सिद्धान्ताचार और ७ कौलाचार। तन्त्रग्रन्थों में ये आचार उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बताये गये हैं। प्रथम चार आचार पशुभाव के साधक हैं। वामाचार तथा सिद्धान्ताचार

वीरभाव के साधक हैं और इसी प्रकार अन्तिम कौलाचार दिव्यभाव का साधक है। कौलाचार से साधित दिव्यभाव अद्वैतावस्था की चरम स्थिति है और आरम्भिक दोनों भावों की साधना के अनन्तर ही इस अन्तिम भाव की प्राप्ति होती है। कौल की अन्तिम स्थिति को प्राप्त करना ही साधक का एकमात्र लक्ष्य होता है। इन सप्तविध आचारों का निरूपण इस प्रकार है—

१ वेदाचार—शाक्तों के इस आचार का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है। प्रत्येक साधक को आचारनिष्ठ होकर वैदिक कर्मों का नित्य अनुष्ठान करना होता है, जिससे कि बाह्यशुद्धि के साथ ही धर्म में आस्था बनी रहे और मन को निर्मल किया जा सके।

२ वैष्णवाचार—साधक के मन में जो अन्धविश्वास और संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, इस आचार के अनुपालन से वे निर्मल हो जाते हैं। इस स्थिति में साधक का मन ब्रह्मजिज्ञासा की ओर प्रवृत्त होता है।

३ शैवाचार—इस आचार के परिपालन से साधक के मन में अधर्म के प्रति अरुचि और धर्माचरण के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है। उसके अन्तस् में ज्ञान का प्रकाश होकर उसकी प्रवृत्ति ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति उन्मुख होती है।

४. दक्षिणाचार—इस आचार के अनुष्ठान से साधक की इच्छा, क्रिया और ज्ञान की शक्तियाँ उजागर होती हैं। वह ब्रह्मसामीप्यता की ओर अग्रसर होता है। इस उच्च अवस्था में पहुँच कर साधक वामाचार की दीक्षा ग्रहण करने का अधिकारी हो जाता है।

निगम-ग्रन्थों में जब शाक्तमत का व्यापकता में व्याख्यान हुआ, तब शाक्त मत को दक्षिणाचार या दक्षिण मार्ग अथवा वैदिक शाक्तमत के नाम से कहा जाने लगा। शंकराचार्य के अनुयायी दक्षिण भारत के दार्शनिक विद्वान् दक्षिणाचारी शैव हैं।

वामाचार की अपेक्षा दक्षिणाचार की उपासना-पद्धति में अन्तर है। दक्षिणाचार की उपासना पद्धति अद्वैतपरक है। दक्षिणाचारी साधक स्वयं को शिव मानकर पंचतत्त्वों में शिवा (शक्ति) का पूजन करता है। यौगिक साधना द्वारा शक्ति तथा शक्तिमान् की अभिन्नता की अनुभूति की जाती है। दक्षिणाचार का दूसरा नाम समयाचार भी है। इसलिए उसकी योगसाधना में समय का बड़ा महत्त्व है। समय ही शिव है, जो हृदयाकाश में स्थित है और जिसमें साधक या योगी अधिष्ठान, अनुष्ठान तथा अवस्थान, नाम तथा रूपभेद से पाँच प्रकार का साम्य स्थापित करता है। समय ही शिव तथा शक्ति के सामरस्य का प्रतीक है। समयाचार (दक्षिणाचार) की साधना में

मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर सहस्रारचक्र में अधिष्ठित किया जाता है और सदाशिव के साथ ऐक्य स्थापित किया जाता है।

तान्त्रिक ग्रन्थों के अनुसार मनुष्य शरीर में अनेक क्षुद्र प्रणालियाँ या रहस्यमय शक्तिसूत्र विद्यमान हैं, जिन्हें नाडी कहा जाता है। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण शक्तिसूत्र 'सुषुम्ना' है। उससे सम्बन्धित छ केन्द्र या चक्र हैं। उस चक्र को 'कमल' कहा जाता है। ये छ चक्र एक के ऊपर दूसरा स्थित है। सबसे नीचे का चक्र 'मूलाधार' कटि के नीचे स्थित है। उसके चारों ओर साढ़े तीन घेरों में सर्पाकार शक्ति सुसुप्तावस्था में विद्यमान रहती है। उसे 'कुण्डलिनी' कहा जाता है। शक्ति साधना में इसी कुण्डलिनी को जाग्रत किया जाता है और सबसे ऊपरी चक्र 'सहस्राधार' में ले जाया जाता है। उसी अवस्था में साधक स्वयं को सिद्धि के निकट पहुँचा अनुभव करता है।

५. वामाचार—यह अवस्था निवृत्ति-मार्ग की है। इस अवस्था में साधक समस्त भोगेच्छाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और समस्त मोह बन्धनों को विच्छिन्न कर डालता है। इस अवस्था में पहुँच कर साधक परम शिवत्व को प्राप्त करता है।

६ सिद्धान्ताचार—इस अवस्था में पहुँच कर साधक समस्त सासारिक क्रिया-कलापों से विमुक्त होकर दिव्य आलोक का दर्शन करता है। यह पूर्ण अध्यात्म की स्थिति है, जिसमें साधक शिव-सान्निध्य का अनुभव करता है।

७ कौलाचार—जब साधक उक्त छ आचारों का विधिवत् पालन एवं आचरण करने के उपरान्त सातवीं अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह स्वयं को अनन्त विराट् सत्ता में विलयित कर देता है। आत्मा-परमात्मा के ऐक्य की यह स्थिति 'कौल' कही जाती है।

शाक्तों के प्रामाणिक एवं मान्य ग्रन्थ 'परशुरामभार्गवसूत्र' में कहा गया है कि दिव्यभाव में लीन ब्रह्मज्ञानी 'कौल' है। 'कुलार्णवतन्त्र' में कहा गया है कि 'दिव्यभाव में अभिरत, सर्वत्र समान रूप से देखने वाला साधक कौल कहलाता है'—

दिव्यभावरत कौलसर्वत्र समदर्शिन ।

तन्त्र-ग्रन्थों के निर्देशानुसार उक्त सात प्रकार के आचारों का क्रमश उत्तरोत्तर परिपालन एवं आचरण करना उन साधकों के लिए आवश्यक है, जो प्रथम बार नये रूप में दीक्षित हुए हैं। किन्तु जिस साधक का सम्बन्ध विधिवत् दीक्षित वामाचारी परम्परा से है, वह सीधे वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार का अधिकारी हो सकता है। उसे उपासना मार्गों का क्रमश

अनुसरण या आचरण करने की आवश्यकता नही है, अर्थात् वह विराट् सत्ता से ऐक्य स्थापित करने का पूरा अधिकारी है।

इस प्रकार उक्त सप्तविध आचारो का परिपालन करता हुआ निष्ठावान् शाक्त साधक परमगति को प्राप्त करता है। ये आचार पवित्र जीवन धारण करने और विषय-वासनाओ का दमन के लिए आवश्यक बताये गये हैं। किन्तु कालान्तर मे शास्त्रीय निर्देशो की अवहेलना करके वाममार्गी शाक्तो तथा कौलाचारियो ने शाक्त-साधना की आचरनिष्ठ परम्परा को स्वेच्छाचार मे परिवर्तित कर उसे लोकनिन्दा का विषय बना दिया।

कौलाचार की विकृतावस्था

शाक्तमत मे तन्त्र-साधना की अन्तिम एव सर्वोच्च स्थिति कौलाचार को कालान्तर मे पाखण्डी साधको ने स्वेच्छाचार मे परिवर्तित कर दिया। इस स्वेच्छाचार पर स्वतन्त्र ग्रन्थो की रचना की गई और उसे शास्त्रसम्मत बनाने का प्रयास किया गया। परम्परागत तन्त्रशास्त्र की दुर्गम एव कठिन साधना-पद्धति मे प्रक्षेप जोड कर उसे बौद्धो के वज्रयान या वाममार्ग का अग बना दिया गया। कौलाचार के इस भ्रष्ट रूप के सम्बन्ध मे 'नित्यातन्त्र' नामक ग्रन्थ मे ऐसे निर्देश जोडे गये, जो कि सर्वथा शास्त्र विसगत थे। इस प्रकार नियमो से विमुक्त एव अनुशासनहीन स्वर्ण-तृण का भेदज्ञान न रखने वाले कौल भीतर से शाक्त, बाहर से शैव और समाज मे वैष्णव—इन नाना रूपो को धारण कर पृथ्वी मे विचरण करने लगे।

इस प्रकार तन्त्र-साधना की एक नई आचार-पद्धति का प्रवर्तन हुआ और 'कौलोपनिषद्' जैसे ग्रन्थो का निर्माण किया गया। उसमे कहा गया है कि 'पूजा-पाठ तथा यज्ञादि से मुक्ति सभव नही है। उसे प्राप्त करने के लिए परम्परागत सामाजिक बन्धनो को तोडना चाहिए। कौल धर्म का यही वीरोचित मार्ग है।' सामाजिक बन्धनो, अर्थात् परम्परागत शास्त्रीय मान्यताओं, नियमों और आदर्शों को तिलाजलि देकर मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—इन पच मकारो का स्वच्छन्द भाव से सेवन करना ही प्रत्येक कौलाचारी का धर्म है। इस प्रकार वामपन्थी शाक्तो के प्रभाव से कौलाचारियो के पाखण्डो तथा असामाजिक, अनैतिक आचरणो के कारण शाक्त मार्ग की उज्ज्वल परम्परा लोकनिन्दा के कारण क्षीणोन्मुख हुई और उसको घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। उसके प्रति समाज मे अविश्वास की भावना उत्पन्न हुई।

वाममार्ग (अभारतीय मूल)

भारत की धार्मिक परम्परा मे शाक्तमत का इतिहास अनेक प्रकार की विसंगतियो से भरा हुआ है। भारत मे शाक्तमत दो मुख्य भागो मे विभक्त हुआ मिलता है—दक्षिण, जिसे 'सरल' भी कहा गया है, और वाम, जिसे 'मधुर' नाम से भी कहा गया है। इन्हे क्रमश दक्षिणाचार और वामाचार भी कहा जाता है। दक्षिणाचार को समयाचार और वामाचार को कौलाचार नाम दिया गया है। दक्षिणाचार वेदानुमोदित, अत. भारतीय मूल का है, और वामाचार वेदबाह्य होने से अभारतीय मूल का है और अवैदिक तन्त्रो पर आधारित है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय वैदिक शाक्तमत की परम्परा जैसे समय-समय पर अनेक बाहरी देशो में फैली, ठीक उसी प्रकार वामाचार की शाखा बाहरी देशो से भारत मे प्रविष्ट हुई। एशिया के विभिन्न देशो मे शक्ति की उपासना के विभिन्न रूप प्राचीन काल से ही प्रचलित थे। 'चीनाचार' नामक तान्त्रिक ग्रन्थ मे कहा गया है कि बुद्ध के उपदेश से वसिष्ठ ने चीन जाकर तारा के दर्शन किये थे। भारतीय शाक्तमत मे तारा की उपासना का जो स्वरूप देखने को मिलता है, उस पर चीन का प्रभाव है। स्पष्ट है कि भारत से पूर्व चीन मे देवी तारा की उपासना-पद्धति प्रचलित थी और वहाँ से वह भारत मे आई।

शक्ति की वामाचार पद्धति की उपासना के मूल प्रतिनिधि सभवत मग जाति के लोग थे। यह मग जाति मूलत अभारतीय थी। किन्तु भारत मे आकर स्थायी रूप से बस गई थी। वह स्थापत्य और भवन-निर्माण की कला मे अत्यन्त कुशल थी। 'महाभारत' के पाण्डवो ने इन मगो से ही उस चक्रव्यूह भवन का निर्माण कराया था, जिसमे युद्ध करते हुए अभिमन्यु फँस गया था। 'कुलालिकाम्नायतत्र' मे मगो को ब्राह्मण बताया गया है। 'भविष्यपुराण' मे सूर्योपासक मगो का तथा उनके वरिष्ट व्यक्ति साम्ब का पुरोहिती करना वर्णित है। पारसी धर्म मे 'पीरे मगॉ' मगाचार्य का ही बोधक है। इसलिए उनका मूल देश पश्चिम ही प्रतीत होता है। उनकी उपासना-पद्धति मे मद्यमासादि का सेवन प्रचलित था। उनमे पच मकार सेवन की वही विधि वर्तमान थी, जो भारत मे वज्रयानी बौद्ध तथा वाममार्गी शाक्तो मे प्रचलित थी। इन आधारो पर यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि वृहत्तर एशिया के देशो मे वाममार्ग की उपासना-पद्धति प्रचलित थी।

भारत मे वाममार्गी उपासना-पद्धति का प्रचलन, शाक्तो से पूर्व वज्रयानी बौद्धो की आचार-पद्धति मे बहुश्रुत हो चुका था। बौद्ध धर्म के वज्रयान

सम्प्रदाय का उदय कुषाण सम्राट् कनिष्क के समय (प्रथम शती ई०) में ही हो चुका था और वाममार्गी शाक्तों में प्रचलित पंच मकार की उपासना-पद्धति विशेष रूप से बंगाल तथा असम में प्रकाश में आ चुकी थी। दक्षिणाचार के अनुयायी वैदिक परम्पराओं का अनुसरण करते थे और वामाचारी बौद्ध अवैदिक वज्रयानी मान्यताओं के अनुयायी थे। ये वामाचारी विभिन्न जातियों तथा वर्गों के थे और अवसर तथा परिस्थिति के अनुसार स्वेच्छा से द्विज या ब्राह्मण बन जाते थे।

इस प्रकार यद्यपि शक्ति-उपासक वाममार्ग की उपज अभारतीय थी, और भारत में प्रविष्ट होने के बाद शाक्त-उपासकों के एक वर्ग को उसने अपनी आचार-पद्धति से प्रभावित कर लिया था, तथापि कालान्तर में उसका भारतीयकरण हो गया। भारत में उसका विकास लकुलीश और कापालिक वाममार्गी शाक्त शाखाओं के रूप में हुआ।

पंच मकारात्मक वामाचार साधना

वाममार्ग में अभिषिक्त या दीक्षित पूर्ण ज्ञानी साधक के लिए पंच मकारों के परिपालन का विधान किया गया है। तंत्र-ग्रन्थों में पंच मकार की महिमा विस्तार से वर्णित है। वहाँ यह निर्देश किया गया है कि पंच मकारों को सम्पन्न किये बिना साधक को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। महामाया जगदम्बिका की पूजा-उपासना के लिए मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—इन साधनरूप पंच मकारों का विधि-विहित उपयोग प्रयोग करना चाहिए। इन पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त साधक पूर्ण शिवत्व को प्राप्त करता है। तदुपरान्त वह अभेद-भाव की परमोच्च स्थिति को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में 'निरुत्तरतंत्र' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि उस परमावस्था को प्राप्त करने के उपरान्त साधक के लिए देश-काल-तिथि, शत्रु मित्र आदि का कोई नियम तथा भेद नहीं रह जाता है— हे देवेशि, महामंत्र साधना का भी कोई नियम नहीं है। वह कर्दम-चन्दन, मित्र शत्रु, श्मशान-गृह और स्वर्ण-तृण में भेद भाव से मुक्त हो जाता है।' साधक की यह विमुक्तावस्था ही 'कौलाचार' के नाम से कही जाती है।

कौलाचार साधना में पंच मकार प्रतीकात्मक तत्त्व हैं। वस्तुतः मद्य एक भौतिक मदिरा न होकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रदल कमल से आवृत 'अमृत' या 'मधु' है। योगशक्ति के द्वारा साधक इसे ज्ञानरूपी खड्ग से वासनारूपी पशुओं (अनिष्टों) को मारता (दमन करता) है। इन वासनाओं का दमन कर मन को सदाशिव में तन्मय कर देना ही 'मांस' सेवन है। शरीर में स्थित

इड़ा तथा पिंगला नाडियों में प्रवाहित होने वाले श्वास प्रश्वास ही 'मत्स्य' है। मत्स्य-सेवन के द्वारा साधक प्राणायाम की प्रक्रिया से श्वास-प्रश्वास को अवरुद्ध कर प्राणवायु को सुषुम्ना नाड़ी के भीतर संचालित करता है। असत्-संग का परित्याग तथा सत्संग का सेवन ही 'मुद्रा' है। साधक की अन्तिम या परम स्थिति सहस्राधारचक्र में स्थित कुण्डलिनी का मिलन ही 'मैथुन' है।

'महानिर्वाणतंत्र' में ग्यारहवें अध्याय में पंच मकारों की विधि तथा फल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मद्यपान से अष्ट ऐश्वर्य तथा परा मुक्ति का लाभ प्राप्त होता है। मांस-भक्षण से साक्षात् नारायण का स्वरूप-दर्शन होता है। मत्स्य-आहार से महाकाली के दर्शन होते हैं। मुद्रा के सेवन से भगवान् विष्णु का वर प्राप्त होता है। अन्तिम मैथुन के सेवन से साधक परम शिवत्व को प्राप्त करता है। पंच मकारों के सेवन के ये प्रतीकात्मक संकेत हैं। तन्त्रशास्त्र में पंच मकारों को मानसिक वृत्तियों का संकेतात्मक प्रतीक माना गया है और उनकी सिद्धि के लिए सूक्ष्म तात्त्विक स्वरूप की साधना करनी बताई गई है।

पंच मकार वस्तुतः आन्तरिक प्रवृत्तियों से सम्बन्धित हैं और इसीलिए उन्हें महापातकों का विनाशक माना गया है। 'श्यामारहस्य' नामक तन्त्र ग्रन्थ में कहा गया कि 'पंच मकारों का शास्त्रोक्त विधि से सेवन करने पर महापातक नष्ट हो जाते हैं'—

मद्यं मांसं च मत्स्यं च मुद्रा-मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकञ्चैव महापातकनाशनम्॥

पाखण्डी वामाचारियों ने इन पंच मकारों की प्रतीकात्मकता को विस्मृत कर उन्हें स्थूल भौतिकता का साधन बनाया और इस प्रकार समाज में वामाचार के प्रति घृणा एवं वितृष्णा बढ़ती गई। उन्होंने परम्परागत साधना की गरिमा को क्षीण कर दिया। फलस्वरूप वामाचार की साधना पथभ्रष्ट अनैतिक लोगों का एक गोपनीय संगठन बन गया। पंचतत्त्व का यह पतनोन्मुखी आचार इस सीमा तक पहुँचा कि 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा गया है कि 'जो नित्य गोमांस भक्षण और अमर वारुणि का प्रयोग करता है, उसको मैं कुलीन मानता हूँ। ऐसा न करने वाला कुलघातक है।' (३।४७ ४८)

आगे चलकर इस पन्थ के अनुयायियों ने मैथुनादि के अतिरिक्त वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेष, उच्चाटन, मारण और मोहन आदि षट् क्रियाओं का प्रयोग किया। इस प्रकार वामाचार की उदात्त परम्परा 'कामाचार' तथा चरित्र-हीनता, अनैतिकता और शारीरिक आनन्द का द्योतक बन गया और बुरी तरह बदनाम होकर अस्तित्वहीन हो गया।

वाममार्ग के विभिन्न पन्थों का उदय

वाममार्गी शाक्तों के समय-समय पर विभिन्न पन्थों का उदय होता रहा और समाज द्वारा उपेक्षित तथा तिरस्कृत होने के कारण अल्प समय में ही विलुप्त होते रहे। इस प्रकार के पन्थों के नाम ये—चोलीपन्थ, करारीपन्थ, दीक्षापन्थ, मार्गीपन्थ, मातापन्थ, कुंडापन्थ, कुब्जिकापन्थ, गुह्यपन्थ और अघोरपन्थ या सुरभगपन्थ।

इन सबे वाममार्गी पन्थों के सम्बन्ध में विस्तार से जानकारी उपलब्ध नहीं है। कुब्जिकापन्थ के सम्बन्ध में 'नित्याह्निक तिल कंत' नामक ग्रन्थ में उल्लेख हुआ है, जिसकी रचना १२९४ वि० में हुई थी। इस प्रकार प्राचीनता की दृष्टि से इसका महत्त्व है; किन्तु अल्प समय में ही यह कथावशेष हो गया। गुह्यपन्थ तांत्रिक शाक्तों की गुह्यशाला से सम्बन्धित था। विधिवत् दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त ही इस पन्थ में प्रवेश होता था। कन्दराओं, गुहाओं तथा नितान्त गोपनीय स्थानों में इस पन्थ का कुछ समय तक अस्तित्व बना रहा।

वाममार्गी सन्तों का अघोरपन्थ या सरभंगपन्थ, ऐसा प्रतीत होता है कि ७वीं शती ई० में वर्तमान था, क्योंकि नाटककार भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक में देवी चामुण्डा के पुजारी अघोरघण्ट तथा उसकी शिष्या कपालकुण्डला का उल्लेख हुआ है। ये दोनों नरमेध के अनुयायी थे। इस पन्थ के अनुयायी तांत्रिक साधु मनुष्य की खोपड़ी लिए मद्य-मांसादि का सेवन करते थे। भैरव तथा चामुण्डा देवी उनके उपास्यदेव थे। अपने उपास्य को वे नरबलि चढ़ाते थे और श्मशान में रहकर बीभत्स उपासना द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त करते थे। इन्हें अवधूत या औघड़ कहा जाता था और क्योंकि नरबलि के अनुयायी थे, अतः समाज में उनका नाम भयप्रद बना हुआ था। मूर्तिपूजा पर उनका विश्वास नहीं था।

सम्प्रति अघोरपन्थ का सम्बन्ध नाथपन्थ के हठयोगियों तथा तांत्रिक वाममार्गियों से है और नरबलि की प्रथा उनमें समाप्त हो गई है। किसी समय बड़ोदा स्थित अघोरेश्वर मठ और काशी में क्री-कुण्ड मठ उनके प्रमुख केन्द्र थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से वे अद्वैतवादी हैं। साधना की दृष्टि से उन्हें हठयोगी या लययोगी कहा जाता है। उनमें कोई श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तो कोई रंगीन वस्त्र। सम्प्रति उनके दो वर्ग हैं—अवधूत (निर्वाणी) और गृहस्थ। इस पन्थ पर भी यद्यपि ग्रन्थ-रचना हुई, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है। कीनाराम का 'विवेकसार' और टेकमनराम की 'रामगीता' आदि कृतियाँ इसी पन्थ से सम्बन्धित हैं।

प्रमुख शाक्तपीठ

तंत्र-ग्रन्थों में निरूपित शक्ति-उपासना के जो विधि-विधान हैं, उनके अनुरूप शक्ति के उपासकों की संख्या भले ही आज न्यून हो गई है, तथापि शक्ति-पूजकों एवं आराधकों, भक्तों का प्रसार प्रायः समस्त भारत में देखने को मिलता है। सुदूर अतीत में शिव और शक्ति के प्रति भारत के जन-मानस में जो श्रद्धा भक्ति विद्यमान रही, उसकी परम्परा निरन्तर विकसित होती रही और भारत के नगरों से लेकर गाँवों तक प्रतिष्ठित शिव तथा देवी के असंख्य मठ, मन्दिर एवं पीठ आज भी इस देश की धर्मनिष्ठ जनता के विश्वासों के प्रतीक हैं।

शाक्तमत के तान्त्रिक ग्रन्थों (कुलार्णव तंत्र) में पाँच वेदों, पाँच योगियों और पाँच पीठों का उल्लेख हुआ है। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और ऊर्ध्व—ये पाँच आम्नाय (वेद) हैं। महेश्वर, शिवयोगी आदि पाँच योगी हैं। उत्कल में उड्डियान, पंजाब में जालन्धर, महाराष्ट्र में पूर्ण, श्रीशैल में मतंग और कामरूप (असम) में कामाख्या—ये पाँच प्रमुख पीठ हैं। किन्तु कालान्तर में इन सिद्धपीठों की संख्या ५१ हो गई।

भारत के कुछ प्रमुख शाक्तपीठ ऐसे हैं, जो प्राचीनता की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्त्व के हैं और जिनकी ख्याति आज भी पवित्र सिद्ध तीर्थों के रूप में बनी हुई है। दक्षिण भारत में श्रीशैल पर्वत पर 'भ्रमराम्बा' नाम से एक प्रसिद्ध शाक्तपीठ उल्लेखनीय है। उसे बौद्धधर्मानुयायी मल्लिकार्जुन द्वारा बनाया हुआ बताते हैं। ४०० ई० पूर्व में चन्द्रगुप्त मौर्य की पुत्री इस शक्तिपीठ की अनन्य भक्त थी। वह प्रतिदिन मल्लिका पुष्पों से देवता की अर्चना करती थी। यह पहले बौद्ध भिक्षुओं का तीर्थ-स्थल था, किन्तु कालान्तर में हिन्दू मन्दिर के रूप में परिवर्तित एवं विश्रुत हो गया। इस मन्दिर में शिव तथा शक्ति (भ्रमराम्बा) की पूजा-अर्चना की परम्परा आज भी वर्तमान है और उसका धार्मिक महत्त्व बना हुआ है।

इस मन्दिर की अपनी विशेषता है। समस्त भारत में यह एकमात्र ऐसा मन्दिर है, जहाँ समस्त धर्मों तथा जातियों के लोग निर्विरोध प्रवेश कर सकते हैं। वे अपनी निष्ठाओं, विश्वासों के अनुसार देवता की पूजा अर्चना कर सकते हैं और भगवान के दर्शनों का लाभ उठा सकते हैं। इस रूप में यह मन्दिर धार्मिक सद्भाव का भी अनूठा उदाहरण है।

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति (७वीं शती ई०) के 'मालती-माधव' नाटक में कापालिक सन्यासी अघोरघण्ट का उल्लेख हुआ है, जो देवी चामुण्डा का पुजारी या उपासक था। उसका सम्बन्ध उक्त श्रीशैल

शाक्तपीठ से था। उसकी शिष्या सन्यासिनी कपालकुण्डला भी देवी चामुण्डा की अनन्य उपासिका थी। दोनो ने योगाभ्यास द्वारा आश्चर्यजनक सिद्धि प्राप्त की थी। नरमेध यज्ञ उनकी साधना की मुख्य क्रिया थी।

इसी प्रकार सहरसा स्टेशन (दरभगा, बिहार) के निकट वनगामहिसी नामक गाँव के पास उग्रतारा देवी का एक प्रसिद्ध शाक्तपीठ है। कहा जाता है कि सतीदेह का यहाँ पर नेत्रभाग गिरा था। यहाँ एक यन्त्र पर तारा, एकजटा तथा नील सरस्वती की मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। इनके अतिरिक्त मन्दिर मे दुर्गा, काली, त्रिपुरसुन्दरी और तारकेश्वर तथा तारानाथ की मूर्तियाँ भी स्थापित हैं। इस सिद्ध शाक्तपीठ मे देवी के दर्शनो का पुण्य लाभ प्राप्त करने के लिए आज भी देश के सुदूर अचलो से बहुसख्यक धर्मनिष्ठ जनता आती है।

शाक्तपीठो की परम्परा मे एक प्रसिद्ध शाक्तपीठ आमेर (अम्बा नगर) मे स्थित है। यह स्थान जयपुर (राजस्थान) से लगभग सात कि० मी० दूर है। यहाँ पर काली माता का प्रसिद्ध मन्दिर है। इस स्थान को गालव ऋषि की तपोभूमि बताया जाता है। निकट ही शकर का भी मन्दिर है। इस प्राचीन शाक्तपीठ मे भी सुदूर स्थानो से यात्री दर्शनार्थ आते हैं।

एक समय शाक्तमत का समस्त भारत मे प्रचार-प्रसार हो चुका था। किन्तु कालान्तर मे उसका अस्तित्व विशेष रूप से असम, बगाल और गौण रूप से बिहार तथा नेपाल मे सीमित हो गया था। इस मत का प्रधान तीर्थ असम स्थित कामाख्या देवी का सिद्धपीठ है। कोच राजा नरनारायण के शासन काल (१६४१-१६९१ वि०) मे शैव धर्म को बडा बल मिला। यह राजा स्वय बडा शास्त्रज्ञ था। हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार मे उसका उल्लेखनीय योगदान रहा। वह शाक्तमतानुयायी था और मुगल बादशाहों द्वारा ध्वस्त कामाख्या देवी के मन्दिर का उसने पुनरुद्धार किया था। उसने बगाल से धर्मनिष्ठ शास्त्रदर्शन के ज्ञाता विद्वान् ब्राह्मणो को अपने राज्य मे आमन्त्रित किया और उन्हें मन्दिर की पूजा प्रतिष्ठा के लिए नियुक्त किया था। वही परम्परा आज भी वर्तमान है। आज भी कामाख्या देवी का पुजारी नवद्वीप का ब्राह्मण हुआ करता है। इस मन्दिर मे देवी के अतिरिक्त राजा नर-नारायण और उनके भाई (जो कि उनका सेनापति था) सिलाराम की प्रस्तर मूर्तियाँ दर्शको की प्रेरणा और श्रद्धा के स्रोत हैं।

प्रमुख शाक्तपीठो मे काठमाण्डू (नेपाल) मे गुह्येश्वरी देवी का मन्दिर भी एक है। नेपाल मे भारत की ही भाँति देवी के अनेक छोटे-बडे मन्दिर विद्यमान हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि नेपाल मे किसी समय शाक्तमत का व्यापक

प्रचार प्रसार था। शक्ति के उपासकों के ज्वालामुखी, विन्ध्यवासिनी, बाला, बगुलामुखी तथा काली, चामुण्ड आदि देवियो के प्रसिद्ध पीठ हैं और उन पीठो मे भैरव, उन्मत्त भैरव तथा कालभैरव की भी पूजा प्रतिष्ठा होती है।

शाक्तमत का साहित्य

शाक्तमत का अस्तित्व बहुत प्राचीन होने के कारण और उसका प्रसार भारत के सभी अचलो मे होने के कारण उस पर प्राचीन समय से ही ग्रन्थो की रचना होने लग गई थी। शाक्तमत यद्यपि भारत की मूल धर्म शाखा है, तथापि कालान्तर मे उसका प्रसार नेपाल तथा तिब्बत मे भी बहुप्रचलित धर्म के रूप में हुआ। इसलिए शाक्तमत का अधिकतर साहित्य या तो तिब्बत मे पाया जाता है अथवा हस्तलिखित ग्रन्थो के रूप मे अप्रकाशितावस्था मे ही कालक्रम से वह निरन्तर नष्ट होता रहा। साहित्य रचना की दृष्टि से शाक्त धर्म की ग्रन्थ सामग्री को प्रमुख दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—श्रीकुल और कालीकुल। श्रीकुल से सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थ हैं—अगस्त्य कृत 'शक्तिसूत्र', तथा 'शक्तिमहिम्नस्तोत्र', 'सुबोधामृत', 'त्रिपुरारहस्य', गौडपाद कृत 'विद्यारत्नसूत्र' शकराचार्य कृत 'सौन्दर्यलहरी' तथा 'प्रपचसार', श्रीहर्ष कृत 'शिवशक्तिसिद्धि' और अभिनवगुप्त कृत 'तन्त्रालोक'। इसी प्रकार कालीकुल से सम्बन्धित ग्रन्थो के नाम हैं—कालज्ञान', 'कालोत्तर' तथा 'महाकालसंहिता' आदि।

इस धर्म शाखा से सम्बन्धित अधिकतर ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी जिस क्षेत्र या प्रदेश मे रचना हुई, प्राय वही उनका प्रचलन भी रहा। उदाहरण के लिए मुख्यत तमिल, असम और बगाल और गौणत काश्मीर में शाक्तमत का प्रचार अधिक रहा। अत वहाँ के आचार्यों तथा सन्तो ने अधिकतर ग्रन्थो की रचना की। किन्तु वह ग्रन्थ सामग्री बहुत कुछ अशो म विलुप्त होती रही।

शाक्तमत के सर्वांगीण नियमो पर एक विशाल ग्रन्थ निश्वासतत्त्व-मीमासा' नाम से लिखा गया, जिसका निर्माण ११वी शती ई० म हुआ। शाक्तमत के क्षेत्र मे दक्षिण भारतीय शाखा की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। सर्वांगीण प्रतिभा के विद्वान् अप्पयदीक्षित (१६०८-१६८० वि०) मूलरूप म शाक्तमत के अनुयायी थे। उनसे भी पूर्व ११वीं शती के अन्तिम चरण मे वर्तमान वारंगल (आन्ध्र) निवासी आचार्य लक्ष्मीधर इस मत के प्रसिद्ध विद्वान् हुए। उनका दीक्ष्य नाम विद्याधर था। उन्होने 'सौन्दर्यलहरीभाष्य' की रचना की। इसके अतिरिक्त 'वामकेश्वरतत्र' मे उन्होने ६४ तंत्रों की सूची का निर्माण किया। मिश्र' तथा समय' नामक

तन्त्रो का भी उन्होने निर्माण किया। उनके उपरान्त तंजौर के तीन विद्वानो ने गुरु परम्परा से इस मत का अनुसरण किया। उनके नाम थे—नृसिंहानन्दनाथ, भास्करानन्दनाथ और उमानन्दनाथ। १८वी शती ई० मे वर्तमान भास्करानन्दनाथ दक्षिणमार्गी शाक्त तथा देवी के परम उपासक थे। नृसिंहानन्दनाथ उनके गुरु और भास्करानन्दनाथ उनके शिष्य थे। इन तीनो मे भास्करानन्दनाथ उच्चकोटि के विद्वान् हुए। वे तंजौर नरेश के सभा-पण्डित थे। उन्होंने 'वरिवस्यारहस्य' नाम से सभाष्य आर्या छन्दो मे शाक्त-साधना पर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना की। शाक्तमत विषयक अनेक ग्रन्थो पर उन्होंने टीकाएँ तथा भाष्य लिखकर इस परम्परा को आगे बढाया।

इसी प्रकार वाममार्गी शाक्त शाखा का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'देवीयामलतन्त्र' है, जिसकी रचना १०वी शती के लगभग काश्मीर मे हुई। उसमे वाममार्गी शाक्तो के धार्मिक अनुष्ठान वर्णित हैं। शाक्तमत की अन्य शाखाओ पर भी अनेक ग्रन्थो की रचना हुई, जिनमे तन्त्र विषयक ग्रन्थो का विशेष नाम है।

तन्त्र विषयक ग्रन्थ

तन्त्रशास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन है। तन्त्रशास्त्रीय ग्रथो मे 'तन्त्र' शब्द का व्यापक अर्थो मे प्रयोग हुआ है। यहाँ तक कि साख्य, न्याय, धर्मशास्त्र और योगशास्त्र आदि अनेक विषयो को भी तन्त्र कहा गया है। तन्त्र का दूसरा नाम आगम है। तन्त्रशास्त्र के प्रणेता स्वय शिव हैं। उन्होंने इस शास्त्र का उपदेश सर्वप्रथम भगवती पार्वती को दिया था। यद्यपि अथर्ववेद मे तन्त्र-विहित क्रियाओ, यथा—मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि का उल्लेख हुआ है, तथापि उन वेदविहित क्रियाओ को भगवान् शकर ने कीलित कर दिया था, और भगवती उमा के कहने पर कलियुग के लिए नयी तन्त्रविद्या का कथन किया था। इस प्रकार तन्त्रशास्त्र का आधार शिव-पार्वती को माना जाता है। कुछ तन्त्र-ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमे वेदो को अधिक महत्व नही दिया गया है और इसी प्रकार कुछ वैदिक मतानुयायी आचार्य ऐसे हुए हैं, जिन्होंने तन्त्र को अवैदिक माना है। फिर भी, क्योकि आगम का मूल आधार निगम (वेद) है इसलिए तन्त्रशास्त्र का सम्बन्ध आगम निगम, दोनो से जुड़ा है। कलियुग के लिए तन्त्रशास्त्र को एकमात्र सिद्धिदायक बताया गया है।

तन्त्रशास्त्र अपने आप मे एक स्वतन्त्र विद्या है और उसका साहित्य बहुत विशाल है। इस विषय पर अधिकतर ग्रन्थो की रचना १०वीं शती के बाद हुई। अथर्ववेदीय 'नृसिंहतापनीयोपनिषद्' मे सर्वप्रथम तान्त्रिक महामन्त्र का उल्लेख किया गया है। इस उपनिषद् पर शकराचार्य ने भाष्य लिखा है। इसलिए उसका निर्माण ८वी शती ई० से पहले हुआ। तन्त्रशास्त्र के उपलब्ध

प्राचीन ग्रन्थों में लक्ष्मणदेशिक (११वीं शती) द्वारा लिखित 'शारदातिलक' नामक ग्रन्थ तान्त्रिक शाक्तों में बहुत प्राचीन माना जाता है। १०वीं से १२वीं शती के बीच बौद्धतंत्रों का तिब्बती अनुवाद हो चुका था। अतः स्पष्ट है कि बौद्धतंत्रों की निर्माण-परम्परा ८वीं शती ई० से पहले की है। साथ ही यह भी सुनिश्चित है कि हिन्दूतंत्रों के बाद ही बौद्धतंत्रों का निर्माण हुआ। इसलिए तंत्रशास्त्रीय ग्रन्थों की निर्माण-परम्परा की प्राचीनता असन्दिग्ध है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से समस्त तंत्रशास्त्र तीन भागों में विभक्त है—आगम, यामल तथा मुख्यतंत्र। तंत्रशास्त्र के जिस भाग में सृष्टि, प्रलय, देव-पूजा, षट्कर्मसाधन, पुरश्चरण और चतुर्विध ध्यानयोग का वर्णन है, उसे आगम कहा गया है। तंत्रशास्त्र के जिस भाग में सृष्टितत्त्व, ज्योतिष, नित्यकर्म, वर्णभेद और युगधर्म का वर्णन है, उसे 'यामल' कहा गया है। इसी प्रकार जिस भाग में सृष्टि, प्रलय, देव संस्थान, मंत्र-यंत्र निर्णय, तीर्थ, आश्रमधर्म, कल्प, शौचाशौच, राजधर्म, दानधर्म, युगधर्म, व्यवहार और आध्यात्मिक नियमों का वर्णन है, उसे 'मुख्यतंत्र' कहा गया है। इस शास्त्र की उपयोगिता तथा लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि भारत में जितने भी धार्मिक मत प्रवर्तित हुए, उनके अलग-अलग तंत्र ग्रन्थों का निर्माण हुआ। ब्राह्मणतंत्र, बौद्धतंत्र और जैनतंत्र के रूप में तंत्रशास्त्र की परम्परा निरन्तर विकसित होती गई।

उपासना-पद्धति और उपास्य देव की भिन्नता के कारण एक ही तंत्रशाखा के अनेक वर्ग या भेद हुए। उदाहरण के लिए एक ही ब्राह्मणतंत्र में सौरतंत्र, गाणपततंत्र, वैष्णवतंत्र, शैवतंत्र तथा शाक्ततंत्र आदि अनेक शाखाएँ विकसित हुईं। सौरमत और गाणपत्य मत यद्यपि प्राचीन हैं, तथापि उनका प्रचार-प्रसार एक समयावधि के अन्तर्गत रहा। वैष्णवतंत्र, शैवतंत्र और शाक्ततंत्र की परम्पराएँ अधिक विकसित हुईं और उन पर विपुल साहित्य की रचना हुई।

वैष्णवतंत्र—वैष्णवतंत्र के आगम-ग्रन्थों को 'पांचरात्र' के नाम से कहा जाता है। उसका सम्बन्ध वेद की एकायन शाखा से स्थापित किया गया है। भगवान की शरणागति के प्रति नितान्त एकान्तिक भाव से तन्मयता के कारण ही इसे 'एकायन' कहा गया है। इस तंत्र में चारों वेद, सांख्य योग और इन पाँचों का समन्वय होने से उसका 'पांचरात्र' नाम पड़ा। आगे इसे भागवतधर्म भी कहा गया। उत्पलभट्ट (१०वीं शती) की 'स्पन्दकारिका' से ज्ञात होता है कि पांचरात्र मत तीन शाखाओं में पल्लवित हुआ—पांचरात्र श्रुति, पांचरात्र-उपनिषद् और पांचरात्र-संहिता।

वैष्णवतंत्र या पांचरात्र मत पर विपुल साहित्य उपलब्ध है, जिसका किंचित्मात्र भी प्रकाश में नहीं आ पाया है। 'कपिंजलसंहिता' में पांचरात्र

की अभिन्नता का निरूपण यद्यपि वेदान्त दर्शन में भी प्रतिपादित है, तथापि शाक्तमत की दार्शनिक दृष्टि उससे कुछ भिन्न है। शाक्त-दृष्टि से उपासना के लिए सर्वप्रथम उपास्य की स्थापना की जाती है और तदनन्तर मंत्र द्वारा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। फिर उसमें सजीवता का आधान कर उपास्यदेव का आवाहन किया जाता है। शाक्तों की उपास्या देवियों में मुख्यतः काली, तारा, सिंहवाहिनी तथा जगद्धात्री हैं। इन आराध्या शक्तियों के बीजमंत्र भिन्न भिन्न हैं।

शाक्त दर्शन में शक्ति-साधना के छत्तीस तत्त्वों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। उनके नाम हैं—शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व और आत्मतत्त्व। शिवतत्त्व के अन्तर्गत शिव तथा शक्ति का समावेश किया गया है। विद्यातत्त्व के अन्तर्गत सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या का समावेश है। तीसरे आत्मतत्त्व के अन्तर्गत इक्कीस तत्त्वों के नाम हैं—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ), पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)।

सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में शाक्तमत की दार्शनिक दृष्टि सर्वथा निजी है। वहाँ कहा गया है कि सृष्टि-उत्पत्ति के द्वितीय चरण में शक्ति के भूतिरूप का सामूहिक प्रकटीकरण कूटस्थ पुरुष तथा माया शक्ति के रूप में हुआ। कूटस्थ पुरुष विभिन्न आत्माओं का पिण्ड या सामूहिक रूप है और माया शक्ति विश्व का अभौतिक उपादान। माया शक्ति से नियति की उत्पत्ति हुई, जिसके द्वारा जगत् अनुशासित तथा नियमित है। नियति से काल का प्रादुर्भाव हुआ, जो कि इस जगत का संचालक है।

महाकवि एवं दार्शनिक श्रीहर्ष (१२वीं शती ई०) द्वारा विरचित 'शिवभक्तिसिद्धि' नामक ग्रन्थ में शिव-शक्ति के अद्वयवाद का विस्तार से विवेचन किया गया है। उसमें शाक्तमतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि सर्वप्रथम अद्वैत परम पुरुष के हृदय में सृष्टि की इच्छा उत्पन्न हुई और उस इच्छा से वह शिव तथा शक्ति के रूप में विभाजित हुआ। उसमें शिव प्रकाशरूप हैं और शक्ति विमर्शरूपा। विमर्शरूपा शक्ति के पूर्ण तथा शुद्ध अहंकार की स्फूर्ति, चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व तथा स्फुरण आदि अनेक नाम हैं। प्रकाश को 'संविद्' और विमर्श को 'स्फूर्ति' कहा गया है। दोनों का अस्तित्व युगपत्, परस्परापेक्षित है। शिव-शक्ति के अन्तर्निमेष को 'सदाशिव' और बाह्यनिमेष को 'ईश्वर' कहा गया है। जब शिव तथा शक्ति का संगम होता है, तब सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

(छः)

अद्वैतमत, योगमत और नाथसम्प्रदाय

१. शाकरमत

२. योगीमार्ग

३. नाथपन्थ

शांकरमत

भारतीय इतिहास में शङ्कराचार्य का नाम युगप्रवर्तक महापुरुषों एवं विचारकों में है। उनका जन्म वर्तमान केरल के ब्राह्मण परिवार में वैशाख शुक्ला पंचमी को (६८८ ७२० ई०) हुआ था। उनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम सुभद्रा देवी था। जब वे केवल तीन वर्ष के थे, उनके पिता का स्वर्गवास हो गया था। माता द्वारा ही उनका लालन पालन हुआ। वे बड़े प्रतिभाशाली और कुशाग्र बुद्धि के थे। सात वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने वेद वेदांगों, शास्त्रों और तत्त्वविद्या में निपुणता प्राप्त कर ली थी।

स्वतः प्रेरणा से माता की अनुमति प्राप्त कर वे ८ वर्ष की अवस्था में ही सन्यास धारण करने की अभिलाषा से नर्मदा तट पर निवास कर रहे गोविन्द भगवत्पाद के पास गये। वे बड़े धर्मनिष्ठ तपस्वी एवं तत्त्ववेत्ता विद्वान् थे। उनसे उन्होंने 'परमहंस' की दीक्षा ली और शंकराचार्य के नाम से कहे जाने लगे। भारतीय वर्णाश्रम में चार आश्रमों का विधान है। उनमें अन्तिम आश्रम सन्यास कहा गया है। उसकी चार कोटियाँ हैं—कुटीचक्र, बाहूदक, सन्यास एवं परमहंस। ये कोटियाँ उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बतायी गयी हैं और वैराग्य तथा ज्ञान की उत्तरोत्तर तीव्रता के कारण उनको प्राप्त किया जा सकता है। उनमें परमहंस अन्तिम एवं श्रेष्ठतम स्थिति है। सदसत् विवेक की परिपूर्ण शक्ति अर्जित करने के उपरान्त आत्मबोध होता है। जिस पुरुष में आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका है, उसे 'परमहंस' कहा जाता है। शंकराचार्य ने इसी परमहंस की दीक्षा ली थी। दीक्षा के उपरान्त गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर अल्पकाल में ही वे वेद शास्त्रों के गंभीर ज्ञान के निष्णात हो गये। गुरु के आदेश से ही वे काशी गये और वहाँ उनके अगाध ज्ञान तथा वैदुष्य की ख्याति निरन्तर बढ़ती गई।

काशी से वे कुरुक्षेत्र और तदनन्तर बदरिकाश्रम गये। वहाँ से वे प्रयाग लौट आये। इस बीच उनके अनेक शिष्य बनते गये। उन्होंने सर्वप्रथम ब्राह्मण ब्रह्मचारी सनन्दन को दीक्षित किया और उसका नया नामकरण किया पद्मनाभाचार्य। दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम के विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर उन्होंने अपने समय के प्रख्यात विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर सारे भारत में अपने 'अद्वैतमत' की प्रतिष्ठा की। उन्होंने मीमांसकों, बौद्धों, शैवों, कापालिकों, पाशुपतों, शाक्तों और गाणपतों के मतों का खण्डन

कर अपने अद्वैतमत का प्रचार प्रसार किया। अन्त मे वे माहिष्मती के तत्कालीन भारत-प्रसिद्ध मीमासक विद्वान् मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ के लिये गये। कहा जाता कि शकराचार्य ने माहिष्मती ग्राम के निकट पनघट पर एक पनिहारिन या दासी से मण्डनमिश्र के घर का पता जानना चाहा, तो उन्होंने सस्कृत मे उत्तर दिया 'जिस घर पर पिंजरस्थ मैनाएँ स्वत प्रमाण और परत प्रमाण पर चर्चा करती हुई दिखाई दें, वही मण्डनमिश्र का घर है—

स्वत प्रमाण परत प्रमाण किराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा जानीहि तन्मण्डनमिश्रधाम॥

दासी के इस उत्तर को सुनकर शकराचार्य आश्चर्यचकित हुए और तदनुसार वे मण्डनमिश्र के घर पर पहुँचे। वहाँ मीमासादर्शन के दिग्गज विद्वान् मण्डनमिश्र से उनका घोर शास्त्रार्थ हुआ, जिसकी मध्यस्थता मण्डनमिश्र की विदुषी पत्नी भारती या शारदादेवी ने की। अन्त मे मण्डनमिश्र ने शकराचार्य के मत को स्वीकार किया और वे उनके शिष्य हो गये। उन्होंने सन्यास धारण कर लिया और सुरेश्वराचार्य के नये नाम से विख्यात हुए।

जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है कि देश मे धर्म स्थापना के उद्देश्य से उन्होने पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण की यात्रा की। वहाँ उन्होंने अनेक विद्वानों को शिष्य रूप मे दीक्षित किया और देश के चारो दिशाओ मे अपना मत स्थापित कर वहाँ अपने दीक्षित शिष्यो को बैठाया। उनके द्वारा स्थापित प्रमुख चार मठो के नाम हैं—

१ शृगेरी मठ—तुगभद्रा नदी के पवित्र तट पर मैसूर म शृगेरी मठ स्थापित कर उसके प्रथम अधिष्ठाता उन्होने सुरेश्वराचार्य (मण्डनमिश्र) को नियुक्त किया।

२ शारदा मठ—द्वारका मे शारदामठ स्थापित कर, वहाँ उसके प्रथम अधिष्ठाता आचार्य हस्तामलक नियुक्त हुए।

३ गोवर्द्धन मठ—जगन्नाथपुरी मे गोवर्द्धन मठ की स्थापना कर वहाँ उन्होंने आचार्य पद्मनाभ को अधिष्ठाता नियुक्त किया।

४ ज्योतिर्मठ—बदरिकाश्रम म उन्होने ज्योतिर्मठ की स्थापना कर वहाँ के अधिष्ठाता वेंकटाचार्य को नियुक्त किया।

इन चारो प्रमुख मठो के अतिरिक्त काची मे कामकोटिमठ और काशी के सुमेरु मठ का सस्थापक भी शकराचार्य को बताया जाता है। उन्होंने आठ अखाडे और बावन कुटियो की भी स्थापना की और वहाँ अपने सुयोग्य शिष्यो को धर्म प्रचारार्थ नियुक्त किया।

देश-भ्रमण के साथ उन्होने छोटे-बड़े लगभग २७२ ग्रन्थो का निर्माण किया, जिनमे 'ब्रह्मसूत्रभाष्य', 'दशोपनिषद्भाष्य', 'गीताभाष्य' और विवेक-चूड़ामणि' का नाम प्रमुख है।

शंकराचार्य के बाद शांकरमत अनेक पन्थो मे विकसित हुआ, जिनमें दशनामी सन्यासी प्रमुख हैं। उनके नाम हैं—गिरी, पुरी, भारती, सागर, आश्रम, पर्वत, तीर्थ, सरस्वती, वन और आचार्य। ये दशनामी सन्यासी ब्राह्मण होते हैं और त्रिदण्ड, कमण्डल, रुद्राक्ष तथा भस्म धारण करते हैं।

इन दशनामी सन्यासियो के भी अनेक पन्थ हुए, जिनमे खाकी, नागा, उपवीत, अलखनामी, अवधूत, कुटीचर बहुदक, कड़ालिगी, ऊर्ध्वबाहु, आकाशमुखी, नखी, रूखरस और सुखरस आदि का नाम उल्लेखनीय है।

शंकराचार्य के देशव्यापी भ्रमण का लक्ष्य यद्यपि वैचारिक अभिप्राय या और तत्कालीन विभिन्न धर्म-दर्शनो, मतो-सम्प्रदायो पन्थो का खण्डन कर अपने अद्वैतमत की प्रतिष्ठा करना था, किन्तु इसके साथ ही हिन्दूधर्म और हिन्दू-संस्कृति की रक्षा तथा उनका पुनर्जागरण करना भी था ७वी-८वी शती ई० मे देश के बाहर-भीतर धार्मिक संकीर्णताओं के कारण, विरोधी विद्रोह हो रहे थे। उनके फलस्वरूप हिन्दू मठ-मन्दिरो के ध्वंस को रोकने के लिए, हिन्दुत्व की एकता तथा देशव्यापी धर्मप्रतिष्ठा के लिये शंकराचार्य ने एक नयी वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। कुछ विद्वानो का मत है कि शंकराचार्य द्वारा स्थापित अखाड़ो का उद्देश्य विद्रोहियो से सशस्त्र प्रतिरोध करना भी था। निर्वाणी और निरजनी आदि अखाड़े इसी हिन्दूधर्म की रक्षा के लिए बनाये गये थे। उनकी वर्तमान रीति-नीति एव वस्तुस्थिति को देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी समय वे सशस्त्र सैन्यदल थे, जिन्होने हिन्दुत्व की रक्षा के लिए देशव्यापी संगठन तैयार किये होंगे। उन्होंने बलात् मुसलमान हुए हिन्दुओ को पुन हिन्दुत्व मे परिवर्तित किया।

शंकराचार्य को अद्वैतवेदान्ती के रूप मे जाना जाता है, किन्तु उनकी आचार-पद्धति बड़ी व्यापक एव बहुश्रुत थी। उन्होने भक्ति को भगवत्प्राप्ति का साधन बताया है। अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही उनकी दृष्टि मे 'भक्ति' है।

शंकराचार्य वस्तुत स्मार्तमत के प्रमुख एव प्रबल समर्थक थे। उनके समय तथा उनसे पूर्व भी ऐसे अनेक भक्ति-मत प्रचलित हो चुके थे, जो वर्णाश्रम धर्म के घोर निन्दक थे। शंकराचार्य के उदय के कारण इन वर्णाश्रम विरोधी मतो की परम्परा क्षीण पड़ने लगी थी। उनके प्रौढ़ शास्त्रीय प्रभाव से जप,

तप, उपवास, व्रत, यज्ञ, दान, संस्कार, उत्सव, प्रायश्चित्त आदि परम्परागत आचार-संस्कारों की पुनः स्थापना हुई। उन्होंने विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति इन पंचदेव की उपासना को प्रचलित किया। पंचदेव उपासना पर आस्था रखने वाला मत ही 'स्मार्त' कहलाया, जो कि स्मृतियों पर आधारित था। उन्होंने बहुव्यापी सनातनधर्मी समाज की आस्थाओं तथा परम्पराओं को पुनरुज्जीवित किया। इस प्रकार शंकराचार्य को सनातनधर्म का आधारस्तम्भ माना जाता है।

प्राणवायु और अपानवायु मे समन्वय स्थापित किया जाता है। इस योग के ध्यान को 'ज्योतिर्ध्यान' और समाधि को 'महायोगसमाधि' कहा गया है।

३ लययोग—इस योग का सम्बन्ध कुण्डलिनी शक्ति के उद्बोधन से है। योग की वह स्थिति, जिसमे साधक सम्पूर्ण चित्तवृत्तियो को एकाग्र करके कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करता है और उसे ब्रह्म मे तन्मय कर देता है, उस स्थिति का नाम 'लययोग' है। इस योग के ध्यान को 'बिन्दुध्यान' और समाधि को 'महालय-समाधि' कहते हैं। इस योग मे मन समस्त बाह्य पदार्थों से उदासीन होकर अन्तर्मुखी हो जाता है। इसमे साधक को निश्चल नासाग्र दृष्टि का अभ्यास करना होता है। निद्रा-तन्द्रा का परित्याग कर अन्तस् वृत्तियो को उद्बोधित किया जाता है। साधक की दृष्टि मे समस्त दृश्य पदार्थ नष्ट होकर उनमे द्रष्टा व्याप्त हो जाता है। शेष तीनो योग साधनावस्था के हैं, किन्तु लययोग सिद्धावस्था की स्थिति है।

४ राजयोग—राजयोग पूर्वोक्त तीनो योगो मे श्रेष्ठ है। उसका सम्बन्ध मन शक्ति को सबल एव तीव्र करना है। मन की इच्छाशक्ति को इतना प्रदीप्त कर देना है कि वह ब्रह्म-सामीप्यता की ओर अग्रसर हो और अन्त मे साधक को अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाये—'राजयोग' कहलाता है। निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति इस योग का लक्ष्य है। इसके ध्यान को 'ब्रह्मध्यान' और समाधि को 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं। शेष तीनों योग साधनावस्था के है, किन्तु राजयोग सिद्धावस्था की स्थिति है।

योगमत की उक्त चार शाखाओ मे 'हठयोग' की साधना का अधिक विकास हुआ। उसका प्रभाव भारत के सभी अँचलो मे और द्वीपान्तर भारत मे भी पहुँचा। योगी मार्ग के अनुयायी इसी हठयोग साधना के साधक हैं। योगमार्ग की साधना के लिए यम, नियम आदि आठ साधन आवश्यक बताये गये हैं। इन्हे 'अष्टागयोग' कहा गया है। उनमे से यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये पाँच बहिरग और धारणा, ध्यान तथा समाधि, ये तीन अन्तरग साधन बताये गये हैं। 'योगसूत्र' के साधनपाद मे इन आठों साधनो का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

१ यम—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का सम्मिलित नाम ही 'यम' है।

किसी भी प्राणि को मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना ही 'अहिंसा' है। हित की कामना से कपटरहित अन्तःकरण के द्वारा किया गया, प्रिय शब्दो का प्रयोग ही 'सत्य' है। मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार का किसी दूसरे व्यक्ति के अधिकार का अपहरण न करना

ही 'अस्तेय' है। मन, वचन और इन्द्रियो के काम विकारो का सर्वथा परित्याग करना ही 'ब्रह्मचर्य' है। इसो प्रकार शब्द, स्पर्श आदि किसी भी प्रकार की भोग-सामग्री का सचय न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है।

इस पचावयव यम को 'सार्वभौम महाव्रत' कहा गया है। किसी देश काल तथा जीव के साथ व किसी भी उद्देश्य से हिंसा, असत्य भाषण, चोरी तथा व्यभिचार आदि का आचरण न करना और परिग्रह (आसक्ति) से विलग रहना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

२ *नियम*—पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान मे एकचित्त रहना ही 'नियम' है।

बाह्य व्यवहार तथा आचरण मे सात्त्विक पदार्थों का पवित्रतापूर्वक आचरण करना और ममता, राग-द्वेष आदि भीतरी अवगुणो का परित्याग करना ही 'पवित्रता' है। सुख-दु ख, लाभ हानि की स्थितियो मे भी सर्वदा प्रसन्नचित्त बने रहना ही 'सन्तोष' है। मन तथा इन्द्रियो के निग्रह के लिये जो धर्माचरण तथा व्रत किये जाते हैं, उन्ही को 'तप' कहते हैं। कल्याणकारी शास्त्रो मे प्रवृत्ति और एकान्त मन से इष्टदेव का गुणानुवाद करना ही 'स्वाध्याय' है। इसी प्रकार मन, वचन तथा कर्म से ईश्वर की भक्ति करने का नाम ही 'ईश्वर प्रणिधान' है।

३, आसन—आसन अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु आत्मसयमी के लिये सिंहासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन आसन प्रमुख बताये गये हैं। प्रत्येक आसन का प्रयोग करने के लिये यह आवश्यक है कि मेरुदण्ड, मस्तक तथा ग्रीवा सीधी रहे और दृष्टि नासिकाग्र भाग या भृकुटि पर अवस्थित रहे। जिस आसन से सुखपूर्वक अधिक-से-अधिक समय तक अवस्थित रहा जा सके, वही 'आसन' है।

मन की प्रकृत उत्कण्ठाओ के नाश करने और मन को परमेश्वर में लगा देने से ही आसन की सिद्धि होती है।

४ प्राणायाम—आसन-सिद्धि के बाद श्वास प्रश्वास की गति का विच्छिन्न हो जाना ही 'प्राणायाम' है। बाहरी वायु का अन्त:प्रवेश ही 'श्वास' और भीतरी वायु का बहिर्गमन ही 'प्रश्वास' है। इन दोनो को जब अवरुद्ध किया जाता है, तभी प्राणायाम की सिद्धि होती है। बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भ, अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक, इनके तीन प्रकार हैं।

५ *प्रत्याहार*—इन्द्रियो द्वारा अपने-अपने विषयो का परित्याग कर चित मे अवस्थित हो जाने का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इंद्रियो द्वारा विषयों का साथ छोडने के कारण साधक बाह्य ज्ञान से विरत हो जाता है। इंद्रियो को

अपने वश में कर लेने के बाद साधक 'प्रत्याहार' की स्थिति में स्वयं ही पहुँच जाता है।

६. धारणा—चित्त को किसी एक देश में स्थिर कर देने का नाम ही 'धारणा' है। स्थूल, सूक्ष्म, भीतर, बाहर किसी भी एक ध्येय में चित्त को एकनिष्ठ कर देना ही 'धारणा' है।

७. ध्यान—ध्येय वस्तु में चित्तवृत्ति की एकाग्रता को तैलधारा या गंगा-प्रवाह की भाँति अविच्छिन्न रूप में अनवरत लगाये रखना ही 'ध्यान' है।

८. समाधि—जब ध्यान ध्येय के रूप में भासित होने लगता है, या ध्यान ध्येय में लय हो जाता है, उस अवस्था का नाम 'समाधि' है। उक्त चारों योगों में समाधि को प्रमुखता दी गई है। "जिस प्रकार जलबिन्दु समुद्र में गिरकर तद्वत् हो जाता है, उसी प्रकार ध्येयस्वरूप परमात्मा में मग्न हुआ अन्तःकरण ध्येय परमेश्वर में अभिन्न हो जाता है। अथवा जिस प्रकार जल में निक्षिप्त लवणखण्ड जल में ही घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार विषयरहित मन निरन्तर ध्यान द्वारा क्रमशः ध्येय परमेश्वर से युक्त होकर अन्त में परमात्मा के स्वरूप में विलय हो जाता है।" यही समाधि है। उसके दो भेद हैं—निर्वितर्क और निर्विचार।

इस प्रकार योगी मार्ग के अनुयायी साधक उक्त आठ यम-नियमादि साधनों का अभ्यास करते हैं। इस मत में गुरु को ज्ञान का आगार बताया गया है और सिद्धि प्राप्त करने के लिये धौति, नेति, वस्ति तथा नौलि आदि क्रियाओं का अनुसरण करना आवश्यक है। वस्तुतः पातञ्जलयोगदर्शन ही योगीमत का आधार रहा है। इस मत में गुरु ज्ञान की महिमा का आधार लेकर परवर्ती मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के भक्तियुगीन सन्तों ने अपने-अपने स्वतन्त्र पन्थों का प्रवर्तन किया।

योगीमार्ग के मूल सिद्धान्तों का विकास नाथपन्थ में देखने को मिलता है। जिसके प्रवर्तक विशेष रूप से मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरखनाथ हुए। त्याग तथा मौनव्रत योगीमार्ग के अनुयायी साधकों के अनिवार्य आचार थे। कालान्तर में योगीमत की कनफटा, वनिया, जोगी, कामड़िया और अवधूत आदि अनेक शाखाएँ हुईं, किन्तु वे सभी अल्पजीवी रहीं। अवधूत आदि के संन्यासी कठोर जीवन बिताते थे। वे कम-से-कम वस्त्र धारण करते थे और वस्त्रों की पूर्ति भस्मावलेपन से करते थे। जटा धारण करते थे। प्रायः मौनव्रत रहते थे। कंदमूल जीवन अपनाते थे।

योगीमत के एक वर्ग साधु 'आकाशमुखी' कहलाते हैं, जो ग्रीवा को पीछे मोड़कर दृष्टि को आकाश में तब तक स्थिर बनाये रखते हैं, जब तक

मासपेशियाँ सूख न जायें। आकाश की ओर मुख करने की साधना के कारण उनका यह नामकरण हुआ।

योगीमार्ग की अति कठिन तपश्चर्या के कारण इस मत का प्रचार-प्रसार केवल सन्यासियों एवं परमहंसों तक ही सीमित रहा। जैन-बौद्धधर्मों के अनुयायियों का योगमार्गी ज्ञानियों एवं सन्तों ने प्रबल प्रतिरोध किया। किन्तु पौराणिक धर्म के प्रसार के बाद इस विशुद्ध साधनाप्रधान योगमार्ग में देवी-देवताओं की सगुणोपासना का प्रभाव प्रविष्ट हुआ और उसके फलस्वरूप योगीमत की मूलभूत प्रवृत्तियों का परम्परागत स्वरूप क्षीण हो गया। योगी मार्ग की साधना पद्धति को नाथपन्थ के योगियों ने अपनाया और अपने सिद्धान्तों की स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित की।

योगीमार्ग का पुनरुद्धार

योगीमार्ग का १०वीं शती ई० में पुनरुद्धार हुआ। उसके पुनरुद्धारक गोरखनाथ हुए। उन्होंने योगीमार्ग को स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसकी साधना प्रतिष्ठा हठयोग की है। उसे ऊँचा योग कहा जाता है, जो कि पातञ्जलयोगदर्शन से कुछ भिन्न है। उनके समय योगीमार्ग १२ शाखाओं में पल्लवित हुआ। जिस कारण इस मत का एक नाम 'बारहमत' भी प्रचलित हुआ। योगी मार्ग के सिद्ध कान फड़वाकर कुण्डल धारण करते हैं। इसलिए उन्हें 'कनफड़ा' या 'कनफटा' योगी भी कहते हैं। उक्त १२ पन्थों में छः पन्थों के प्रवर्तक स्वयं शिव को कहा जाता है। शेष छः पन्थ गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित हुए। पहले पन्थ के योगियों में चाँदनाथ, कपिलानी, गंगानाथ, आपनाथ, नामनाथ तथा पारसनाथ का नाम उल्लेखनीय है। दूसरे पन्थ में अनुयायियों में हेठनाथ, लक्ष्मणनाथ, बालनाथ, नाटेसरी तथा जाफर-पीर प्रमुख हैं। 'दरियापन्थ' इसी के अन्तर्गत है। तीसरे पन्थ को 'आई पन्थ' के नाम से कहा गया। इसी पन्थ के अनुयायी सिद्ध चोलीनाथ हुए। चौथे वैराग पन्थ की परम्परा में भर्तृनाथ, प्रेमनाथ, रतननाथ, कायानाथ या कायामुद्दीन तथा मस्तनाथ हुए। पाँचवें पंथ के प्रवर्तक जयपुर के पावनाथ हुए। छठे पन्थ को धननाथ ने प्रचलित किया। इन पन्थों के साधुओं एवं उपासकों में पुरातन कपिल मत, योगमार्ग, लकुलीश मत, कापालिक मत और वाममार्ग आदि भी सम्मिलित होते गये।

इस प्रकार योगीमार्ग का विकास अवरुद्ध हो गया।

नाथ-सम्प्रदाय

भारत के धार्मिक इतिहास मे ६ठी से ९वी शती का अन्तराल बडी प्रतिस्पर्धा, अस्तित्वरक्षा और संघर्ष का समय रहा है। इस अवधि मे जैन बौद्ध आदि वेदविरोधी नास्तिक धर्मानुयायियो द्वारा वैदिक धर्म का प्रबल विरोध हुआ। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत तन्त्रमार्ग की एक नयी शाखा का उदय हो चुका था, जिसमे शक्ति की उपासना को प्रमुखता दी गई थी। उसकी वाममार्गी प्रवृत्तियो मे मद्य-मास के भक्षण आदि अनाचारो तथा मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि अभिचारो का प्रबल प्रचार-प्रसार हो रहा था। धर्म के क्षेत्र मे इन अनैतिक आचरणो के कारण तन्त्र-साधना का परम्परागत उच्चादर्श एव उसकी साधना-पद्धति का महत्त्व क्षीण पडता जा रहा था।

शक्ति मार्ग मे विकार उत्पन्न कर एव अनैतिक आचारो को धर्म की ओट मे प्रश्रय देकर बौद्धधर्म अपने परम्परागत उच्चादर्शों को विस्तृत कर चुका था। बौद्धधर्म की उदात्त परम्पराओ मे विकार उत्पन्न हो गया था। उसकी वज्रयानी शाखा इन अनैतिकताओ तथा विकारो के लिए उत्तरदायी थी। बौद्ध भिक्षुसघो मे चामत्कारिक सिद्धियो का प्राबल्य हो गया था। धर्म प्रज्ञा, समाधि, नीति तथा औचित्य, जो कि बौद्धधर्म के आदर्श थे, उनको तिरस्कृत कर दिया गया था। अनेक जातियो तथा वर्गों के लोग स्वेच्छापूर्वक उसमे सम्मिलित होने लगे थे। राजकी, भिल्लिनी तथा डोमिनी जैसी साधिकाएँ उनमे प्रवेश पाने लगी थी। मास, मदिरा, स्त्री-गमन को सहज आचरणो मे गिना जाने लगा था। स्वय को सिद्ध बताने वाले अनाचारी साधक किसी साधिका को लक्ष्य बना कर यक्षिणी, डाकिनी, शाकिनी तथा कर्मपिशाचिनी साधना का आधार बना लिया था। वज्रयानी बौद्धो द्वारा धर्म के नाम पर इन असामाजिक अनाचारो का प्रचार-प्रसार हो रहा था।

[illegible] कनफटे के अतिरिक्त वामाचारी तान्त्रिको, शाक्तो, शैवो ने परम्परागत [illegible] चेतना को विकृत कर दिया था। तान्त्रिको के स्त्री समागम अभिचारो, [illegible] के चामत्कारिक प्रदर्शनो और शाक्तो के मद्य मास भक्षण के कारण योगमार्ग के प्रति लोकदृष्टि की मान्यता गिर चुकी थी और समाज उनको उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा।

इन परिस्थितियो मे भी योगमार्ग की भारतीय परम्परा सर्वथा विलुप्त नही हो पाई थी। परम्परागत योगविद्या पर आधारित साधना पद्धति मे

उद्धार हेतु जिन धर्मशाखाओं ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए वेद विरोधी धर्मों एवं आचारभ्रष्ट तान्त्रिकों का जोरदार विखण्डन किया, उनमें 'नाथ-सम्प्रदाय' का नाम उल्लेखनीय है। वैदिक धर्म की परम्पराओं की रक्षा के लिए ब्रह्मनिष्ठ चौरासी सिद्धों का एक प्रभावशाली वर्ग पुरातन आदर्शों एवं मान्यताओं को पुनरुज्जीवित करने की दिशा में अग्रसर था। इस प्रकार के सिद्धों में नारोपा, तिलोपा, मीनपा तथा जालन्धरपा आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन्हीं सिद्ध महापुरुषों द्वारा 'नाथ-सम्प्रदाय' के रूप में भारतीय योगविद्या की स्वस्थ परम्परा आगे बढ़ी।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से नाथ-सम्प्रदाय कितना प्राचीन है, इसका सर्वसम्मत एवं निश्चित उत्तर खोज पाना दुष्कर है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि महाभारत काल में योगविद्या का जो स्वरूप प्रचलित हो चुका था, उसको कालान्तर में नाथ-सम्प्रदाय ने उजागर किया। नाथ-सम्प्रदाय के सिद्ध शाक्तों तथा शैवों की भाँति शिव तथा शक्ति के उपासक हैं किन्तु शाक्तों और शैवों से नाथों की उपासना पद्धति सर्वथा भिन्न है। यद्यपि साधना की दृष्टि से नाथपन्थी सिद्ध शैवों के निकट हैं, तथापि न तो वे लिंगार्चन करते हैं और न ही शिवोपासक हैं। वे तीर्थों और देवताओं में विश्वास करते हैं और शिव-मन्दिरों तथा देव-मन्दिरों को पवित्र मानकर उनके दर्शनों में निष्ठा रखते हैं। इसी प्रकार कैलादेवी तथा हिंगलाज देवियों के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा है। किन्तु शाक्तों से नाथों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है।

नाथ-सम्प्रदाय के आदिप्रवर्तक चार महायोगी हुए। उनमें आदिनाथ को साक्षात् शिव का अवतार माना जाता है। नाथपन्थी अपनी परम्परा को शिव अर्थात् आदिनाथ से स्थापित करते हैं। किंवदन्ती है कि महादेव ने सर्वप्रथम योगमार्ग का उपदेश पार्वती को दिया था। इस उपदेश को मछन्दर या मत्स्येन्द्र ने मछली का रूप धारण कर छिपे तौर से सुन लिया था। जब महादेव को यह पता चला तो उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ को शाप दे दिया। इस शाप से उनका उद्धार उनके शिष्य गोरखनाथ ने किया। योगिराज भगवान् आदिनाथ के दो शिष्य हुए—जालन्धरनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ। उन दोनों के भी दो शिष्य हुए। जालन्धरनाथ के शिष्य का नाम कृष्णपाद (कान्हपाद, कान्हपा या कानफा) और मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य का नाम गोरखनाथ था। उनमें जालन्धरनाथ और उनके शिष्य कृष्णपाद का सम्बन्ध कापालिक साधना से था। आरम्भ में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ की साधना-पद्धति जालन्धरनाथ तथा कृष्णपाद की साधना-पद्धति से भिन्न थी।

मत्स्येन्द्रनाथ एक समय कौलमत के ऐसे साधना-मार्ग में जा भटके थे, जहाँ स्त्रियो का अबाध संसर्ग आवश्यक माना जाता था। किन्तु गोरखनाथ ने गुरु का उस विमार्ग से उद्धार कर उन्हें सन्मार्ग पर लगाया था। उन्होने अपने गुरु को विलासमय जीवन से छुटकारा देकर ब्रह्मचर्योचित योगमार्ग की ओर प्रवृत्त किया था। ये चारो सिद्ध प्राय सम-सामयिक थे।

मध्ययुगीन धर्म साधना के क्षेत्र मे गोरखनाथ या गोरक्षनाथ एक ऐसे प्रभावशाली महापुरुष हुए जिनका अद्भुत योगबल तथा सिद्धियो की चामत्कारिक कहानियाँ समस्त देशवासियो मे प्रचलित हैं। नेपाल की बौद्ध अनुश्रुतियो के अनुसार गोरखनाथ, राजा नरेन्द्रदेव के समय (६६५ ई०) मे मत्स्येन्द्रनाथ के दर्शन के लिए नेपाल गये थे। किन्तु यह अनुश्रुति इतिहास से मेल नहीं खाती है। वास्तविकता यह है कि गोरखनाथ तथा मत्स्येन्द्रनाथ शकराचार्य (८ वी शती ई०) के बाद हुए और शाकरमत के आधार पर ही गोरखनाथ ने अपने योगमत को प्रचलित किया। इस दृष्टि से यह निश्चित है कि गोरखनाथ शकराचार्य के बाद हुए और उनके सम्बन्ध मे प्रचलित उक्त लोकश्रुति इतिहास-सम्मत प्रतीत नही होती है। इन दोनो महा-पुरुषो के सम्बन्ध मे प्रचारित लोकश्रुतियो तथा साहित्यिक एव ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर इतिहासकारो ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनके अनुसार गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ९वी शती ई० के पूर्वार्द्ध मे और गुरु गोरखनाथ ९वी शती ई० के उत्तरार्द्ध मे या १०वी शती ई० के आरम्भ मे हुए। गोंडा जिला स्थित पाटन या देवीपाटन नामक स्थान मे गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का प्राचीन मन्दिर आज भी उनकी स्मृति को उज्जीवित किये हुए हैं।

योगिराज आदिनाथ तथा मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग को उजागर करने वाले नाथ सम्प्रदाय के नौ सिद्ध प्रमुख हैं, जिनके नाम हैं— १ गोरखनाथ, २ ज्वालेन्द्रनाथ, ३. कारिणनाथ, ४ गहनीनाथ, ५. चर्पट नाथ, ६ रेवणनाथ, ७ नागनाथ, ८. भर्तृनाथ, (या भर्तृहरि) और ९ गोपीचन्दनाथ (या गोपीचन्द)। कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ भर्तृनाथ और गोपीचन्दनाथ अमर योगी हैं। वे चिरजीवी ही नही, चिरयुवा भी कहे जाते हैं। योगबल से सनकादि ऋषियो की भाँति बाल, यौवन आदि इच्छित अवस्थाओ को प्राप्त करने मे सक्षम हैं। गुरु गहनीनाथ की पुस्तक 'गहनी' से विदित होता है कि उनके शिष्य का नाम निवृत्तिनाथ था। निवृत्तिनाथ का समय १३३० वि० (११९५ शक) निर्धारित है। एक अनुश्रुति ऐसी भी है कि गहनीनाथ ने निवृत्तिनाथ के पितामह गोविन्द को भी दीक्षित किया था।

गुरु गोरखनाथ का नाम उक्त नौ सिद्धों में अधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय है। उनका मुख्य प्रतिष्ठान गोरखपुर स्थित गोरखनाथ का मन्दिर है। इस मन्दिर के परम्परागत महन्त स्वयं भी सिद्ध पुरुष होते हैं और भारत में आज भी उनकी प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा बनी हुई है। इस मन्दिर में नाथपन्थी कनफटे साधु रहते हैं, जो कि ब्रह्मचर्यव्रती हैं। उनकी गद्दी का उत्तराधिकार शिष्य-परम्परा से प्रवर्तित होता आया है। नेपालवासी गोरखनाथ को पशुपतिनाथ का अवतार मानते हैं। नेपाल में भोगमती, भानगाँव, मृगस्थली, चौधरी, स्वारीकोट और पिउठान आदि विभिन्न स्थानों पर गोरखनाथ के छोटे-बड़े मन्दिर स्थित हैं। गोरखपुर में उन्होंने तपस्या की थी और वहीं वे समाधिस्थ भी हुए। गोरखा जाति उन्हें अपना परम आराध्यदेव मानती है। गुरु गोरखनाथ के नाम पर ही गोरखपुर, गोरखा जाति, पवित्र तीर्थ गोरखगुहा, गोरखगाँव आदि का नामकरण हुआ बताते हैं।

साहित्य निर्माण

नाथपन्थ के मूल पुरुष गोरखनाथ परम साधक या सिद्ध योगी ही नहीं, अपितु शास्त्रवेत्ता एवं प्रगाढ़ विद्वान् भी थे। उनके नाम से संस्कृत, हिन्दी तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओं में लगभग ९८ ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। उनकी कतिपय कृतियों में जो प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव देखने को मिलता है उनका कारण विद्वानों ने यह बताया है कि उनके अनुयायी देश के जिन-जिन भागों में गये, उन्होंने गुरु गोरखनाथ की कृतियों को लोकसुलभ बनाने के लिए देश-काल के अनुसार उनमें फेर-बदल भी किया। उनके प्रमुख ग्रन्थों के नाम हैं—'अवधूतगीता', 'गोरखकल्प', 'ज्ञानशतक', 'ज्ञानामृतयोग', 'योगशास्त्र', 'हठयोग', 'योगचिन्तामणि', 'योग-मार्तण्ड', 'योगसिद्धान्तपद्धति', 'विवेकमार्तण्ड', 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', आदि संस्कृत के और 'आत्मबोध', 'गोरखबोध', 'दयाबोध', 'निरंजनपुराण', 'काफिरबोध', 'दत्त गोरख-सम्वाद', 'गोरखनाथ जी रा पद', 'ज्ञानेश्वरी साखी', 'नरवैबोध' और 'विरहपुराण' आदि हिन्दी के हैं। इस पन्थ के प्राचीन ग्रन्थों में 'घेरण्डसंहिता' का नाम उल्लेखनीय है, जिसको घेरण्ड ऋषि ने लिखा। यह संहिता ग्रन्थ परम्परा से हठयोग की शिक्षा तथा साधना-पद्धतियों के लिए उपयोगी माना जाता है। हठयोग पर शिव-संहिता और 'हठयोगप्रदीपिका' उपयोगी हैं।

आचार और सिद्धान्त-निरूपण

गुरु गोरखनाथ एक सिद्ध एवं शास्त्रज्ञ विद्वान् हुए। उन्होंने योगमार्ग की कठिन साधना-पद्धति का मार्ग प्रशस्त किया और शैवदर्शन के आधार पर

यौगिक क्रियाओं में समन्वय स्थापित किया। अपने समय में प्रचलित वाम-मार्गी उपासना की असामाजिक रूढ़ियों का तिरस्कार-बहिष्कार कर उन्होंने अब्राह्मण आचारों का खण्डन कर योगदर्शन की भारतीय परम्परा को पुन प्रतिष्ठित किया। उनके विशुद्ध योग साधना-पन्थ में अद्वैत शिव की साधना पर बल दिया गया। वे यद्यपि शिवलिंग के पूजन के अनुयायी नहीं थे, तथापि शरीर शुद्धि के लिए तीर्थ व्रत आदि आचारों को मानते थे। मांस-मदिरा, स्त्री-सेवन आदि को अनाचार मानकर उनको निषिद्ध मानते थे। आबाल ब्रह्मचारी के व्रत का पालन करते हुए उन्होंने इन्द्रियजय के महत्त्व को सर्वोपरि माना है।

गोरखपन्थ में यम तथा नियम गौण और आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि छ साधनों की महत्ता पर बल दिया है। इस अष्टांग साधना को उन्होंने काम शुद्धि के लिए आवश्यक बताया है। योग-साधना के षट्कर्म—धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति उनके हठयोग के मूल तत्त्व हैं। उनके साधना-पक्ष या प्रक्रिया-अंग को 'हठयोग' कहा गया है। हठयोग के अनुसार जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में भी है। इसलिए पिण्ड को केन्द्र बनाकर विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त पराशक्ति को प्राप्त करना ही उनकी साधना का लक्ष्य है। गोरखनाथ ने वेदान्तियों, मीमांसकों, कौलों, वज्रयानियों और तान्त्रिक शाक्तों के मोक्ष सम्बन्धी विचारों को मूर्खता-पूर्ण कहा है। (अमरोध शासन, पृ० ८९)। उनके मत से वास्तविक मोक्ष 'सहज समाधि' है। यह समाधि साधक की वह अवस्था है, जिसमें मन स्वयं ही मन को देखने लगता है। 'स्व-संवेदन ज्ञान' की अवस्था ही सहज समाधि है।

नाथपन्थी साधना और सिद्धान्त-निरूपण

नाथपन्थ की योगसाधना और उसके सिद्धान्तों का निरूपण गोरखनाथ के सन्दर्भ में किया जा चुका है। नाथपन्थी योगियों ने पातंजलयोगदर्शन की प्रक्रियाओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किया था। उनकी यह साधना सिद्धि पुरातन परम्परा से लेकर अब तक अपनी एकाग्रता, योगसाधना, अनासक्ति और आत्मचिन्तन की अपनी मान्यता एवं प्रतिष्ठा बनाये हुए है। यद्यपि कापालिकों तथा योगाचारियों ने गोरखपन्थियों की योगसाधना को अपनाने का प्रयास किया किन्तु उनकी पहुँच योग की विकृतियों तक ही सीमित रही। वे पूर्ण दक्षता प्राप्त करने में असफल ही रहे।

नाथपन्थी योगियों में प्राणायाम की महिमा को प्रमुखता दी गई है। वस्तुत प्राणायाम ही उनकी योग-साधना का एकमात्र आधार है। उनकी यह

साधना बड़ी विकट है। वे मत्स्यावलोकन करके रोमकूपों को बन्द कर देते हैं और श्वास-प्रश्वास की गति को रोक लेते हैं। अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करते हुए ऊर्ध्वरेता पद को प्राप्त करना वे अपना परम लक्ष्य मानते हैं।

शुद्ध हठयोग तथा राजयोग नाथों की साधना के मुख्य अंग हैं। योगासन, नाड़ी विज्ञान, षट्-चक्र-साधन तथा प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों का निरोध करना, पंचमहाभूतों पर विजय प्राप्त करना ही साधना का आरम्भिक लक्ष्य है। नाथपन्थ के तात्त्विक सिद्धान्तों की वेदों तथा उपनिषदों के 'प्रणव' (परम पुरुष) से समानता है। उनकी दृष्टि से परमात्मा 'केवल' है और उनकी प्राप्ति ही साधना का अन्तिम लक्ष्य है, जिसे मोक्ष भी कहा गया है। इस दुर्लभ, दुर्जेय मोक्ष तत्त्व का प्राप्त करने के लिए काया का निग्रह अनिवार्य है। काया को परमेश्वर का आवास मानकर सर्वप्रथम उसी को साधा जाता है। काया पर सिद्धि प्राप्त कर जरा, मरण, व्याधि तथा काल पर विजय प्राप्त की जा सकती है। काया के वशीकरण करने के उपरान्त साधक स्वतः ही मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। काया को निर्मल बनाने के लिए यम-नियमादि अष्टांगों तथा नेति धौति आदि षट्कर्मों की साधना की जाती है।

आचार-पद्धति

नाथपन्थी साधुओं की अपनी आचार-पद्धति है। उन्हें प्रायः 'कनफटा' जोगी कहा जाता है। वे दोनों कानों पर मोटे छिद्र करके उन पर सींग के बड़े-बड़े कुण्डल, गले में काले ऊन के डोरे पर आबद्ध सींग की एक सीटी और हाथ में नारियल का खप्पर धारण करते हैं। शरीर को भस्माच्छित करते हैं। भस्म से ही सर्वांग स्नान करते हैं। उनका अग्निदाह नहीं किया जाता। वे या तो जीवित समाधि ले लेते हैं अथवा शरीर-त्याग के उपरान्त समाधिस्थ किये जाते हैं। क्योंकि योग-साधना द्वारा उनकी देह विशुद्ध हो जाती है, इसलिए उन्हें अग्निदाह की आवश्यकता नहीं होती है। वे 'अलख' (अलक्ष्य, अद्वैत ब्रह्म) को जगाते हैं और अपने इष्टदेव का ध्यान करते हैं। भिक्षाटन में भी वे 'अलख' का उच्चारण करते हैं। 'अलख खोल दे पलक, देख ले झलक' यही उनका मंत्र है और इसी का उच्चारण कर वे द्वार-द्वार पर भिक्षाटन करते हैं। गुरु के समक्ष वे 'आदेश' शब्द का प्रयोग करते हैं।

देशव्यापी धर्म-प्रचार और परम्परा का प्रवर्तन

शंकराचार्य के बाद हिन्दू धर्म की मानरक्षा तथा मानवृद्धि के लिए गुरु गोरखनाथ ने देशव्यापी धार्मिक अभियान चलाया। शंकराचार्य के पश्चात् समस्त भारत के जन-मानस को प्रभावित करने वाले महापुरुष गोरखनाथ ही

हुए। उन्होंने स्वयं इतनी लोकप्रियता प्राप्त की कि भारत के प्रायः समस्त जनमानस और उसकी विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों में उनके अद्भुत व्यक्तित्व पर अनेक प्रकार की कथा-कहानियाँ-अनुश्रुतियाँ एवं किंवदन्तियाँ गढ़ी गईं, जो कि आज भी उतनी ही लोकप्रिय एवं प्रेरणाप्रद हैं, जितनी कि अपने अतीत काल में रहीं।

धर्म-प्रचार के लिए उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने देश के विभिन्न अंचलों का भ्रमण किया तथा वहाँ अपने बहुसंख्यक अनुयायियों को तैयार किया। महाराष्ट्र, गुजरात, समस्त उत्तरी-पूर्वी भारत और पंजाब के अतिरिक्त भारत के उत्तरी सीमान्त देशों—नेपाल, तिब्बत तथा चीन तक उनके धार्मिक आन्दोलन का प्रसार हुआ। उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने हिन्दू धर्म की क्षीण एवं विलुप्त परम्पराओं को पुनरुज्जीवित किया और इस रूप में राष्ट्रीय एकता एवं सुदृढ़ता को स्थापित करने में चिरस्मरणीय कार्य किया। गोरखनाथ ने शंकराचार्य की भाँति देश तथा देशान्तर में हिन्दुत्व तथा उसके उच्चादर्शों की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

नाथ-सम्प्रदाय के उन्नयन एवं प्रचार-प्रसार में गुरु गोरखनाथ के पश्चात् जिन सन्तों तथा आचार्यों का अविस्मरणीय योगदान रहा, उनमें महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानदेव (१४वीं शती ई०) का नाम उल्लेखनीय है। 'भगवद्-गीता' पर लिखी उनकी मराठी व्याख्या 'ज्ञानेश्वरी' आज भी 'भगवद्गीता' के अध्येताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अपने वेदान्त ग्रन्थ 'अमृतानुभव' में उन्होंने शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन और अपनी गुरु-परम्परा का विवरण वर्णन किया है। प्रख्यात प्रसिद्ध विद्वान् एवं आत्मज्ञानी सन्त गुलाब सिंह उन्हीं की शिष्य-परम्परा में हुए। सन्त ज्ञानदेव के कारण महाराष्ट्र में आगामी अनेक शताब्दियों तक नाथपन्थी योगियों का बड़ा आदर एवं सम्मान रहा।

गुरु गोरखनाथ के एक प्रसिद्ध शिष्य ब्रह्मगिरि हुए, जो कि गुजराती थे। गुजरात में उन्होंने शैव योगियों (नाथों) की पाँच शाखाओं का प्रचलन किया, जिनके नाम थे—१ कमड २ मूखड, ३ भूखड, ४ कूकड और ५ गूदड। प्रथम दो शाखाओं का प्रचार वहाँ अधिक है। भूखड तथा कूकड शाखाओं के अनुयायी अपने भिक्षापात्रों में सुगन्धित द्रव्य नहीं रखते हैं, जब कि अन्य तीनों शाखाओं के योगी उनका प्रयोग करते हैं। गूदड सन्यासी महापात्र धारण करते हैं और भिक्षाटन करते समय 'अलख' शब्द का प्रयोग करते हैं।

नाथ-पन्थियों में औघड़ों का भी एक अलग वर्ग है, जिन्हें अवड या अघोरी भी कहते हैं। प्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय यद्यपि सम्प्रति लुप्तप्राय है,

किन्तु उनके अनुयायी कुछ अघोरी अवश्य दिखाई देते हैं। वे आचारभ्रष्ट हो गये हैं और प्राचीन कापालिक मत से प्रभावित हैं। किन्तु गोरखनाथ तथा कबीर का बाना धारण करते हैं। उनकी चर्या में तांत्रिकों तथा कापालिकों की साधना का मिश्रण है। स्वभाव से वे बड़े मस्त एवं फक्कड़ होते हैं और इसीलिए 'औघड़' कहलाते हैं।

अघोरी मत के एक प्रसिद्ध महात्मा किनाराम बाबा हुए। उनका जन्म वाराणसी के पास १६५८ वि० में हुआ था। उन्होंने गाजीपुर के सन्त शिवराम से दीक्षा ग्रहण की थी। तदनन्तर वे गिरनार पर्वत पर गये और वहाँ उन्हें भगवान दत्तात्रेय के दर्शन हुए। भगवान दत्तात्रेय की प्रेरणा से वे काशी आये और वहाँ बाबा कालूराम से अघोर पन्थ का उपदेश ग्रहण किया। उनके आचार-विचार और सिद्धान्तों में बड़ी विचित्रता देखने को मिलती है। वे मूलतः वैष्णव रीति के रामोपासक थे। किन्तु अघोर पन्थ की रीति-नीति पर चल कर मद्य-मांस के सेवन का कोई परहेज नहीं करते थे। उनकी उपासना-पद्धति सगुण निर्गुण मिश्रित थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनके शिष्य हुए। वे मूर्तिपूजक नहीं थे। उनकी उपासना के केन्द्र राम थे। उन्होंने वैष्णव मत की चार गद्दियाँ स्थापित कीं—मारुफपुर, नई डीह, परानापुर, और महारपुर में। इसी प्रकार अघोरी मत के भी चार मठ स्थापित किये—रामगढ़ (वाराणसी), देवल (गाजीपुर), हरिहरपुर (जौनपुर) और क्रीं-कुण्ड (वाराणसी)। उनमें प्रधान पीठ वाराणसी के क्रीं-कुण्ड पर है। कीना-राम का विशाल मठ गाजीपुर में है। भदैनी (काशी) के क्रीं-कुण्ड मठ में वे स्वयं रहते थे और वहीं उनकी प्रधान गद्दी है। उनके अनुयायी तीर्थयात्रा को महत्त्व देते हैं। शवों को वे जलाते नहीं, बल्कि समाधि देते हैं। सन्त किनाराम बाबा ने १८०० वि० में १४२ वर्ष की लम्बी आयु प्राप्त कर समाधि ग्रहण की।

गढ़वाल में नाथपन्थ

नाथपन्थ के प्रसिद्ध योगी गुरु गोरखनाथ का अनेक वर्षों तक उत्तराखण्ड से घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा। उन्होंने भारत की चारों दिशाओं के योगियों में उत्तराखण्ड के योगी को ही वास्तविक सिद्ध कहा है (सिद्ध जोगी उतराधी)। जिस गुफा में वर्षों तक घोर तप करके उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी, वह आज भी धौल्या उड्यारी (धवल गुफा) के नाम से कही जाती है। वह दक्षिण गढ़वाल में आज भी वर्तमान है। इसके अतिरिक्त अलकनन्दा के तट पर स्थित ऐतिहासिक नगरी श्रीनगर में भी उनके नाम से 'गोरख गुफा'

सुरक्षित है। उनके नाम पर श्रीनगर के एक मुहल्ले को परम्परा से 'नाथों का मुहल्ला' कहा जाता है।

नाथों की परम्परा गढ़वाल में आज भी बनी हुई है। देवलगढ़ का सत्यनाथ मन्दिर गढ़वाल में नाथों की परम्परा एवं प्रभाव का ऐतिहासिक प्रमाण आज भी विद्यमान है, जिसका निर्माण राजा अजयपाल ने १५वीं शती वि० के लगभग कराया था। नाथों की सिद्धि की अनेक परम्पराएँ आज भी वहाँ के मसान में प्रचलित हैं। ऐसे सिद्धों का गढ़वाल में होना बताया जाता है, जो अपने योगबल से आँधी-तूफानों की राह को बदल देने में सक्षम थे।

नाथ-साहित्य के उद्धारकर्ता विद्वान् डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने एक निबन्ध (उत्तराखण्ड में सन्तमत और सन्त साहित्य, पृ० ८७-९६) में साक्ष्यों को प्रस्तुत करते हुए यह स्थापित किया है कि नाथ लोग न केवल निस्पृह प्रवृत्ति के साधु थे, अपितु नेपाल, कुमाऊँ और गढ़वाल में नवीन राजवंशों के भी संस्थापक थे। वे स्वयं राज्यकर्ता एवं शासक नहीं थे, किन्तु राज्य और शासकों के संचालक थे। गढ़वाल में शासक स्वयंसेवकों के रूप में 'दीवान' के पदों पर रहकर शासन-व्यवस्था का संचालन करते थे और राजगद्दियों के अधिष्ठाता गोरखनाथ को ही माना जाता था। यह अनन्य परम्परा केवल गढ़वाल में ही देखने को मिलती है। गढ़वाल के अनेक गाँवों में गोरख आदि सिद्धों को ग्राम देवताओं के रूप में पूजे जाने की परम्परा है। गढ़वाल के मन्त्र-साहित्य में गोरखनाथ, सत्यनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, चर्पटीनाथ तथा कबीरनाथ आदि की 'जागरें' तथा 'औणें' आज भी गढ़वाल के धामियों, औजियों तथा लोक-कथाओं एवं वार्ताओं में प्रचलित हैं। बालकों पर भूत भय की निवृत्ति के लिए भभूत को मन्त्रित करने से सम्बन्धित मंत्र गोरखनाथ, कबीर आदि सिद्धों के नाम से उच्चरित होते हैं। गोरखनाथ आदि से सम्बन्धित सिद्धियों का उच्चारण आज भी गढ़वाली समाज में प्रचलित है। गोपीचन्द और भरथरी की उदार गाथाएँ आज भी यहाँ के 'औजी' समाज में 'ढोल दमाऊ' के साथ वैसाख का भिक्षाटन करते समय घरों पर गाई जाती हैं। इसी प्रकार की अनेक ख्यातें, जनश्रुतियाँ और परम्पराएँ गढ़वाल के लोक मानस में नाथपन्थी सिद्धों के प्रबल प्रभाव एवं सम्बन्ध को ध्वनित करती हैं।

इस प्रकार नाथपन्थ की परम्पराएँ अनेक रूपों में विकसित एवं पल्लवित होकर देश के कई अँचलों में फैलीं और कई शताब्दियों बाद आज भी समाज तथा साहित्य में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।

(सात)

निर्गुणोपासक सुधारवादी धर्मशाखाएँ

१. सन्तमत
२ वारकरी सम्प्रदाय
३ निरंजनी सम्प्रदाय
४ इमामशाही पीरानापन्थ
५. कबीरपन्थ
६. नानकपन्थ या सिक्खपन्थ
७. दादूपन्थ
८. प्रणामीपन्थ
९ राधास्वामीमत

सन्त-मत

मध्ययुगीन धार्मिक इतिहास में सन्तमत का उल्लेखनीय स्थान है। उपनिषदों तथा वेदान्त दर्शन में जिस अद्वैत ब्रह्म का निरूपण किया गया है, उसका सामयिक लोकभावना में सामञ्जस्य करके सन्त कवियों एवं साधकों ने धर्म के जिस सार्वभौम स्वरूप का प्रवर्तन किया उसे 'सन्त-मत' के नाम से कहा जाता है। व्यक्ति-स्वार्थों और एकांगिता की संकुचित सीमाओं से निकाल कर धर्म को उदार एवं व्यापक स्वरूप देने में सन्त-मत का विशेष योगदान रहा है। धर्म के उदारतावादी विचारों को लेकर इस धार्मिक पन्थ का उदय हुआ।

इस निवृत्तिमार्गीय सन्त मत के मूल आचार्य सनत्कुमार थे। सनत्कुमार ने इस धर्म का उपदेश नारद मुनि को दिया और यही परम्परा कबीर आदि सन्तों ने ग्रहण की। 'महाभारत' के 'नारदोपाख्यान' के अनुसार नारद मुनि अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए एकान्तिकों से पास श्वेतद्वीप गये थे। यह श्वेतद्वीप सुमेरु पर्वत की उत्तर दिशा में था। कुछ विद्वानों ने हिमगिरि को ही श्वेतद्वीप कहा है और गढ़वाल को सनत्कुमार की साधना भूमि बताया है। सुमेरु के निकट नारायणीय धर्म का प्रमुख तीर्थ बदरिकाश्रम है। इसी नारायणाश्रम में बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की थी। यहीं पर अनेक ऋषि मुनियों के ज्ञान तथा तप से आत्मानुभव प्राप्त किया था। एक मुक्तिदायी पवित्र तीर्थ के रूप में बदरिकाश्रम आज भी धर्मप्राण भारतीय जनता का पुण्य तीर्थ बना हुआ है। यहीं से सन्त मत के साथ साथ भारत के समस्त धर्मों की गंगा का उद्गम हुआ था।

'सन्त' शब्द वस्तुतः एक व्यापक अर्थ का परिचायक है। किसी भी साधु या सज्जन पुरुष, धार्मिक प्रवृत्ति के सात्विक स्वभावयुक्त व्यक्ति को सन्त कहा जाता है। लोकमंगल की भावना से जीवन को संयमित एवं मर्यादित रखता हुआ जन-जीवन को सद्विचारों एवं लोकहित के लिए प्रवृत्त करने वाला प्रत्येक महापुरुष सन्त है। निखिल जीव-जगत् की निःसारता के दर्शन कर लिए हैं और जो यह अवधारित कर चुका है कि मानव-जीवन का निःश्रेयस् क्या है, ऐसा आत्मदर्शी महामानव ही सन्त की गरिमा को धारण करता है। किन्तु यह व्यापक अर्थबोध का परिचायक 'सन्त' शब्द हिन्दी साहित्य में एक विशेष वर्ग के भक्तों एवं साधकों के लिए प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी साहित्य के मध्ययुगीन भक्तियुग में निर्गुण निराकार की उपासना एवं

चिन्तन पद्धति को लेकर जिन भक्त कवियो ने अपनी लोकहितकारी वाणियो का अभिव्यजन किया, उन्ही के लिए सन्त शब्द रूढ बन गया।

ये सन्त अधिकतर ऐसे हुए, जो अधिक पढे-लिखे नही थे, या सर्वथा अनपढ थे। किन्तु वे स्वत सिद्ध थे, आत्मदर्शी थे और अपने अनुभवो को उन्होने अपनी वाणियो मे अभिव्यजित कर लोक को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त किया। उनकी भाषा अनगढ है, किन्तु भावाभिव्यक्ति प्रौढ एव गभीर तथा मौलिक है।

हिन्दी साहित्य मे इस प्रकार के सन्तो की परम्परा नाथपन्थी योगियो और जैन मुनियो से स्थापित की जा सकती है, जिसका समय ९वी शती ई० मे रखा जा सकता है। सन्त-मत का यह आरम्भिक साहित्य प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ मे है। सन्तों की जो परम्परा व्यापक रूप मे प्रकाश मे आई, उसका समय १५वी शती ई० से निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार के सन्तो का उदय भारत के प्राय सभी अचलों मे हुआ। उत्तर भारत मे लगभग १३वी शती ई० मे आचार्य रामानन्द 'रामावत सम्प्रदाय' की स्थापना कर श्रीराम के लोकोत्तर स्वरूप की व्याख्या कर चुके थे और आराधना-उपासना की एक ऐसी पद्धति का प्रवर्तन कर चुके थे, जिसमे वर्ग-वर्ण की विषमताओ के विपरीत धर्म के सहज मार्ग का निरूपण था। इसी प्रकार उत्कल मे जयदेव, महाराष्ट्र मे नामदेव, ज्ञानदेव, पजाब मे सन्त सधना तथा बेनी और काश्मीर मे लालदेव आदि सन्तो ने अपनी वाणियो मे भक्ति एव उपासना के नये मार्ग का सूत्रपात किया।

सन्तो की यह परम्परा लगभग १९वी शती ई० तक अविच्छिन्न रूप मे बनी रही। इस बीच अनेक सन्त, कवि, भक्त एव आचार्य हुए, जिन्होने अपने-अपने नये पन्थो एव सम्प्रदायो की स्थापना कर सन्तमत को व्यापक रूप दिया। इस प्रकार के सन्तमार्गीय पन्थो मे नानकदेव (१५वीं शती) का नानक पन्थ, दादूदयाल (१५वीं शती) का दादू पन्थ, कबीरदास (१५वी शती) का कबीर पन्थ, सन्त पुण्डरीक आदि (१३-१५वी शती) का पीराना पन्थ, हरिदास (१५वी शती) का निरजनी पन्थ और मलूकदास (१६वीं शती) का मूलक पन्थ आदि का प्रचलन हुआ। इसी प्रकार धामी सम्प्रदाय, साध सम्प्रदाय, धरनीश्वरी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, बाबा लाली सम्प्रदाय, दरिया पन्थ, शिवनारायणी सम्प्रदाय, गरीब पन्थ, नारायण सम्प्रदाय और रामसनेही सम्प्रदाय आदि के सस्थापक एव प्रवर्तक सन्तो ने अपनी वाणियो मे सन्त मत को व्यापक लोक-जीवन मे फैलाया।

सन्त-मत के जनक तथा उन्नायक सन्तों और उनके द्वारा प्रवर्तित पन्थो एव सम्प्रदायो का उल्लेख विस्तार से आगे किया गया है।

वारकरी-सम्प्रदाय

दक्षिण भारत मे उदार विचार वाले कुछ ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, जिनके अनुयायी भागवत मत को मानते हैं और शिव तथा विष्णु की समान रूप से आराधना-उपासना करते हैं। ऐसे तीन सम्प्रदाय या पन्थ हैं—वारकरी, रामदासी और दत्त या दत्तात्रेय। मूलत ये तीनों उपशाखाएँ भागवत सम्प्रदाय की है। इन तीनो वैष्णव शाखाओ का उदय महाराष्ट्र मे हुआ और यही उनको व्यापक लोक-सम्मान भी प्राप्त हुआ। इन तीनों धर्म-शाखाओ मे उच्चकोटि के सन्त, महात्मा तथा भक्त हुए।

भारत के धार्मिक इतिहास मे महाराष्ट्र के सन्तो का उल्लेखनीय स्थान है। मध्ययुगीन भारत मे भक्ति तथा ज्ञान की जिस धारा को उन्होंने बहाया, देश के कोने कोने तक उसका प्रसार हुआ। 'वारकरी पन्थ' का अस्तित्व महाराष्ट्रीय सन्तो की भगवद्-भक्ति के परिणामस्वरूप प्रकाश मे आया। इस पन्थ के अनुयायी यद्यपि अनेक प्रसिद्ध सन्त हुए, किन्तु इसके प्रवर्तक एव सस्थापक के सम्बन्ध मे आज भी असन्दिग्ध तथा विस्तृत जानकारी उपलब्ध नही है।

वारकरी पन्थ के प्रवर्तक किसी पुण्डरीक नामक सन्त को बताया जाता है, जिनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध मे मत मतान्तर है। भारत के धार्मिक पन्थो के प्रामाणिक खोजकर्ता विद्वान् डाक्टर भडारकर ने १२४९ ई० के एक ताम्रलेख के आधार पर लिखा है कि देवगिरि के यादववशीय शासक कृष्ण के सेनापति ने बैलगाव जिले के पौण्डरीक पवित्र क्षेत्र को दान किया था, जो कि भीमा नदी के तट पर था और जिसका समीकरण वर्तमान पण्ढरपुर से किया जा सकता है। यदि प्राचीन पौण्डरीक शब्द का सम्बन्ध किसी पुण्डरीक नामक व्यक्ति से स्थापित किया जा सकता है तो उसका स्थितिकाल १३वी शती के आस-पास रखा जा सकता है और वर्तमान पण्ढरपुर उसका जन्मस्थान माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध मे डाक्टर भडारकर ने एक परम्परागत अनुश्रुति का हवाला देते हुए लिखा है कि पण्ढरपुर के निकट डिडीरवन नामक एक जगल मे मातृ-पितृ-भक्त कोई पुण्डरीक नामक सन्त-स्वभाव का भक्त-हृदय व्यक्ति रहा करता था। दन्तकथा मे कहा गया है कि एक बार कृष्ण रुक्मिणी को मनाने के लिए पण्ढरपुर वन मे गये थे। उस समय वे भक्त पुण्डरीक से भी

मिले थे। मातृ पितृ-भक्त पुण्डरीक ने श्रीकृष्ण को बैठने के लिए एक ईंट दी थी। इस पुरातन दन्तकथा का सम्बन्ध आधुनिक भक्तहृदय जनता पण्ढरपुर के मन्दिर मे स्थापित विठ्ठलनाथ की प्रतिमा से करते हैं। उनका विश्वास है कि मन्दिर मे स्थापित ईंट की मूर्ति पर उत्कीर्णित विठ्ठलनाथ श्रीकृष्ण के साथ रुक्मिणी की छवि अंकित है, जो कि उसी पुरातन कथा से सम्बन्धित है। महाराष्ट्र के वारकरी वैष्णवो का पण्ढरपुर एक पवित्र स्थान है और वहाँ के मन्दिर मे स्थापित विठ्ठलनाथ रुक्मिणी की प्रतिमा उनकी एकमात्र उपास्यदेव है।

महाराष्ट्र के वारकरी पन्थ के वैष्णव भक्त आज भी वर्ष मे कम-से-कम दो बार पण्ढरपुर की यात्रा करते हैं और भगवान विठ्ठलनाथ के दर्शन कर अपने को धन्य समझते हैं। विठ्ठलनाथ जी के प्रति उनकी जो अगाध धार्मिक निष्ठा है, वही निष्ठा उनके भक्त पुण्डरीक के प्रति भी है और आज भी उन्हे वे अपने इस धर्म पन्थ के प्रवर्तक महापुरुष मानते हैं।

इस प्रकार सन्त पुण्डरीक के सम्बन्ध मे उक्त दन्तकथा का ऐतिहासिक दृष्टि से जो भी महत्त्व हो; किन्तु यह निश्चित है कि महाराष्ट्र मे वारकरी वैष्णव पन्थ से अनेक पुरातन सन्तो का नाम जुडा हुआ है और अतीत की अनेक शताब्दियो तक इस पन्थ का महाराष्ट्र जनमानस में व्यापक प्रभाव रहा है।

वारकरी वैष्णव पन्थ के उन्नायक सन्तो मे सन्त ज्ञानदेव, सन्त नामदेव, सन्त एकनाथ और सन्त तुकाराम का नाम उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त सन्त राँका-बाँका और सन्त नरहरि भी इसी परम्परा मे हुए। इन सन्तो की अमर वाणियाँ आज भी न केवल महाराष्ट्र मे, अपितु समस्त भारत की धर्मप्राण जनता के हृदय मे श्रद्धा एव निष्ठा के साथ सम्पूजित हैं।

सन्त ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वर

सन्त ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वर (१२७५-१२९६ ई०) अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् और ज्ञानी महापुरुष थे। महाराष्ट्र स्थित नेवास नाम गाँव मे उनका जन्म हुआ था। उनके पिता ने पहले ही सन्यास धारण कर लिया था और उसके बाद सन्यास त्याग कर उन्होंने गृहस्थाश्रम मे पुन प्रवेश किया। उनके इस आचरण से असन्तुष्ट होकर नेवास के आलन्दी ब्राह्मणो ने उनका बहिष्कार कर दिया। इस कारण उनको अपना गाँव छोडना पडा और वे पाटण मे जा बसे। वही पर ज्ञानदेव का उपनयन सस्कार हुआ। बाल्यकाल से ही वे भगवद् अनुरागी और दैवी प्रतिभा से सम्पन्न थे। पाटण मे ही उन्होने भजन, कीर्तन, सत्सग और कथा वाचन का आयोजन किया। उनकी वाणी से मोहित होकर

जन-समाज उनके निकट आता गया और वे सहज मे ही जनमानस के श्रद्धा के पात्र बन गये।

कुछ समय पाटण मे रहकर उन्होने वहाँ के ब्राह्मणो से शुद्धिपत्र प्राप्त किया और वे अपने गाँव नेवास लौट आये। अपने गाँव मे ही उन्होंने 'भगवद्-गीता' पर अपनी प्रसिद्ध 'भावार्थदीपिका' टीका का प्रणयन किया। यह टीका 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध है और 'भगवद्गीता' पर प्रामाणिक एव सर्वाधिक लोकप्रिय मानी जाती है। बारकरी सम्प्रदाय की यह सम्पूज्य एव ममरत सस्कृत साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। इस टीका का उन्होंने जन-समाज के समक्ष व्याख्यान किया, जिसकी लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती गई। इस समय उनकी अवस्था केवल १५ वर्ष की थी। 'ज्ञानेश्वरी' के अतिरिक्त उन्होने 'अमृतानुभव', 'हरिपाठ', 'अभग' और 'चागदेवपासष्टी' आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की।

उनका सारा परिवार भगवद् भक्ति में निमग्न हो गया था। उनके बड़े भाई निवृत्तिनाथ, छोटे भाई सोपानदेव और छोटी बहिन मुक्ताबाई सभी मिल कर भजन कीर्तन तथा सत्सग मे तल्लीन रहने लगे। भारत के विभिन्न अचलो का भ्रमण कर सन्त ज्ञानेश्वर ने 'गीता' का उपदेश देकर बहुसख्यक जनता को अपना अनुयायी बना लिया था।

सन्त ज्ञानेश्वर मूलत नाथपन्थी योगी थे। अपने 'अमृतानुभव' तथा 'ज्ञानेश्वरी' में उन्होने अपनी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी है—आदिनाथ-मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ गहनीनाथ निवृत्तिनाथ ज्ञानेश्वर। इस प्रकार नाथ पन्थी योगियो की परम्परा को उज्जीवित रखते हुए उन्होने बारकरी पन्थ को भी उजागर किया।

अल्पायु मे ही इन महान् सन्त ने शरीर त्याग किया। २१ वर्ष, तीन मास और पाच दिन की अल्पायु मे ही उन्होंने जीवित समाधि धारण कर परमधाम को प्राप्त किया।

सन्त नामदेव

महाराष्ट्र के बारकरी पन्थ के सन्तो मे सन्त नामदेव (१२७०-१३५० ई०) का नाम उल्लेखनीय है। वे सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन और सन्त विसोबा खेचर के शिष्य थे। महाराष्ट्र के नरसी ब्राह्मणी नामक स्थान मे उनका जन्म एक दर्जी (छीपी) परिवार मे हुआ था। बाल्यकाल मे ही किसी अपरोक्ष की प्रेरणा से वे बिट्ठलनाथ के परम भक्त हो गये थे। उनकी विराग-मय भावना को जानकर उनके माता-पिता ने बाल्यावस्था मे ही उनका

विवाह कर दिया था, किन्तु गृहस्थ-जीवन के प्रति उनकी कभी भी आसक्ति नही रही।

सन्त नामदेव की अगाध भक्ति-भावना की अनेक अद्भुत एव रोचक कथाएँ आज भी लोकप्रचलित हैं। कहा जाता है कि एक बार शिवरात्रि के दिन वे औंदिया नामक स्थान पर नागनाथ महादेव के दर्शन करने गये। वहाँ भगवान् शकर के आगे भजन-कीर्तन करने मे वे इतने तल्लीन हो गये कि उन्हे कुछ भी सुध-बुध न रही। अभिषेक करने वाले ब्राह्मणो ने बलात् उन्हे बाहर निकाल दिया और पट बन्द कर दिये। सन्त नामदेव उसी अति-विह्वलावस्था मे मन्दिर के पीछे आकर खडे हो गये और वही भजन-कीर्तन करने लगे। कहा जाता है कि जिस ओर से नामदेव भजन-कीर्तन करने मे तल्लीन थे, शकर भगवान् ने उसी ओर अपना मुँह मोड लिया। तभी से उक्त मन्दिर की शकर-मूर्ति का मुँह पीछे की ओर मुडा हुआ है। नन्दी उनके आगे न होकर पीछे हैं। आज भी यह शिव मूर्ति इसी रूप मे विद्यमान है।

भगवद्-भक्ति का सन्देश लेकर वे देशाटन को निकल पडे और स्थान-स्थान पर सत्सग जुटा कर भजन-पूजन-सकीर्तन करने लगे। अन्त मे वे उत्तर भारत आये और श्रीकृष्ण की लीलाभूमि मथुरा, वृन्दावन मे रहने लगे। वहाँ से वे पश्चिम मे पजाब पहुँचे और अपने मोहक पदो का गायन करते हुए जनता मे अधिकाधिक लोकप्रियता प्राप्त करने लगे। पजाब की भक्तहृदय जनता पर उनका व्यापक प्रभाव पडा। लगभग अठारह वर्ष तक वे पजाब मे रहे। बाद मे सिख गुरुओ ने जब 'गुरुग्रन्थसाहिब' का सकलन किया तो उसमे लगभग साठ पद नामदेव जी के भी सकलित किये गये।

वृद्धावस्था मे वे पण्ढरपुर (महाराष्ट्र) लौट आये। महाराष्ट्र की जनता मे उनके पदो की इतनी लोकप्रियता बढी कि आबाल-वृद्ध के मुँह मे उनका सकीर्तन होने लगा। अपने सम्प्रदाय के लिए उन्होने 'अमृतानुभव' नामक ग्रन्थ की रचना की। ८० वर्ष की आयु बिता कर पण्ढरपुर के विट्ठल मन्दिर के द्वार पर भगवान् का लीलागान करते हुए उन्होने शरीर त्याग दिया।

सन्त एकनाथ

महाराष्ट्रीय सन्तों की इस परम्परा मे सन्त एकनाथ (१५२८-१५९९ ई०) का भी एक नाम है। उन्हे सन्त ज्ञानेश्वर का अवतार बताया जाता है। बाल्यकाल से ही उनकी भगवद्-भक्ति मे स्वाभाविक आसक्ति हो गई थी। जब उनकी आयु केवल १२ वर्ष की थी, एक प्रसिद्ध भक्त के रूप मे उनका नाम लोक-प्रचलित हो गया था। भगवत्-प्रेरणा से वे देवगढ (दौलताबाद) गये और वहाँ उन्होने तत्कालीन सन्त पुरुष एव प्रसिद्ध विद्वान् जनार्दन स्वामी

को अपना गुरु बना लिया। निरन्तर छ वर्ष तक वे गुरु के पास रहे और बड़ी निष्ठा से उनकी सेवा करते रहे। गुरु-अनुग्रह से उनको भगवान् दत्तात्रेय के दर्शन हुए। गुरु-आज्ञा से वे शूलभजन पर्वत पर गये और वहाँ उन्होंने घोर तप किया। वहाँ से पुन वे गुरु के पास आये और गुरु-आज्ञा से तीर्थाटन के लिए निकल पड़े। तीर्थाटन के बाद वे गुरु के समीप आये। गुरु-आज्ञा से उन्होंने गृहस्थ जीवन को वरण किया। उनकी पत्नी गिरिजाबाई परम धर्म-परायणा महिला थी, जिसके साथ रहकर सन्त एकनाथ बड़े सन्तोष एव आनन्द से भगवान् का भजन-कीर्तन-सत्सग करते हुए गृहस्थ जीवन का निर्वाह करते रहे।

गृहस्थ जीवन मे रहते हुए वे जन-मानस को अपनी वाणी से भगवद् रसामृत का पान कराते रहे। वे दान, परोपकार तथा भगवन्नाम सकीर्तन मे तल्लीन रहे और एक सद्गृहस्थ एव उच्च सन्त का जीवन व्यतीत कर पैठण मे गोदावरी के पवित्र तट पर समाधि धारण कर चैत्र कृष्णा षष्ठी तिथि को परलोकवासी हुए।

उन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की। उनमे 'भागवत एकादशस्कन्ध' का नाम उल्लेखनीय है। उसे 'एकनाथी भागवत' भी कहा जाता है और सम्प्रदाय के अनुयायियो का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होने 'रुक्मिणी-स्वयम्बर' और 'भावार्थ रामायण' की भी रचना की। एक उच्च सन्त के रूप मे आज भी उनको बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया जाता है।

सन्त तुकाराम

भारतीय सन्तो की परम्परा मे सन्त तुकाराम (१६०८-१६४९ ई०) का नाम आज भी उनके अभगों के रूप मे अमर है। उन्हे सन्त नामदेव का अवतार माना जाता है। उनका जन्म दक्षिण भारत मे देहू नामक गाँव में हुआ था। जाति के वे वैश्य थे। जब वे बालक ही थे, असमय मे ही उनके पिता का देहान्त हो चुका था। इसलिए बाल्यकाल से ही उन्हे विकट कष्टो का सामना करना पड़ा। किन्तु उनके हृदय मे भगवान् की प्रेरणा जागी और वे पारि-वारिक कष्टो के बीच रहकर भी भगवान् की निष्ठा मे एकाग्र सत्सग तथा हरिकीर्तन मे तल्लीन रहने लगे। भगवत्-कृपा से अनायास ही उनकी वाणी से भगवद्-भक्ति सम्बन्धी सुललित कविताओ का अभिव्यञ्जन हुआ। उनकी इस भगवत् प्रदत्त प्रतिभा से प्रभावित होकर अनेक विद्वान् और श्रद्धालु लोग तथा साधु सन्त उनके भक्त हो गये।

भारत के दूराचलो तक उनके नाम तथा उनकी सरस वाणी का प्रचार-प्रसार होता गया और बड़ी सख्या मे लोग उनके दर्शन करने आने लगे।

उनकी मधुर एव विमोहित कर देने वाली वाणी का रसास्वादन करने के लिए दूराचलो के लोग वहाँ आने लगे।

सन्त तुकाराम के सम्बन्ध मे जन मानस मे परम्परा से एक दन्तकथा प्रचलित है। कहा जाता है कि जात-पाँत, ऊँच-नीच, विद्वान्-अपढ, सभी वर्गो एव धर्मों की जनता सन्त तुकाराम के अभगो का सकीर्तन करते हुए उनकी ओर व्यापक रूप से आकर्षित होती जा रही थी। इसी बीच एक घटना घटी। पूना से नौ मील की दूरी पर वाघोरी नामक स्थान मे रामेश्वर भट्ट नाम के एक वेद-वेदान्त वित् कर्मकाण्डी ब्राह्मण रहते थे। उन्होने जब सन्त तुकाराम की ख्याति और समाज मे उनके अभगो की लोकप्रियता सुनी और उन्हे पता लगा कि ब्राह्मण वर्ग के लोग भी निम्न जाति तुकाराम के अनुयायी बनते जा रहे है, तो उन्हे यह असह्य प्रतीत हुआ। वे देहू के तत्कालीन राज्याधिकारी को मिले और ऐसी राजाज्ञा निकलवाई कि जिससे सन्त तुकाराम को विवश होकर देहू छोडना पडा। वहाँ से निकल कर सन्त ने भगवद्-भक्ति मे लीन होकर विभिन्न स्थानो का भ्रमण किया और सत्सग मे तल्लीन रहने लगे।

इधर रामेश्वर भट्ट सन्तुष्ट थे कि उन्होने सन्त तुकाराम को देश निकाला कर दिया। कुछ दिन बीतने पर रामेश्वर भट्ट नागनाथ जी के दर्शन हेतु पूना गये। रास्ते मे उन्होने एक कुण्ड मे स्नान किया। स्नान करने पर उनके शरीर मे इतनी जलन हुई कि वे बेचैन होकर चिल्लाने लगे। अनेक उपचार किये गये, किन्तु उन्हे कोई लाभ न हुआ। बहुत कष्ट भोगने के बाद एक रात्रि को सत ज्ञानेश्वर ने स्वप्न मे उन्हे दर्शन दिये और सन्त तुकाराम की शरण मे जाने के लिए कहा। रामेश्वर भट्ट प्रात होते ही सन्त तुकाराम की खोज मे निकल पडे। उन्हे पाकर वे सन्त की शरण मे हो गये। इस घटना से सन्त के दैवी प्रभाव से जनता की श्रद्धा उन पर और भी बढ गई। यहाँ तक कि उनकी महानता से प्रभावित होकर छत्रपति शिवाजी उनके पास आये और उनके श्रद्धालु भक्त बन गये। इसी प्रकार की अन्य भी विस्मयकारी बाते उनके सम्बन्ध मे प्रचलित हैं।

सन्त तुकाराम ने भगवान् की भक्ति मे लीन रहते हुए चैत्र कृष्णा सप्तमी को शरीर त्याग किया। किन्तु उन्होने जन-मानस मे भक्ति और प्रेम की जो गगा बहाई वह उनके बाद भी निरन्तर रूप से प्रवाहित होती रही।

सन्त तुकाराम के भगवद् रसामृत से अभिसिंचित 'अभग' आज भी श्रद्धालु भक्तो की वाणी मे समाहित हैं और उनकी नाम महिमा आज भी लोक मे व्याप्त है। इस प्रकार वारकरी सम्प्रदाय के इन महान् सन्तो

की वाणी ने भारत की भक्तहृदय जनता मे अपना चिरस्मरणीय स्थान बनाया।

सिद्धान्त-निरूपण

वारकरी तीर्थयात्रा को बहुत महत्त्व देते हैं। उनके एकमात्र उपास्य देव पण्ढरपुर के भगवान विट्ठल या विठोबा है। पण्ढरपुर ही वारकरियो का प्रमुख तीर्थ है। यहाँ भगवान विष्णु का भव्य मन्दिर है। कहा जाता है कि परम भक्त पुण्डरीक की भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु स्वय प्रकट हुए थे। भक्त ने तब उनको बैठने के लिए ईंट (विट) रख दी थी। इसी कारण भगवान का नाम विट्ठल पडा। देवोत्थानी और देवशायिनी एकादशी को पण्ढरपुर में विशाल मेला लगता है। यह स्थान भीमा या चन्द्रभागा नदी के पवित्र तट पर स्थित है।

वारकरी पन्थ की सन्त-परम्परा निर्गुणोपासक रही है। उनकी अद्वैत भक्ति पर नाथपन्थ का प्रभाव बताया जाता है। वारकरी वैष्णवों की आराधना-उपासना मे भक्ति तथा ज्ञान का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। उनके सैद्धान्तिक पक्ष में भक्ति मूल और ज्ञान उसका फल है। उनके मत से भक्ति-रूप मूल के बिना ज्ञान-रूप फल की उपलब्धि सभव ही नही है। इस पन्थ के अनुयायियो के कृष्णरूप विट्ठलनाथ एकमात्र उपास्य हैं, किन्तु शिवोपासना के प्रति भी उनकी निष्ठा है। वे हरि (कृष्ण) और हर (शिव) की समन्वित उपासना पद्धति के अनुयायी हैं। इस दृष्टि से वारकरी पन्थ वैष्णवो तथा शैवो का समन्वित पन्थ कहा जाता है।

भक्ति की विभिन्न अवस्थाओ को लेकर वारकरी पन्थ से बाद में चार प्रमुख शाखाओं का उदय हुआ, जिनके नाम है—चैतन्य सम्प्रदाय, आनन्द सम्प्रदाय और प्रकाश सम्प्रदाय। चैतन्य सम्प्रदाय के जप-भजन का आधार 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' या 'रामकृष्णहरि' है। स्वरूप सम्प्रदाय के अनुयायी 'जय राम, जय राम' का भजन-कीर्तन करते हैं। आनन्द सम्प्रदाय वाले 'श्रीराम' या 'राम' का जप करते हैं। प्रकाश सम्प्रदाय के भक्त 'ओम् नमो नारायण' का जप-कीर्तन करते हैं। भजन-कीर्तन-जप की इस भिन्नता से ही ये चारो पन्थ अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं, किन्तु सभी के आराध्य विट्ठलनाथ एव शिव हैं।

निरंजनी-सम्प्रदाय

पूर्व-मध्ययुगीन धर्म सम्प्रदायो मे सन्तमत के समर्थक पन्थों मे 'निरजनी सम्प्रदाय' का भी एक नाम है। साधना तथा उपासना की दृष्टि से इस निर्गुणवादी सम्प्रदाय का सम्बन्ध नाथपन्थ से स्थापित किया जाता है। उसकी आध्यात्मिक विचारधारा सिद्धो तथा नाथो के समान है। इस धार्मिक मत के संस्थापक स्वामी निरजन भगवान को माना जाता है, जिनके सम्बन्ध मे यद्यपि अधिक जानकारी उपलब्ध नही है, किन्तु जिनका स्थितिकाल १४वी शती वि० बताया जाता है। इस मत का मूल उद्गम उड़ीसा क्षेत्र रहा है, जहाँ से बाद मे यह उत्तर-पश्चिम तथा पूर्वी भारत मे प्रवर्तित तथा प्रचारित हुआ।

दादूपन्थी बाबा राघोदास ने (१७७० वि० या १७१३ ई०) 'भक्तमाल' नाम से एक जीवनी ग्रन्थ की रचना की थी। उसमे विशेष रूप से उन सन्तो की जीवनियाँ दी गई हैं, जिनका समावेश नाभादास के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' मे नही हो पाया था। अपने इस ग्रन्थ मे जहाँ बाबा राघोदास ने कबीर, नानक तथा दादू आदि को विभिन्न निर्गुण पन्थो का संस्थापक एव प्रवर्तक बताया है, वही जगन या जगन्नाथदास को निरजनी पन्थ का प्रवतक माना है। इस पन्थ के अन्य प्रवर्तक सन्तो मे श्यामदास, कान्हड़दास, ध्यानदास, खेमदास, नाथदास, जगजीवनदास, तुरसीदास, आनन्ददास, पूरनदास, मोहनदास, भगवानदास, निपटनिरजनदास और हरिदास आदि तेरह सन्तो के नाम उल्लेखनीय हैं। जगन्नाथदास सहित ये चौदह सन्त सभी राजस्थान के मूल निवासी थे और सभवत इनकी अपनी अपनी अलग-अलग गद्दियाँ थी। इस प्रकार राजस्थान ही एकमात्र 'निरजनी सम्प्रदाय' का प्रमुख केन्द्र रहा है।

उक्त चौदह सन्तो की गद्दियो की ऐतिहासिक परम्परा क्या रही है इसका उल्लेख देखने को नही मिलता है। उनमे सन्त हरिदास को अधिक प्रभावशाली बताया जाता है। अन्य सन्तो की अपेक्षा उन्होने निरजनी पन्थ का अधिक प्रचार प्रसार किया। उनके परवर्ती सुन्दरदास, रामसनेहीदास तथा रामदास आदि सन्तो ने अपनी-अपनी वाणियो मे हरिदास को ही निरजनी सम्प्रदाय का मूल पुरुष बताया है। हरिदासजी दादूपन्थी प्रागदासजी के शिष्य थे। उनके ग्रन्थो का निर्माण-काल, उनके अन्तरग साक्ष्यो के आधार पर, विद्वानो

ने १५२०-१५४० ई० के बीच रखा है। अतः उनका स्थितिकाल १५वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में रखा जा सकता है। जाति के वे क्षत्रिय थे और उनका जन्म डीडवाणा परगने के कापडोल (राजस्थान) नामक गाँव में हुआ था। कहा जाता है कि आरम्भ में वे लूटमार कर आजीविका चलाते थे, किन्तु किसी महात्मा के सदुपदेश एवं सत्संग से उन्होंने यह अनैतिक मार्ग त्याग कर विरक्तों का जीवन धारण कर लिया था।

हरिदास के नाम से हिन्दी साहित्य में अनेक भक्त सन्तों का उल्लेख हुआ है। किन्तु ये निरंजनी हरिदास, हरिदास नरहरितीर्थ तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'टट्टी सम्प्रदाय' के संस्थापक एवं प्रसिद्ध संगीतज्ञ ज्ञानचक्षु स्वामी हरिदास से भिन्न थे। ऐसा प्रतीत होता है कि निरंजनी सम्प्रदाय के संस्थापक हरिदास प्रसिद्ध सन्त हुए और अनेक कृतियों के रचनाकार होने के साथ धार्मिक क्षेत्र में भी उनका बड़ा आदर-सम्मान था।

सन्त हरिदास की वाणियों में गोरखनाथ और कबीर, दोनों के प्रति समान्य भाव प्रकट किये गये हैं। गुरु गोरखनाथ को तो उन्होंने अपना प्रत्यक्ष गुरु माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में उन्होंने गोरख पन्थ वरण कर लिया था। इसलिए सन्त सुन्दरदास ने उन्हें गोरखनाथ आदि सन्तों की कोटि में रखकर सम्मानित स्थान दिया है। उनकी वाणियों में गोरखनाथ तथा कबीर आदि सन्तों की निराकारवादी विचारधारा का अभिव्यंजन देखने को मिलता है। इसी प्रकार उन्होंने गोपीचन्द, नाभा, पीपा और रैदास आदि दादूपन्थी सन्तों के प्रति भी अपना श्रद्धाभाव प्रकट किया है। सन्त हरिदास के वास्तविक गुरु कौन थे, इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने नहीं किया है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि नाथ सम्प्रदाय और सन्त सम्प्रदाय, दोनों से उनका सम्बन्ध था। अपनी वाणियों में उन्होंने उस नाथ निरंजन की शरण में जाने का उल्लेख किया है, जो सब सन्तों का उपास्य रहा है और जिसकी कृपा से उनको सिद्धियाँ प्राप्त हुई। उन्होंने स्पष्ट रूप से कबीर के उल्टे मार्ग को अपनाये जाने का उल्लेख किया है।

उनकी वाणियों से पता चलता है कि एक ओर तो उन्होंने नाथों के योगमार्ग और दूसरी ओर सन्तों के निर्गुण पन्थ को अपना कर अपना धार्मिक मत प्रतिपादित किया। उनकी साधना-पद्धति रामनिरंजन तथा हरिनिरंजन के अलखस्वरूप के प्रति अधिक थी। डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने निरंजनी सम्प्रदाय की साधना-पद्धति को वेदान्त मत से प्रभावित माना है। उसमें एक ओर तो नाथपन्थ का और दूसरी ओर राधास्वामी मत तथा कबीर मत का प्रभाव बताया है। उनके मत से 'निरंजन' को 'कालपुरुष' मानने की परम्परा

नाथपन्थ से ली गई है और उनके निर्गुण, निराकार का आधार सन्त मत है। ('कुछ निरंजनी सन्तो की वाणियाँ', डा० पीताम्बर दत्त के बडथ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ० ४९-६२)

सन्त हरिदास ने छोटे-बडे नौ ग्रन्थो की रचना की, जिनका उल्लेख डा० बडथ्वाल ने अपने उक्त निबन्ध मे किया है। उनकी वाणियो का सग्रह उनके अनुयायियो ने किया। उन्होने लगभग ८८ वर्ष की अवस्था मे १६वी शताब्दी के मध्य शरीर त्याग किया। उनके लगभग ५२ शिष्य बताये जाते है, जिनमे तुरसीदास, मोहनदास, ध्यानदास, कल्याणदास, सेवादास, नारीदास तथा आत्मारामदास आदि का नाम उनकी वाणियो मे उल्लिखित है। उनकी इस शिष्य-परम्परा ने निरजनी सम्प्रदाय का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। सन्त हरिदास की बडी लोक-ख्याति थी। उनकी स्मृति मे आज डीडवाणी के निकट प्रति वर्ष एक मेला लगता है और वहाँ जनता उनकी पवित्र 'गूदडी' का दर्शन करती है।

सन्त हरिदास के शिष्य सन्त तुलसीदास शेरपुर (राजस्थान) के निवासी थे। वे १७वी शती ई० के उत्तरार्द्ध मे हुए। डा० बडथ्वाल ने उनके चार छोटे ग्रन्थो के अतिरिक्त उनकी विपुल वाणियो के वर्तमान होने का उल्लेख किया है। उनकी वाणियो मे भक्ति, ज्ञान तथा योग, तीनो विषयो का तात्त्विक विवेचन हुआ है। निरजनी पन्थ को सशक्त एव लोकप्रचलित करने मे उनका सर्वाधिक योगदान रहा है। राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' मे तुलसीदास का उल्लेख एक महान् सन्त के रूप मे किया है और कहा है कि उन्हे सत्यज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। डा० बडथ्वाल के अनुसार 'निरजन पन्थ के लिए तुरसीदास ने वही काम किया, जो दादूपन्थ के लिए सुन्दरदास ने।'

निरजनी सम्प्रदाय की परम्परा मे मोहनदास, कान्हडदास तथा खेमदास आदि सन्तो का नाम भी उल्लेखनीय है। ये तीनो सन्तपुरुष १७वी शती ई० के उत्तरार्द्ध मे हुए। तीनो ही महन्त थे। मोहनदास की गद्दी देवपुरा मे, कान्हडदास की गद्दी चाटसू मे और खेमदास की गद्दी शिवहडी मे थी। सन्त खेमदास बडे साधक और सिद्ध पुरुष थे, जिन्हे कि राघोदास ने अशावतार' के रूप मे कहा है। अपने समय के प्रख्यात सन्त एव भजनीक थे।

सन्त सेवादास के सम्बन्ध मे उनकी जीवनी पुस्तिका सेवादास परची' से कुछ जानकारी प्राप्त होती है, जिसको कि रूपदास ने लिखा था। रूपदास, अमरदास के शिष्य और अमरदास, सेवादास के शिष्य थे। कबीर को सेवादास ने अपना गुरु माना है। उनका स्थितिकाल १८वी शती ई० था। उनके द्वारा विरचित अनेक साखियाँ, पद, कुण्डलियाँ, रेखता तथा

कवित्त आदि सम्प्रति उपलब्ध है। निरजनी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा एव ख्याति मे उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

निरजनियो ने अपनी साधना की सिद्धि के लिए योगमार्ग के साथ-साथ प्रेममार्ग को भी अपनाया है और उसे भी उतना ही महत्त्व दिया है। उनकी साधना पद्धति मे इन्द्रियों को दमन करने की अपेक्षा उनका शमन करना बताया गया है। यही उनका 'प्रेमतत्त्व' है। उन्होने प्रिय के विरह मे आकुल पिया की भाँति अपने हृदय की व्यथा को अपनी प्रेमरसपूर्ण कविताओ मे अभिव्यजित किया है। जीव (पत्नी) आत्मा या परमात्मा (पति) को प्रेम की विह्वलता से ही प्राप्त कर सकता है।

यद्यपि साधना-पद्धति की दृष्टि से निरजनियो ने निर्गुणी सन्तो कबीर, दादू, नानक आदि की भाँति मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकाण्ड को स्वीकार नही किया है, तथापि उन्होंने कबीर आदि की भाँति हिन्दुओ की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था का भी कटु खण्डन नही किया है। उन्होंने जन-सामान्य को ईश्वर प्राप्ति के लिए उनकी भावनाओ का निषेध नही किया है। उन्होंने मूर्त से अमूर्त की प्राप्ति के लिए मूर्त के माध्यम को अस्वीकार नही किया है। मन्दिर मे भगवान के समक्ष वैर तथा प्रीति, दोनो का अवलम्बन किये बिना निरपेक्ष भाव से निरन्तर गोविन्द का गुणगान करते रहने पर बल दिया है। निरजनी सन्तो की यह भावना नामदेव आदि सन्तो के समान है। सन्त नामदेव स्वय भगवान बिठोबा की मूर्ति के समुख बैठकर निराकार परमात्मा का गुणगान किया करते थे। इसी प्रकार स्वामी रामानन्द भी शालिग्राम की पूजा के अनुयायी थे। निरजनियो की प्रेम तथा योग सम्बन्धी वाणियाँ कबीर, रैदास तथा पीपा की वाणियो के समान हैं।

कबीर मत मे वर्णाश्रम की कटु आलोचना की गई है। किन्तु निरजनियो ने वर्णाश्रम धर्म को शरीर का धर्म माना है, आत्मा का नही। उन्होंने परम्परागत लोकमान्यताओ की अवहेलना न करके वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया है। वे ससार को एक परिवार के समान मानते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि वर्णभेद, तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव को उसका आधार न माना जाये।

निरजनी सम्प्रदाय की सन्त परम्परा मे भगवानदास निरजनी का भी एक नाम है। वे नाथा अर्जुनदास के शिष्य थे। उनके लिखे लगभग ६ ग्रन्थो के नाम प्रकाश मे आये हैं। उनमे उल्लिखित रचना-काल के आधार पर सन्त भगवानदास का स्थितिकाल १७वी शती ई० का उत्तरार्द्ध प्रतीत होता है।

सन्त निपटनिरंजन की भी कुछ वाणियाँ उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर उनका स्थितिकाल १६वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में बैठता है। सम्भवत वे सन्त हरिदास के समकालीन थे। इसी प्रकार मनोहरदास निरंजनी भी, उनकी उपलब्ध कृतियों के आधार पर, १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में वर्तमान थे।

साधना मार्ग

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्तो एवं योगियो में साधना-मार्ग के सम्बन्ध में उनकी उपलब्ध रचनाओं के आधार पर डा० बड़थ्वाल ने विस्तार से लिखा है (उक्त निबन्ध ग्रन्थ, पृ० ५७-६२)। उन्होंने लिखा है कि ये सन्त साधना की चरम सीमा तक पहुँच चुके थे और उन्हें आत्मदर्शन हो चुके थे।

निरंजनी पन्थ का साधना मार्ग निर्गुणी सन्तो की भाँति उल्टा है। सासारिक मोह बन्धनो से ग्रस्त बाह्य प्रवृत्तियो को अन्तर्मुखी करके ही आत्मदर्शन हो सकता है। उसे उन्होंने उल्टी गंगा बहाना, उल्टा गोता लगाना, बिना हाथ की बजने वाली वीणा, बिना बादलों के होने वाली अखण्ड वर्षा, बहरे को सुनाई देने वाली गुप्त वार्ता, अन्धे को प्रकाश दर्शन और लगड़े का पेड़ पर चढ़ना, आदि कहा है। साधना की इन स्थितियों का अनुसरण करने पर ही बाह्य-इन्द्रियों को अन्तर्मुखी किया जा सकता है। जिस प्रकार कबीर की परम्परा के निर्गुणी सन्तो ने इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना आदि नाडियो को योग-साधना द्वारा जागरित साधना के अन्तिम लक्ष्य में परिणत करने का निर्देश किया है, उसी प्रकार निरंजनी सन्तो ने भी अपनी साधना के लिए उन्हीं का अनुसरण किया है। निरंजनियो की 'सहजानुभूति' की अन्तिम स्थिति 'जरणा' है, जिसमें साधक को 'झिलमिलाती ज्योति' के दर्शन होने लग जाते हैं।

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्तो में सन्त तुरसीदास ने दसधा भक्ति को अपनाने पर विशेष बल दिया है। उन्होंने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन और प्रेमा भक्ति द्वारा भगवान की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग बताया है। उनका कहना है कि नवधा भक्ति के उपरान्त जीव को प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग की ओर ले जाने वाली सर्वश्रेष्ठ भक्ति 'प्रेमा' या 'प्रेमलक्षणा' है। किन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि सगुण नवधा भक्ति से प्रेमा भक्ति सर्वथा भिन्न है।

इस प्रकार निरंजनी मत का इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है कि उसमें सगुणोपासना तथा मूर्तिपूजा के प्रति कोई प्रत्यक्ष तथा तीव्र विरोध प्रतीत नहीं होता है और न उसमें सन्त मत की कट्टरता का बोध होता है। वास्तव

मे निरंजनी सम्प्रदाय सगुण निर्गुण मिश्रित एक ऐसा मध्यमार्गी धर्म है, जिसमे विरोध तथा आलोचना प्रत्यालोचना की अपेक्षा समन्वय, एकता तथा सद्भाव का दृष्टिकोण निहित है। उनका यह निरंजन अनन्त, अखण्ड सत्ता है, वह सर्वत्र सर्वव्यापी है और उसके स्वरूप की व्याख्या नही की जा सकती है। वह वैसा ही अखण्ड तत्त्व है, जैसे कि जलती हुई लकडी के टुकडे-टुकडे कर देने पर भी अग्नि के टुकडे नही किये जा सकते हैं।

आचार-पद्धति

इस सम्प्रदाय के अनुयायियो की वेश भूषा प्राय सादी हुआ करती है। वे एक पात्र और एक गुदडी धारण करते हैं। वे निहग तथा गृहस्थ, दो वर्गों मे विभाजित हैं। निहग भिक्षा-वृत्ति करके आजीविका यापन करते हैं और गृहस्थी गृहस्थ जीवन धारण करते और अपने मठो के महन्त भी होते हैं। भारत भर मे केवल राजस्थान मे ही इस सम्प्रदाय के अधिसख्य अनुयायी वर्तमान है।

निरंजनी मत का प्रभाव सन्त मत तथा नानक पर भी परिलक्षित हुआ। उसका प्रभाव एक समय उडीसा से लेकर पश्चिम मे पजाब तक और राजस्थान, मध्यभारत एव उत्तरी पूर्वी उत्तर प्रदेश तक फैला हुआ था। निरंजनी सम्प्रदाय का सारा साहित्य हिन्दी मे है और यद्यपि उसका उदय उडीसा और विस्तार राजस्थान मे हुआ, तथापि उसकी परम्परा को प्रशस्त करने वाले भगवानदास, मनोहरदास आदि सन्त उत्तर भारत से ही सम्बन्धित थे। उत्तर भारत मे उसके प्रभाव के प्रमाण आज भी विद्यमान है।

इमामशाही पीराना पन्थ

हिन्दू संस्कृति ने समय समय पर जिन अनेक जातियों तथा धर्मों के आदर्शों को अपने अंचल में समेट कर स्वयं को परिपुष्ट एवं संवर्धित किया और अपनी समन्वयात्मक उदात्तता के लिए जो आज भी स्थिर धरती पर आसीन है, उसका परिचायक तथा प्रमाण 'इमामशाही पीराना पन्थ' है। इस पन्थ के संस्थापक मुसलमान फकीर इमामशाह थे। उनका जन्म ईरान में हुआ था किंतु संयोग की बात है कि उनकी साधना उपासना भूमि अहमदाबाद (गुजरात) बनी। उनके सम्बन्ध में अनेक रोचक सन्दर्भ देखने सुनने को मिलते हैं।

कहा जाता है कि १४४९ ई० में गुजरात निवासी लेउवा कुर्मी लोग एक बार सामूहिक रूप से काशी यात्रा के लिए निकले। उन्होंने अपना पहला विश्राम अहमदाबाद स्थित गरमथा ग्राम में किया। वहाँ उस समय इमामशाह नामक एक फकीर रुके हुए थे। फकीर ने यात्रियों से भेंट की और उनसे कहा कि वे काशी व्यर्थ ही जा रहे हैं। मेरे उपदेश सुनने के बाद उन्हें काशी जाने का पुण्यफल यहीं मिल जायेगा। जो यात्री उस फकीर की वाणी से प्रभावित होकर वहीं रुक गये थे, वे इस धर्मशाखा 'पीराना पन्थ' के प्रथम अनुयायी बने।

उत्तर मध्ययुगीन भारतीय सन्तों एवं सिद्धों में फकीर इमामशाह का प्रतिष्ठित स्थान है। उनके सिद्ध-साधक व्यक्तित्व का ही परिणाम था कि मुसलमानों की अपेक्षा उनके अनुयायी हिन्दू अधिक हुए। इस धर्म पन्थ के आचार विचारों से ज्ञात होता है कि उसके मानने वाले सभी धर्मों एवं वर्गों के लोग थे। इस पन्थ के आचार विचारों का निर्धारण हिन्दू मुस्लिम धर्मों के आचार विचारों के समन्वय से हुआ। सन्त इमामशाह के प्रमुख शिष्यों में भामाराम, नागाकाका, साराकाका और जीजीबाई, सब हिन्दू ही थे। उनके बाद ये शिष्य गुरुपद या आचार्यपद के अधिकारी बने। सन्त इमामशाह के जीवन काल में उनके इन शिष्यों ने पन्थ के प्रचारार्थ और गुरुसेवा में विशेष रुचि दिखाई। वर्ण-संकीर्णता से अलग रह कर उन्होंने गुरु द्वारा निर्दिष्ट सत्यधर्म का प्रचार प्रसार किया। इस कारण 'पीराना पन्थ' को 'सत्य पन्थ' भी कहा जाता है।

आचार-पद्धति

पीराना मत के अनुयायियों का परम्परागत विश्वास है कि फकीर इमामशाह कल्की अवतार धारण कर मनुष्य जाति का इस दुःखदायी संसार-सागर से उद्धार करेंगे। वही उनके गुरु हैं और देवदूत के रूप में अवतरित हुए हैं। इस मत के अनुयायी मुस्लिम लोग अपने अवतारी गुरु की स्मृति में प्रत्येक गुरुवार को और प्रत्येक रमजान के महीने रोजा (उपवास) रखते हैं और मानसिक तथा शारीरिक मलिनताओं का उपशमन करते हैं। वे हिन्दुओं के देवार्चन की भाँति ताजिया तथा कब्र की पूजा करते हैं। ताजिया और कब्र ही उनके सर्वोच्च पूजा प्रतिष्ठा के केन्द्र हैं। चन्द्र द्वितीया तिथि को वे पवित्र मानते हैं।

इस मत के अनुयायी होली और दीपावली आदि तिथियों को हिन्दुओं की भाँति बड़े उत्साह से मनाते हैं और इस प्रकार साम्प्रदायिक सद्भाव का परिचय देकर अपने अवतारी गुरु के आदेश पर चलते हैं। उनके मृतक व्यक्ति की अनेक क्रियाएँ हिन्दुओं जैसी हैं। उनमें अनुकरणीय आचार-निष्ठा देखने को मिलती है। वे मत्स्य, मांस, तथा मदिरा आदि दुर्व्यसनों का बहिष्कार करते हैं और सच्चा, सादा जीवन व्यतीत करने में विश्वास रखते हैं। इस मत के अनुयायी हिन्दू मुसलमान, दोनों जातियों के लोग हैं, किन्तु जहाँ मुसलमान सुन्नत करते हैं, वहाँ हिन्दू उनको नहीं करते हैं। वे दाढ़ी भी नहीं रखते हैं।

इमामशाही पीराना पन्थ के अनुयायी धर्माचार्यों या गुरुओं को 'काका' कहा जाता है, जो कि हिन्दू-मुसलमान, दोनों होते हैं। वे गेरुवा वस्त्र धारण करते हैं और सांसारिक क्रिया-कलापों से दूर रहते हैं।

इस मत के हिन्दू अनुयायी शिवोपासक हैं। इस दृष्टि से यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से वे अद्वैतवादी हैं, किन्तु 'भगवद्गीता,' 'रामायण,' 'भागवत', 'सन्तवचन' और 'ब्रह्मप्रकाश' आदि ग्रन्थों में उनकी परम निष्ठा है। महात्मा इमामशाह की स्फुट वाणियाँ भी उनका धार्मिक साहित्य है और इस धार्मिक साहित्य का पारायण करना वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

पीराना पन्थ की समस्त धार्मिक बातें गोपनीय रखी जाती हैं। उनके धर्मग्रन्थ भी परम्परा से हस्तलेखों के रूप में सुरक्षित रहते आये हैं। ये गोपनीय धर्मवाणियाँ न तो किसी अन्य को दिखाई जाती हैं और न पढ़ाई जाती हैं। जो इस धर्म-मार्ग में शपथपूर्वक निष्ठा व्यक्त करते हैं, वे ही उन वाणियों एवं धार्मिक निर्देशों को पढ़ने के अधिकारी हैं। दीक्षा के समय उनके कानों में सम्प्रदाय का गोपनीय धर्ममंत्र कहा जाता है।

इस मत के अनुयायियों की प्रधान गद्दियाँ पीराना, भाभेराम और सीनोर मे वर्तमान है। इन गद्दियो के आचार्य या गुरु परम्परागत होते है और उन्ही के द्वारा ये सचालित होती हैं। प्रधान गद्दी पीराना मे है, जिसके उत्तराधिकारी केवल नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही होते हैं। उनके अनुयायियो मे यद्यपि विरक्त, फकीर और गृहस्थ, दोनो प्रकार के लोग होते है, तथापि गृहस्थो की सख्या अधिक है।

इस मत के वर्तमान अनुयायी बनिया, कुनबी तथा नोनिया आदि निम्न जातियो के लोग हैं, जो सूरत, खानदेश (गुजरात), बुरहानपुर, बडौदा, खम्बात महाराष्ट्र और कच्छ काठियावाड तक फैले हुए है। इस पन्थ को 'मतिया पन्थ' के नाम से भी कहा जाता है।

इस प्रकार यद्यपि पुण्यात्मा सन्त इमामशाह के तथा उनके द्वारा प्रचलित धर्म पन्थ के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी उपलब्ध नही होती है, तथापि जो यत्किचित् सामग्री उपलब्ध है उसको देखते हुए सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होने समाज को सन्मार्ग पर चलने और मनुष्य जाति मे, विशेष रूप से हिन्दू मुस्लिम जनता मे एकता, सद्भाव, सामजस्य तथा पवित्र जीवन विताने हेतु जो कार्य किया, उसके कारण भारत के धार्मिक इतिहास में उनके सिद्धान्त आज भी ताजे और प्रेरणादायी हैं।

कबीर पन्थ और उसकी परम्परा

मध्ययुगीन धार्मिक इतिहास को जिन महान् सन्तो ने अपनी मानवतावादी उदार वाणियो से स्वर्णिम युग का समान प्रदान किया, उनमे सन्त कबीर का नाम प्रमुख है। उन्हे भक्तियुगीन धार्मिक साहित्य मे निर्गुण धारा के प्रवर्तक और धार्मिक स्वतन्त्रता के सस्थापक युगपुरुष के रूप मे माना जाता है। वे अपने जीवन-काल मे ही एक प्रसिद्ध भक्त, समाजसुधारक और स्वतन्त्र धार्मिक मत के सस्थापक के रूप मे लोकमान्य हो चुके थे।

कबीर के सम्बन्ध मे अनेक चामत्कारिक घटनाएँ तथा परम्पराएँ समाज मे प्रचलित हैं। उनका कोई प्रामाणिक जीवनी-ग्रन्थ उपलब्ध नही है। 'कबीर परिचयी' मे उनके ऐतिहासिक पक्ष की बातें कम और सैद्धान्तिक पक्ष की बातें अधिक कही गई हैं। समाज मे उनके सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की कथाएँ एव किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। विद्वानो का एक वर्ग उन्हें कोरी जाति का हिन्दू तो दूसरा वर्ग मुसलमान बताता है। उनके सम्बन्ध मे कहा गया है कि किसी विधवा ब्राह्मणी से उनका जन्म हुआ, जो कि लोक लाज के भय से उन्हे काशी के निकट लहरी या लहरतारा, अथवा लहरतारा नामक तालाब के तट पर फेंक आई थी। कबीरपन्थियो का कहना है कि वहाँ से उस नवजात शिशु को नूरी या नीरु नामक जुलाहा उठा कर अपने घर ले आया। उनकी पत्नी नीरा या नीमा ने बालक का लालन पालन किया। कबीरपन्थी उन्हें अलौकिक अवतारी पुरुष मानते हैं। क्योकि जुलाहा जीवन के क्रिया-कलापो से उनका बाल्यकाल से ही परिचय था, अत अपनी वाणियो मे उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रतीकात्मक रूप मे उनका उल्लेख भी किया है। इन्ही आधारो पर उन्हे जुलाहा कहा जाता है। विद्वानो का एक वर्ग उन्हे मुसलमान बताता है और इस वर्ग का कहना है कि स्वामी रामानन्द के प्रभाव से उन्होंने हिन्दुत्व वरण किया था। इस सम्बन्ध मे रैदास आदि भक्त कवियो के कथनो को भी प्रमाण रूप में उद्धृत किया जाता है।

कबीर गृहस्थ थे या नही, इस सम्बन्ध मे भी मत-मतान्तर प्रचलित हैं। उनकी रचनाओ के अन्त साक्ष्यो पर माना जाने लगा है कि वे गृहस्थ थे। सभवत जुलाहा दम्पत्ति ने ही उनका विवाह भी किया। उनकी पत्नी का नाम लोई था, जिससे उनके कमाल तथा कमाली या निहाल तथा निहाली नामक एक पुत्र तथा एक पुत्री उत्पन्न हुए थे। उनका पैतृक व्यवसाय जुलाहा था, जिस पर सभी विद्वान् एकमत हैं।

उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि जन्म से ही उनमे विलक्षणताएँ प्रकट होने लगी थी। उनके मन में ससार की नि सारता और वैराग्य का बोध स्वत ही उदित हो चुका। उन्हे ससार के, गृहस्थ के मायाजालो से वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे किसी सद्‌गुरु की शरण की आकाक्षा से घर से निकल पडे। उन दिनो काशी मे प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य स्वामी रामानन्द के नाम की बहुत चर्चा थी। वे पचगगा घाट पर रहते थे। कबीर उनके मठ मे गये और वहाँ रहने वाले वैष्णव साधुओ से उन्होने स्वामी जी को गुरु रूप मे वरण करने की अपनी इच्छा व्यक्त की, किन्तु साधुओ ने उनको निरुत्साहित कर दिया।

कहा जाता है कि स्वामी रामानन्द को गुरु रूप मे वरण करने के लिए कबीर के मन मे एक युक्ति का उदय हुआ। स्वामीजी प्रतिदिन प्रात काल गगा-स्नान के लिए जाया करते थे। एक दिन कबीर अन्धेरे मे ही जाकर सीढी पर लेट गये। स्वामीजी ज्योही सीढी उतरे, कि उनका पैर कबीर के ऊपर जा पडा। इस पादाघात के पश्चात्ताप से अनायास ही उनके मुँह से राम शब्द का उच्चारण हुआ। उन्होने कबीर की पीठ पर हाथ फेर कर उन्हे राम नाम का उच्चारण करने को कहा। कबीर ने बडी श्रद्धा से राम नाम का उच्चारण किया और उसे गुरुमत्र के रूप मे ग्रहण कर अपने मन की साध को पूरा किया। तब से उन्होने राम नाम का जाप करना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इस प्रकार उन्होने गुरु तथा गुरुमत्र को प्राप्त किया। किन्तु गुरुमत्र देने वाले गुरु को इस रहस्य का ज्ञान बहुत बाद मे हुआ।

अपनी वाणियो मे कबीर ने किसी पीर के प्रति भी श्रद्धा प्रकट की है। किन्तु वह पीर कौन थे, और कबीर का उनसे क्या सम्बन्ध था, इसका स्पष्टीकरण अभी तक नही हो पाया है। इस सम्बन्ध मे सभावनाएँ अवश्य प्रकट की गई हैं।

अपने मनोरथ को पूरा कर कबीर रामानन्दी वैष्णव साधुओ की भाँति तिलक तथा माला धारण करने लगे और गुरु रूप मे स्वामी रामानन्द का नाम लेकर घूम-घूम कर हरिकीर्तन करने लगे। स्वामीजी के कानो मे जब इस अज्ञात शिष्य के सम्बन्ध मे तरह-तरह की बातें सुनने को मिली तो उन्हें बडा आश्चर्य हुआ। उनकी साधु-मण्डली मे भी इस विचित्र शिष्य के सम्बन्ध मे कौतूहल हुआ। एक दिन कबीरदास स्वामी रामानन्द के नाम का सकीर्तन करते हुए बाजार मे घूम रहे थे कि सयोगवश स्वामीजी का उनसे सामना हो गया। स्वामीजी ने क्रोध मे आकर कबीर पर अपनी खडाऊ से प्रहार किया। चरणपादुका के प्रहार को कबीर ने गुरु-प्रसाद के रूप

मे अहोभाग्य के रूप मे वरण किया। स्वामीजी ने उन्हें फटकारा और अपने नाम का उच्चारण न करने को कहा। किन्तु कबीर ने विनम्र भाव से रामानन्दजी को गुरु रूप मे वरण करने की सारी घटना सुना दी। उन्होंने स्वामीजी से यह भी प्रार्थना की कि उन्हें शिष्य रूप मे स्वीकार कर लें। स्वामीजी ने जब घटना को सुना और उसका स्मरण किया तो उनका मन कबीरदासजी के प्रति सदय हो गया। ऐसे परमभक्त एव श्रद्धालु शिष्य का गद्गद् होकर उन्होंने गले लगा लिया। इस प्रकार कबीर को गुरु प्राप्ति की यह कथा परम्परा से लोकजीवन मे प्रचलित होती हुई आज तक पहुँची है।

कबीर की जीवन घटनाओ की भाँति उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध मे भी मत-मतान्तर प्रचलित हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि वे अधिकतर काशी मे ही रहे। और लहरतारा या लहरतारा नामक स्थान से उनका सम्बन्ध था। मगहर को भी उनके जन्म-स्थान होने का प्रमाण दिया जाता है। उनका जन्म जहाँ भी हुआ हो, किन्तु शरीर-त्याग उन्होंने मगहर मे ही किया।

उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध मे भी मत-मतान्तर हैं। कबीरपन्थी परम्परा उनका जन्म १२०५ वि० और शरीर-त्याग १५०५ वि० निर्धारित करती है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से युक्तिसगत नही है। उन पर जो खोजकार्य हुए हैं, तदनुसार उनका जन्म १४५६ वि० और शरीरत्याग १५७५ वि० मे स्थिर किया गया है। इस आधार पर उन्होंने लगभग ११९ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की।

उनके स्थितिकाल के निर्धारण के लिए उनके समय के दो शासको के नामो का प्रमाण उपलब्ध है। वे सिकन्दर लोदी और काशीनरेश वीरसिंह देव के समय वर्तमान थे। कहा जाता है कि एक बार अपने अनुचरो के उकसाने पर सिकन्दर लोदी ने कबीर को अपने दरबार मे उपस्थित करने का आदेश दिया था। कबीर दरबार मे उपस्थित हुए, किन्तु उन्होंने सिकन्दर लोदी को सलाम नहीं किया। इससे अपमानित होकर लोदी ने उनका हाथ-पैर बँधवा कर उन्हें जमुना मे डुबो दिया। किन्तु कुछ दूर जाकर वे किनारे लग गये। सिकन्दर ने उन्हें पुन पकडवा कर दरबार मे उपस्थित किया। उन्हें प्रज्ज्वलित अग्निकुण्ड मे डाल दिया गया, उनको मारने के लिए उन्मत्त हाथी छोडा गया। किन्तु कबीर का कुछ न बिगडा। इस प्रकार सिकन्दर को उस दैवी पुरुष को यातनाएँ देने के लिए पश्चात्ताप करना पडा। अन्त मे उसने क्षमा-याचना की और उन्हें छोड दिया गया।

कबीर के जीवन-सन्दर्भों मे काशीनरेश वीरसिंह देव का भी नाम जुडा हुआ है। जब कबीर को यह अनुभव हुआ कि उनके जीवन का अन्तिम समय आ गया है तो वे काशी छोडकर गोरखपुर के निकट मगहर या मगर (उत्तर प्रदेश) नामक गाँव में चले गये। वहाँ एक निर्जन स्थान पर शिर से पैर तक चादर लपेट कर उन्होने इस पार्थिव शरीर से विदा ली। उनके शव की अन्त्येष्टि के लिए उनके हिन्दू-मुसलमान अनुयायियो म विवाद उत्पन्न हो गया। हिन्दू अनुयायी उनकी दाह-क्रिया करना चाहते थे और मुसलमान अनुयायी उन्हे दफनाना चाहते थे। किन्तु जब उनके शव से चादर उठाई गई तो वहाँ फूलो का ढेर मिला। उन फूलो के दो भाग किये गये। आधा फूल लाकर काशी नरेश वीरसिंह देव ने मणिकर्णिका घाट पर उनका दाह सस्कार किया और उनकी भस्मी को एक स्थान पर गाडकर वहाँ कबीर चौरा बनवाया। फूलो के दूसरे भाग को लेकर मुसलमान अनुयायियो ने उन्हे मगहर मे ही दफना दिया। इस स्थान पर कबीर पन्थ के परम अनुयायी बिजलीखान पठान ने एक समाधि का निर्माण कराया। कबीरचौरा (वाराणसी) और मगहर के ये दोनो स्मारक आज भी विद्यमान हैं और कबीरपन्थियो और धार्मिक सद्भाव की समर्थक जनता के लिए पवित्र तीर्थों के रूप मे पूजे जाते हैं। इन दोनो स्मारको के पुनरुद्धार के लिए प्रयास हो रहे हैं।

इस प्रकार कबीर के स्थितिकाल के सम्बन्ध मे काशीनरेश वीरसिंह देव की वर्तमानता उल्लेखनीय है। उक्त दोनो शासको के स्थितिकाल के आधार पर कबीरदास का समय निर्णीत किया जा सकता है।

ग्रन्थ निर्माण

कबीर पढे लिखे नही थे, किन्तु जन्म से ही दैवी प्रतिभा-सम्पन्न और बहुश्रुत थे। उनका अन्तःकरण इतना निर्मल और बुद्धि इतनी प्रखर थी कि जीव जगत्, लोक-परलोक की जो भी वास्तविकताएँ थी, उनका उन्होने साक्षात्कार कर लिया था। उन्होंने न तो विधिवत् दीक्षा ली थी और न ही विधिवत् दीक्षा देने के लिए किसी मठ या धर्मस्थान की स्थापना की। उन्होने किसी प्रकार की ग्रन्थ रचना नही की। मौखिक रूप म जन सामान्य के लिए कहा। इसलिए उन्होने जो भी उपदेश दिये, जो कुछ भी कहा, बोल-चाल की भाषा मे कहा।

कबीर ने समय-समय पर जो भी कहा, उनके वे उपदेश बहुत समय तक उनक शिष्यो तथा अनुयायियो म, श्रद्धालु भक्तो के कण्ठ मे मौखिक रूप म

विद्यमान रहे। ये भक्त या शिष्य शिक्षित भी थे और अशिक्षित (अनपढ़) भी। लोकभाषा में होने के कारण कबीर की मूल वाणियों को तोड़ा-मरोड़ा भी गया और सहजता-सरलता लाने के लिए उनमें संशोधन-परिवर्तन भी किया गया। यही कारण है कि सम्प्रति उपलब्ध उनके वाणी-संग्रहों में पाठभेद देखने को मिलता है।

कबीर के शरीरान्त के बहुत समय तक उनके उपदेश कण्ठगत रहने के उपरान्त उनके अनुयायियों ने उनका संग्रह-संकलन कर उन्हें वर्गीकृत करके लिपिबद्ध किया। कबीर के नाम से उनकी शिक्षाओं तथा उनके उपदेशों के जो संकलन सम्प्रति ग्रन्थरूप में उपलब्ध हैं, उनके नाम हैं—'सुखनिधान', 'कबीर गोरखनाथ-गोष्ठी', 'रामानन्द-गोष्ठी', 'आनन्दसागर', 'शब्दावली', 'जगल', 'बसन्त', 'होली', 'रेखता', 'झूलना', 'बहार', 'हिण्डोला', 'साखी', 'रमैनी', और 'बीजक'। कबीरदास ने काशीनरेश वीरसिंह देव को जो उपदेश दिया था, वह 'बीजक' के रूप में संगृहीत है। यह लगभग सात सौ अध्यायों का बृहद् ग्रन्थ है। 'शब्दावली' में उनके लगभग एक हजार वचन संकलित हैं। उनका तीसरा महत्त्वपूर्ण संग्रह 'सुखनिधान' है, जो कि उनके प्रमुख शिष्य धर्मदास को दिये गये उपदेशों से सम्बन्धित है। उसको उनके शिष्य श्रुतगोपाल ने संकलित किया था।

कबीर की वाणियों के उक्त संग्रह सम्प्रति अनेक संग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी साहित्य के संवर्द्धन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। अनेक विद्वानों द्वारा उन पर टीकाओं तथा शोध ग्रन्थों का निर्माण हो चुका है।

सुधारवादी दृष्टिकोण

कबीर सुधारवादी दृष्टिकोण के सन्त थे। उन्होंने धार्मिक पाखण्डों, मिथ्याडम्बरों, बाह्याचारों, अन्धविश्वासों का बहिष्कार किया। वे मूर्तिपूजा, कीर्तन, कर्मकाण्ड, हिंसा, मांसाहार तथा असंयमित जीवन बिताने के विरुद्ध थे। यद्यपि उनके उपदेशों में वैष्णवों तथा सूफियों के सद्विचारों का समन्वय था, तथापि दोनों की धार्मिक रूढ़ियों के वे कटु आलोचक थे। हिन्दू तथा मुस्लिम, दोनों धर्मों के शाश्वत सत्यों पर उनकी निष्ठा थी। इसलिए मनुष्य को सत्य की खोज के लिए उन्होंने प्रेरित किया। जितने भी वाह्याडम्बर हैं, उनको उन्होंने जीवन को सन्मार्ग से भटकाने वाले व्यर्थ के पाखण्ड कहा है। वे मनुष्य के भीतर उसी में विद्यमान हैं, जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि। इसलिए सद्गति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को उनकी सूक्ष्मता को पहचानना चाहिए और उनके जाल से अपने को बचाना चाहिए।

उनके विचारो मे समस्त जीव-जगत् की अभिनता या एकता अथवा समानता का सार्वभौम भाव निहित है। उन्होने ऊँच-नीच, छुआछूत आदि को व्यर्थ बताया है। वर्ण-धर्म-जाति के मिथ्याडम्बरो को उन्होने हेय एव त्याज्य कहा। वे यह मानते थे कि हिन्दू हो या मुसलमान, सब एक ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सन्तान हैं। अल्लाह-अलख, राम-रहीम, केशव, हरि-हजरत मे कोई भेद नही। सारा मानव-समाज एक परिवार है और उसका पोषणकर्ता एक ही परमपिता परमात्मा है। उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय या साधना प्रेममार्ग है, पूर्ण आत्म समर्पण। यही सार्वभौम सहिष्णुता कबीर की वाणियो की विशेषता है। उन्होने साम्प्रदायिक विषमताओ का खण्डन कर ऐक्य एव समभाव, सर्व-धर्म समन्वय एव विश्वबन्धुत्व का महान् आदर्श स्थापित किया। उनके श्रद्धापूरित, कारुणिक, परोपकारी, उदार, त्यागी एव नि स्पृही हृदय में मानवमात्र के प्रति सत्कामना थी।

कबीर सत्य, अहिंसा, सदाचार और दया का आचरण एव परिपालन करना जीवन का श्रेष्ठ धर्म समझते थे। मासाहार और पशुहत्या के लिए उन्होने पण्डितो और मुल्लाओ, दोनो को फटकारा। भीख माँगना तथा दूसरो के दिये पर जीवित रहना उनकी दृष्टि से अकर्तव्यता है। भिक्षा-वृत्ति को उन्होने महापाप कहा है। अपनी शक्ति एव सामर्थ्य के अनुसार परिश्रम करके जीविकोपार्जन करना ही उनकी दृष्टि से परम पुरुषार्थ है। उनका कहना था कि सन्मार्ग पर चलते हुए अपने अभावो को यथासभव पूरा करते हुए गरीबी तथा सत्यता का जीवन बिताने से ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है।

मनुष्य द्वारा मनुष्य के प्रति असद्भाव पैदा करने वाली प्रवृत्तियो के प्रति उन्होने सभी धर्मों के अनुयायियों को सचेत किया है। उनका अभिमत था कि जो अपने लिए हितकर है, दूसरे के हित को दृष्टि मे रखकर आचरण-व्यवहार करने तथा समान रूप से सबको सत्य के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

सिद्धान्त-निरूपण

कबीर के जीवन तथा उनकी रचनाओ के सम्बन्ध मे आज भी विद्वानो में द्विविधा की स्थिति बनी हुई है। किन्तु उनके विचारो तथा सिद्धान्तो के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति नही है। उनकी स्पष्टवादिता उनकी वाणियो मे सर्वत्र विद्यमान है।

उनका आराध्य अगम, अकथ, अनुपम, अविगत तथा शून्य है। इस दृष्टि से उसके सम्बन्ध मे कुछ कहना, आदि-अन्त का पता लगाना सर्वथा

असभव है। किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने उसे गुणातीत, निर्गुण या गुणविहीन भी कहा है। वह करता भी है और सिरजनहार भी। यह जगत् उसकी लीला है। उसके साथ साँपिनी एव डाकिनी रूपा माया भी विद्यमान है, जो जीवों को भ्रम में भटकाये रहती है, जीवों को बेचैन किये रहती है। वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सहज (दयालु) है और अवतारी होने के कारण सगुण भी है।

इस प्रकार कबीर का ब्रह्म अनिर्वचनीय होने पर भी जीवात्मस्वरूप है। किन्तु जीव भ्रमजाल में भटकने के कारण आत्मा को अपने से भिन्न समझ बैठा है। इसी जीव तथा आत्मा के विभेद को दूर करने के लिए कबीर ने ईश्वर के सर्वव्यापी स्वरूप का गुणगान किया है और उसे अपने ही भीतर खोजने का निर्देश किया है। उन्होंने बताया है कि जन्मान्तर के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए इन्द्रियों की एकाग्रता और आत्मशुद्धि आवश्यक है।

उन्होंने जो आध्यात्मिक प्रकाश पाया, उसको विरोधोक्तियों या उल्ट-बाँसियों में अभिव्यक्त किया है। बिना मुँह के खाना, बिना जिह्वा के प्रभुगुण गाना और बिना पैरों के चलना आदि उनकी अनुभूतियाँ उसी आध्यात्मिक अतिरेक की परिचायक हैं। उन्होंने अपने आराध्य को कहीं निर्गुण तो कहीं सगुण कहा है। इसी कारण विद्वानों का एक वर्ग जहाँ कबीर को अद्वैतवादी सिद्ध करता है तो वहीं दूसरा वर्ग उनकी वैष्णवों में गणना करता है। यहाँ तक कि कुछ उन्हें शून्यवादी बौद्ध, तो कुछ सिद्धों, नाथों तथा सूफियों में उनकी गणना करते हैं। उनके व्यक्तित्व की यह भिन्नता वस्तुतः उनके व्यापक सार्वभौम विचारों के कारण दृष्टिगत होती है।

भक्ति के लिए उन्होंने एकमात्र नामस्मरण को उत्तम साधन स्वीकार किया है। उनके राम, साहिब अथवा सगुणातीत एव निर्गुणातीत होने पर भी अपने भक्तों के उद्धारक एव पालक हैं। कबीर की साधना पद्धति द्वैताद्वैत-परक थी। आत्मचिन्तन तथा सत्सग से उन्हें स्वतः आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका था। उन्होंने स्थापित किया कि ईश्वर सार्वभौम एव शाश्वत है, सर्वव्यापी है। वह निर्गुण और निरजन है। आत्मज्ञान, सदाचार और पवित्र भावना से ही उसको प्राप्त किया जा सकता है। मानवमात्र की सेवा करना, हिंसा से दूर रहना और मास, मदिरा तथा व्यभिचार का परित्याग करना उनके आचारनिष्ठ जीवन के आदर्श थे।

कबीर पन्थ और उसकी शाखाएँ

कबीर ने अपने जीवन-काल में किसी सम्प्रदाय, मत या पन्थ का प्रचलन नहीं किया। वे किसी धार्मिक वर्गवाद के पक्षपाती नहीं थे। वे अपने मत

एवं सिद्धान्त की श्रेष्ठता मे दूसरे मतो एव सिद्धान्तो की हेयता को भी पसन्द नही करते थे। अपितु वे सभी मतो एव सिद्धान्तो की श्रेष्ठ, उपयोगी बातो को ग्रहण करने के पक्षपाती थे। उनकी खण्डन-प्रवृत्ति का एक ही उद्देश्य था कि धर्म तथा ईश्वर को एकागी न बनाया जायें। फिर भी उनके बाद उनके अनुयायियो ने 'कबीर पन्थ' के नाम से एक अलग धार्मिक मत का प्रचलन किया।

कबीर ने अपना सारा जीवन गुरु-गोविन्द के गुण-गान तथा नाम-सकीर्तन मे व्यतीत किया। अन्य धर्मगुरुओ एव आचार्यों की भाँति उनका यह उद्देश्य नही रहा कि एक धर्मनेता के रूप मे गुरुपद प्राप्त करें। उन्होने काशी को ही एकमात्र अपना धर्मक्षेत्र बनाये रखा, किन्तु उनके उदार एव सच्चे हृदय से निकली वाणी से प्रभावित होकर अनेक हिन्दू तथा मुसलमान उनके अनुयायी हो गये। उनके शिष्य प्रशिष्यो ने कबीर पन्थ का प्रचार-प्रसार सुदूर दक्षिण भारत तथा पश्चिम भारत तक किया। उत्तर भारत तथा पूर्वी भारत उनके मत का प्रमुख केन्द्र बना रहा। उत्तर भारत की मध्य-युगीन सन्त-परम्परा मे कबीर का वही स्थान है, जो महाराष्ट्र मे सन्त ज्ञानेश्वर तथा सन्त तुकाराम आदि का रहा। स्वामी रामानन्द को गुरुरूप मे वरण कर उन्होने स्वामीजी के उदार विचारो को व्यापकता प्रदान की।

कबीर पन्थ के अनुकरण पर रविदासी या रैदासी, धर्मदासी, गरीबदासी तथा पल्टूदासी आदि विभिन्न नामो से अनेक धर्म शाखाओ का प्रवर्तन हुआ। इन शाखाओ के सस्थापको, प्रवर्तको एव अनुयायियो ने कबीर के अनुकरण पर निराकार उपासना का निरूपण किया, किन्तु कबीर की अपेक्षा उनके परवर्ती उक्त मतो मे सगुण भक्तिमार्गीय भावना का सामजस्य देखने को मिलता है। कबीर के ब्रह्म की दुर्गमता उनमे नही है।

हिन्दी साहित्य मे कबीरपन्थी परम्परा के भक्तियुगीन सन्तो मे रैदास (१६वी शती) का नाम उल्लेखनीय है। उनका जन्म काशी मे हुआ था। वे जाति के चमार थे और स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा मे हुए। भक्त-कवि मीराबाई ने उनके दर्शन किये थे और गुरुरूप म उनका वरण किया था। अपने पदो मे मीराबाई ने उनके महिमामय सन्त जीवन का सम्मान-पूर्वक उल्लेख किया है। सन्त रैदास के भी कुछ स्फुट पद विभिन्न ग्रन्थो मे मिलते हैं। कबीर की परम्परा मे रैदास ने भी १५७० ई० मे एक धार्मिक पन्थ की स्थापना की थी।

उनके सम्बन्ध मे एक किंवदन्ती प्रचलित है कि उन्हे भगवान ने साक्षात् दर्शन दिये थे और उनकी दीनता से द्रवित होकर उन्हे पारस पत्थर दिया था,

जिसका उन्होंने कभी भी उपयोग नहीं किया। रैदासी पन्थ' के अनुयायी सम्प्रति उत्तर भारत, गुजरात तथा बिहार में वर्तमान हैं। आज भी उनकी स्मृति में प्रतिवर्ष रैदास जयन्ती मनाई जाती है और उनके प्रेरणाप्रद व्यक्तित्व के प्रति सम्मान प्रकट किया जाता है।

कबीर की नाम-स्मरण उपासना-पद्धति को उनके अनुयायियों ने विभिन्न पन्थों के रूप में प्रचलित किया। उनके बारह प्रमुख शिष्य थे, जिनमें धर्मदास, श्रुतगोपाल, भागूदास, जीवनदास, ज्ञानी, साहेबदास और नित्यानन्द का नाम उल्लेखनीय है। इन बारह शिष्यों ने कबीर पन्थ की बारह शाखाओं का प्रवर्तन किया। कबीर पन्थी महन्तों की प्रमुख दो गद्दियाँ हैं, जिनके द्वारा वे दीक्षित तथा अनुशासित होते हैं। एक गद्दी कबीरचौरा (वाराणसी) और दूसरी गद्दी छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) में है। वर्तमान कबीरचौरा मठ, मगहर मठ, द्वारिका मठ तथा जगन्नाथ मठ के महन्त या अध्यक्ष श्रुतगोपाल की परम्परा के शिष्यों के अधीन है। काशी के कबीरचौरा मठ के रहने वाले साधुओं तथा बाहर से आने वाले सन्तों के लिए आज भी निवास-स्थान तथा भोजन आदि की नियमित व्यवस्था है। इस मठ के व्यय के लिए धर्मप्राण बलवन्त सिंह तथा चैतसिंह नामक श्रद्धालु भक्तों ने मासिक वृत्ति निर्धारित कर दी थी, जिसका संचालन सम्प्रति एक ट्रस्ट के रूप में होता है। चैतसिंह ने एक बार कबीरचौरा मठ में सन्तों का वृहद् सत्संग आयोजित किया था, जिसमें देश के विभिन्न भागों से लगभग तीस हजार कबीर पन्थी साधुओं-सन्तों विद्वानों ने भाग लिया था।

छत्तीसगढ़ गद्दी के साधु अपनी परम्परा को धर्मदास से स्थापित करते हैं। धर्मदास पहले निम्बार्क वैष्णव थे, किन्तु कबीर के उपदेशों से प्रभावित होकर वे कबीर पन्थी बन गये थे। उन्होंने मध्यप्रदेश में जिस निर्गुणोपासक धार्मिक पन्थ की स्थापना की थी, उनके अनुयायियों ने उसे 'धर्मदासी पन्थ' के नाम से प्रचारित किया। इस पन्थ के अनुयायी सन्तों की यह विशेषता है कि वे वैष्णवों की भाँति तिलक तथा कण्ठी धारण करते हैं।

धर्मदास ने नारायण तथा चूडामणि नामक दो पुत्रों ने जबलपुर के निकट एक गाँव में अपना स्वतन्त्र मठ स्थापित किया था, किन्तु उनके बाद उसकी परम्परा समाप्त हो गई। धनौली मठ का उत्तराधिकार भागूदास की शिष्य-परम्परा को प्राप्त है। जग्गूदास के अनुयायियों का एक मठ कटक में हैं, किन्तु वे अपने को मूलपन्थी कहते हैं। सतनामी मठों के उत्तराधिकारी जीवनदास की शिष्य-परम्परा के सन्त हैं। नित्यानन्द और कमलानन्द ने

दक्षिण भारत मे अपना एक स्वतन्त्र मठ स्थापित किया था, जिसकी परम्परा अल्पकाल में ही समाप्त हो गई।

कबीर की निर्गुण निराकार उपासना से प्रभावित होकर महात्मा गरीबदास ने अपना अलग धार्मिक पन्थ प्रचलित किया। उनका जन्म छिडानी या चुरनी (जिला रोहतक, पजाब) नामक गाँव मे हुआ था। उन्होंने 'गुरु-ग्रन्थ' के नाम से एक ग्रन्थ की रचना की थी। उनके पन्थ के साधुओ की यह विशेषता थी कि उनमे द्विजमात्र ही दीक्षित हुआ करते थे, असवर्णों को उसमे दीक्षित नही किया जाता था। इसलिए इस पन्थ के अनुयायियो की सख्या सीमित रही और उसकी परम्परा भी आगे नही बढने पायी। कबीर के उदारतावादी सिद्धान्तो से प्रभावित होकर सन्त पलटूदास ने भी एक नये धार्मिक पन्थ की स्थापना की थी, जिसका प्रमुख मठ अयोध्या मे है। उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन किया और निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया। वे राम-नाम की महिमा गाया करते थे। सम्प्रति उत्तर प्रदेश तथा नेपाल मे इस धार्मिक शाखा के उत्तराधिकारी वर्तमान हैं।

कबीर पन्थ का प्रचार प्रसार उनके शिष्य प्रशिष्यों द्वारा भारत के विभिन्न अचलो मे निरन्तर होता रहा। यह परम्परा उनके शरीरान्त के लगभग तीन सौ वर्षों तक बनी रही। इस परम्परा के प्रवर्तक सन्तो मे अनेक के नाम उल्लेखनीय हैं। उनमे नानकदेव का नाम प्रमुख है। उन्होने पजाब मे 'नानक पन्थ' की स्थापना की। इसी प्रकार राजस्थान, जयपुर मे दादू दयाल का 'दादू पन्थ' अलवर मे लालदासी का 'लालदासी पन्थ' पूर्वी उत्तर प्रदेश मे मलूकदास का 'मलूक पन्थ' बिहार मे धरणीदास का 'धरणीश्वरी पन्थ' गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) मे शिवनारायण का 'शिवनारायणी पन्थ', दिल्ली मे चरणदास का 'चरणदासी पन्थ', सरहिन्द में बाबालाली का 'बाबालाली पन्थ', दक्षिण-पूर्व दिल्ली मे बीरभान का 'साध पन्थ', राजस्थान मे रामसनेही का 'रामसनेही पन्थ' और जगजीवनदास का 'सतनामी पन्थ' उल्लेखनीय हैं। उन्होने कबीर द्वारा निरूपित सर्व धर्म-समभाव का सन्देश जन-जन तक पहुँचाया।

सन्त कबीर की निर्गुणवादी परम्परा मे अनेक निरीश्वरवादी विरक्त सन्तो ने अपने अपने अलग अलग पन्थ चलाये। उनमे सन्त बीरभान द्वारा प्रवर्तित 'साध पन्थ' का उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह पन्थ लगभग १७१५ वि० मे स्थापित हुआ। इस पन्थ के बारह आदेश प्रसिद्ध हैं। उनमे इस पन्थ के अनुयायियो की सदाचार-सहिता वर्णित है। इस पन्थ के अनुयायी

सन्त दक्षिण-पूर्व दिल्ली मे पाये जाते हैं। वे दोहरो तथा साखियो मे अपना उपदेश देते हैं। इनका अधिकतर साहित्य अलिखित ही है।

कबीर की निराकारोपासना के अनुयायी फकीरो मे सन्त बाबालाल का नाम उल्लेखनीय है, उनका 'बाबालाली पन्थ' सरहिन्द मे प्रचारित हुआ। बाबालाल निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। इतिहासकारो का मत है कि १७०६ वि० मे इस सन्त ने अध्यात्मवादी विचारो के अनुयायी शाहजादा दारा-शिकोह से सात बार भेंट की थी। शाहजादा ने उन्हे गुरुरूप में धारण किया था। शाहशाह शाहजहाँ ने अपने हिन्दी दरबारी विद्वानो से बाबालाल के उपदेश फारसी मे अनुवाद करवाये थे। इस अनुवाद का नाम 'नादिरुन्नुकात' रखा गया। इस पन्थ मे मूर्तिपूजा वर्जित है। उसमे गुरु की उपासना पर बल दिया गया है। बाबालाल का बड़ौदा के निकट एक मठ आज भी विद्यमान है, जिसका नाम लालबाबा धौल है।

सन्त शिवनारायण द्वारा एक सुधारवादी पन्थ की स्थापना १७९० वि० (१७३४ ई०) मे की गई थी, जो 'शिवनारायणी पन्थ' के नाम से प्रचलित है और जिसमे कबीर की परम्परा मे निराकारोपासना पर बल दिया गया है। सन्त शिवनारायण का जन्म गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) के चन्देसरी गाँव मे एक राजपूत परिवार मे हुआ था। उन्होने अपने पन्थ मे सभी वर्गों, धर्मों तथा जातियो के लोगो को प्राथमिकता दी। उनका पन्थ महात्मा गरीबदास से सर्वथा विपरीत था, जिसमे असवर्णों को कोई स्थान नही दिया गया। सन्त शिवनारायण ने जहाँ असवर्णों तथा निम्न जाति के लोगों को सम्मिलित किया, वहाँ गरीबदास ने अपने पन्थ मे केवल द्विज वर्णों को ही सम्मिलित किया। कहा जाता है कि उनके इस सुधारवादी एव सर्व-धर्म-समन्वयी पन्थ को साहित्य प्रेमी एव विद्वान् मुगल बादशाह मुहम्मद शाह (१७७६-१८०५ वि०, १७१९-१७४८ ई०) ने भी वरण किया था। सन्त शिवनारायण ने अपने पन्थ के प्रचार प्रसार के लिए गाजीपुर जिले मे चार मठो की स्थापना की थी। यद्यपि आज इस मत के अनुयायियो की सख्या न्यून है, तथापि उनमें भी सन्त शिवनारायण को ईश्वर के अवतार के रूप माना जाता है।

सन्त चरणदास द्वारा 'चरणदासी पन्थ' की सैद्धान्तिक मान्यताएँ सर्वथा निजी हैं। जिस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय वाले स्वय को शैव मानते हैं, उसी प्रकार चरणदासी पन्थ के अनुयायी अपने को वैष्णव मानते हैं, किन्तु उनकी उपासना-पद्धति हठयोग के निकट है। उनकी उपासना के आधार राधा-कृष्ण हैं। इस धार्मिक पन्थ का प्रथम आचार्य शुकदेव जी को बताया जाता

जाता है। स्वामी चरणदास ने लिखा है कि उन्हे शुकदेव जी के दर्शन हुए थे और उन्ही से चरणदास को योगमार्गी पन्थ की दीक्षा प्राप्त हुई थी।

कबीर की परम्परा मे सन्त रामचरणदास ने १८वी शती वि० मे 'रामसनेही पन्थ' का प्रवर्तन किया। इस पन्थ के तीसरे गुरु दूल्हाराम हुए, जो कि प्रसिद्ध भक्त-कवि थे और उन्होंने दस हजार छन्दो तथा चार हजार दोहो की रचना कर इस सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित किया। स्वामी रामचरण दास की शिक्षाओ का संग्रह 'बानी' नाम से कहा जाता है। रामसनेही पन्थ के मन्दिरो को रामद्वार नाम से कहा जाता है, जो अधिकतर राजस्थान मे है। उनका मुख्य केन्द्र शाहपुर है। किन्तु अधिकतर अनुयायी जयपुर, उदयपुर आदि नगरो मे रहते हैं। इस पन्थ के अनुयायी केवल साधु ही होते है, गृहस्थ नही। इसके कारण उनके प्रचार-प्रसार को अधिक व्यापकता नही प्राप्त हुई है।

सतनामी सम्प्रदाय

सन्त कबीर की निर्गुणोपासना का आधार लेकर जिन अनेक धार्मिक पन्थो का उदय हुआ, उनमे 'सतनामी सम्प्रदाय' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस पन्थ की अपनी प्रौढ परम्परा और विशेष गरिमा है।

नाम की महिमा या रामोपासना पर आधारित इस निर्गुणधारा के धार्मिक पन्थ का उदय कब हुआ और उसका संस्थापक तथा प्रवर्तक कौन था, इस सम्बन्ध मे कोई ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की नाम-महिमा की अद्वैत भावना को लेकर लगभग १६वी शती मे इस पन्थ का प्रचलन हो गया था।

सत्यनाम (एकमेव परम सत्य) की आराधना-उपासना को लेकर इस धार्मिक पन्थ को 'सतनाम' से कहा गया। जिस समय दिल्ली तख्त पर शाहशाह औरगजेब आसीन था, १६७२ ई० के दिल्ली के दक्षिण पश्चिम मे ७५ मील की दूरी पर स्थित नारनौल नामक स्थान मे एक साधारण-सी बात पर सतनामियो का सल्तनत से कुछ विवाद हो गया था। उसके कारण परस्पर युद्ध की स्थिति पैदा हो गई थी। उस युद्ध मे बडी सख्या मे सतनामियो को मार दिया गया था। इस घटना से ज्ञात होता है कि उस समय तक सतनामियो का एक ऐसा सगठन बन चुका था जिसको शासन के विरोध मे विद्रोह करने की शक्ति प्राप्त हो गई थी। किन्तु दूसरी ओर इस अवधि तक सतनामियो के सगठन या सम्प्रदाय का कोई ऐसा प्रमाण या ग्रन्थ उपलब्ध नही होता है, जिसके आधार पर उनके इतने सशक्त अस्तित्व पर प्रकाश पडता हो। उनका कोई क्रमबद्ध इतिहास भी नही मिलता है।

१८वीं शती ई० में सतनामी सम्प्रदाय का पुनरुद्धार हुआ। उसके पुनरुद्धारक थे सन्त जगजीवनदास। उनका जन्म बाराबंकी (उत्तर प्रदेश) जिले के कोटवा नामक गाँव में हुआ था। वे बड़े योगाभ्यासी सिद्ध और प्रसिद्ध कवि हुए। उन्होंने हिन्दी पदों में अपनी शिक्षाओं को अभिव्यक्त किया। उनके एक शिष्य दूलनदास हुए। वे रायबरेली के निवासी थे और उनके भी हिन्दी में स्फुट पद उपलब्ध हैं। दूलनदास के बाद इस पन्थ के प्रवर्तकों में गाजीदास का नाम उल्लेखनीय है। वे छत्तीसगढ़ के निवासी और जाति के चमार थे। उन्होंने १८२०-१८३० ई० के लगभग अछूतों, विशेष रूप से चमार जाति के समाज में इस धर्म-पन्थ का प्रचार-प्रसार किया। अपने इस धर्म-पन्थ को समाज सुधार का अंग बनाकर उन्होंने उसे बड़े प्रभावशाली ढंग से आगे बढ़ाया।

इस सम्प्रदाय के आचार-विचारों के सम्बन्ध में विस्तार से लिखित रूप में कुछ भी नहीं मिलता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह निर्गुण, निराकार अद्वैत-मतावलम्बियों का एक पन्थ था। उसमें जातीय उत्थान का उद्देश्य भी निहित था। इस मत के अनुयायी अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा के विरोधी हैं और आचारों के कट्टर परिपालक हैं। शुद्ध शाकाहारी भोजन करते हैं और मदिरा, मांस आदि को वर्जित मानते हैं।

छत्तीसगढ़ अंचल में ही इस मत के मानने वालों का अस्तित्व देखने को मिलता है। यद्यपि सन्त गाजीदास के बाद ऐसा कोई महात्मा नहीं हुआ, जिसका इस परम्परा में उल्लेख किया जाये, किन्तु एक वर्गविशेष के साधारण गृहस्थों में आज भी सतनाम मत की परम्परा जीवित है। किन्तु उनके आचारों में उतनी कट्टरता नहीं रही। कुछ धार्मिक प्रथाएँ उनमें ऐसी प्रचलित हो गयी थीं, जिनका सम्बन्ध निम्नस्तरीय था। किन्तु अब वे नहीं दिखाई देतीं हैं। अब तो सतनामियों में यह भी परिवर्तन देखने को मिलता है कि मूर्तिपूजा का भी उनमें प्रचलन हो रहा है।

सतनामियों के अपने मठ हैं, जिनके महन्त तथा मठाधिपति होते हैं। इन सतनामियों की पहचान यह है कि उनके महन्त दोनों हाथों की कलाइयों में और साधारण अनुयायी एक हाथ की कलाई में सफेद या काला धागा बाँधते हैं।

सतनामियों की उपासना-पद्धति को सिखों ने उजागर किया। सिख भी सतनाम के अनुयायी हैं और उन्होंने सन्तों की दिव्य वाणियों का आधार लेकर उनको लोकविश्रुत करने में उल्लेखनीय योगदान किया। सत्यनाम की महिमा को अपनी आराधना का एकमात्र लक्ष्य बनाकर उन्होंने सन्त मत को पुनः प्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार कबीर की विचारधारा का प्रभाव लम्बी अवधि तक सारे भारत के जन-मानस पर लक्षित हुआ और उसने भारत के धार्मिक इतिहास में बहुव्यापी सगठन का स्वरूप ग्रहण किया। यही भारतव्यापी धार्मिक सगठन मत या सन्त सम्प्रदाय के नाम से कहा जाता है। उसने धर्मप्राण भारतीय जनता को उदारता और आत्मबोध का नया जीवन-दर्शन दिया।

भारत मे आज भी लगभग आठ नौ लाख मनुष्य कबीर पन्थी हैं जिनमें मुसलमान कम और हिन्दू अधिक हैं। वे सभी अपने सामाजिक तथा उदार धार्मिक जीवन मे पूणत हिन्दू हैं। उनके प्रमुख दो वर्ग हैं। एक वर्ग के विरक्त साधु है और दूसरे वर्ग के गृहस्थ। वे तुलसी काष्ठ की माला पहनते हैं और ललाट पर विष्णु का चिह्न अकित करते हैं। वैष्णवो और कबीर पन्थिया के तिलकधारण मे प्राय समानता है। कबीरपन्थी साधु सतनाम का जप एव उच्चारण करते हुए भिक्षाटन करते हैं। इस पथ के भ्रमणशील साधु उत्तर भारत के सभी अचलो में पर्याप्त सख्या मे विद्यमान हैं। वे अपने सामान्य, सरल एव पवित्र जीवन के लिए लोकश्रद्धा के पात्र हैं।

गढ़वाल मे कबीर पन्थ का प्रभाव

नाथपन्थ एव सन्तमत के खोजी विद्वान् स्व० डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने अपने एक निबन्ध (उत्तराखण्ड में सन्तमत और सन्त-साहित्य, देखिए—डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल के श्रेष्ठ निबन्ध, पृ० ८७ ९६) मे यह प्रतिपादत किया है कि परम्परा से अब तक गढवाल के सामाजिक रीति रिवाजो मे सन्त मत के आधार विचारो का व्यापक प्रभाव रहा है। गढवाल मे कबीरनाथ को सिद्धो की परम्परा का सन्त माना जाता है। उनके नाम से असवर्ण समाज मे आज भी निरकार भगवान की पूजा का प्रचलन है। इस समाज मे निरकार भगवान को सर्वोच्च देवता माना जाता है और प्राय प्रत्येक घर मे उसकी स्थापना होती है। जब उसका उत्सव मनाया जाता है तो कई दिनो तक सुबह-साय बाजा (घडेला) रखने के बाद अन्तिम पूजा (पुजाई) के दिन बडे समारोह के साथ सूअरो की बलि दी जाती है। यह सूअर वस्तुत नारियल या श्रीफल का प्रतीक है और उससे सम्बन्धित कथा एक 'जागर' मे कही जाती है।

यह जागर कबीरनाथ से सम्बन्धित है। उसमे कहा गया है कि एक बार निरकार भगवान अपना रूप बदल कर कबीरदास के घर पर भिक्षाटन के लिए आये। कबीरदास घर पर नही थे। उनकी स्त्री ने भिक्षुक के खप्पर मे उस 'अग्याल' (अग्रिम भेंट) को डाल दिया, जो कि निरकार

भगवान के निमित्त रखी हुई थी। उनके घर पर देने के लिए उस 'अग्याल' के अतिरिक्त कुछ भी नही था। जब भिक्षा देकर वह भीतर गई तो उसका सारा कमरा अन्न से भरा हुआ था। वह आश्चर्यचकित जब बाहर भिक्षुक के दर्शन करने आई तो तब तक भिक्षुक जा चुका था। भिक्षुक के खप्पर पर जो नारियल था, वह वही कही किसी मैले कुचैले स्थान पर गिर गया था। वह नारियल या श्रीफल शूकरो के रूप मे उत्पन्न हुआ। इस आस्था पर शूकरो का नारियल या श्रीफल का प्रतीक मानकर उसकी बलि निरकार भगवान को दी जाने की प्रथा प्रचलित हुई। यह देवता घोर रुद्ररूप माना जाता है और ऐसा विश्वास है कि शत्रुतावश वह जिस पर भी 'घोपा' जाता है, उसका भारी अनिष्ट हो जाता है।

गढवाल मे इस निरकारी मत को मानने वाला समाज कबीरनाथ का अनुयायी है। यद्यपि जीवहत्या या बलिदान का विधान कही भी देखने को नही मिलता है, किन्तु गढवाल मे यह विचित्र प्रथा आज भी कबीरदास के साथ जुडी हुई है। कबीरदास के 'जागर' आज भी वहाँ के समाज मे प्रचलित है।

डा० बडथ्वाल का कहना है कि 'गुरुमहिमा' नामक एक कबीरपन्थी ग्रन्थ मे तो कबीर का गढवाल मे जाना भी लिखा है। इस ग्रन्थ के अनुसार उस समय श्रीनगर (गढवाल) मे राममोहन नाम का राजा राज्य करता था। कबीर के सम्बन्ध मे यह भी प्रचलित है कि वे बदरीनाथ धाम को गये थे और उन्होने भगवान के प्रतिमा-पद को सुवर्ण मे परिवर्तित कर दिया था। इस चमत्कार को देखकर राजा राममोहन ने स्वय कबीर मत को वरण कर लिया था और अपने सारे परिवार तथा अपनी प्रजा को कबीर मत का वरण करने के लिए प्रेरित किया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि गढवाल मे कबीर मत का प्रभाव आगे की अनेक शताब्दियों तक बना रहा। गढवाल के प्रसिद्ध चित्रकार, कवि एव इतिहासकार मोलाराम (१८वी शती ई०) का 'मनमथ पन्थ' वस्तुत योग मार्ग का ही एक अग है, जिसमे इन्द्रिय निग्रह द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है। इस पन्थ का आधार भी कबीर मत ही है। इन आधारो पर सन्त कबीर का गढवाल से सम्बन्धित होना प्रमाणित होता है।

मलूकदासी पन्थ

सन्त कबीर की परम्परा निर्गुण भक्ति को आधार मानकर रामभक्त कवि मलूकदास ने अपना अलग ही पन्थ चलाया, जिसे 'मलूकदासी' नाम

दिया। सन्त मथुरादास ने 'ग्रन्थ परिचयी' में मलूकदास की जीवनी लिखी है और तत्कालीन परिस्थितियों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। सन्त मलूकदास का जन्म १६३१ वि० (१५७४ ई०) को प्रयागराज से ३६ मील उत्तर-पश्चिम गंगा तट पर अवस्थित कड़ा में हुआ। उनके पिता का नाम सुन्दरदास था। वे जाति के ब्राह्मण थे या खत्री, इसमें मतान्तर है। उनके दीक्षागुरु का नाम स्वामी पुरुषोत्तम था। किन्तु उन्हें भगवद्भक्ति की ओर प्रेरित करने का श्रेय मुरारीस्वामी को है।

बाल्यकाल से ही उनमें सेवा, परोपकार, दान तथा जीवदया के भाव प्रस्फुटित हो चुके थे। इस सम्बन्ध में मलूकदास जी के उदार स्वभाव की बड़ी प्रशंसा की गई है। जब उनकी आयु लगभग ७० वर्ष की थी, उन्होंने जगन्नाथ धाम की यात्रा की थी और तत्पश्चात् वे विरक्त हो गये थे। लगभग १७०७ वि० में उन्होंने अपने धार्मिक पन्थ के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक शिष्यों को दीक्षित किया। उनके उदारतावादी धार्मिक विचारों के कारण अनेक हिन्दू तथा मुसलमान उनके शिष्य बन गये। उनके प्रमुख शिष्यों के नाम थे—दयालदास, सुन्दरदास, उदयराम, केसवदास, हृदयराम, गरीबदास, हाथीराम, रामदास, पूरणदास और लालदास।

मलूकदास के अनुयायियों में किसी प्रकार के भेद-भाव का विचार नहीं था। अन्त्यजों को भी सम्मिलित होने की पूरी स्वतन्त्रता थी। उन्होंने सभी के लिए भगवान् के दर्शनों का समान अधिकार बताया और सबके लिए मन्दिरों में प्रवेश की अनुमति दी। वे निराकार परब्रह्म के उपासक थे और भगवान् में एकनिष्ठ होकर सर्वस्व समर्पण कर देना ही उनके उपदेशों का सार है।

मलूकदास ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। उनमें उनके धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का, त्याग, वैराग्य, सद्भाव और विश्व-बन्धुत्व के उदार विचार निहित हैं। उनके ग्रन्थों के नाम हैं—'रतनखान', 'भक्तवच्छावली', 'भक्तिविवेक', 'ज्ञानपरोछि', 'बारहखड़ी', 'रामावतारलीला', 'ब्रजलीला', 'ध्रुवचरित', 'विभयविभूति' और 'सुखसागर'।

सन्त मलूकदास ने १७३९ वि० (१६८२ ई०) में शरीर त्याग किया। इस प्रकार १०८ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त कर उन्होंने जीवन के अनेक उतार-चढ़ाव देखे। अपने इस लम्बे जीवन-काल में उन्होंने भारत के चार मुगल-शासकों की सल्तनत को देखा—अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब। अर्थात् कहना चाहिए कि उन्होंने मुगल सल्तनत का उत्थान और पतन, दोनों देखा।

नानक पन्थ या सिक्ख पन्थ

उत्तर-मध्ययुगीन भारत मे अनेक धार्मिक पन्थो या मतो का उदय हुआ, जिनमे अधिकतर अपने उत्तराधिकारियो के अभाव मे थोडे ही समय मे समाप्त भी हो गये। इस युग की धर्मशाखाओं मे जिनका अस्तित्व निरन्तर उजागर होता रहा, उनमे 'नानक पन्थ' या 'सिक्ख पन्थ' का नाम उल्लेखनीय है। इस धर्मशाखा के संस्थापक महात्मा नानकदेव थे, जिनका जन्म लाहौर जिला मे राइभोइकी तलवडी (पाकिस्तान) नामक स्थान मे वैशाख सुदी तृतीया १५२६ वि० (१४६९ ई०) मे हुआ था। इस स्थान को आज उन्ही के पवित्र नाम से 'नानकाना साहिब' कहा जाता है। जाति से वे खत्री थे। उनके पिता का नाम वेदी कालूचन्द या कालूराम था, जो पेशा से पटवारी थे।

नानक बाल्यकाल से ही सात्विक एव धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। वे भगवान् की भक्ति मे तल्लीन रहा करते थे और एकान्तवास मे अधिकतर समय व्यतीत करते थे। उनमे जन्मत ही अद्भुत प्रतिभा के अकुर फूट निकले थे। जब उनकी किशोरावस्था थी, उन्होने संस्कृत, हिन्दी और फारसी आदि भाषाओ का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

उनकी ससार-विमुखता की आशका से उनके पिता ने उन्हे पढाई-लिखाई से हटाकर व्यापार मे लगा दिया था। एक बार पिता ने चालीस रुपये देकर बाला नामक एक सिन्धी जाट के साथ व्यापार-व्यवसाय करने के उद्देश्य से परदेश भेजा। मार्ग मे (सरासौदा नामक स्थान पर) उन्हे कुछ सन्यासी मिले और उनका सत्सग पाकर नानक ने प्रभावित होकर वे चालीस रुपये उन्हे देने चाहे, किन्तु सन्यासियो ने रुपये लेने से इन्कार कर दिया। उन रुपयो का अन्न खरीद कर उन्होने सन्यासियो तथा साधु-सन्तो को भोजन करा दिया। खाली हाथ घर आकर पिता ने जब सारा वृत्तान्त सुना तो उन्होने उन्हे मारा-पीटा। किन्तु कहा जाता है कि रायभोराली नामक एक व्यक्ति ने बीच बचाव कर दिया।

नानक की इस दशा से दुखी होकर उनकी बहिन नानकी उन्हे अपने ससुराल सुल्तानपुर ले आई। वहाँ पर कुछ दिनो उन्होने दौलत खाँ लोदी के यहाँ नौकरी की। इसी बीच बहनोई के समझाने बुझाने पर उन्होने विवाह किया। उनकी पत्नी का नाम सुलक्षणी था। तत्पश्चात् उनके दो पुत्र हुए, जिनके नाम थे—श्रीचन्द और लखमीदास या लक्ष्मीदास।

यद्यपि नानक गृहस्थ बन गये थे किन्तु उनका मन हरिनाम स्मरण मे तल्लीन रहता और गृहस्थ तथा सासारिक प्रपचो से उदासीन। इसी उदासीनता के कारण उनकी नोकरी भी छूट गई। उन्होने पहले अपने परिवार, बाद को समाज मे, प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार मे वैर-विरोध ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, पाखण्ड और अन्यान्य अत्याचार का वातावरण देखकर, उनसे तग आकर १५९४ वि० मे घर छोड दिया और ससार के विभिन्न प्रपचो तथा पीडाकर प्रवृत्तियो को दूर करने के उद्देश्य से, मानवता मे शाश्वत शान्ति तथा सद्भाव स्थापित करने के उद्देश्य से देशाटन को निकल पडे।

नानक ने एक त्यागी, नि स्पृह पुरुष के रूप मे देश देशान्तर का भ्रमण किया। वे भारत के विभिन्न अचलो मे घूमे। धर्म-अभियान के लिए पहली यात्रा उन्होने एमनाबाद की। वहाँ एक बढई के यहाँ उन्होने अपना निवास-स्थान बनाया। तदनन्तर वे हरिद्वार, दिल्ली, काशी, प्रयाग और गया आदि धार्मिक नगरो तथा तीर्थ स्थानो को गये। वहाँ उन्होने पाखण्डो, पुरोहितो तथा पुजारियो द्वारा फैलाये गये कर्मकाण्ड के मिथ्याजाल का विरोध किया। जगन्नाथपुरी जाकर उन्होने भगवान् के दर्शन किये और धर्मजिज्ञासुओ को उपदेश दिये।

सत नानकदेव के सिद्धसनरूप और दैवीवाणी का प्रभाव देशभर मे फैलने लगा। जगन्नाथपुरी से वे सुदूर दक्षिण आबू पर्वत, रामेश्वरम् और श्रीलका तक धर्मप्रचार के लिए गये। वहाँ से लौटकर उन्होने उत्तर-पश्चिम भारत का भ्रमण किया। वे सिरमौर, उत्तराखण्ड मे हेमकूट और पूर्व मे गोरखपुर होते हुए सिक्किम, भूटान और तिब्बत तक गये। वहाँ उन्होने भगवान् बुद्ध की मानव मगलकारी वाणियो का श्रवण तथा उन पर मनन किया। तिब्बत से नानकदेव बलूचिस्तान होते हुए अरब तथा मक्का, मदीना, रोम, बगदाद, ईरान, कन्धार और काबुल आदि मुस्लिम देशो की यात्रा पर गये। मक्का-मदीना मे उन्होने अनेक फकीरो तथा विद्वान सन्तो का सत्सग किया। उन्होने मुल्लाओ द्वारा नमाज पढने के ढग की आलोचना की। इतना भ्रमण करने के पश्चात् भी उनके मन को कही भी शान्ति एव समाधान प्राप्त नही हुआ।

वे सुदूर पश्चिमी देशो की यात्रा कर कीर्तिपुर लौट आये। वहाँ स्थायी रूप से धर्मशाला मे एकान्तवास करके चिन्तन मनन द्वारा उन्होने आत्मानुभूति प्राप्त की। वे अब पूर्णप्रज्ञ एव आत्मदर्शी बन चुके थे।

गुरु नानक के समय भारत मे मुसलमानो का शासन था। मुगल शाहशाहो की असहिष्णुता के कारण हिन्दू समाज मे भय तथा आतक व्याप्त था, हिन्दुत्व के अस्तित्व पर सकट की काली छाया मडरा रही थी। हिन्दू धर्म का अपमान

हो रहा था और हिन्दुओ के धर्मस्थलो को ध्वस्त किया जा रहा था। ऐसे समय नानकदेव जैसे भविष्यद्रष्टा सन्त पुरुष का सर्वप्रथम कर्तव्य था आत्म-रक्षा। देशव्यापी परिस्थितियो को दृष्टि मे रखते हुए उन्होने समन्वय का मध्यमार्ग अपना कर प्रचलित लोकभाषा मे धर्म के उदार स्वरूप को समाज के समुख प्रस्तुत किया। उन्होने पारस्परिक धार्मिक समन्वय तथा सामाजिक सद्भाव के उद्देश्य से हिन्दू मुस्लिम महात्माओं, सन्तो तथा फकीरो का सत्सग किया। सर्वप्रथम उत्तर भारत मे जाकर उन्होंने पजाबी मिश्रित हिन्दी मे अपने उपदेश दिये। इस धर्मयात्रा मे उनके साथ उनका आत्मीय शिष्य मर्दाना ने तीन तारो वाला बाजा लेकर नानकदेव की वाणियो के भजन गा गाकर जनता को उद्बोधित किया। उनका यह शिष्य उनकी सेवा मे निरत रहता था और मधुर एव विमुग्धकारी, हृदयाकर्षक वाणी मे नानकदेव के उपदेशो को जन मानस मे पहुँचाता रहा। वह स्वय स्वभाव से सन्त एव महात्मा था।

ग्रन्थ रचना

नानक सन्त, साधक एव सिद्ध पुरुष होने के साथ-साथ तत्ववेत्ता विद्वान् भी थे। पजाबी के अतिरिक्त सस्कृत, फारसी और हिन्दी आदि भाषाओ तथा उनमे रचित सत्साहित्य का उन्हे मौलिक ज्ञान था। अन्य धर्माचार्यों की भाँति उन्होंने सम्प्रदाय के आचार विचारो पर किसी ग्रन्थविशेष का निर्माण नही किया। उन्होने 'उपजी' नाम से एक भजन-सग्रह तैयार किया और उन्ही का स्थान स्थान पर जाकर भजन कीर्तन करने लगे। उनके भजनो मे सरलता एव सुगमता थी। उनकी भाषा लोकप्रचलित भाषा थी। इसलिए समाज ने उनकी वाणी को सहज ही हृदयगम किया और बहुसख्यक लोग उनके अनुयायी हो गये।

'उपजी' के अतिरिक्त नानकदेव द्वारा विरचित दो सस्कृत-ग्रन्थो का विद्वानो ने उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं—'निराकार मीमासा' और 'अद्भुत गीता'। इन दोनो ग्रन्थो के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि उनके रचयिता नानकदेव हो थे। ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से कम, किन्तु एक उपदेशक, सत्यान्वेषी और मानव उपकारक की दृष्टि से नानकदेव का अधिक महत्त्व है।

सिद्धान्त निरूपण

नानकदेव ने समय समय पर अपने उपदेशो मे जो उद्गार प्रकट किये, वे ही उनके सिद्धान्त हैं। उन्होंने न तो किसी से दीक्षा ग्रहण की और न

विधिवत् शास्त्रों का अध्ययन ही किया। अपने स्वतंत्र चिन्तन से उन्हें जो आध्यात्मिक अनुभूति हुई, और साथ ही समाज के जीवन-दर्शन का उन्होंने जिस रूप में अध्ययन किया, उसी के अनुरूप अपने विचारों को प्रस्तुत किया। उन्होंने दर्शन, सिद्धान्त तथा आचार आदि विषयों पर ग्रन्थ के रूप में कुछ नहीं लिखा।

नानकदेव ने यह प्रचारित किया कि धर्म के नाम पर तथा जाति एवं वर्ण के नाम पर ऊँच-नीच, छोटे-बड़े के आधार पर समाज में जो विषमता व्याप्त है, वह पाखण्ड एवं आत्मछलना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मूर्तिपूजा यज्ञ, हवन सब व्यर्थ है। उन्होंने नैतिक जीवन बिताने पर बल दिया और गृहस्थ जीवन को सन्यास से उत्तम बताया।

गुरु नानक ने आत्मशुद्धि को जीवन का सर्वोपरि कर्तव्य माना है। उन्होंने बताया है कि सत्यवादिता का व्यवहार करना और ज्ञान को उजागर करना, मांस-मदिरा आदि दुर्व्यसनों का त्याग करना, गुरु-आदेश का पालन करना और धारणा-ध्यान-समाधि में अभ्यास रखना, इन आचारों से आत्मशुद्धि होती है। शुद्ध, अर्थात् निर्मल आत्मा को सहज ही ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है। उदारता, शान्ति, अहिंसा, परोपकार, इन शाश्वत सद्गुणों के आचरण से जीवन को उन्नत किया जा सकता है। चित्तशुद्धि के लिए उन्होंने मिताहार और उपवास को अपनाने पर बल दिया है।

यह काया ही गोविन्द का मन्दिर है, इसकी शुद्धता से उस परात्पर के दर्शन किये जा सकते हैं। ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए सत्कार्य, सदाचार, त्याग, वैराग्य और पवित्रता की आवश्यकता है। ऐसे सदाचरणों से आत्मा में निर्मलता आती है। इस प्रकार का पवित्र जीवन बिताने वाला मनुष्य ही वास्तविक ज्ञानी है। उन्होंने गुरुवाणी को उत्तम साधन बताया है और गुरुवाणी को ही वेदवाक्य माना है।

गुरु नानक ने अपने उपदेशों में बताया है कि ईश्वर एक है, शाश्वत, अनन्त और अनादि है। उसको प्राप्त करने के रास्ते भले ही अलग-अलग है, किन्तु सबका लक्ष्य एक ही है। उन्होंने अद्वैत-वेदान्त के मतानुसार माया को भ्रमजनित भ्रान्ति बताया है और ईश्वर को प्राप्त करने के लिए माया पर विजय प्राप्त करने का निर्देश दिया है। एकमेव ईश्वर में आत्मा को विलय कर देना ही उनकी दृष्टि से, उपासक का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

'गुरुग्रन्थ साहिब' का आरम्भिक प्रकरण 'जपजी' नाम से है। उसकी प्रथम वाणी इस प्रकार है—'ईश्वर एक है, उसका नाम सत्य है। वह कर्ता है और भय तथा द्वेष से अतीत है। वह असीम, अपार, अजन्मा, निराकार

और स्वयम्भू है। गुरु कृपा ही ईश्वर प्राप्ति का साधन है। वह सृष्टि से पूर्व था और युगारम्भ से पहले। वह इस समय भी वर्तमान है और नानक कहते हैं, वह सब कालो मे वर्तमान रहेगा।'

नानकदेव की गुरुता एव महानता उनके उन उपदेशो मे देखने को मिलती है, जिनमे उन्होंने अपने पापो को स्वीकार किया है और स्वय को लघुमानव बताया गया है। भगवान् को उन्होने एकमात्र उद्धारकर्ता बताया है। उन्होंने स्वय को ईश्वर का अवतार बताने का मिथ्यावाद प्रकट नही किया है। नानकदेव ने इस प्रकार के सार्वभौम मानव हितकारी सिद्धान्तो के समन्वय से जिस स्वतत्र पन्थ का प्रवर्तन किया, उसे ही 'नानक पन्थ' या 'सिक्ख धर्म' या 'सिक्ख पन्थ' के नाम से कहा जाता है।

इस प्रकार नानकदेव ने आजीवन सत्तनाम की महिमा का व्याख्यान करते हुए, मानवता की सेवा मे स्वय को समर्पित किया। वे ७० वर्ष की आयु बिताकर १५३९ वि० (१५९६ ई०) मे परमधाम को सिधारे।

नानक पन्थ

नानकदेव ने जिस धार्मिक पन्थ का प्रवर्तन किया, उसका नामकरण किया 'नानक पन्थ'। उनके अनुयायी 'नानक पन्थी' कहलाये। ये नानक पन्थी स्वय को सनातनी हिन्दू कहते थे और इस पन्थ मे हिन्दू सिक्ख, दोनो समान रूप से सम्मिलित थे। सिक्ख मत के जन्मदाता दसवें गुरु गोविन्द-सिंह हुए। उन्होने नानकदेव द्वारा सस्थापित नानक पन्थ के समन्वयात्मक एव उदार सिद्धान्तो को एक जातिविशेष मे सीमित कर उसे सिक्ख धर्म या सिक्ख सम्प्रदाय नाम दिया। तब से वह धर्मशाखा अन्य जाति-वर्गों से अलग होकर केवल सिक्खो के नाम मे ही रूढ हो गई।

परम्परा का प्रवर्तन

गुरु नानक के बाद सिक्ख धर्म के प्रवर्तक दस गुरु हुए, जिन्होने नानकदेव की मानवकल्याणकारी शिक्षाओं का अधिक प्रभावशाली ढग से प्रचार-प्रसार किया और हिन्दू समाज के भयभीत एव आतंकित मनो को शान्ति एव धैर्य प्रदान किया। गुरु नानक के बाद उनकी परम्परा को क्रमश गुरु अगददेव, गुरु अमरदास, गुरु रामदास और गुरु अर्जुनदेव ने आगे बढाया।

गुरु नानकदेव का मत था कि परम्परा की गद्दी का उत्तराधिकार सुयोग्य व्यक्ति को ही सौंपा जाये। इसलिए उन्होने अपना उत्तराधिकारी अपने पुत्रों श्रीचन्द तथा लक्ष्मीदास को न बनाकर अपने सुयोग्य शिष्य अगददेव को बनाया। अपने जीवन-काल मे ही, शरीर त्यागने से पूर्व ही, उन्होने अगददेव

को गुरु-गद्दी का उत्तराधिकार सौंप दिया था और उन्हें यह आदेश दिया था कि वे निष्ठापूर्वक नियमों का पालन करते हुए धर्म-मार्ग को प्रवर्तित करें। गुरु नानक ने गद्दी के उत्तराधिकार को योग्यता के आधार पर स्थित किया था, किन्तु गुरु अर्जुनदेव के समय से यह उत्तराधिकार पैतृक-परम्परा बन गई।

सिक्ख सम्प्रदाय के दूसरे गुरु, अगददेव के उत्तराधिकारी नियुक्त होने पर उन्होंने धर्म की बागडोर को बड़ी योग्यता से सँभाले रखा। उनके जीवनकाल के दो उल्लेखनीय कार्य हैं। उन्होंने उत्तराधिकार सँभालते ही सर्वप्रथम कार्य यह किया कि गुरु नानक के जो उपदेश और शिक्षाएँ अब तक उनके अनुयायियों की वाणी में सुरक्षित थे, जो केवल मौखिक रूप में प्रचलित थे, उन्हें सकलित किया और एक ग्रन्थ के रूप में निबद्ध किया। *समस्त वाणियों को लिपिबद्ध करके उन्हें सुरक्षित किया। उनके जीवन-काल* का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है अमृतसर में गुरुद्वारे का निर्माण करना। यह विशाल स्वर्ण मन्दिर आज भी समस्त सिक्ख धर्मानुयायियों का सर्वोच्च तीर्थ माना जाता है और उसके भव्य, विशाल एव दर्शनीय स्वरूप में गुरु अगददेव की पुण्य-स्मृति अब तक जीवित है।

सिक्ख गुरुओं की इस परम्परा में उनके पाँचवें गुरु अर्जुनदेव का नाम उल्लेखनीय है। उनके जीवन-काल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव अविस्मरणीय कार्य था गुरु 'ग्रन्थ साहिब' का सकलन। गुरु अर्जुनदेव ने एक ओर तो धर्म की बागडोर को योग्यतापूर्वक सँभाले रखा और दूसरी ओर अपने पूर्ववर्ती चारों सिक्ख गुरुओं की तथा अन्यान्य सन्त पुरुषों की सद्वाणियों का सकलन कर 'गुरु ग्रन्थ साहिब' का निर्माण किया। उन्होंने पन्थ या सम्प्रदाय की स्थिरता एव व्यापकता की दृष्टि से रखकर एक सर्वमान्य ग्रन्थ को प्रस्तुत किया, जो कि आज भी उसी रूप में मोहनीय है।

इसी बीच ऐसा कुसयोग हुआ कि चन्दूशाह और स्वय गुरु अर्जुनदेव का भाई उनके घोर विरोधी बन गये। वे गुरु साहिब की आलोचना करने लगे। उन्होंने तत्कालीन शाहशाह अकबर तक उनकी निन्दा की और जिस ग्रन्थ का उन्होंने सकलन किया था, उसके विषय में शाहशाह से शिकायत की। उनकी शिकायत पर शाहशाह ने 'ग्रन्थ साहिब' को मँगाया और उसे स्वय सुना। सहिष्णु प्रकृति के शाहशाह अकबर ने जब उन वाणियों को सुना तो वे बड़े प्रभावित हुए। वे गुरु अर्जुनदेव के दर्शन के लिए अमृतसर गये और उन्होंने गुरुदेव के मुँह से श्रद्धापूर्वक उन वाणियों का श्रवण किया।

शाहशाह अकबर के समय सिक्ख धर्म अपना विकास करता रहा। किन्तु उनके बाद शाहशाह जहाँगीर के उत्तराधिकारी होने पर बड़ा व्यवधान उत्पन्न हुआ। उसका एक कारण तो यह था कि सिक्ख पन्थ के भीतर ही ऐसे तत्त्व उभरने लगे थे, जो अपनी अस्तित्वरक्षा के लिए विधर्मी सल्तनत से जा मिले थे। दूसरा कारण यह था कि सिक्ख धर्म के बढते हुए प्रभाव को देखकर मुगल शाहशाह जहाँगीर चिन्तित होने लगा। सिक्खो के बढते हुए प्रभाव और उनके शक्तिशाली सगठन की वस्तुस्थिति को देखकर उसको ध्वस्त तथा क्षीण करने के उद्देश्य से सिक्ख गुरुओ को उत्पीडित किया जाने लगा। शाहशाह को प्रभावित कर चन्दूशाह जैसे घर भेदियो ने गुरु अर्जुनदेव को मरवा डाला। सिक्ख पन्थ के लिए यह एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी।

गुरु अर्जुनदेव के बाद उनका पुत्र गुरु हरगोविन्द सिंह गद्दी पर बैठे। उन्होने धर्म के आसन्न सकट को दृष्टि मे रखकर सिक्ख समुदाय को पुनर्गठित किया। उन्हें शस्त्र धारण की आज्ञा दी। उन्ही के कार्यकाल मे प्रत्येक सिक्ख के लिए पचककारात्मक पाँच चिह्नो को धारण करने का धर्मादेश हुआ। वे थे—केश, कघी, कृपाण, कडा और कच्छ। ये ऐसे प्रतीक चिह्न थे, जिनका अपना गभीर आशय था और जिनका शक्ति से पालन करने के कारण सिक्ख धर्म सकट के समय अपनी रक्षा करने मे समर्थ हो सका।

गुरु हरगोविन्द सिंह ने सुरक्षात्मक सैनिक दृष्टि से अमृतसर मे लोहगढ किला बनवाया। जिस समय गुरु साहिब ग्वालियर मे थे, चन्दूशाह आदि विरोधियो ने शाहशाह जहाँगीर से उन्हे बन्दी बना लिया। किन्तु मुसलमान साधुओ एव फकीरो के कहने पर शाहशाह ने उन्हे कुछ समय बाद मुक्त कर दिया। धर्मप्राण मुस्लिम महात्माओ के कहने पर शाहशाह ने बन्दी बनाये गये अनेक हिन्दू राजाओ, कवियो तथा पण्डितो को भी मुक्त कर दिया।

गुरु हरगोविन्द सिंह ने आजीवन सगठन को सशक्त बनाये रखा और सम्प्रदाय के प्रति एकनिष्ठ बने रहने के उपरान्त ३ मार्च, १६४४ ई० को उन्होंने शरीर त्याग किया। उनके बाद गुरु हरिराय उत्तराधिकारी बने।

गुरु हरिराय के समय मुगल सल्तनत का उत्तराधिकारी शाहशाह शाहजहाँ था। उसके शासन काल मे मुगल सेना के साथ सिक्खो का तीन बार युद्ध हुआ और तीनो बार सिक्खों की विजय हुई। गुरु हरिराय ने अपने कार्यकाल के लगभग सोल्ह-सत्रह वर्ष निरन्तर सघर्षों मे व्यतीत किये। ६ अक्टूबर, १६६१ ई० मे उनका निधन हुआ और उनके स्थान पर उनके कनिष्ठ पुत्र हरिकृष्ण आठवें गुरु नियुक्त हुए। उनके लगभग ढाई वर्ष गद्दी सँभालने के बाद गुरु तेगबहादुर नवें उत्तराधिकारी बने।

गुरु तेगबहादुर के समय मुगल सल्तनत का उत्तराधिकारी शाहशाह औरंगजेब तख्त का स्वामी बना। उसके अत्याचारों से हिन्दू धर्म का अस्तित्व डोलने लगा था। उसने निर्ममता से हिन्दुओं के देवस्थानों तथा स्मारकों का ध्वंस करवाया और हिन्दुओं को बलात् धर्म-परिवर्तन के लिए विवश किया। देश में व्याप्त भय एवं आतंक से रक्षा करने के उद्देश्य से गुरु साहब ने असम तथा काश्मीर की यात्राएँ कीं। उन्हें भी धर्म-परिवर्तन के लिए कहा गया। उन्हें दिल्ली बुलाया गया। प्रलोभन तथा भय की बातें कही गयीं। किन्तु उन्होंने धर्म-परिवर्तन करने से साफ इन्कार कर दिया। ११ नवम्बर, १६७५ ई० को उनकी हत्या करवा दी गई।

उक्त दोनों गुरुओं के बलिदानों से सिक्ख धर्मानुयायियों में विद्वेष तथा क्रान्ति की भावना व्याप्त हो गई। जिस समय गुरु तेगबहादुर की हत्या की गई, उस समय उनके पुत्र गुरु गोविन्द सिंह की उम्र केवल नौ वर्ष की थी। इसी अवस्था में उन्हें दसवाँ गुरु बनाया गया। उन्होंने संगठन को सशक्त बनाया और पन्थ के परम्परागत नियमों में भी परिवर्तन किया। उन्होंने गुरु नानकदेव के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को पुनर्जीवित किया और अन्याय धर्मों, विशेष रूप से हिन्दू धर्म और हिन्दुओं के देवालयों के प्रति निष्ठा तथा श्रद्धा रखने का नियम बनाया। उसका कारण यह था कि शाहशाह औरंगजेब का हिन्दुओं के प्रति भी उतना ही कट्टर रवैया था, जितना कि सिक्खों के प्रति।

गुरु गोविन्द सिंह को भी विधर्मी मुगल सल्तनत के घोर अत्याचारों का सामना करना पड़ा। उनके दोनों बालकों को जीवित ही दफ़ना दिया गया। अमानवीयता का यह अनूठा उदाहरण था। किन्तु गुरु साहब अपने मार्ग से विचलित नहीं हुए। उनके महान् त्याग को सिक्ख धर्म के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा गया है।

अपने देह-त्याग के कुछ समय पूर्व उन्होंने यह नियम घोषित कर दिया था कि मेरे बाद कोई भी व्यक्ति गुरुपद प्राप्त नहीं करेगा, केवल 'गुरुवाणी' (गुरु ग्रन्थ साहिब) ही गुरुपद के रूप में मान्य होगी। इस प्रकार तब से गुरुपद पर 'गुरु ग्रन्थ साहिब' को ही मान्यता प्राप्त है, जो आज तक उसी रूप में बनी हुई है।

विभिन्न धर्म शाखाओं का उदय

गुरु गोविन्द सिंह के बाद सिक्ख पन्थ अनेक शाखाओं में विभाजित हुआ। सर्वप्रथम उसकी दो शाखाएँ हुईं—सहजधारी और सिंह। सहजधारी

कोई प्रतीक या चिह्न धारण नहीं करते हैं। इस पन्थ का विकास ५ उपशाखाओं में हुआ, जिनके नाम हैं—१. नानकपन्थी, २. उदासी, ३. हन्दाली, ४. मीन, ५ रामरज और ६ सेवापन्थी। इसी प्रकार सिहपन्थ की भी तीन उपशाखाएँ हुईं, जिनके नाम हैं—१. खालसा, २ निर्मल और ३. अकाली। इनके अतिरिक्त कृपापन्थ, गाँजाभक्षीपन्थ, सुथीशाहीपन्थ और रामरायीयपन्थ आदि अन्य उपशाखाएँ भी हुईं। किन्तु अपनी समृद्ध एव स्वतन्त्र परम्परा बनाने मे कुछ को छोडकर प्राय सभी असफल ही रही।

इन सब धार्मिक शाखा-उपशाखाओ के अनुयायियो के आचारो में सामान्य असमानता हो सकती है। किन्तु विचारो मे गुरु नानक द्वारा निर्दिष्ट उपदेशो एव नियमो की एकता सभी को मान्य है। उक्त प्रमुख नौ शाखाएँ भजन तथा आराधना की दृष्टि से 'पंचग्रन्थी' हैं। पचग्रन्थी के अन्तर्गत प्रार्थना के पाँच प्रकार हैं, जिनके नाम हैं—'जपजी', 'रहरास', 'सोहिला', 'सुखमनी' और 'आसा दीवार'।

नानकपन्थी

वर्तमान सिक्ख समुदाय की 'नानकपन्थी' सर्वप्रथम धर्म शाखा है, जिसका नामकरण स्वय गुरु नानक ने किया था। नानकपन्थी एक उदार उपशाखा है, जिसमे सनातनी हिन्दुओ के आचारो को मान्यता दी गई थी। नानकदेव स्वय को सनातनी हिन्दू कहते थे। उनके इन उदार एव सहिष्णु विचारो के कारण उनके पन्थ मे हिन्दू और सिक्ख समान रूप से सम्मिलित थे और उनका पारस्परिक सामजस्य था। उन्होने अपने पन्थ को किसी प्रकार की जातिविशेष की सीमाओ मे नहीं बाँधा।

उदासीपन्थ (नानकपुत्रा)

इस पन्थ के जन्मदाता गुरु नानकदेव के पुत्र श्रीचन्द थे। उन्होने १४३९ ई० मे अपने इस नये पन्थ की स्थापना की थी। स्मरणीय है कि गुरु नानकदव ने अपना उत्तराधिकार अपने दोनो पुत्रो म से किसी को भी न देकर अपन शिष्य अगददेव को दिया था। श्रीचन्द ने अपना अलग ही पन्थ चलाया। इस पन्थ के अनुयायियों को 'नानकसाही' या 'नानकपुत्रा' भी कहा जाता है। 'नानकपुत्रा' अर्थात् गुरु नानक के आदर्शो के अनुरूप उनके पुत्रा द्वारा सस्थापित पन्थ।

इस उदासी पन्थ के अनुयायी लोक-सम्पर्क की अपेक्षा वैराग्य तथा एकान्त साधना पर अधिक परिनिष्ठित थे। वे स्वय को सिक्ख धर्म से अलग ही परिगणित करते थे। इस पन्थ के सिद्धान्त 'खाल्सा पन्थ' स भिन्न हैं। खाल्सा

पन्थ की भाँति उदासी पन्थ के भी अपने स्वतन्त्र मठ हैं। वहाँ 'गुरु ग्रन्थ साहिब' के साथ-साथ हिन्दू देवताओं की भी पूजा-प्रतिष्ठा होती है। यहाँ की गद्दियों के उत्तराधिकारी महन्थ होते हैं, जिनमें पैतृक परम्परा नहीं है। वे त्यागमय जीवन धारण करते हैं और स्वयं को सिक्ख सम्प्रदाय में नहीं मानते हैं। श्रीचन्द के बाद इस पन्थ के इतिहास का कुछ भी पता नहीं चलता है।

मीन पन्थ

महन्तधारियों की कतिपय अन्य उपशाखाओं की भाँति 'मीन पन्थ' के सम्बन्ध में भी इससे अधिक कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है कि उसके संस्थापक गुरु रामदास के पुत्र पृथ्वीचन्द हुए। उन्होंने १७३८ ई० में इस पन्थ की स्थापना की थी। इस पन्थ का प्रवर्तन आगे किस रूप में हुआ इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

खालसा पन्थ

'सिंह' या 'सिंघ' शाखा' की उपशाखा 'खालसा पन्थ' के संस्थापक स्वयं गुरु गोविन्द सिंह थे। उन्होंने सामयिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर बैशाख प्रतिपदा १७५६ वि० को खालसा पन्थ' के नाम से एक नये संगठन को जन्म दिया। इस संगठन को उन्होंने शक्तिशाली रूप देने के साथ-साथ उदार भी बनाया। उन्होंने 'नानक पन्थ' की भाँति अपने पन्थ के अनुयायियों को यह निर्देश दिया कि वे 'गुरु ग्रन्थ साहिब' की भाँति हिन्दू देवालयों तथा देवताओं के प्रति अपना समान श्रद्धाभाव रखें। उन्होंने अन्य धर्मों के लोगों को भी इस पन्थ में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। पन्थ के नियमों में भी परिवर्तन किया। उन्हें सरल एवं सर्वोपयोगी बनाया।

'खालसा पन्थ' एक क्रान्तिकारी विद्रोही भावना को लेकर आगे बढा। गुरु गोविन्द सिंह और उनके अनुयायियों के साथ मुगल शासक औरंगजेब ने जो अमानवीय व्यवहार किया, उसका बदला लेने के उद्देश्य से गुरु गोविन्द सिंह ने संगठन की कार्य-पद्धति को नया रूप दिया। धर्मरक्षा के लिए अपने दोनों पुत्रों को जीवित दफनाये जाने का महान् त्याग उन्होंने किया। इन घटनाओं से सिक्ख धर्मानुयायी मुसलमानों के विद्रोही बन गये और उन पर जितने भी अत्याचार तथा अन्याय हुए, खालसा पन्थ उतनी ही द्विगुणित शक्ति से ऊपर उभरता एवं फैलता गया।

गुरु साहिब के बाद 'खालसा पन्थ' का भावी स्वरूप क्या रहा, इसका क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है, किन्तु आज भी वह अपना स्वतन्त्र स्थान बनाये हुए है। वह अपनी नैतिकताओं तथा मर्यादाओं पर अडिग है।

निर्मल पन्थ

इस पन्थ के संस्थापक सन्त वीर सिंह हुए। उन्होंने १७४७ वि० मे इस धर्म-पन्थ की स्थापना की। यह विरक्त सन्यासियो की एक शाखा है, जिसके अपने स्वतत्र मठ तथा महन्थ हैं। निर्मल सन्यासियो के अखाड़े प्रसिद्ध हैं। अपनी कर्मठता एव परिनिष्ठित जीवन-पद्धति से उन्होंने अपने वर्ग को अधिक स्थिरता प्रदान की। निर्मल पन्थ, सिक्खो का समृद्ध एव शक्तिशाली सगठन के रूप मे आज भी अपने अस्तित्व को बनाये हुए है।

अकाली पन्थ

सिंह शाखा की 'अकाली' उपशाखा सिक्ख धर्म के इतिहास मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस पन्थ के प्रवर्तक मानसिंह थे। किन्तु इस पन्थ की स्थापना उनसे पूर्व १६९० ई० के लगभग हो चुकी थी। यह पन्थ, सिक्खो के अन्य पन्थो से अपनी कुछ भिन्नता रखता है। यह सैनिक साधुओ के एक सगठन के रूप मे उभरा। इस सगठन के प्रेरणा-स्रोत स्वय गुरु गोविन्द सिंह थे। उनके बाद उसको सुदृढ तथा सगठित स्वरूप मानसिंह ने दिया और उसे सशक्त रूप मे आगे बढाया। अकाली स्वय को 'निहग' कहते हैं, जिसका अर्थ है 'नि:सग'। वे आसक्तिरहित या सगरहित हैं।

इस तेजस्वी एव शक्तिशाली सगठन के शौर्य एव पराक्रम के इतिहास मे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। १८१८ ई० मे अकालियो के शक्तिशाली एव युद्धकुशल सगठन ने मुलतान पर घेरा डाल दिया था और उसको अपने अधिकार में कर लिया था। मानसिंह के बाद फूलसिंह ने इस सगठन का सचालन किया। उसने लार्ड मेट्काफ के अगरक्षको पर हमला बोल दिया था। जब फूलसिंह ने महाराज रणजीत सिंह के शौर्य का समाचार सुना और उन पर उपस्थित सकट की बातें सुनीं तो वह अपने सगठन के साथ महाराज रणजीत सिंह की सेवा मे उपस्थित हो गया। उसने १८२३ ई० मे पठान यूसुफजइयो पर आक्रमण करके रणजीत सिंह को विजय दिलाई थी। इसी युद्ध मे फूलसिंह ने वीरगति प्राप्त की थी। नौशेरा मे स्थापित उनका स्मारक आज भी उनके शौर्य का स्मरण दिलाता है और हिन्दू तथा मुसलमान, दोनो धर्मों के तीर्थयात्री जिसको श्रद्धा-निष्ठा का पवित्र स्थल मानते हैं।

अकाली पन्थ आज भी अपनी उन्नत परम्परा को बनाये हुए है। इस पन्थ का प्रमुख सिंहासन अमृतसर के अकालबुगा मे स्थित है। महाराज रणजीत सिंह के समय प्रधान सिंहासन आनन्दपुर मे था। अकालियो के

धार्मिक नीति निर्देश अब भी आनन्दपुर या अकालबुगा सिंहासन से संचालित होते हैं।

आचार विचार की दृष्टि से अकालिया की अपनी अलग परम्परा है। वे मास मदिरा का सेवन नहीं करते हैं। वे जिसको गुरुरूप में वरण करते हैं, उसकी आज्ञाओं का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं। अकाली पन्थ के अनुयायी प्राय धारीदार पोशाक धारण करते हैं, कलाई पर लोहे का कड़ा, शिर पर ऊँची तिकोनी नीली पगड़ी, और तेज धारवाला लोहचक्र, कटार, छुरी तथा लोहे की जंजीर धारण करते हैं। अकाली अपना सम्बन्ध अकाल पुरुष (अनादि-अनन्त-अद्वैत ब्रह्म) से स्थापित करते हैं।

प्रमुख तीर्थ

सिक्ख सम्प्रदाय का सर्वमान्य प्रथम तीर्थ गुरु नानक का जन्म-स्थान नानकाना साहेब है, जो कि शेखूपुरा में है। इसके अतिरिक्त अमृतसर का स्वर्ण-मन्दिर, खालसा पन्थ का जन्म-स्थान आनन्दपुर, गुरुगोविन्द सिंह का जन्म-स्थान पटना सिटी, गुरु गोविन्द सिंह का निधन-स्थान हजौरी साहेब (जिला नादेर, दक्षिण हैदराबाद) आदि सिक्खों के धार्मिक तीर्थ हैं।

उनके प्रमुख तीर्थों में पंजा साहेब का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह स्थान पेशावर मार्ग पर तक्षशिला से एक स्टेशन आगे हसन अब्दाल नामक स्थान से दो मील दक्षिण में स्थित है। इस तीर्थस्थल के सम्बन्ध में एक परम्परागत अनुश्रुति ऐसी है कि किसी समय वली कन्धारी नामक एक फकीर ने तपोबल से आस-पास का सारा जल पहाड़ के ऊपर खींचकर अपने अधिकार में कर लिया था, जिससे जन-सामान्य को जलाभाव के कारण बड़ा कष्ट अनुभव हो रहा था। गुरु नानक ने जब इस जन-पीडा का समाचार सुना तो उन्होंने अपनी शक्ति से पर्वत पर केन्द्रित सारा जल नीचे खींच लिया। इस पर फकीर ने जल के अवरोध के लिए एक पर्वत-खण्ड नीचे गिरा दिया, किन्तु गुरुनानक ने उस पर्वत-खण्ड को अपने पंजे पर ऊपर ही रोक लिया।

गुरु नानक के हाथ के पंजे का निशान आज भी उक्त तीर्थ में विद्यमान है और इस कारण इस तीर्थ का नामकरण 'पंजा साहेब' के नाम से प्रचलित हुआ। प्रति वर्ष वैशाखी प्रतिपदा को यहाँ विशाल मेला लगता है, जिसमें सिक्ख समुदाय के लोग बड़ी संख्या में सम्मिलित होते हैं।

इन तीर्थों के अतिरिक्त भारत तथा विदेशों में निर्मित गुरुद्वारे सिक्खों के पवित्र धार्मिक स्थल हैं।

ग्रन्थ साहित्य

सिक्खों के धार्मिक सम्प्रदाय पर यद्यपि कम साहित्य लिखा गया, तथापि उनके कुछ विशिष्ट ग्रन्थ हैं, जो उनके धार्मिक सर्वस्व माने जाते हैं। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' सिक्ख-समुदाय का सर्वोच्च धार्मिक ग्रन्थ है, जिसकी पूजा-प्रतिष्ठा गुरुमूर्ति की भाँति होती है। इसमें सिक्खों के दस गुरुओं की वाणियाँ तथा कबीर, नामदेव, रविदास, मीरा और तुलसी आदि हिन्दी भक्त-कवियों के पद संकलित हैं। यह ग्रन्थ गुरुमुखी लिपि में है। इसका अखण्ड पाठ सिक्ख-समुदाय में बहुप्रचलित है।

इसके अतिरिक्त 'जनमसाखी', 'जप साहिब', तथा 'जपजी' सिक्खों की प्रसिद्ध धार्मिक पुस्तकें हैं। 'जपजी' उनका नियमित पाठ का ग्रन्थ है। इसमें पद तथा भजन संकलित हैं। इसे गुरु अर्जुन सिंह ने संकलित किया था। सिक्खों के पाँच प्रार्थना पुस्तकों में से यह एक है। उसके भजन प्रातःकालीन प्रार्थना में उच्चरित होते हैं। शेष चार प्रार्थना-पुस्तकों के नाम हैं— रहरास', 'सोहिला', 'सुखमनी', और 'आसा दीवार'।

गुरु गोविन्द सिंह की निष्ठा हिन्दू धर्म के प्रति आजन्म बनी रही। अपने नये खालसा पन्थ की स्थापना से पूर्व उन्होंने दुर्गा की स्तुति की थी। 'मार्कण्डेय पुराण' के अन्तर्गत समाविष्ट 'दुर्गा सप्तशती' का उन्होंने अपने हिन्दू विद्वानों से पंजाबी में अनुवाद करवाया था। खालसा पन्थ के अनुयायी इस ग्रन्थ को वरणीय मानते हैं। 'दुर्गा सप्तशती' में शक्ति के परात्पर अजेय स्वरूप का वर्णन है, जिसने आतंककारी उत्पीड़क दानव जाति का संहार किया था।

गुरु गोविन्द सिंह के शरीरान्त के बाद उनके अनुयायी शिष्य भाई मणि सिंह ने गुरु गोविन्द सिंह द्वारा अपने दरबारी कवियों, लेखकों तथा विद्वानों द्वारा तैयार कराये गये हिन्दी तथा फारसी की रचनाओं को एक जिल्द में संकलित किया। उसका नाम रखा—'दसवें गुरु का ग्रन्थ'। यद्यपि कट्टर पन्थी सिक्ख समुदाय इसे प्रामाणिक नहीं मानता, तथापि साहित्य की दृष्टि से उसके महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार भारतीय धर्म शाखाओं के इतिहास में सिक्ख धर्म की अपनी उपलब्धियाँ तथा विशेषताएँ रही हैं और उसने भारत की धर्मप्राण जनता की आकांक्षाओं की रक्षा के लिए सदा ही समर्पित होकर योगदान किया।

दादू पन्थ

भारत की धर्म और संस्कृति की सार्वभौम गरिमा को लोक-प्रचलित करने वाले सन्तो मे महात्मा दादू या दादूदयाल का नाम उल्लेखनीय है। कुछ विद्वानो का अभिमत है कि उनका वास्तविक नाम क्या था, यह विदित नही है। दादू या दादूदयाल उनके गुणो का पर्यायवाची नाम है। समाज मे आदरणीय होने के कारण उन्हे 'दादू-दादू' कहा जाने लगा और दयामय शान्त स्वभाव होने के कारण उसके आगे 'दयाल' जोड दिया गया। इस प्रकार दादूदयाल उनका वास्तविक नाम था या आदरसूचक गुण-नाम था, इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप मे कुछ नही कहा जा सकता है। सन्त दादू के सम्बन्ध मे सम्प्रति जो जानकारी उपलब्ध हैं, वह उनके शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा कही गई बातो पर आधारित है।

कुछ विद्वानो का अभिमत है कि दादूदयाल का जन्म अहमदाबाद (गुजरात) मे हुआ था, तो अन्य विद्वानो का कहना है कि जौनपुर (उत्तर प्रदेश) अथवा नारायणा (राजस्थान) के मूल निवासी थे। इन तीनो मे अधिक उपयुक्त यह जान पडता है कि वे नारायणा या नराणे मे पैदा हुए थे। आज भी वहाँ एक दादूद्वार (मठ) मे उनकी चरण-पादुकाएँ तथा वस्त्र रखे हुए हैं, जिनकी आज भी पूजा-प्रतिष्ठा होती है। नारायणा, जयपुर से लगभग ४० मील की दूरी पर है। उनका जन्म १६०१ वि० (१५४४ ई०) और निधन १६६० वि० (१६०२ ई०) को हुआ था। उनके ग्रन्थो तथा शिष्य-प्रशिष्यो के उल्लेखानुसार ये तिथियाँ असन्दिग्ध हैं।

सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे उन्हे सारस्वत ब्राह्मण कहा गया हैं, किन्तु अन्यान्य उपलब्ध सामग्री से विदित है कि वे 'धुनियाँ' (कोरी) जाति के थे। कतिपय विद्वान् उन्हे मोची बताते है। उनके पिता का नाम लोधी या लोधीराम था, जो कि सभवत एक सौदागर (व्यापारी) थे। उनके दो पुत्र तथा दो कन्याएँ हुई। पुत्रो के नाम थे गरीबदास तथा मिस्कीदास और कन्याओ के नाम थे नानीबाई तथा मानाबाई।

उनके गुरु कौन थे, इस सम्बन्ध मे उन्होने स्वय कुछ नही कहा है। किन्तु ऐसा कहा जाता है कि जब उनकी आयु केवल ग्यारह वर्ष की थी, एक अज्ञातनाम साधु के प्रभाव एव ससर्ग से उनके मन मे भगवत्प्रेम का उदय हो चुका था। लगभग तीस वर्ष की आयु तक वे देशाटन, साधना तथा

साधु सन्तो की संगति मे रहे। तत्पश्चात् वे सांभर (राजस्थान) मे रहने लगे थे। वहाँ पर वे लगभग चौदह वर्षों तक रहे। इसी अवधि मे उनकी भेंट शाहशाह अकबर से हुई। सभवत ये १५८० ई० मे शाहशाह से मिले। उनका यह मिलन सीकरी मे हुआ था। शाहशाह उनके सन्त जीवन और धार्मिक सद्भाव से प्रभावित हुए थे। सांभर मे ही रहकर उन्होने अपनी अधिकतर वाणियो का सृजन किया था। यही पर उन्होने 'ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की थी, जो बाद मे 'दादू पन्थ' के नाम से प्रचलित हुआ। राजस्थान के अनेक नगरो मे उन्होने भ्रमण किया और अपने अनेक अनुयायी बनाये। ऐसा कहा जाता है कि सांभर के निकट नारायणा (नराणे) की एक गुफा मे रहते हुए उन्होने शरीर-त्याग किया था।

दादूदयाल अपने समय के प्रसिद्ध सन्त हुए। उनके प्रमुख बावन शिष्य थे, जिनमे निश्चलदास, गरीबदास, सुन्दरदास जगन्नाथदास और रज्जबदास आदि भक्तकवि तथा दार्शनिक उन्हीं के शिष्य थे। इन बावन शिष्यो में प्रत्येक ने एक एक मन्दिर (पूजा स्थान) बनाया था, जिन्हे 'दादूद्वार' कहा जाता है। इन मठो की स्थापना कर उन्होंने अपने अलग-अलग दादूपन्थी मतो का प्रचलन किया था। उन सबका मुख्य केन्द्र नारायण ही था। इन दादूद्वारो के उत्तराधिकारी एकमात्र साधु हुआ करते थे।

सन्त दादूदयाल के पश्चात् नारायणा की मुख्य गद्दी के उत्तराधिकारी उनके पुत्र एव शिष्य गरीबदास हुए। दादू के जीवन काल तक उनकी वाणियाँ प्राय मौखिक रूप मे विद्यमान रही। इन वाणियो का प्रथम सग्रह उनके शिष्य सन्तदास तथा जगन्नाथदास ने 'दादूवाणी' के नाम से किया। किन्तु उन्हें क्रमबद्ध रूप मे व्यवस्थित करने का श्रेय रज्जबदास को है। उन्होने उन वाणियो को 'अगवधू' के नाम से प्रचलित किया। उन्हे बाद मे 'दादूवाणी' के नाम से प्रकाशित किया गया।

परम्परा का प्रवर्तन

दादू के पश्चात् उनके शिष्य-प्रशिष्यो ने उनकी जन कल्याणकारी वाणियो का, उनके पन्थ का आगे प्रवर्तन किया। इस पन्थ के अनुयायियो की मुख्य दो श्रेणियाँ हैं—साधु और सेवक। साधु श्रेणी के सन्त ब्रह्मचारी और सेवक श्रेणी के गृहस्थ होते हैं। साधुओ की भी पाँच कोटियाँ हैं—उनके नाम हैं—१-खालसा, २. नागा, ३ उत्तराडी, ४. विरक्त और ५. खाकी। प्रथम कोटि के खालसा साधुओ का मूल नारायणा है, जो कि राजस्थान में अधिक होते हैं। नागा साधु एक प्रकार के सैनिक होते थे और जयपुर दरबार की सीमाओ की रक्षा

म तत्पर होते थ। दरबा. की ओर से उन्हे [illegible] था। ये नागा साधु सन्त सुन्दरदास की परम्परा मे हुए। उत्तराढी साधु सन्त बनवारीदास की परम्परा मे हुए, जिनका मूल-स्थान पजाब था। ये साधु विद्वान् तथा सिद्धहस्त वैद्य हुआ करते थे। विरक्त साधुओ का कोई एक स्थान नही होता था। वे भी विद्वान् होते थे और अध्ययन-अध्यापन एव शास्त्र-चिन्तन मे जीवन व्यतीत करते थे। अन्तिम खाकी साधु भस्मावलेपन करते थे और तप तथा साधना म एकान्त जीवन बिताते थे।

प्रथम तीन श्रेणी के साधु जो व्यवसाय चाहे, कर सकते थे। किन्तु 'विरक्त' तथा 'खाकी' साधुओ का कोई पेशा नही होता था और न वे द्रव्य छूते थे।

दादू पन्थी सन्तो मे निश्चलदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे कवि भी थे और प्रौढ दार्शनिक भी। उन्होने दादू पन्थ का अद्वैतवादी दार्शनिक मत का विस्तार से प्रतिपादन किया। इसी प्रकार सन्त रज्जबदास ने लोकप्रिय उपदेशात्मक भजनो को लिख कर दादू पन्थ का व्यापक प्रचार-प्रसार किया।

दादू पन्थ का अधिकतर साहित्य हस्तलेखो के रूप मे विभिन्न हस्तलेख-सग्रहो मे पडा हुआ है। अब तक उसका जितना साहित्य प्रकाश मे आया है, उसकी अपेक्षा कही अधिक वह अप्रकाशितावस्था मे है। यह साहित्य न केवल धार्मिक दृष्टि से, अपितु दार्शनिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

सिद्धान्त-निरूपण

सन्त दादूदयाल ने जिस भक्तिमार्ग की 'ब्रह्म सम्प्रदाय' के नाम से स्थापना की थी, उसको 'दादू पन्थ' के नाम से कहा गया। उनकी साधना-पद्धति सन्त कबीर के अनुरूप थी और इसीलिए 'दादू पन्थ' को 'कबीर पन्थ' की ही एक शाखा कहा जाता है। कबीर की अपेक्षा दादू ने अपनी वाणियो मे खण्डन-मण्डन की पद्धति न अपना कर सहजमार्ग का अनुसरण किया। उनकी साधना-पद्धति मे सगुण-निर्गुण का अद्भुत समन्वय है। इसलिए समाज मे सगुण निर्गुण की अनुयायी बहु-सख्यक जनता पर उसका व्यापक प्रभाव पडा। उन्होने भगवान् के प्रति एकान्तिक आत्मसमर्पण को अधिक बल दिया। भगवान् की सेवा और सुमिरण के द्वारा ही आत्मसमर्पण किया जा सकता है। उनके 'सबदो' मे ससार की नि सारता का मार्मिक वर्णन किया गया है। पवित्र जीवन बिताने और जन-मानस के प्रति करुणा, दया तथा उदारता का व्यवहार करना उनके उपदेशो की विशेषता है। उनके विचार सार्वभौम थे। सबके

प्रति समान भाव अपनाने में ही उन्होंने धार्मिक जीवन का सदुद्देश्य बताया है। उनकी वाणी में हिन्दू मुस्लिम एकता तथा सद्भाव स्थापित करनेवाली सार्वजनीन भावना विद्यमान है। यद्यपि कबीर आदि सन्तों ने भी जाति, वर्ण, धर्म की एकता पर बल दिया है, किन्तु दादू ने जिस सहज प्रेममय मार्ग का प्रवर्तन किया, वह उनके पन्थ एवं मत की विशेषता है।

इस प्रकार सन्त दादूदयाल ने जन सामान्य में धर्म की चेतना जाग्रत करके और समाज के सभी वर्णों में एकता की भावना स्थापित करने में जो योगदान किया, वह अविस्मरणीय है। उनकी वाणियों में माधुर्य के साथ-साथ सहजता और भक्ति के प्रेममय स्वरूप का हृदयग्राही वर्णन हुआ है और इसलिए आज भी समाज में उनकी उपादेयता पूर्ववत् बनी हुई है।



प्रणामी पन्थ

भारत मे उत्तर-मध्य युग के धार्मिक पन्यो मे 'प्रणामी पन्थ' का भी एक महत्त्वपूर्ण नाम है। विद्वानो ने इस मत या पन्थ को अनेक नामो से कहा है, यथा—प्रणामी, परनामी, परिणामी, निजानन्दी, धामी, मेहराज, नाकला, खिजडा और प्राणनाथी आदि। इस पन्थ को सैद्धान्तिक रूप देने और उसे जन-भावना के अनुरूप ग्राह्य बनाकर उसका प्रचार-प्रसार करने का श्रेय स्वामी प्राणनाथ को है। उस धर्मशाखा के प्रमुख केन्द्र नौतनपुरी (जामनगर), मागलपुरी (सूरत) और पन्ना (मध्यप्रदेश) रहे हैं। स्वामी प्राणनाथ के गुरु का नाम देवचन्द था और वस्तुत: प्रणामी पन्थ के सस्थापक भी वही थे।

सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे गुरु देवचन्द के शरीर धारण करने के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की अलौकिक धारणाएँ प्रकट की गई हैं (प्राणनाथ कुलज्जम-स्वरूप, प्रकाश प्र० ३७, चौ० ६१)। उनका जन्म १६५८ वि० को अमर-कोट गाँव (सूरत) मे हुआ था। जाति के वे कायस्थ थे। उनके पिता का नाम मत्तु मेहता तथा माता का नाम कुँवरबाई था। उनकी पत्नी का नाम लीलाबाई था।

बाल्यकाल मे ही देवचन्द के हृदय मे भक्ति का उदय हो चुका था और भगवत् प्राप्ति की उत्कट उत्कण्ठा से वे घर छोडकर देशाटन को निकल चुके थे। वे पहले कच्छ गये और वहाँ उन्होने प्रचलित धर्मपन्थो तथा धर्माचार्यों का सत्सग किया। किन्तु उनकी जिज्ञासा पूरी न हुई। वे सन्यासी बन गये और कुछ समय तक उन्होंने शास्त्रो का अध्ययन किया। तत्पश्चात् वे भुज तथा जामनगर के मन्दिरो मे गये। वहाँ जप-तप मे मन लगाने पर भी वे अपनी मानसिक उलझन का समाधान न कर पाये। उनके दीक्षा गुरु 'विष्णु सम्प्रदाय' के अनुयायी हरिदास थे। उन्ही से उन्होने श्रीकृष्ण की उपासना का उपदेश ग्रहण किया। उन्होंने विशेष रूप से 'भागवत' का अध्ययन किया और साथ ही अनेक शास्त्रो का तत्त्व ग्रहण किया। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे अपने नये नाम स्वामी निजानन्द से प्रसिद्ध हुए।

गुरु देवचन्द के प्रथम शिष्य गाग हुए, जिन्होने स्वामी प्राणनाथ को उनसे मिलाया। जामनगर मे १६७५ वि० को गुरु देवचन्द की भेंट स्वामी प्राणनाथ से हुई।

स्वामी प्राणनाथ विलक्षण प्रतिभा के सन्त थे। सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे उनकी जीवनी पर प्रकाश डाला गया है। इस सम्प्रदाय के लगभग सत्रह 'बीजक' ग्रन्थ हैं, जिनमे स्वामीजी का पद्यबद्ध जीवन चरित उल्लिखित है। इन 'बीजक' ग्रन्थो का अनुशीलन करने पर विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पन्ना (मध्यप्रदेश) मे उनका जन्म हुआ था। कुछ विद्वानो का अभिमत है कि वे काठियावाड (जामनगर) के मूल निवासी थे। स्वामीजी के शिष्य स्वामी लालदास ने उन्हें सौराष्ट्र (गुजरात) स्थित हालार जनपद के जामनगर नामक स्थान का मूल निवासी बताया है (बीजक, प्र० ११, चा० ३६)। जामनगर का एक नाम नूतनपुरी भी था। वर्तमान जामनगर के प्रणामी मन्दिर नौतनपुरी मे उनका जन्म धारण करना बताया जाता है। किन्तु इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। बीजको मे तरह-तरह की सामग्री बिखरी हुई है और उनके आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँच पाना दुस्तर कार्य है। डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने बीजक की सामग्री का विस्तार से विश्लेषण किया है और यह मन्तव्य व्यक्त किया है—स्वामी प्राणनाथ का जन्म जामनगर मे आश्विन शुक्ल १४, रविवार १६७५ वि० (७ अक्टूबर, १६१८ ई०) को हुआ था (हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १३३, डा० रामकुमार गुप्त हिन्दी साहित्य को गुजरात के सन्त कवियो की देन, पृ० ४१ आदि)।

लाल्यसीय ठक्कर (क्षत्रिय) परिवार मे स्वामी प्राणनाथ का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम केशवराय और माता का नाम धनबाई था। उनके पिता जामनगर के राजा सत्ताजी के दरबार से सम्बन्धित थे। सभवत उनके दीवान थे। जाम सत्ताजी का शासन-काल १५६९-१६०८ ई० (१६२५-१६६२ वि०) था। उनकी दो पत्नियाँ थी, जिसमे पहली पत्नी का नाम फूलबाई और दूसरी का नाम तेजबाई था।

स्वामीजी का पितृ प्रदत्त बाल नाम मिहिरराज या मेहराज था। 'मिहिर' यूनानी शब्द है, जिसका अर्थ सूर्य होता है। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थो मे, (यथा मुरलीदास धामी धर्म अभियान, पृ० १०) ज्योतिषियो की एक भविष्यवाणी के आधार पर कहा गया है कि बडा होकर बालक मिहिरराज सूर्य के समान ओजस्वी होगा। इस दृष्टि से उनके मिहिरराज नाम की सार्थकता सिद्ध होती है, क्योकि उनका भावी जीवन वस्तुत एक दिव्य ज्योति के समान प्रकाशित हुआ।

प्राणनाथजी के माता-पिता राधावल्लभ मत के थे। अत बाल्यकाल म ही उन पर धार्मिक वातावरण का प्रभाव पडा। बड़े होकर जाम सत्ताजी

के राज दरबार से भी सभवत उनका सम्बन्ध रहा। गुरु देवचन्दजी के सत्सग के कारण उनके मन मे त्याग तथा वैराग्य की भावना प्रबल होती गई। देवचन्दजी के प्रभाव से मिहिरराज ने सुख-सम्पन्नता के जीवन को त्याग कर वैराग्य तथा ईश्वर भक्ति का मार्ग अपनाया। गृहस्थ से गृहत्याग की प्रवृत्ति के मूल मे उनके वे बाल्यकालीन धार्मिक प्रवृत्तियां भी कारण थी, जो कि उनके धर्म-प्राण एव भगवद्भक्त माता पिता से प्राप्त हुई थी। उन्होने *विधिवत्* देवचन्दजी से दीक्षा ग्रहण की और *प्राणनाथ*, इस नये नाम से कहे जाने लगे।

देवचन्द और प्राणनाथ ने मिलकर देश की तत्कालीन परिस्थितियो को दृष्टि मे रखकर एक ऐसे भक्तिमार्ग का सृजन किया, जिसमें वैष्णव धर्म तथा इस्लाम धर्म, दोनो के उच्च विचारो का समन्वय था। भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी, १७१२ वि० (५ सितम्बर, १६५५ ई०) को गुरु देवचन्दजी (निजानन्दजी) ने स्वामी प्राणनाथ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

गुरु देवचन्दजी के शरीर-त्याग के बाद उनके उत्तराधिकार को उनके पुत्र बिहारीजी और प्राणनाथजी ने सँभाला। बिहारीजी ने भी उनसे विधिवत् शिष्यत्व ग्रहण किया था। बिहारीजी को जामनगर की गद्दी सौंप कर प्राणनाथजी स्वय सम्प्रदाय के प्रचार प्रसार के लिए निकल पडे। समस्त काठियावाड तथा गुजरात मे शीघ्र ही उनके विचारो का प्रचार हो गया। वे पहले दिल्ली और तदनन्तर मध्यप्रदेश गये और अपनी विद्वत्ता, प्रतिभा तथा धर्मवृत्ति से उन्होने तत्कालीन प्रचलित धर्म सम्प्रदायो मे अपने सम्प्रदाय के नाम को प्रतिष्ठित किया।

धर्म प्रचार के लिए उन्होने अन्य भी अनेक स्थानो का भ्रमण किया। उस समय प्रसिद्ध धर्मप्रिय व्यक्ति सुल्तान इमाम से मिलने के लिए और मुस्लिम धर्म तथा सस्कृति का मौलिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से स्वामीजी बगदाद तथा बसरा गये। उनके इस्लाम धर्म सम्बन्धी ज्ञान तथा विचारो से सुल्तान बडे प्रभावित हुए। कहा जाता है कि अपने 'किरन्तन' ग्रन्थ का अधिकतर निर्माण उन्होने अपनी इसी अरब यात्रा के समय किया था।

भारत वापस आकर उन्होंने अन्यान्य धर्म-सम्प्रदाय के आचार्यों से धर्म-चर्चाएँ की। वे एक प्रौढ एव तार्किक *विद्वान्* के रूप मे *ख्याति प्राप्त* कर चुके थे। अपने मत के सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए उनका अनेक धर्माचार्यों से गभीर वाद-विवाद एव शास्त्रार्थ हुए। धार्मिक ग्रन्थो से विदित होता है कि स्वामी प्राणनाथजी का हरिजी व्यास से गभीर शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमे उन्होंने विजय प्राप्त की (ब्रजभूषण वृत्तान्त मुक्तावली, प्र० ४३,

चौ० २३, ५३) चिन्तामणि नामक 'कबीरपन्थी' महन्त से भी उनका वाद-विवाद हुआ था। उस समय के वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियों से उनका निरन्तर वाद-विवाद होता रहा। गुरुपुत्र बिहारीजी से भी उनका मतभेद हो गया था। बिहारीजी चाहते थे कि उनका धर्म-पन्थ विरोध तथा आलोचना की अपेक्षा समन्वयात्मक अधिक हो। स्वामीजी की तर्कबुद्धि से वे असहमत थे और उसके फलस्वरूप दोनों गुरु-भाइयों में लम्बे समय तक पारस्परिक मतभेद बना रहा। बिहारीजी के संकीर्ण तथा रूढ़िवादी विचार स्वामीजी को पसन्द नहीं थे।

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव

स्वामी प्राणनाथ ने जिस समन्वयात्मक धर्म-मार्ग का प्रवर्तन किया, वस्तुत वह तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित था। वह एक ऐसा समय था, जब कि हिन्दुत्व की रक्षा के लिए एक ऐसे धर्म-मार्ग की आवश्यकता थी, जो कि हिन्दुओं और मुसलमानों मे एकता की भावना का प्रतिनिधित्व करे। स्वामीजी के समय देश की धार्मिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। हिन्दुत्व के उन्मूलन के लिए तत्कालीन मुगल शाहशाह औरंगजेब ने देशव्यापी आन्दोलन छेड़ा हुआ था। औरंगजेब की इस हिन्दू-विरोधी नीति ने हिन्दुओं के धार्मिक आचार्यों तथा राजाओं की शक्ति-संचय तथा संगठन की भावना को उत्प्रेरित करने के लिए विवश किया। आत्मरक्षा के लिए वे एक मंच पर आने के लिए बाध्य हुए।

हिन्दुओं के प्रति साम्प्रदायिक असद्भाव का वातावरण वस्तुत शाहशाह शाहजहाँ के शासनकाल मे ही आरम्भ हो चुका था। यद्यपि शाहजहाँ मे औरंगजेब जैसी कट्टर धर्मान्धता नहीं थी, तथापि उसने गुजरात, उत्तर प्रदेश और काश्मीर मे अपनी अतिवादी नीतियों से भय का वातावरण फैला दिया था। उसने हिन्दू मन्दिरों को ध्वस्त करने का भी आदेश दिया था और यह ऐलान कर दिया था कि हिन्दू जनता इस्लाम को स्वीकार करे (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग ४, पृ० २१७, मुगल गवर्नमेंट एण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ० १६५, १७९ आदि)। इतिहास की घटनाओं से स्पष्ट होता है कि अपने पिता तथा पितामह की अपेक्षा शाहजहाँ में धार्मिक सहिष्णुता की कमी थी, अन्तिम जीवन के अन्तिम दिनों मे वह धार्मिक संकीर्णता से ग्रसित हो गया था।

औरंगजेब के शासक होते ही देशव्यापी धार्मिक असहिष्णुता का उदय हुआ। उसने खुलकर हिन्दू मन्दिरों, धर्माचार्यों और शास्त्रों के विरुद्ध घृणा

का प्रचार-प्रसार किया। ज्ञान के क्षेत्र में हिन्दुओं की जो परम्परागत ख्याति एवं अभिरुचि थी, उसके प्रति भी उसने ईर्ष्या के भाव व्यक्त किये। उसने हिन्दू मन्दिरों तथा विद्यापीठों के साथ ही ज्ञान के भण्डार पुस्तकालयों को भी नष्ट-भ्रष्ट करवाया। सर्वप्रथम उसने हिन्दुओं के प्रमुख धर्म-तीर्थ काशी को अपना लक्ष्य बनाया। १६६९ ई० में उसने काशी के प्रसिद्ध विश्वनाथ और गोपीनाथ मन्दिरों और १६७० ई० में मथुरा के विख्यात केशवराय मन्दिर को ध्वस्त किया। केशवराय मन्दिर की मूर्तियों को उठवाकर उसने आगरा मँगवाया और उन्हें जहाँनारा मस्जिद की सीढ़ियों पर चुनवा दिया, जिससे कि उन्हें पैरों से रौंदा जा सके (सर यदुनाथ सरकार : औरंगजेब, पृ० ६-१०)। उसने हिन्दुत्व का प्रबल समर्थक राजस्थान को विशेष रूप से अपनी क्रूर नीतियों का लक्ष्य बनाया। मेवाड़ के लगभग ढाई सौ मन्दिरों, जिनमें उदयपुर, जयपुर और चित्तौड़ के विशाल मन्दिरों का नाम उल्लेखनीय है, ध्वस्त एवं नष्ट करा दिया। द्वारिका तथा अहमदाबाद के मन्दिरों को भी अपनी क्रूरता का लक्ष्य बनाया। प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर को उसने कई बार ध्वस्त किया। हिन्दुओं के प्रति उसका सबसे निन्दनीय तथा क्रूर कार्य था, हिन्दुओं के धार्मिक उत्सवों तथा मन्दिर-निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाना। यह घटना १६६५ ई० की है। उसके बाद १२ अप्रैल, १६७९ ई० को उसने हिन्दुओं पर 'जजिया कर' लगाया और उसे अदा न करने पर हिन्दुओं को मुसलमान बना दिया। हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का उसने विशेष रूप से व्यापक अभियान चलाया।

औरंगजेब की इस धर्मद्रोही कूटनीति से समस्त हिन्दू समाज में भय तथा अरक्षा की भावना व्याप्त हो गई। सारा हिन्दू समाज अपने को निराश्रित अनुभव करने लगा और प्रत्येक हिन्दू परिवार अपनी सुरक्षा तथा मर्यादा की रक्षा के लिए चिन्तित हो उठा। किन्तु औरंगजेब के इस घोर अन्याय का प्रतिकार करने के लिए जहाँ एक ओर जयसिंह तथा शिवाजी जैसे हिन्दू सपूतों ने स्वयं को सर्वस्व बलिदान करने की प्रतिज्ञा की, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन धर्मप्राण सन्तों, महात्माओं, फकीरों और सिद्ध महापुरुषों ने *धार्मिक समन्वय का देशव्यापी तीव्र अभियान चलाया।*

इस धार्मिक अभियान में जिन हिन्दू तथा हिन्दू-इतर सन्तों, महात्माओं तथा फकीरों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, उनमें स्वामी प्राणनाथ का नाम अग्रणी है। उन्होंने एक ऐसे उदार एवं सहिष्णु धर्मपन्थ का निर्माण किया, जिस पर चलने के लिए हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अन्यान्य धर्मानुयायियों का स्वागत किया। उन्होंने राम-रहीम की एकता पर बल दिया और

तत्कालीन मुगल शाहशाह औरंगजेब द्वारा व्याप्त धर्मान्धता के आतंक को शान्त करने के लिए हिन्दुओं तथा मुसलमानों में एकता स्थापित करने का सराहनीय प्रयत्न किया। स्वामीजी ने हिन्दुओं के वेद, उपनिषद्, 'गीता', 'भागवत', मुसलमानों के 'कुरान', ईसाइयों के 'इंजील', यहूदियों के 'जम्बूर', और दाऊद पैगम्बर के 'तौरेत' आदि धर्म-ग्रन्थों से मानव मंगलकारी धर्माज्ञाओं का सार लेकर उन्हें समाज में प्रचलित किया। इस कारण मुसलमान उन्हें मेहदी, ईसाई मसीहा और हिन्दू कल्कि अवतार मानते थे। सर्व-धर्म-समन्वय उनका लक्ष्य था। सत्ता के स्वार्थों की रक्षा के लिए जिन धर्मान्ध शासकों ने स्वार्थसिद्धिवश धर्म की आड़ में समाज को द्रोह, वैमनस्य तथा असद्भाव के कोहरे में भ्रमित कर दिया था, उनमें पारस्परिक वैर-विरोध उत्पन्न कर दिया था, उनके समाधान तथा उनकी एकता के लिए स्वामीजी ने धर्म के सार्वभौम स्वरूप को प्रस्तुत किया।

देश में धर्म के नाम पर जो घोर अधार्मिक संघर्ष छिड़ा हुआ था और जिसके लिए एकमात्र उत्तरदायी शाहशाह औरंगजेब था, स्वामीजी ने दिल्ली जाकर उससे सीधे बात-चीत का निश्चय किया। अपने लगभग २५० अनुयायियों के साथ स्वामीजी १७२५ वि० (१६६८ ई०) को दिल्ली पहुँचे। वहाँ लम्बे समय तक स्थान-स्थान पर सत्संग स्थापित करके उन्होंने लोगों को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाया। उन्होंने शाहशाह से भेंट करने के उद्देश्य से उन्हें एक पत्र लिखा।

इसी बीच हरिद्वार में कुम्भ पर्व का समय आ गया। वे उसमें सम्मिलित होने के लिए हरिद्वार चले गये। वहाँ उन्होंने समस्त देश से आये हुए धर्मवेत्ताओं की सभाओं में अपने उदार विचारों की शास्त्र-सम्मत व्याख्या की। स्वामीजी ने पुराणों तथा उपनिषदों को आधार मानकर ब्रह्मतत्त्व पर अपने विचार प्रस्तुत किये। उनकी विद्वत्ता, शास्त्रज्ञान की अद्भुत प्रतिभा से प्रभावित होकर विद्वत्समाज ने सर्वसम्मति से स्वामीजी को 'विजयाभिनन्द निष्कलंक बुद्ध' की उपाधि से सम्मानित किया।

कुम्भ पर्व की समाप्ति पर पुनः दिल्ली लौट आये। उन्होंने शेख बदल की सहायता से और विद्वान् मौलवियों का सत्संग कर 'कुरान' का अध्ययन किया और 'कुरान' के आधार पर हिन्दी में कुछ सनदें लिखीं। तदनन्तर कायम नामक एक मौलवी से उन सनदों का फारसी में अनुवाद कराके उन्हें बादशाह के पास भेजा। बादशाह को प्रभावित करने और धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध कराने के उद्देश्य से उन्होंने अनेक प्रयास किये। किन्तु उनका कोई प्रभाव बादशाह पर न पड़ा। अन्त में प्राणों को संकट

मे डालकर वे निर्भय होकर जुमा मस्जिद की सीढियो पर बैठ गये और ऊँचे स्वर मे 'कुरान' की स्वरचित सनदो को गाने लगे। बादशाह तक फरियाद पहुँचाने के अपने प्रयासो को उन्होने जारी रखा। किन्तु परिणाम विपरीत ही हुआ। एक दिन बादशाह के काजियो ने स्वामीजी सहित उनके १२ अनुयायियो को कारागार मे बन्द कर दिया। कुछ समय बाद वे कारागार से मुक्त हुए।

बादशाह औरगजेब की कट्टर असहिष्णुता और हिन्दू धर्म के प्रति उसकी कुनीति मे किसी प्रकार की आशा से निराश होकर स्वामीजी ने हिन्दू राजाओ को सगठित करने का अभियान चलाया। अपने ५००० अनुयायियो को लेकर वे १७३९ वि० (१६८३ ई०) को बुन्देला वीर छत्रसाल को मिलने के लिए पन्ना (म० प्र०) आये। बुन्देलखण्ड के व्यापक क्षेत्र मे छत्रसाल ने अपने असामाजिक कार्यों से आतक मचाया हुआ था। स्वामीजी के सदुपदेशो से वह अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसने अपनी कुप्रवृत्तियो का परित्याग कर दिया। उसने उनके धर्म-मार्ग को स्वीकार कर लिया।

उधर बादशाह औरगजेब से मिलने के लिए स्वामीजी ने अपने प्रयासो को निरन्तर जारी रखा। उन्होने अपने चमत्कारी व्यक्तित्व से बादशाह को आतकित कर दिया। बादशाह ने अन्त मे स्वामीजी की महानता को स्वीकार किया और उन्हे दरबार मे उपस्थित होने की अनुमति प्रदान की। स्वामीजी दरबार मे गये और अपने वार्तालाप से उन्होंने बादशाह को प्रभावित किया। स्वामी प्राणनाथ के जीवन का यह सर्वाधिक स्मरणीय कार्य है कि उन्होंने अपने सदुपदेशो से औरगजेब के कठोर हृदय को धर्म की ज्योति से आलोकित करने मे सफलता प्राप्त की।

आजीवन धार्मिक सघर्ष मे जूझते रहने और हिन्दुत्व की रक्षा करने तथा समाज को धर्म की वास्तविकता का सन्देश देते हुए स्वामीजी अपनी वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। जीवन के अन्तिम दिनो मे वे नितान्त एकान्तवासी हो गये थे। धर्म-मार्ग का सारा दायित्व उन्होने अपने सुयोग्य शिष्यो स्वामी लालदास और स्वामी केसोदास को सौंप दिया था।

परम्परा का प्रवर्तन

स्वामीजी का निधन पन्ना मे श्रावण कृष्ण चतुर्दशी, १७५१ वि० (१६९४ ई०) मे हुआ (डॉ० नरेश पाण्डया : प्राणनाथ सम्प्रदाय एव साहित्य, पृ० ५६-५७)। उनके निधन के बाद स्वामी केसोदास ने सम्प्रदाय

के पूज्य ग्रन्थ का प्रामाणिक सकलन तैयार किया। स्वामीजी के अनेक शिष्य प्रशिष्यो ने उनके कल्याणकारी धर्म के सदुपदेश नेपाल, दार्जिलिंग, सिलीगुडी, काशी प्रयाग, बघेलखण्ड, उत्तरप्रदेश, बिहार और पजाब आदि सुदूर अचलो मे प्रचारित-प्रसारित किये। इन शिष्य-प्रशिष्यों के नाम थे—नवरग स्वामी, ब्रजभूषण, बख्शी हुमराज, लल्लूजी महाराज (लालसखी), महाराज छत्रसाल, पचमसिंह, भट्टाचार्य, मुकुन्द स्वामी, जुगलदास, चेतनदास, जीवन मस्ताना, गोपालदास, मोहनदास और ज्ञानदास आदि।

इस सम्प्रदाय की उन्नत परम्परा लगभग १८वीं शती तक बनी रही। आज भी पन्ना मे इस सम्प्रदाय के भक्त निवास करते हैं, किन्तु वर्तमान मे सामान्यत धर्म की परम्परा शिथिल पड गई।

साहित्य निर्माण

आजीवन धर्म के कार्य मे व्यस्त रहते हुए भी स्वामीजी ने सम्प्रदाय सम्बन्धी साहित्य के निर्माण मे भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। सखी सम्प्रदाय से सबद्ध होने के कारण स्वामीजी ने इन्द्रामति तथा महामति, इन दो स्त्रीवाचक नामो से भी ग्रन्थ-निर्माण किया। विद्वानो का अभिमत है कि उन्होंने अपनी आरम्भिक रचनाएँ प्राणनाथ (प्राणनो नाथ), मध्यकालीन रचनाएँ इन्द्रामति के नाम से और अन्त की रचनाएँ महामति के नाम से की (डा० नरेश पाण्डया प्राणनाथ सम्प्रदाय एव साहित्य, पृ० ११-१२)। स्वामीजी की १६ रचनाओ का विद्वानो ने पता लगाया है, जिनके नाम हैं—१ 'रास', २ 'प्रकाश' (गुजराती), ३. 'षट्ऋतु', ४. 'कलश' (गुजराती), ५. 'प्रकाश', ६ 'कलस', ७. 'सनन्ध', ८. 'किरन्तन', ९ 'खुलासा', १०. 'खिलवत', ११. 'परकरमा', १२ 'सागर', १३. 'सिनगार', १४. 'सिन्धी', १५ मारफतसागर' और १६. 'कयामतनामा'। मध्यप्रदेश स्थित पन्ना नामक एक छोटे-से नगर मे स्वामी प्राणनाथ का एक विशाल मन्दिर है, जहाँ उनकी वाणियाँ हस्तलेखो के रूप मे सुरक्षित हैं।

सिद्धान्त-निरूपण

स्वामीजी वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् थे, जो उनकी रचनाओ से ज्ञात होता है। उनके मत के अनुसार ईश्वर निराकार है। उसे मूर्तिपूजा से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। स्वामीजी ने अपने धार्मिक सिद्धान्तो को 'कुलज्जम' के नाम से प्रचारित किया। उनके इस मत का सग्रह-ग्रन्थ 'कुलज्जम-स्वरूप' है, जो कि १८वीं शती मे निबद्ध किया गया। उसमे यह प्रतिपादित किया गया है कि समस्त प्रचलित धर्म-दर्शन 'कुलज्जम मत' मे समाहित हो

जाते हैं। स्वामीजी ने घोषित किया— मैं ईसाइयों का मसीहा मुसलमानों का महदी और हिन्दुओं का निष्कलंकावतार हूँ।

प्रणामी सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों के मुख्य आधार भगवद्‌गीता' और 'भागवत' रहे हैं। भगवद्‌गीता' में ब्रह्म के क्षर, अक्षर और अक्षरातीत, तीन रूप माने गये हैं। क्षर अर्थात् नश्वर, अक्षर अर्थात् नित्य अविनाशी और अक्षरातीत अर्थात् परात्पर नित्य अखण्ड। इन तीनों तत्त्वों के द्वारा क्रमश जीवात्मक, ईश्वरीय तथा ब्रह्मात्मक त्रिधा सृष्टि है। जो परात्पर अक्षरातीत ब्रह्मस्वरूप है वही प्रणामी सम्प्रदाय का आराध्य है। उसी को 'धीराज' कहा गया है और उसी से क्षर तथा अक्षर प्रकाशित हैं। सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म को यहाँ 'स्वलीलाद्वैत' कहा गया है। 'इस सुवर्ण के समान प्रकाशित स्वेच्छा से लीला करनेवाले और जगत् के कारणभूत अक्षरातीत परब्रह्म को जो विद्वान् जान लेता है, वह लौकिक सुख-दुःखों का परित्याग कर सच्चिदानन्द परब्रह्म में लीन होकर परम शान्ति को प्राप्त करता है' (निर्णयार्थ-प्रदीप, पृ० ४६)। यही सच्चिदानन्द ब्रह्म इस जगत् में प्रतिबिम्बित है। जगत् में वह अपनी दस भूमिकाओं (लीलाओं द्वारा प्रतिबिम्बित है (कुलजम-स्वरूप, प्र० ३७, चौ० २)।

प्रणामी सम्प्रदाय में कृष्ण के तीन स्वरूप माने गये हैं—वासुदेव कृष्ण, विष्णुस्वरूप द्वारिकाधीश और व्रजविहारी नन्दनन्दन। इन तीनों रूपों में वे अपनी तीन लीलाओं द्वारा प्रतिभासित हैं। ये तीनों लीलाएँ हैं—पारलौकी, व्यावहारी और आध्यात्मिकी। अन्य भक्तों की भाँति इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भगवान् को पतितोद्धारक माना है और विभिन्न भावों का आश्रय लेकर अपने उद्धार के लिए भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने का निवेदन किया है।

इस सम्प्रदाय के अनुयायी तुलसी माला धारण करते हैं और वैष्णवों की भाँति खड़ी तिलक रचना करके बीच में कुंकुम की बिन्दी लगाते हैं।

राधास्वामी मत

भारत के मध्ययुगीन धार्मिक पन्था मे राधास्वामी मत का भी अपना एक प्रतिष्ठित स्थान है। इस धार्मिक पन्थ के सस्थापक राधास्वामी का जन्म भाद्रपद कृष्ण अष्टमी, १८७५ वि० (१८१८ ई०) मे मुहल्ला गजी गली, कानपुर मे हुआ था। उनका पैतृक नाम लाला शिवदयाल सिंह साहब था। वे जाति के खत्री तथा सद्गृहस्थ थे और अध्यापन कार्य से आजीविका चलाते थे। अपने घर पर बैठ कर ही वे निरन्तर १५ वर्षों तक 'सुरति शब्द योग' का योगाभ्यास करते रहे। वे चिन्तनशील और एकान्तवास के अभ्यासी थे। योगसाधना मे सिद्धि प्राप्त कर उन्होने १८६० ई० को वसन्त पचमी की तिथि से अपने घर ही सत्सग तथा धर्मचर्चा करनी आरम्भ की। उनके सदुपदेशो से प्रभावित होकर अनेक लोग उनके भक्त हो गये और उन्हे गुरु, स्वामी या महाराज कहकर पुकारने लगे। जीवन के लगभग १७ वर्षों तक उन्होने देश के विभिन्न अचलो मे जाकर सत्सग का लाभ प्राप्त किया। उनकी अटूट धार्मिक निष्ठा से जनता मे उनका प्रभाव निरन्तर बढता ही गया और विशेष रूप से गृहस्थ समाज उनके सत्सग मे योगसाधना तथा चिन्तन के कार्यक्रमो मे सम्मिलित होते गये। भक्तजनो के भजन-कीर्तन के लिए उन्होने 'सारवचन' नाम से एक ग्रन्थ की रचना की, जिसे कि आज भी राधास्वामी मत का एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। भक्ति मे लीन भगवदाराधन करते हुए १९३५ वि० (१८७८ ई०) को आषाढ कृष्ण प्रतिपदा को उन्होने समाधि ग्रहण की। उनकी समाधि आज भी आगरा के स्वामी बाग मे वतमान है, जो कि राधास्वामी सम्प्रदाय के भक्तजनो का एकमात्र तीर्थ है।

स्वामीजी के बाद उनके द्वारा सस्थापित इस धर्म-मार्ग का प्रवर्तन उनके उत्तराधिकारियो ने किया। उनके उत्तराधिकारी राय शालग्राम सिंह हुए, जिन्हे कि 'गुरु हजूर साहब' के नाम से कहा जाता था। वे भी एक सद्गृहस्थ थे और ऐसे प्रथम भारतीय थे, जिन्होंने पोस्टमास्टर जनरल का उच्च पद प्राप्त किया था। उन्होने ही परम गुरु स्वामी महाराज का राधास्वामी नामकरण किया और तभी से उनके नाम से इस धर्मशाखा को 'राधास्वामी मत' से कहा जाने लगा। एक भक्तजन के रूप मे उन्होने जीवन-यापन किया और गुरु द्वारा प्रवर्तित धर्ममार्ग को प्रशस्त किया। इस मत पर उन्होने लगभग ११ ग्रन्थो की रचना की। तीस वर्ष तक वे गुरुपद पर बने रहे। ६ दिसम्बर १८९५ ई० को वे परलोकवासी हुए। उनके गुरुभाई, अर्थात् राधास्वामी दयालु के शिष्य बाबा जयमगल सिंह, बाबा

बग्गा सिंह और बाबा गरीबदास हुए। इन तीनों ने राधास्वामी मत की तीन अलग अलग गद्दियों या मठों की स्थापना की। बाबा जयमंगल सिंह ने ब्यास (पंजाब) में, बाबा बग्गा सिंह ने तरनतारन में और बाबा गरीबदास ने दिल्ली में तीन गद्दियों की स्थापना की। ये तीनों सन्त इन तीनों गद्दियों के प्रथम महन्त थे। इन तीनों गद्दियों की परम्परा भी आगे बढ़ती गई। अब तक इस मत की सात गद्दियाँ स्थापित हो चुकी हैं। प्रधान गद्दी आगरा के दयालबाग में है।

आगरा की प्रमुख गद्दी के उत्तराधिकारी हुजूर महाराज शालिग्राम के बाद श्रीब्रह्मशंकर मिश्र तीसरे गुरु हुए जो कि महाराज नाम से कहे जाते थे। इस परम्परा में आगे भी अनेक उत्तराधिकारी गुरु हुए। उनमें कामता-प्रसाद सिंह (उपनाम सरकार साहब) उत्तराधिकारी बने। उनके पश्चात् आठवें गुरु सर आनन्दस्वरूप हुए, जिनको 'साहबजी' के नाम से कहा जाता था। उन्होंने आगरा के निकट दयाल बाग में एक भव्य मठ की स्थापना की थी, जहाँ आज भी नित्य पाठ और सत्संग होता है।

राधास्वामी मत की अपनी यह विशेषता रही है कि उसकी गुरु परम्परा में सभी गृहस्थ हुए जिन्होंने सत्संग आयोजित कर ध्यान तथा चिन्तन द्वारा आत्मोन्नति तथा भगवद्भक्ति का प्रचार प्रसार किया।

सिद्धान्त निरूपण

राधास्वामी मत मुख्यतः योगसाधना का है। यद्यपि सद्गुरु के रूप में स्वामीजी की पूजा तथा ध्यान चिन्तन का नियम है तथापि उनका ध्यान परमातीत है। परन्तु इस मत को निर्गुण साधना का ही एक अंग माना जा सकता है। उनके योग चिन्तन ध्यान के चार अंग हैं—सद्गुरु, सत्नाम, सत्संग और अनुराग। इस मत में तीर्थ, व्रत, मन्दिर, मूर्तिपूजा, जप, तप, कर्म-काण्ड और वर्णाश्रम आदि को कोई मान्यता नहीं दी गई है।

इस सम्प्रदाय के अपने नियम और सिद्धान्त हैं। उनमें परमात्मा को सर्वशक्तिमान्, सर्वेश, आनन्दस्वरूप और चैतन्य माना गया है। 'धारा' उनकी मूल शक्ति है जो कि उलट कर राधा उच्चारण में परिवर्तित हो जाती है। राधास्वामी उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का नाम है जो कि श्रीकृष्ण से भी अतीत हैं और जिनके द्वारा सृष्टि का सृजन हुआ। संसार में जब अधर्म, अत्याचार और अन्याय होता है तब परमात्मा स्वयं अवतार का रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होता है और धर्म, आचार तथा न्याय की स्थापना कर लोक की व्यवस्था करता है। जीव की मुक्ति मुक्ति का एक ही मार्ग या साधन है—योगसाधना द्वारा राधास्वामी का सामीप्य प्राप्त करना। राधास्वामी परब्रह्म हैं और जीवात्मा उनका अंश। साधना द्वारा जीवात्मा को आदिकर्ता (स्वामी) की उपलब्धि होती है।

इस मत में मुक्ति के तीन साधन बनाये गये हैं—राधास्वामी का नाम-स्मरण, राधास्वामी स्वरूप दर्शन और आत्मधारा शब्द का निरन्तर चिन्तन। प्रथमावस्था में साधक के मन में सांसारिक विषयों की प्रधानता रहती है, जिन पर निरन्तर नामस्मरण से विजय प्राप्त की जा सकती है। दूसरी अवस्था में धार्मिक विषयों की प्रधानता रहती हैं, जिसमें गुरु-सत्संग का विधान किया गया है। तीसरी अवस्था में शुद्ध तत्त्व की अनुभूति होती है, जिसके लिए गुरु-उपदेश श्रवण करना, गुरु चरणों में नत होना, उनके वस्त्र, जूठन तथा पादार्घ्य को पवित्र मान कर ग्रहण करना और उनके प्रसाद को पवित्रता से प्राप्त करना बताया गया है। इस तीसरी अवस्था में गुरु की दृष्टि में अपनी दृष्टि को निहित करना और भक्तिपूर्वक आत्मशक्ति को द्योतित करना है। इन तीनों प्रकार के साधनों का रहस्य गुरु से ही ग्रहण किया जा सकता है। गुरुमुख से प्राप्त इस रहस्यमय ज्ञान को सर्वथा गोपित रखने का विधान है।

सम्प्रदाय के समस्त अनुयायियों को पवित्र जीवन धारण करना आवश्यक है। उन्हें विनय, क्षमा तथा शान्ति का वरण करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे मांस, मदिरा, हिंसा आदि अनाचरणों से विरत रहें और सादा जीवन व्यतीत करें।

इस पन्थ में गृहस्थों के अतिरिक्त साधु जीवन व्यतीत करनेवाले अनुयायियों के लिए ग्यारह प्रकार के नियमों का निर्देश किया गया है। वे नियम हैं—१ व्यर्थ भ्रमण न करना, २ सत्संग की अनुमति होने पर ही बाहर भ्रमण करना, ३ आश्रम से बाहर जाने के लिए निर्धारित आज्ञापन प्राप्त करना, ४ किसी से भी धन संग्रह न करना, ५. किसी अन्य सत्संग में सम्मिलित होने के लिए केवल मार्गव्यय और भोजन प्राप्त करना, ६ प्रतिदिन सत्संग में अनिवार्य रूप से सम्मिलित होना, ७. सत्संग के लिए सतत कार्यरत रहना, ८ सत्संगों में अभिरुचि तथा उत्साह रखना, ९ परोपकार के निमित्त ही बहिर्गमन करना, १० युवक-युवतियों से सदा दूर रहना और ११ गेरुवा वस्त्र धारण करना। यदि कोई साधु इन नियमों का नियमित रूप से पालन नहीं करता तथा दो से अधिक नियमों का उल्लंघन करता है तो उसे सत्संग से पृथक् कर देने का विधान है। वृद्धा स्त्रियाँ भिक्षुणी की वृत्ति का वरण कर सकती हैं। किन्तु भिक्षाटन नहीं करना होता है। सभी प्रकार के साधु सन्तों के लिए भोजन-वस्त्र की व्यवस्था सम्प्रदाय की ओर से होती है।

राधास्वामी सम्प्रदाय आचार विचारों की दृष्टि से उदार एवं सार्वभौम है। उसमें किसी भी जाति धर्म का व्यक्ति सम्मिलित हो सकता है, किन्तु सभी को सत्संग [illegible] करना आवश्यक है। इस पन्थ के अनुयायी जात-पाँत का भेद भाव नहीं मानते और सुधारवादी हैं। गृहस्थ हो या त्यागी, सभी उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। इस मत की साधना पद्धति निर्गुण योगमार्ग की है।

(आठ)

रामोपासक धर्मशाखाएँ

१ रामानन्दी रामावत सम्प्रदाय

२ रामदासी सम्प्रदाय

३ सहजिया नारायण सम्प्रदाय

४. रामभक्ति रसिक सम्प्रदाय

रामानन्दी रामावत सम्प्रदाय

वैष्णव धर्म के इतिहास मे 'रामावत सम्प्रदाय' का अनेक दृष्टियो से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी रामानन्द थे। वैष्णव धर्म के अनुयायियो मे आराधना उपासना की भिन्नता के कारण मुख्यत तीन धर्मशाखाएँ प्रकाश मे आई। एक शाखा राधाकृष्ण की उपासक, दूसरी विष्णु की उपासक और तीसरी राम-सीता की उपासक थी। यद्यपि ये तीनो शाखाएँ उपास्य की दृष्टि से पारस्परिक भिन्नता रखती हैं, तथापि तीनो का आधार सगुण भक्ति होने के कारण उनमे पारस्परिक समानता भी है। भगवान् राम और माता सीता को अपनी धार्मिक निष्ठाओ का हेतु एव आधार मान कर और उन्हें जगत् का सर्जक, पालक तथा संहारक मान कर जिस लोक-संपूजित वैष्णव शाखा का उदय हुआ, उसे ही 'रामानन्दी सम्प्रदाय' या 'रामावत सम्प्रदाय' के नाम से कहा जाता है।

पुराणो मे वर्णित दशावतारो की परम्परा मे विष्णु के अनेक अवतारों मे दो अवतार मुख्य माने गये हैं, जिनके नाम हैं—रामावतार और कृष्णावतार। इन दोनो अवतारी महापुरुषो के प्रति देवत्व की निष्ठा रखनेवाला समाज आज भी समस्त भारत मे व्याप्त है। रामकथा की व्यापकता यद्यपि 'रामायण' से पूर्व की है तथापि राम को आराध्य-उपास्य के रूप मे कब से माना जाने लगा, इसका सही ऐतिहासिक आधार खोज निकालना प्राय कठिन है। विष्णु के राम तथा कृष्ण अवतारो मे रामावतार प्रथम एव प्राचीन है। जहाँ तक राम की प्राचीनता का प्रश्न है, उसका उल्लेख ऋग्वेद (१० । ९० । ४) और ब्राह्मण-ग्रन्थो (शतपथ ४ । ६ । १ । ७) तथा ऐतरेय (७ । २७ । ३४ आदि) मे हुआ है। किन्तु इन उल्लेखो का सम्बन्ध दाशरथी राम से नही है। राम-नाम के इन उल्लेखो से इतना ही आशय निकलता है कि राम-नाम का कोई प्रसिद्ध राजा हुआ। राम के अवतारी स्वरूप का स्पष्ट एव व्यापक उल्लेख सर्वप्रथम 'रामायण' तथा 'महाभारत' मे ही देखने को मिलता है। यद्यपि इन दोनो ग्रन्थो मे जो रामकथा दी गई है, उसका मूल आधार क्या है, यह कहना कठिन है, तथापि उसका अनुशीलन करने पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैन बौद्धो के साहित्य मे उल्लिखित रामकथाओ से वह भिन्न है। डा० याकोबी के मत को सारगर्भित मान कर फादर कामिल बुल्के (रामकथा, पृ० २८, १०४) का कहना है कि वेदो तथा ब्राह्मण-ग्रन्थो मे

उल्लिखित दाशरथि राम वैदिक देवता इन्द्र के रूपान्तर मात्र हैं। उनका कहना है कि कालान्तर मे वही राम पश्चिम भारत मे बलराम की उपासना के रूप मे और पूर्वी भारत मे दाशरथि राम की उपासना के रूप मे प्रचलित हुए। वैदिक प्रसगो मे इन्द्रपत्नी कही जानेवाली सीता, रामपत्नी सीता ही हैं।

पुराणो मे विष्णु के विभिन्न अवतारो मे कृष्णावतार को ही प्राथमिकता प्राप्त हुई और कृष्ण की आराधना उपासना-भक्ति के अनेक स्वरूपो के आधार पर वैष्णव धर्म के क्षेत्र मे अनेक धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए। किन्तु जब वामन वराह, नृसिंह, परशुराम तथा राम आदि अवतारो को आधार माना गया, तो उपासना के क्षेत्र मे भी विभिन्नता लक्षित हुई। उस अवस्था में कृष्ण के अतिरिक्त राम का महत्त्व भी प्रकाश मे आया। कृष्ण तथा राम के अवतारो के अतिरिक्त अन्य अवतारो की आराधना का क्षेत्र सीमित एव आचरिक रहा। किन्तु कृष्ण की भाँति राम की उपासना का आधार व्यापक रूप मे लोकमान्य हुआ और रामभक्ति को भी व्यापकता से अपनाया जाने लगा। यद्यपि राम के नाम पर विभिन्न ग्रन्थो मे बलराम, भार्गवराम तथा दाशरथि राम की विभिन्नता पाई जाती है, तथापि दाशरथि राम को ही उसमे श्रेष्ठता प्राप्त है। दाशरथि राम की इस श्रेष्ठता या प्रमुखता का आधार वाल्मीकि मुनि की 'रामायण' है। 'रामायण' से ही राम के व्यापक स्वरूप का दिग्दर्शन हुआ।

राम के नैतिक तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्यमय स्वरूप का सर्वांगीण निरूपण 'रामायण' मे ही सर्वप्रथम देखने को मिलता है। राम और वाल्मीकि, क्योकि समकालीन थे, अत ऐसा प्रतीत होता है राम के उपासको का एक वर्ग उनके समय मे आ चुका था, जो उनके अवतारी स्वरूप की ओर अलौकिक ऐश्वर्य की महिमा का गुणगान करने लग गया था। तत्पश्चात् उपनिषदो, पुराणो, काव्यो और नाटको आदि साहित्य के विभिन्न अगो में राम के उदात्त, लोकमगलकारी एव सर्वगुणोपेत चरित का व्यापक वर्णन लोकश्रुत हुआ।

यद्यपि इसका पुष्ट प्रमाण नही मिलता है कि राम को विष्णु के अवतार के रूप म कब से लोकभक्ति का स्वरूप प्राप्त हुआ, किन्तु 'वाल्मीकि रामायण' के बाद ई० पूर्व प्रथम शती मे वर्तमान महाकवि कालिदास की कृतियो से, विशेष रूप से 'रघुवंश' महाकाव्य से, विदित होता है कि राम को अवतारी महापुरुष एव मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप मे लोकख्याति प्राप्त हो चुकी थी। उन्हे देवत्व के रूप म वरण किया जाने लगा था। फिर भी इस आशय का

प्रमाण नहीं मिलता है कि भारत के धार्मिक इतिहास में राम की अराधना-उपासना के आधार पर रामोपासकों का सम्प्रदाय कब से प्रचलित हुआ था।

'रामावत सम्प्रदाय' द्वारा उपास्य भगवान् राम सातवें अवतार थे। 'तारकोपनिषद्' (२।२-५) में रामावतार की महिमा के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'राम' 'ओम्' शब्द का वाचक है। इस वैदिक व्याहृति 'ओम्' में रामावतार की समस्त महिमा समाहित है। 'अ' से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, जो रामावतार में जाम्बवान् (ऋक्षों के राजा) हुए। 'उ' से विष्णु (उपेन्द्र) की उत्पत्ति हुई, जो सुग्रीव (वानरों के राजा) कहलाये। 'म' से शिव का प्रादुर्भाव हुआ, जो हनुमान हुए। 'सानुनासिक बिन्दु' से शत्रुघ्न की उत्पत्ति हुई। 'ओम्' के नाद से भरत का जन्म हुआ। इस शब्द की 'कला' से लक्ष्मण उत्पन्न हुए। उसके 'कलातीत ध्यान' से लक्ष्मी उत्पन्न हुईं, जो कि सीता कहलाईं। इन सबके अनुशासक परमात्मा विश्वरूप स्वयं श्रीराम के रूप में अवतरित हुए। इस प्रकार राम का अवतरण विश्वनियन्ता के रूप में हुआ, जिन्होंने एक सद्गृहस्थ के रूप में जन्म धारण कर अपने आदर्श चरित से पारिवारिक सम्बन्धों और लोक-व्यवहारों की उदात्त एवं अनुकरणीय परम्परा को स्थापित किया।

इस धरती पर राम के अवतरण का एक महान् लक्ष्य था। उनसे पूर्व परशुरामावतार के द्वारा क्षात्र तथा ब्राह्मण शक्तियों का सामंजस्य और उनके पारस्परिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गये थे। इस कारण भारत की परम्परागत धार्मिक व्यवस्था विकेन्द्रित हो गई थी। ब्राह्मण वंश में रावण जैसे अत्याचारी संस्कारों वाले व्यक्ति का जन्म होने लगा था। राक्षसी प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और सात्त्विक प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि क्षीण होते जा रहे थे। इस वैषम्य तथा अनाचार को समाप्त करने के लिए रामावतार की आवश्यकता हुई। यह अवतार क्षत्रिय कुल में इसलिए उत्पन्न हुआ, जिससे क्षात्र-शक्ति के साथ ब्राह्मण-शक्ति का सामंजस्य पुनः स्थापित हो सके। यही एकमात्र उपाय था, जिसके द्वारा विखण्डित एवं विच्छिन्न राष्ट्र की विकेन्द्रित शक्तियों में समन्वय स्थापित किया जा सके। इसलिए भगवान् ने क्षत्रिय वंश में जन्म धारण किया और आदर्श पातिव्रत्य धर्म एवं सतीत्व की रक्षा के लिए भगवान् की आद्याशक्ति महामाया भगवती सीता को सहचरी के रूप में वरण किया।

जहाँ तक राम और कृष्ण के अवतारी स्वरूपों की लोकप्रियता एवं महत्त्व का सम्बन्ध है, राम का जीवन मर्यादा, वीरता तथा आदर्श पालन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण की भाँति राम ने किसी सिद्धान्त या मत की

स्थापना नहीं की और न ही वैसे उपदेश दिये। राम एक आदर्श एवं प्रसिद्ध प्रतापी राजवंश से सम्बन्धित होने के कारण लोक में अनुकरणीय, अक्षय, उदात्त आदर्शों की स्थापना की दृष्टि से कृष्ण की तुलना में भिन्नता रखते हैं। कृष्ण की अपेक्षा उनका अवतारी स्वरूप किसी प्रकार भी न्यून नहीं ठहरता है। दाशरथि राम, जो अपनी वंश परम्परा में प्रशस्त एवं महान् थे, विष्णु के अवतार के रूप में लोकभक्ति के सहज माध्यम बन गये। लोक में उनका अलौकिक दैवी विभूतियों से सम्पन्न स्वरूप लोक की आराधना उपासना का विषय बन गया। यद्यपि कृष्णावतार की अपेक्षा रामावतार की पुराणों में उतनी प्रशस्ति देखने को नहीं मिलती है, तथापि जहाँ तक उनकी लोकप्रियता का सम्बन्ध है कृष्णावतार की अपेक्षा उनका किसी भी प्रकार का कम महत्त्व नहीं है। उनके इस अवतारी स्वरूप को जैन-बौद्धों के साहित्य में भी वरणीय माना गया है। इस दृष्टि से भारतीय जन मानस में रामावतार को वही श्रद्धा-निष्ठा प्राप्त हुई, जो कृष्णावतार में देखने को मिलती है।

इस प्रकार रामावतार का एक सोद्देश्य आधार था। रामावतार के युग में राष्ट्र की जो स्थिति थी, रामानन्द के समय भी राष्ट्र की वही स्थिति थी। देश की विकेन्द्रित शक्तियों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से रामानन्द ने राम को आधार बनाया। किन्तु 'रामावत सम्प्रदाय' की अपेक्षा रामभक्ति की परम्परा अधिक प्राचीन है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव धर्म के प्रचलित सम्प्रदायों से प्रभावित होकर अलग से राम सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ। इस दृष्टि से इस सम्प्रदाय का आरम्भ ११वीं १२वीं शती ई० के बाद ही माना जा सकता है। यद्यपि इससे पूर्व ७वीं-८वीं शती में कुलशेखर आदि आलवार भक्तों ने रामभक्ति की महिमा को पहले ही लोक प्रचारित कर दिया था, तथापि रामभक्ति का जो स्वरूप लोक प्रचलित हुआ, ११वीं शती के बाद का ही है। १३वीं शती ई० में वैष्णव सम्प्रदाय के संस्थापक मध्वाचार्य ने बदरिकाश्रम हिमालय से भगवान् राम की प्रतिमा को लाकर उसे अपने शिष्य नरहरितीर्थ को दिया था और उन्होंने उस मूर्ति को उडीसा के जगन्नाथ मन्दिर में स्थापित किया था। इस प्रकार मध्वाचार्य द्वारा रामभक्ति की पुन: स्थापना हुई और उसकी लोकमंगलकारी धारा उत्तर से दक्षिण को पहुँची। रामभक्ति को इस धारा को राष्ट्रव्यापी बनाने का श्रेय स्वामी रामानन्द को है। यद्यपि रामानन्द से पूर्व नामदेव तथा त्रिलोचन आदि वैष्णव भक्त कवियों ने महाराष्ट्र में और सदन तथा वेनी आदि भक्तों ने उत्तर भारत में रामोपासना का पहले ही प्रचलन कर दिया था, तथापि उसको व्यापक जनाराध्य बनाने का श्रेय स्वामी रामानन्द को है।

स्वामी रामानन्द का जन्म प्रयाग (इलाहाबाद) के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार मे १२९९ ई० (१३५६ वि०) को हुआ था। उनका पैतृक नाम रामदत्त था। प्रयाग मे ही अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे काशी गये। वहाँ उनकी भेंट विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् स्वामी राघवानन्द से हुई। उनसे रामानन्द ने सम्प्रदाय की विधिवत् दीक्षा ग्रहण की और तब से वे रामानन्द के नाम से कहे जाने लगे। स्वामी रामानन्द की गुरु-परम्परा इस प्रकार है—रामानुज-देवानन्द हरियानन्द-राघवानन्द और रामानन्द। इस प्रकार जिन विद्वानो ने स्वामी रामानन्द को स्वामी रामानुज का प्रथम शिष्य बताया है, उनका अभिमत युक्तिसगत नही है।

शिक्षा दीक्षा ग्रहण करने के बाद स्वामी रामानन्द देशाटन को निकले। उन्होने देश के विभिन्न अचलो का एव तीर्थों का भ्रमण किया, अनेक विद्वानो तथा धर्मानुयायी आचार्यो का सत्सग प्राप्त किया। अन्त मे वे काशी लौट आये। किन्तु इस बीच धार्मिक विवाद उत्पन्न हो गया। रामानन्द के सम्प्रदाय मे परम्परा से यह नियम प्रचलित था कि भोजन के समय भोज्य पदार्थों पर किसी अन्य की दृष्टि नही पडनी चाहिए। ऐसा होने पर वह भोजन अग्राह्य एव अपवित्र समझ कर फेंक दिया जाता था। स्वामी रामानन्द ने देशाटन के समय इस नियम का पालन नही किया था और इसे वे व्यर्थ का आडम्बर भी मानते थे। अत वे काशी मे अपने गुरु-बन्धुओ के पास लौट आये, तो उन्होने स्वामी रामानन्द का बहिष्कार कर दिया। साथ ही यह भी प्रचारित कर दिया कि सम्प्रदाय के नियमो का पालन न करने के कारण वे पतितो की श्रेणी मे जा गिरे है। उनके दीक्षा गुरु स्वामी राघवानन्द ने भी सम्प्रदाय के अनुयायियो की इस आपत्ति का समर्थन किया। फलस्वरूप खान-पान, वर्ण-व्यवस्था, जात पाँत तथा ऊँच-नीच के विवादो को लेकर अपने गुरु तथा गुरु-बन्धुओ से उनका गहरा मतभेद हो गया। स्वामी रामानन्द धर्म की इस सकीर्णता को अमान्य समझकर स्वय ही अलग हो गये। उन्होने अपने नये धर्म सम्प्रदाय को प्रचलित किया, जो कि 'रामावत सम्प्रदाय' के नाम से कहा गया।

काशी मे वे पचगगा घाट पर रहने लगे। स्वामीजी के धार्मिक विचार बडे उदार और सार्वभौम थे। वे देश के विभिन्न तीर्थों तथा धार्मिक स्थलो का भ्रमण कर चुके थे और भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायियो के सम्पर्क मे रह चुके थे। इस्लाम धर्मानुयायियो का भी उन्होने सगर्म किया। उन्होने तत्कालीन समय मे प्रचलित सभी धर्म पन्थो के उच्च विचारो को ग्रहण कर उनमे समन्वय स्थापित किया और भगवद्-भक्ति के नये पन्थ का प्रचलन

किया। यद्यपि स्वामी रामानन्द से पूर्व शठकोप, मधुर कवि और कुलशेखर आदि आल्वार भक्त कवियों द्वारा राम नाम की महिमा का लोक में व्यापक प्रचार हो चुका था और तत्पश्चात् रामानुजाचार्य जैसे वैष्णवाचार्य ने राम की भक्ति तथा उपासना को सम्यक् आधार बना लिया था, तथापि रामोपासना को एकमात्र आधार बनाकर स्वतन्त्र रामोपासक सम्प्रदाय को स्थापित करने का श्रेय स्वामी रामानन्द को ही दिया जाना चाहिए। उन्होंने ही वैष्णव-साधना के इतिहास में सर्वप्रथम 'षडक्षर राममंत्र' को 'बीजमंत्र' के रूप में स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित किया। उन्होंने परम्परा से चली आ रही वैष्णवाचार्यों की सीमित एवं संकीर्ण मर्यादाओं से अपने मत को मुक्त कर मनुष्यमात्र के लिए रामनामजप का अधिकार घोषित किया। रामानन्द की इस उदार धार्मिक स्थापना का प्रभाव निर्गुणपन्थी निराकारवादी सन्तों पर भी पड़ा। सन्त कबीर ने निर्गुण ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित कर रामानन्द द्वारा प्रवर्तित नाम-साधना को नया मोड़ दिया। उनके परवर्ती नानक, दादू, गुलाल तथा जगजीवन आदि तत्त्ववेत्ता सन्तों ने भी रामनाम को निर्गुण पन्थ का आधार स्वीकार किया। रामानन्द के रामभक्ति मार्ग में सगुण, साकारवादी भक्तों ने भक्ति तथा प्रेम के भाव से और निर्गुण निराकारवादी सन्तों ने ज्ञान तथा योग के द्वारा उसका सामीप्य प्राप्त किया। इस प्रकार रामानन्द के प्रभाव से रामभक्ति का विभिन्न रूपों में विकास हुआ।

स्वामी रामानन्द द्वारा स्थापित एवं प्रवर्तित इस उदारतावादी धर्म-शाखा के मूल में एक दूरदर्शी उद्देश्य निहित था। उनके समय १३वीं-१४वीं शती का वह युग हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के लिए एक आसन्न संकट से आच्छन्न था। देश में बढ़ते हुए इस्लाम प्रभाव के कारण हिन्दू जनता के समक्ष धर्मरक्षा का एक नया संकट उपस्थित हो गया था। ऐसे समय धर्म की संकीर्णता, एकांगिता तथा अनुदारता को आधार बनाकर धर्म-प्रचार के लिए समाज में प्रवेश करना निरापद नहीं था। इसके अतिरिक्त धर्मान्धता और कट्टरपन्थी विचारों के फलस्वरूप जो पारस्परिक कलह एवं द्वन्द्व चल रहे थे, उनमें सामंजस्य स्थापित करने की समयोचित आवश्यकता थी। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर स्वामीजी ने अपने नये धर्म-पन्थ को अधिक लोकानुकूल बनाने की कोशिश की। उन्होंने तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम जनता के समक्ष एक ऐसे सर्वग्राह्य धर्म मार्ग का प्रवर्तन किया, जिसमें सभी धर्मों तथा जातियों के लोगों के लिए समान स्थान था। स्वामीजी की इस उदार धर्मभावना से प्रभावित होकर जिस निष्ठा एवं उत्सुकता से उसको हिन्दुओं ने अपनाया, उसी उत्सुकता एवं श्रद्धा से उसमें मुसलमान भी सम्मिलित हुए।

वस्तुत स्वामीजी ने इस नये धर्म पन्थ की स्थापना इसलिए की थी कि उस समय बढ़ते हुए मुस्लिम आतंक को कम किया जा सके और हिन्दुत्व की रक्षा के साथ-साथ एक ऐसे अवतारी आराध्य को धर्मप्राण जनता की आराधना का केन्द्र बनाया जा सके, जो स्वयं प्रजानुरागी हो और जिसके चरित्र मे सार्वभौम महनीयता विद्यमान हो। ऐसा नैतिक चरित राम का ही था। स्वामीजी ने सभी धर्मों, जातियों तथा वर्गों के लोगो को इस नये धर्मपन्थ मे समेटा। उनको विधिवत् दीक्षित किया। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, जुलाहा, चमार, शूद्र, जाति-बहिष्कृत, भाट, क्षत्रिय, यहाँ तक कि स्त्रियो ने भी स्वेच्छा से स्वामीजी के धर्म-सम्प्रदाय को वरण किया। सिखो ने भी उनको आदर-सम्मान दिया। इस प्रकार स्वामी रामानन्द द्वारा संस्थापित 'रामावतार सम्प्रदाय' बड़ी त्वरित गति से सारे देश मे फैला और साथ ही उनके प्रभाव से बहुसंख्यक मुस्लिम समुदाय, और विशेष रूप से तत्कालीन मुगल शासक भी अछूता न रहा।

युग की प्रवृत्तियो को दृष्टि मे रखकर उन्होंने एक ऐसे धर्म-मार्ग का प्रवर्तन किया, जिसमे साधना-उपासना की शास्त्रीय जटिलताएँ, यौगिक क्रियाएँ और कर्मकाण्ड की रूढ़ियाँ नही थी। जिसको वरण करने से भक्त को भगवान् की कृपा-दया-प्रीति सहज मे ही प्राप्त हो सकती थी। उनके इस उदार धर्म-पन्थ मे त्रिलोकीनाथ भगवान् राम और जगज्जननी माता सीता की लोकमंगलकारी दयामय लीलाओ का अभिव्यंजन था।

अपने मत के प्रचार-प्रसार के लिए स्वामीजी ने वीतराग वैरागियों का संगठन तैयार किया। उन्होंने नये धार्मिक आचरण का सूत्रपात किया जिससे हिन्दुत्व की तो रक्षा हुई ही, हिन्दुओं के प्रति धार्मिक विरोध भी शिथिल हुआ।

सिद्धान्त-निरूपण

सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वामी रामानन्द विशिष्टाद्वैत वेदान्त मत के अनुयायी थे। उनके सिद्धान्तो मे सगुण-निर्गुण, दोनों का समन्वय देखने को मिलता है। *स्वामीजी ने ब्रह्म शब्द वाच्य श्रीराम के सगुण-निर्गुण रूपों का सम्यक्* निरूपण करते हुए उनकी अनन्य भक्ति को मोक्ष का अव्यवहितोपाय स्वीकार किया है। उनके मतानुसार राम के साथ सीता की उपासना की प्रमुखता है। सीता यद्यपि राम की पत्नी हैं, किन्तु स्वामीजी ने उन्हें आद्याशक्ति के रूप मे सर्वप्रथम प्रतिष्ठित किया। वे दिव्य-श्री एवं स्वर्ण-श्री हैं, जो तन से प्राप्त हुई हैं। वे ही विश्व की चेतनाचेतन प्रकृति हैं।

श्रीराम को उन्होंने ब्रह्म माना है और इस प्रकार सीता-राम की युगल उपासना आराधना पर बल दिया है। भगवान् शेषी और जीव उनका शेष है। भगवान् ही समस्त जीवो के स्वामी हैं। जीव परतत्र है और भगवान् की निर्हेतुक कृपा को प्राप्त किये बिना उनको मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती है। भगवान् और जीव के पारस्परिक वही सम्बन्ध हैं, जो पिता-पुत्र, रक्षक-रक्ष्य, सेव्य-सेवक और आत्मा-आत्मी का है। राम ही जगत् के स्रष्टा एव पालक हैं। उन्ही मे वह विलीन हो जाता है।

त्रेता युग मे आविर्भूत श्रीराम अयोध्या के सूर्यवंशी राजा दशरथ के पुत्र और विष्णु के साक्षात् अवतार हुए। उन्होने लोक मे धर्म, नीति तथा मर्यादा की स्थापना की। अत वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये। वे न्याय, सुख तथा शान्ति से सम्पन्न रामराज्य के प्रतिष्ठाता थे और आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक विभिन्न तापो से रहित परब्रह्म परमेश्वर थे। राम अर्थात् 'रमण करने वाला', विश्व को अपने सौन्दर्य मे विमोहित करने वाला, पुरुषोत्तम, साक्षात् विष्णुस्वरूप एव सर्वव्यापी हैं। इस दिव्यरूप को स्वामीजी ने जीवो का इष्ट बताया।

सीतापति भगवान् श्रीराम समस्त गुणो के आकर, सत्यस्वरूप, आनन्दमय एव चित्स्वरूप हैं। वे लोकोत्तर बलशाली, अद्भुत दिव्य धनुर्धारी एव आजानुबाहु हैं। परम पुरुषोत्तम स्वरूप श्रीराम, सीता तथा लक्ष्मण के साथ नित्य विराजमान रहते हैं। वे जीवो के स्वामी हैं और जीवो के मनोवाछित धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष देनेवाले कल्पतरु हैं। राम साक्षात् ब्रह्म हैं और सीताराम के उपासको के आराध्य।

स्वामी रामानन्द ने भगवान् श्रीराम के अर्चावतार (प्रतिमावतार) के चार रूपो—व्यक्त, सैद्ध, द्वैत और मानुष—*की पूजा* षोडशोपचारपूर्वक करने का निर्देश *दिया है। सीताजी ही श्रीराम की प्राप्ति का* एकमात्र उपाय हैं। स्वामीजी के अनुसार जीव शेष है और भगवान् जीवो के स्वामी हैं। जीव मुमुक्षु और बुभुक्षु, दो प्रकार का है। इन दोनो की भी अनेक कोटियाँ या श्रेणियाँ है। सत्त्व रज-तम गुणों से युक्त, ईश्वराधीन रहने वाली और अहकारादि उत्पन्न करने वाली सत्ता ही प्रकृति है।

स्वामीजी के मतानुसार भगवान् की कृपा से सासारिक बन्धनो से मुक्त होकर साकेत लोक को प्राप्त कर परब्रह्म भगवान् राम के साथ नित्य क्रीडारत होना ही मुक्ति है। साकेत भगवान् का दिव्य लोक है।

इस प्रकार लोकमगलकारी, उदार, सार्वभौम धर्म का सन्देश देते हुए आजीवन श्रीराम की भक्ति मे अवगाहित, लोक के करुणावतार स्वामी

रामानन्द ने अपने साधना स्थान काशीजी के पचगगा घाट पर १४६७ वि० को मोक्षत्व प्राप्त किया।

उनके शरीरान्त के बाद उनके शिष्यो ने पचगगा घाट पर एक मठ की स्थापना की थी, जिसको धर्मद्रोहियो ने नष्ट कर दिया था। आज भी उनकी स्मृति मे वहाँ एक पाषाण वेदी निर्मित है, जिस पर स्वामीजी के पदचिह्न अकित हैं।

आचार-पद्धति

धार्मिक मान्यताओ की दृष्टि से रामानन्दी वैष्णव विष्णु के सभी अवतारो को मानते हैं। किन्तु राम को अपना अनन्य इष्टदेव मानते हैं। रामानुजी वैष्णवो की भाँति वे राम-सीता की युगल मूर्ति की आराधना करते हैं। शालिग्राम और तुलसी पर भी उनकी आस्था है। 'रामपूर्वतापनीयोपनिषद्' (४।७।१०) मे कहा गया है कि रामावत-पूजा पद्धति मे सीता तथा राम की युगल मूर्तियाँ पधराई जाती हैं। राम श्यामवर्ण, पीताम्बर धारण किये हुए, जूटाकृतिकेश आजानु भुजाएँ, कर्ण-कुण्डलधारी, गले मे वनमाला, धनुष-बाण धारण किये हुए, अष्टसिद्धियो से सम्पन्न, प्रसन्न एव दर्पयुक्त मुद्रा, बाँई ओर स्वतन्त्र या जघा पर आधृत माता सीता की प्रतिमा, दिव्य रत्नो से विभूषित हाथ मे दिव्य कमल धारण किये हुए माता सीता साथ मे बाँई जघा पर हाथ टेके हुए एव हाथ जोड़े हुए हनुमान् और इस युगल मूर्ति के पीछे लक्ष्मण खड़े दिखाये गये हैं। रामपचायतन मे चारो भाई, सीता और पार्षद हनुमान् अकित होते हैं। 'रामावत सम्प्रदाय' मे हनुमान् को आदरणीय पद दिया गया है।

'रामावत सम्प्रदाय' के अनुयायियो का बीजमत्र 'ओम् रामाय नम' है और ताम्त्रिक उपासना का मत्र 'रा रामाय नम' है। यद्यपि आचार-विचारो की दृष्टि से रामानन्दी भक्त रामानुजी भक्तो से भिन्नता रखते हैं, किन्तु वे श्री-सम्प्रदाय का चिह्न धारण करते हैं। इस दृष्टि से रामानुजियो और रामनन्दियो मे कोई विशेष अन्तर नही है। रामानन्दियो का तिलक कुछ छोटा होता है और उनकी पुड्र की अन्तर्वर्ती रेखा मे भी कुछ अन्तर होता है। इस सम्प्रदाय में शुक्लश्री, बिन्दुश्री, रक्तश्री और लस्करी आदि अनेक प्रकार के तिलक प्रचलित हैं। जय राम, जय सीताराम या सीताराम उनके अभिवादन वाक्य होते हैं।

साहित्य-निर्माण

स्वामीजी अपने युग के महापुरुष तो थे ही, अपितु प्रकाण्ड विद्वान् भी थे। वे वेद, उपनिषद्, दर्शन, पुराण और तत्त्वविद्या के उद्भट आचार्य थे।

रामानुज के 'श्रीभाष्य' और 'वाल्मीकि रामायण' के प्रति उनकी अगाध निष्ठा थी और इन दोनों ग्रन्थों का उन्होंने अध्ययन किया था। अन्य सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों की भाँति उन्होंने भी अपने सम्प्रदाय के अनुरूप 'ब्रह्मसूत्र', 'भगवद्गीता' और उपनिषद्, इस प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा था। उनके भाष्य का नाम आनन्दभाष्य है। यह भाष्य-ग्रन्थ उनके तत्त्व-विद्याविषयक गंभीर ज्ञान का परिचायक है।

इस प्रकार स्वामी रामानन्द ने ग्रन्थ-रचना के प्रति कम और धर्म-प्रचार के प्रति अधिक ध्यान दिया है। वास्तव में उस युग की जो परिस्थितियाँ थी और स्वामीजी को अपने उदार विचारों के कारण पग-पग पर जिन विरोधों तथा संघर्षों का सामना करना पड़ा, उनके कारण संभवतः उन्हें ग्रन्थ-निर्माण के लिए एकान्त एवं स्वस्थ वातावरण प्राप्त नहीं हो सका। उनके विरोधियों का एक वर्ग ऐसा बन गया था, जो उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष में कटु आलोचना करने लगा था और उनके पन्थ के प्रति द्वेष रखता था।

स्वामीजी के बाद उनके अनुयायियों ने व्यापक रूप से साहित्य का निर्माण कर उनकी परम्परा को प्रशस्त किया। जिस प्रकार रामानुजी सम्प्रदाय का साहित्य बहुधा हिन्दी में है, उसी प्रकार रामानन्दी सम्प्रदाय का साहित्य भी बहुधा हिन्दी में है। यही कारण है कि जनसामान्य में आज भी रामानन्दी रामभक्तों की परम्परा बनी हुई है। उनकी इस परम्परा का प्रवर्तन एवं समर्थन सन्त सम्प्रदाय के बहुसंख्यक भक्तों, महात्माओं और सन्तों ने किया।

नये सम्प्रदाय की स्थापना और शिष्य परम्परा

स्वामी रामानन्द आरम्भ में स्वामी रामानुजाचार्य के श्री-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने श्री-सम्प्रदाय की दीक्षा विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य स्वामी राघवानन्द से ग्रहण की थी। किन्तु जब वे देशाटन से लौटे और उनके गुरु तथा गुरुभाइयों ने खान-पान के नियमों की अवहेलना करने के अपराध में उन्हें पतितों की श्रेणी में जा गिराया, तो उन्होंने श्री-सम्प्रदाय से अपना सम्बन्ध तोड़ दिया। स्वामी रामानन्द तथा उनके अनुयायियों ने रामानुजी वैष्णव तिलक धारण नहीं किया और जात-पाँत, खान-पान सम्बन्धी आचार भी उनके श्री-वैष्णवों से भिन्न थे। यह संभव है कि अपने दक्षिण निवास के समय वे श्री-सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहे हों, किन्तु उत्तर भारत में आकर उन्होंने अपना नया रामावत मत स्थापित किया और राम-भक्ति पर बल दिया।

शैव सम्प्रदाय की भाँति वैष्णव सम्प्रदाय में भी 'अवधूत' कहे जाते हैं। जब स्वामी रामानन्द ने सर्वसामान्य को जाति-वर्ग धर्म के भेद-भाव के बिना अपने सम्प्रदाय में दीक्षा ग्रहण करने का अधिकार दे दिया था, तब उन्होंने अपने शिष्यों को 'अवधूत' यह नया नाम दिया। उसका अर्थ यह था कि उन शिष्यों ने अपने पुरातन पूर्ववर्ती स्वेच्छाचार के रूप को त्याग दिया था। उन्होंने श्रेष्ठ धार्मिक जीवन वरण कर अपनी व्यक्तिगत चर्या को समाप्त कर दिया था और समाज तथा प्रकृति के बन्धनों को तोड़ दिया था। ऐसे रामानन्दी साधु शंकरमतानुयायी दशनामी सन्यासियों से अधिक कठोर होते हैं और अनुशासनात्मक तथा त्यागमय जीवन बिताते हैं।

स्वामी रामानन्द के इन सामयिक धार्मिक उपदेशों का व्यापक प्रभाव पड़ा और बड़ी सरता से समाज उनका अनुयायी बना। नाभादास के 'भक्तमाल' में स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों का उल्लेख हुआ है, जिनके नाम थे—१. कबीर, २ रैदास, ३. पीपा, ४ सुरसुरानन्द, ५ सुखानन्द, ६. भवानन्द, ७ धना, ८ सेन, ९. महानन्द, १० परमानन्द, ११. श्रियानन्द और १२ अनन्तानन्द। इन शिष्यों ने स्वामी रामानन्द के रामनाम को जन-सामान्य की निष्ठा का विषय बनाया। जैसे उनके ये शिष्य दार्शनिक विचारों में उदार थे, वैसे ही धार्मिक आस्थाओं की दृष्टि से भी समन्वयवादी थे।

स्वामीजी के अनुयायियों में अनेक ऐसे विद्वान्, कवि और सन्त हुए, जिन्होंने अपने विचारों, अपनी कृतियों तथा दिव्य वाणियों से धर्मप्राण भारतीय जनता को उसके उदात्त एवं आदर्शमय चरित्र को बनाये रखने के लिए प्रेरित किया। ऐसे सन्तों में सन्त कील्हदास का नाम उल्लेखनीय है। वे स्वामी रामानन्द के समकालीन (१४वीं शती ई०) में वर्तमान थे और 'रामावत सम्प्रदाय' के अनुयायी थे। किन्तु किसी मतभेद के कारण बाद में वे रामानन्दी मतानुयायियों से अलग हो गये थे और उन्होंने अपने स्वतन्त्र 'खाकी मत' की प्रतिष्ठा की। इस नये धार्मिक मत का आगे कितना विस्तार हुआ, इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान नहीं होता है।

रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक वैष्णव कवियों में स्वामी अग्रदास का नाम उल्लेखनीय है। नाभादास इन्हीं के शिष्य थे और इन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने 'भक्तमाल' की रचना की थी। इनका जन्म १६६२ वि० के लगभग माना जाता है। जयपुर (राजस्थान) की गल्ता नामक प्रसिद्ध गद्दी के ये संस्थापक थे। उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है—रामानन्द, अनन्तानन्द, कृष्णदास (अष्टछाप के कृष्णदास से भिन्न) और अग्रदास।

वर्तमान रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायियों के सात प्रमुख अखाड़े हैं, जिनके नाम हैं—१ निर्वाणी, २ खाकी, ३ सन्तोषी, ४. निर्मोही, ५ बल-भद्री, ६ टाटम्बरी और ७ दिगम्बरी। इनमें से अधिकतर अखाड़े सम्प्रति त्याग, सेवा, भगवद्भक्ति की परम्परा का निर्वाह करने की अपेक्षा वैभव, सम्पत्ति तथा प्रभुत्व की ओर अधिक आकर्षित हैं। अपनी वैभवपूर्ण महिमा को प्रदर्शित करने की दिशा में उनकी अधिक अभिरुचि दिखाई देती है। उनकी अपनी पचायतें हैं। उनके महन्त एवं मठाधीश लोग व्यवसाय तथा धनोपार्जन करने में प्रवृत्त हैं। धर्माचरण की मूल भावना तथा परम्परा को उन्होंने लगभग उपेक्षित कर दिया है।

रामदासी सम्प्रदाय

वैष्णव धर्म की मध्यकालीन शाखाओ मे 'रामदासी सम्प्रदाय' का भी एक नाम है। स्वामी रामानन्द ने वैष्णव धर्म की जिस रामोपासना का निरूपण अपने 'रामावत सम्प्रदाय' मे किया, उसका प्रभाव आगे के अनेक धर्मप्रवर्तक आचार्यों तथा सन्तो पर परिलक्षित हुआ। 'रामदासी सम्प्रदाय' उसी का परिणाम है। इस सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य स्वामी रामदास या समर्थ रामदास का जन्म गोदावरी नदी के तट पर स्थित जामगॉव (या जम्मू) नामक स्थान मे रामनवमी तिथि को १५३० शक (१६०८ ई०) को हुआ। उनका पैतृक बाल्य नाम नारायण था। उनके जीवन के सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारी प्रसग इतिहास मे देखने को मिलते हैं।

कहा जाता है कि रामभक्ति मे उनकी बाल्यकाल से ही स्वाभाविक अभिरुचि उत्पन्न हो गई थी। वे स्वभाव से एकान्तप्रिय थे और प्राय अपने-आप मे विचारमग्न रहा करते थे। उनके सम्बन्ध मे यह भी कहा जाता है कि माता के मनाने पर किसी तरह वे विवाह के लिए तैयार हुए थे और बड़े आग्रह करने पर विवाह-वेदी तक गये थे। किन्तु एकाएक आन्तरिक प्रेरणा से वे सजग हुए और विवाह-मण्डप से भाग गये थे। वहाँ से चलकर वे नासिक के समीप पचवटी मे एक गुफा मे छिप गये थे। तब से उन्होंने घोर वैराग्य का जीवन व्यतीत किया।

योगी रामदास के साधनामय कठोर जीवन के अनेक प्रेरणादायी प्रसग देखने को मिलते हैं। पचवटी के निकट हाकली नामक स्थान पर गोदावरी नदी के जल मे आकण्ठ डूब कर उन्होंने निरन्तर बारह वर्षों की लम्बी अवधि मे गायत्रीजप तथा रामजप किया। अपने इसी साधना-काल मे उन्होंने पवित्र धार्मिक एव विद्या की नगरी नासिक मे सुयोग्य विद्वानो का सत्सग प्राप्त कर उनसे वेद शास्त्रो तथा धार्मिक विषयो का विधिवत् अध्ययन किया। अपने कठोरतम तपस्वी एव विद्याभ्यासी के रूप में वे एक सिद्ध सन्त एव विद्वान् पुरुष के रूप म प्रसिद्ध हुए।

शकराचार्य की परम्परा का अनुसरण करते हुए समर्थ रामदास ने भारत के चारो अचलो एव चारो प्रतिष्ठित प्रसिद्ध पुरातन तीर्थों का दर्शन-भ्रमण किया। तीर्थ भ्रमण की इस यात्रा को प्रस्थान करने से पूर्व उन्होंने अपनी तपस्थली टाकली मे महाबली हनुमान् की मूर्ति की प्रतिष्ठा करके

उसके समग्र देशोद्धार का सकल्प किया। देश के विभिन्न अचलो तथा तीर्थ-स्थानो का भ्रमण करते हुए उन्होने देश की तत्कालीन परिस्थितियो का अध्ययन किया। उन्होने अनुभव किया कि देशवासी अनेक प्रकार के सकटो से घिरे हुए हैं और जन-मानस का आत्मबल क्षीण होता जा रहा है तथा परम्पराएँ विस्मृत होती जा रही हैं। उन्होने समाज मे कर्मयोग की स्थापना कर उसे उद्‌बोधित करने का सकल्प किया। कृष्णा नदी के पवित्र तट पर समर्थ रामदास ने अपने कर्मप्रधान धर्ममत की प्रतिष्ठा की, जिसको कि 'रामदासी सम्प्रदाय' के नाम से कहा गया। उनका यह सम्प्रदाय राष्ट्रीय पुनर्जागरण का शखनाद था।

स्वामीजी ने एक सुगठित शिष्य-मण्डली तैयार की और धर्म-प्रचारार्थ उसे देश के कोने-कोने मे भेजा। उनका धर्म-सन्देश महाराष्ट्र के घर घर तक पहुँचा। उनकी कर्मठ शिष्य-मण्डली ने निरुत्साहित, विपन्न एव उदासीन जनता को धर्म-मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। उनके अनुयायियो ने जन-मानस मे उसके परम्परागत मूल स्वत्वो तथा गौरवान्वित जीवन की ओर सचेत किया।

निरन्तर ईश्वर चिन्तन और तीर्थाटन के कारण उनकी प्रज्ञा स्वत प्रस्फुटित हुई और उनके सिद्ध एव चमत्कारी व्यक्तित्व का प्रभाव समाज पर इतना अधिक परिलक्षित हुआ कि कहा जाता है महाराज शिवाजी स्वय उनके पास आये और उन्हे गुरु के रूप मे वरण किया। यह घटना १६५० ई० की है। सभवत तभी से उनके नाम के आगे समर्थ शब्द योजित हुआ। शिवाजी को शौर्य तथा गौरव प्राप्त कराने मे उन्ही का योगदान रहा है।

यद्यपि समर्थ रामदास की प्रेरणा से शिवाजी ने ससार त्याग दिया था, तथापि स्वामीजी ने ऐसे कर्मठ एव त्यागी व्यक्ति को राष्ट्रीय उत्थान की ओर प्रवृत्त कर उन्हे तत्कालीन हिन्दुत्व के सकट को दूर करने के लिए प्रेरित किया। उन्होने झोली लेकर भिक्षाटन तथा सन्यास धारण करने की अपेक्षा शिवाजी को हिन्दू धर्म तथा सस्कृति पर छाये आसन्न सकट को दूर करने के उद्देश्य से कर्ममार्ग पर लगाया। स्वामीजी के प्रोत्साहन से शिवाजी ने हिन्दुत्व के उत्थान के लिए जो कार्य किया, इतिहास मे वह अवि-स्मरणीय है।

समस्त देश मे, और विशेष रूप से महाराष्ट्र मे हिन्दू सस्कृति के पुनरुत्थान के लिए स्वामीजी ने जो कार्य किया, वह स्वर्णाक्षरो में लिखा गया। दोनो महापुरुषो ने मिलकर धर्म सरक्षण एव धर्म-जागरण के लिए जनता को उद्‌बोधित किया। हिन्दू साम्राज्य की स्थापना के महान् कार्य

मे महाराज शिवाजी को समर्थ रामदास का सहयोग सहायक सिद्ध हुआ। स्वामीजी के आदेश निर्देशो पर महाराज शिवाजी ने राष्ट्रीय सगठन का अपना सकल्प पूरा किया।

जीवन का उत्तरार्द्ध

अपने समस्त जीवन काल मे स्वामी समर्थ रामदास लोकहितकारी कार्यों मे लगे रहे। उनसे शिवाजी ने आशीष प्राप्त कर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना का अपना सकल्प साकार किया। जीवन के अन्तिम समय शक १५७२ को स्वामीजी ने सतारा के समीप सज्जनगढ को अपना स्थायी निवास बना लिया था। अपनी शिष्य मण्डली द्वारा वे देशवासियो को उनके कर्तव्यो के प्रति जागरूक करते रहे। छत्रपति शिवाजी को राज्य-सचालन मे उनका पथ प्रदर्शन करते रहे। शिवाजी के निधन के बाद उनके उत्तराधिकारी सभाजी को उन्होने परम्परा को आगे बढाने के लिए निरन्तर प्रोत्साहित किया। किन्तु शिवाजी की वर्चस्वी परम्परा को आगे बढाने मे तथा उसे सुरक्षित रखने मे सभाजी सफल न हो सके।

अपने सुयोग्य शिष्य हिन्दुत्व तथा राष्ट्रप्रेम की ज्वलन्त दीपशिखा के बुझ जाने के कारण, शिवाजी के निधन के आघात से स्वामीजी ने १६८९ ई० को शरीर त्याग दिया। सज्जनगढ मे उन्होने शरीर छोडा। वहाँ पर आज भी रामदासी मन्दिर तथा रामदासी मठ विद्यमान है। उनकी पवित्र समाधि भी यही पर बनी है। इसी कारण सम्प्रदाय का यह सर्वश्रेष्ठ तीर्थस्थान है। हिन्दुत्व के प्रति गर्व करने वाले प्रत्येक देशवासी के लिए यह पुण्य स्थान है।

परम्परा का प्रवर्तन

स्वामी समर्थ रामदास ने जिस धर्म शाखा की स्थापना की थी, उनके जीवन काल मे ही उसको देशव्यापी लोकप्रियता प्राप्त हुई। उन्होंने जीवन के उत्तरार्द्ध मे ऐसे सुयोग्य उत्तराधिकारी को सम्प्रदाय के उन्नयन का कार्यभार सौंप दिया था, जो उनका प्रमुख शिष्य और अभिन्न सहयोगी था। किन्तु असमय मे ही शिवाजी का निधन हो जाने के कारण स्वामीजी को बडा आघात लगा। महाराज शिवाजी ने सभाजी को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। किन्तु वे सफल न हो सके। फिर भी सभाजी ने जीवन के अन्तिम समय मे जिस साहस, शौर्य और परम्परा की गरिमा का परिचय दिया, उससे उनकी पिछली अपकीर्ति धुल गई। उन्होने अपने निकटतम मित्र एव सलाहकार कविकलश के सहयोग से अपनी गौरवरक्षा के लिए औरगजेब की शक्तिशाली मुगल सेना से लोहा लिया और अन्त मे मुगलो द्वारा बन्दी बनाये जाने पर ११ मार्च, १६८९ ई० को दोनो को मृत्युदण्ड दिया गया। देशरक्षा के लिए बलिदान की उनकी जीवन-आहुति ने, निराश महाराष्ट्र के

जन-मानस में नई स्फूर्ति का संचार किया। यद्यपि 'रामदासी सम्प्रदाय' की क्रमबद्ध शिष्य-परम्परा स्थापित न हो सकी, तथापि उनके आत्मगौरव के जो बीज स्वामीजी ने बोये थे, समस्त हिन्दू समाज के हृदयों में वे उग चुके थे। व्यापक हिन्दू समाज में स्वामी रामदास और छत्रपति शिवाजी के गौरवशाली व्यक्तित्वों की गहरी छाप आज भी अमिट है।

सिद्धान्त-निरूपण

स्वामी समर्थ रामदास एक महान् संगठनकर्ता थे। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य राष्ट्रीय एकता और समाजोद्धार बनाया था। इसलिए दार्शनिक या सैद्धान्तिक विषयों के प्रतिपादन की ओर उनका ध्यान नहीं रहा। उन्होंने अन्य सम-सामयिक आचार्यों की भाँति अपने सम्प्रदाय की, अपने मत की पुष्टि के लिए न तो प्रस्थानत्रयी पर भाष्य-टीका लिखी और न कोई ऐसा ग्रन्थ लिखा, जिसमें सम्प्रदाय की आचारिक तथा वैचारिक विशिष्टता का प्रतिपादन हो। अपने 'दासबोध' में उन्होंने अवश्य दार्शनिक विषयों पर प्रकाश डाला है, किन्तु उनके ये विचार सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की अपेक्षा सामान्य दार्शनिक विषयों से सम्बद्ध हैं। 'दासबोध' का पूर्वार्द्ध इस दृष्टि से अवलोकनीय है।

स्वामीजी ने अपना उपास्यदेव श्रीराम और महाबली मारुति को बनाया है। उनसे पूर्व 'रामावत सम्प्रदाय' के संस्थापक यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य श्रीराम की महिमा का प्रतिपादन कर चुके थे। अवतारी श्रीराम को परब्रह्म और जीवों के एकमात्र आधार मान चुके थे। स्वामी समर्थ रामदास ने भी उसी परम्परा में श्रीराम के परम पुरुषोत्तम स्वरूप को अपनी आराधना उपासना का विषय बनाया। किन्तु उन्होंने विशेष रूप से श्रीराम के लोकमंगलकारी, लोकमर्यादासम्पन्न पक्ष पर बल दिया। साथ ही उनके गरिमामय, ओजस्वी, लोकरक्षक, मर्यादित और वीरता के उच्च आदर्शों को वरीयता से ग्रहण किया। उन्हीं उदात्त गुणों को समाज में भी प्रचलित किया। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर रामजन्मोत्सव का आयोजन किया और साथ ही राम के मन्दिरों का निर्माण कराया। उनमें श्रीराम की मूर्तियाँ स्थापित कीं। राम के आदर्शमय चरित को वे राष्ट्र के धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन के लिए अनुकरणीय मानते थे। इस दृष्टि से उनके द्वारा प्रवर्तित मत धर्मोन्नति के साथ-साथ सांस्कृतिक अभ्युन्नति का भी प्रेरक सिद्ध हुआ। उसमें जातीय स्वाभिमान का भी आदर्श निहित था। जीवन के ऐहिक तथा पारलौकिक, दोनों पक्षों के उन्नयन के लिए उन्होंने 'भगवद्गीता' के कर्मयोग को अपनाया और उसी को एकमात्र साध्य माना।

स्वामीजी परम रामभक्त थे और इसलिए रामभक्त हनुमान् को भी उन्होंने अपना आराध्यदेव माना। उनके महाबलशाली स्वरूप को स्वामीजी ने

आराधना की। उन्होंने महाराष्ट्र के विभिन्न भागो मे ग्यारह हनुमान् मन्दिरो का निर्माण कराया। वे हनुमान् मन्दिर न केवल पूजा-प्रतिष्ठा के स्थल थे, एक प्रकार से स्वामीजी के सगठनात्मक धर्म-प्रचार के भी केन्द्र थे।

स्वामीजी के आध्यात्मिक विचारो पर महाराष्ट्र के पूर्ववर्ती कविभक्तो एव सन्तो की वाणियो का प्रभाव था। ऐसे भक्तकवियो मे मुकुन्दराज, दासोपन्त, त्र्यम्बकराज, एकनाथ और ज्ञानेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। उन सन्तो की भाँति स्वामी रामदास के अभग भी लोकवाणी में समाहित हैं और उनकी लोकप्रियता आज तक बनी हुई है।

आचार-पद्धति

'रामदासी सम्प्रदाय' के अनुयायियो की आचार परम्परा का विशेष उल्लेख देखने को नही मिलता है। इस सम्प्रदाय मे सनातनी हिन्दुओं की आचार परम्परा देखने को मिलती है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियो का गोपनीय महामन्त्र है, जो कि दीक्षा के समय प्रत्येक दीक्षित भक्त को दिया जाता है। वे अपना स्वतन्त्र चिह्न धारण करते हैं।

ग्रन्थ निर्माण

स्वामी समर्थ रामदास जितने सिद्ध एव साधक थे, उतने ही विलक्षण विद्वान् एव तत्त्ववेत्ता भी थे। वे सस्कृत, मराठी, गुजराती और हिन्दी के पूर्ण ज्ञाता थे। समाज मे व्यापक प्रचार-प्रसार की इच्छा से उन्होंने अपने धर्म-दर्शन विषयक विचारो को ग्रन्थ रूप मे निबद्ध किया। उन्होंने फुटकर अभग, भजन, मनाचे श्लोक, 'करुणाष्टक' और 'दासबोध' आदि अनेक ग्रन्थो का प्रणयन कर मराठी साहित्य का सवर्द्धन किया और समाज को धर्म मे प्रवृत्त किया। उनका कृतित्व 'भगवद्‌गीता', 'उपनिषद्' 'रामायण' और 'महाभारत' आदि श्रेष्ठतम ग्रन्थो से प्रभावित है। 'दासबोध' उनका सर्वोच्च ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना एक समय मे न होकर अनेक वर्षों के अन्तराल मे समय-समय पर हुई। उसके पूर्वार्द्ध मे दार्शनिक एव आध्यात्मिक विषयो का प्रतिपादन किया गया है। उसके उत्तरार्द्ध मे राजकारण, समाजकारण, व्यवहारचातुर्य तथा लोकसग्रह आदि ऐसे विषयो पर प्रकाश डाला गया है, जो राष्ट्रधर्म से सम्बन्धित है। उनका यह ग्रन्थ धार्मिक कम, किन्तु दार्शनिक अधिक है। उसमे अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

स्वामी समर्थ रामदास की वाणी मे ओजस्विता, करुणा और पारमार्थिकता का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। चारित्रिक एव राष्ट्रीय गुणों से ओत-प्रोत उनका साहित्य हिन्दुत्व की गरिमा का रक्षक एव उन्नायक होने के कारण अपना विशेष महत्त्व रखता है।

सहजिया नारायण सम्प्रदाय

भारत के उत्तर-मध्ययुगीन धर्म-शाखाओं में 'सहजिया नारायण सम्प्रदाय' का भी एक नाम है। इस सम्प्रदाय में विष्णु के पर्याय नारायण की उपासना-आराधना की गई है। नारायण का नाम वेदों से लेकर पुराणों तक व्यापक रूप में उल्लिखित है। ऋग्वेद (२।११।२०) में एक स्थल पर कहा गया है कि 'आकाश पृथ्वी और देवताओं से भी पहले वह गर्भाण्डरूपी वस्तु क्या थी, जो सर्वप्रथम जलपर ठहरी थी और जिसमें सभी देवताओं का अस्तित्व था, जिसके भीतर सभी विद्यमान थे ? इस उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि सृष्टि का आरम्भ होने के समय जल का अस्तित्व सर्वप्रथम था। इस आधार पर नारायण (जल) को जगत्स्रष्टा माना जा सकता है। 'नारायण', यह शब्द वस्तुत: सृष्टि-विषयक भावना का प्रतीक है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनेक स्थलों पर (यथा—१२।३।४, १३।६ आदि) और 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१०।११,१२।११) में नारायण अथवा पुरुषनारायण का सर्वव्यापी, श्रेष्ठतम, परमदेव परमात्मा के रूप में उल्लेख हुआ है। वे ही हरि हैं और उन्होंने ही ऋग्वेद के 'पुरुषसूक्त' का प्रणयन किया।

ऊपर ऋग्वेद में जिस नारायण का उल्लेख हुआ है, उसका सम्बन्ध वैष्णव भक्ति के उपास्यदेव से जोड़ना उचित नहीं है। आरण्यकों में विष्णु तथा नारायण को भिन्न भिन्न माना गया है, किन्तु जहाँ विष्णु का सम्बन्ध है, वह केवल यज्ञों तक ही सीमित था, वहाँ नारायण का महत्त्व शक्तिमान परमेश्वर के रूप में स्वीकार किया गया था। 'महाभारत' (स्व० ५।२४) में श्रीविष्णु के वाराह, नृसिंह आदि अवतार नारायण के ही अवतार कहे गये हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि महाभारत काल में विष्णु तथा नारायण की अभिन्नता स्थापित हो चुकी थी। 'महाभारत' के शान्ति पर्व (मोक्ष-धर्म) में स्वतंत्र रूप से 'नारायणीय उपाख्यान' वर्णित है। उसमें नारायण धर्म का विस्तार से उल्लेख किया गया है। उसमें कहा गया है कि एक बार महर्षि नारद उत्तर दिशा में क्षीरसागर तट पर स्थित श्वेतद्वीप में गये। उस द्वीप के श्वेतपुरुष भगवान् नारायण की पूजा करते थे। महाभारत काल में नारायण अपने भाई नर के साथ सुवर्णमय रथ पर बैठकर तपस्या करता था (महाभारत, शा० १२।२४)।

नारायण की उपासना-आराधना कब से आरम्भ हुई और उसकी परम्परा किस रूप में आगे बढ़ी, इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता

है। लगभग १८वीं शती में वैष्णव धर्म की एक शाखा के रूप में नारायण सम्प्रदाय का उदय हुआ। इस सम्प्रदाय के मूल संस्थापक का नाम स्वामी सहजानन्द था। उनका जन्म सरवारिया स्थित छपैया नामक गाँव में १७८१ ई० को हुआ था। उनका बाल्यनाम हरिकृष्ण या घनश्याम था। उनके पिता का नाम कर्मदेव और माता का नाम भक्तिदेवी था। जाति से वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे। बालक के जन्म के लगभग दो-ढाई वर्ष पश्चात् पिता कर्मदेव ने छपैया छोड़कर अयोध्या में आकर स्थायी रूप से निवास कर लिया था। इस प्रकार अयोध्या ही उनका निवास बना रहा।

जब घनश्याम की आयु केवल ग्यारह वर्ष की थी, वे माता पिता, दोनों की साया से वंचित हो चुके थे। यद्यपि अभी वे केवल बालक थे, किन्तु अपनी प्रत्युत्पन्नता और अपने जन्मार्जित संस्कारों के कारण उनके मन में अलौकिक प्रेरणा जागी। संसार की निःसारता और मनुष्यजीवन की क्षणभंगुरता ने उनको उद्वेलित कर दिया। वे विरक्तों की भाँति घर छोड़कर शान्ति तथा मन के समाधान के लिए देशाटन को निकल पड़े।

अपनी यात्रा का प्रथम लक्ष्य उन्होंने उत्तराखण्ड को बनाया। वे सुदूर अयोध्या से चलकर दुर्गम तथा घोर वनाच्छादित पर्वतों को लाँघकर बदरिकाश्रम पहुँचे। जोशीमठ में उन्होंने शंकराचार्य द्वारा स्थापित धाम के दर्शन किये, भगवान् बादरायण व्यास के पवित्र पीठ के प्रति नमन किया और तत्पश्चात् साधकों के परम आराध्य योगीश्वर नारायण के दर्शनों की उत्कण्ठा पूरी की। उस साधना-भूमि में आत्मदर्शी दिव्य विभूतियों की कमी नहीं थी। वहाँ कुछ दिन ठहर कर उन्होंने गोपाल नामक एक विद्वान् सन्यासी का सत्संग प्राप्त किया। उनसे सन्यासधर्म में दीक्षा प्राप्त कर उनके सदुपदेशों को ग्रहण किया। उनसे परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया।

उत्तराखण्ड से वे सीधे दक्षिण भारत की यात्रा पर गये। वे परम धाम रामेश्वरम् गये और वहाँ भगवान् के दर्शन कर पण्ढरपुर तथा कच्छ (भुज) की यात्रा पर गये।

जिन दिनों ब्रह्मचारी-वेश में वे दक्षिण भारत की यात्रा पर थे, उन दिनों वहाँ स्वामी रामानन्द का 'रामावत सम्प्रदाय' का व्यापक प्रभाव था। उससे प्रभावित होकर वे किसी रामानन्दी या रामानन्द नामक रामावती साधु के सम्पर्क में आये। वे उनके आश्रम में रुक गये। उन्होंने उस साधु से रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय की विधिवत् दीक्षा प्राप्त की और सम्प्रदाय के नये नाम सहजानन्द से प्रसिद्ध हुए। वे वहीं गुरु के सहवास में रहने लगे।

कालान्तर में १८०२ ई० को दीक्षा गुरु के समाधि ग्रहण करने पर वे उनके उत्तराधिकारी बने। वे वहाँ की गद्दी के उत्तराधिकारी बने अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं होता है, किन्तु दक्षिण भारत में वह कोई प्रसिद्ध गद्दी थी, जिसके वे आचार्य बने। उनके दीक्षा-गुरु का नाम भी सम्भवतः रामानन्द ही था। गुरुपाद के शरीरत्याग के उपरान्त स्वामी सहजानन्द ने सम्प्रदाय की परम्परा को अधिक प्रभावशाली एवं व्यवस्थित ढंग से प्रवर्तित किया। उन्होंने सत्संगों का आयोजन किया और उनमें भजन, कीर्तन तथा उपदेश प्रवचन की नियमित व्यवस्था की। कुछ ही समय में उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई। बहुसंख्यक जनता उनकी अनुयायी हो गई। १८०४ ई० में स्वामीजी ने भक्ति और भगवदाराधन का अपना नया पन्थ प्रचलित किया, जो कि रामानन्दी वैष्णवों से अपेक्षया भिन्न था। उन्होंने अपनी इस नयी धर्म-शाखा का नामकरण किया 'नारायणी सम्प्रदाय' या 'उद्धवी सम्प्रदाय'। इस कारण वे स्वामी नारायण के नाम से भी कहे जाने लगे।

अपने नये धार्मिक पन्थ की नींव डालकर स्वामीजी ने गुजरात-काठियावाड़ की यात्रा की। वहाँ जाकर उन्होंने अनुभव किया कि धर्म के नाम पर वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी ऐसी दोषपूर्ण प्रथाओं को प्रचलित कर रहे हैं, जो धर्मानुकूल नहीं है। वहाँ की जनता में स्वामी सहजानन्द ने चारित्रिक शुद्धता पर बल दिया और प्रचलित कुप्रथाओं को दूर किया। उन्होंने उस समाज के सम्मुख धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत किया और पवित्र जीवन व्यतीत करते हुए परमेश्वर की शरणागति में जाने के लिए जन-सामान्य को प्रेरित किया। धर्म के विषय को लेकर वल्लभ सम्प्रदाय से उनके घोर विरोध रहे।

स्वामीजी स्वयं अधिक पढ़े लिखे नहीं थे, किन्तु अनेक तीर्थों तथा आत्मदर्शी महात्माओं का दर्शन-लाभ प्राप्त कर चुके थे। उनके सम्पर्क में रहकर आत्मज्ञानी हो चुके थे। अतः वे एक सिद्ध महापुरुष के रूप में प्रसिद्ध हुए। उन्होंने मानव मात्र को एक माना और समस्त धर्मानुयायियों को अपने मत में सम्मिलित होने का आमंत्रण दिया। उनकी देवोपम वाणी से प्रभावित होकर क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, सभी जातियों और ऊँच नीच के वर्ग भेद को भुलाकर सभी क्षेत्रों के लोग उनकी शरण में आये।

परम्परा का प्रवर्तन

स्वामी सहजानन्द ने केवल ४८ वर्ष की अल्पायु बिता कर १८२९ ई० में शरीर त्याग किया। उनके बाद उनके प्रमुख सात शिष्यों ने इस सम्प्रदाय

का प्रचार-प्रसार किया। उनका अधिक प्रचार गुजरात मे हुआ। स्वामीजी के सात शिष्यो के नाम ये—१. स्वामी गुणातीतानन्द, २ स्वामी गोपालानन्द, ३ स्वामी नित्यानन्द, ४ स्वामी शतानन्द, ५ स्वामी निष्कुलानन्द, ६ स्वामी मुक्तानन्द और [redacted] स्वामी ब्रह्मानन्द। स्वामी प्रेमानन्द ने नारायणी सम्प्रदाय का उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार किया।

उत्तर-मध्ययुगीन भक्तकवियो मे स्वामी परमानन्द की गुजरात-लोकजीवन तथा गुजरात साहित्य मे बहुत ख्याति है। उनका मूल स्थान बडोदा था और वहाँ से समय-समय पर दूसरे अचलो की यात्रा कर वे अन्त मे स्वामी सहजानन्द के ससर्ग से वैष्णव धर्मानुयायी हो गये थे। वे बडे विद्वान् थे और उन्होने 'दशमस्कन्ध', 'रुक्मिणीहरण', 'बाललीला', 'भ्रमर-गीता' 'दानलीला' आदि तीस से अधिक कृतियो का प्रणयन किया। उनकी रचनाओ पर 'रामायण', 'महाभारत', 'भागवत' और विपुल पुराण-साहित्य का प्रभाव है। अपनी कृतियो मे उन्होंने कृष्ण और राम की लीलाओ का गायन किया है। यद्यपि उन्होंने श्रीकृष्ण के विभिन्न स्वरूपो और लीलाओ पर अनेक ग्रन्थो की रचना की, किन्तु रामभक्ति के प्रति उनका विशेष रुझान रहा। उन्होने उपदेश, भजन, कीर्तन आदि की अपेक्षा ग्रन्थ-रचना पर विशेष बल दिया। उनकी भक्ति-रचनाओ पर गुजरात के भालण तथा नाकर आदि गुजराती आख्यानकारो का प्रभाव है।

उन्होने स्वामी सहजानन्द द्वारा सस्थापित 'नारायण सम्प्रदाय' को परम्परानुसार प्रवर्तित करने की अपेक्षा उसे राम-कृष्ण की सयुक्त भक्ति का स्वरूप देकर बहुमुखी बनाया। गुजरात के लोक-जीवन मे आज भी ऋतु-उत्सवो, विभिन्न धार्मिक आयोजनो के समय उनकी रचनाओ को बडे उल्लास से गाया जाता है।

साहित्य-निर्माण

नारायण सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ 'शिक्षापत्री' है, जो कि सस्कृत मे है। उसमे केवल २१ श्लोक हैं। इसे कुछ विद्वान् किसी अज्ञातनामा ब्राह्मण की रचना मानते हैं, किन्तु सम्प्रदाय के अनुयायियो का मत है कि उसका प्रणयन स्वय स्वामी सहजानन्द ने किया। सम्प्रदाय के अनुयायियो ने उन श्लोको का सकलन कर 'शिक्षापत्री' के नाम से उनका सम्पादन किया। अनुयायी स्वामीजी को नारायण का साक्षात् स्वरूप परब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के रूप मे मानते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी चतुर्मुखी विष्णु के स्थान पर द्विमुखी विष्णु की पूजा करते हैं और उसे स्वामीजी का प्रतीक चिह्न मानते हैं।

उक्त 'शिक्षापत्री' के अतिरिक्त परम्परा के विद्वान् आचार्यों ने समय-समय पर अन्यान्य महत्त्वपूर्ण कृतियों का निर्माण कर साहित्य की अभिवृद्धि की। इस प्रकार की कृतियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

सिद्धान्त-निरूपण

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त उदार और लोकोपयोगी हैं। उनमें जात-पाँत तथा छुआछूत को कोई स्थान नहीं है। स्वामीजी ने सभी जाति तथा धर्मों के लोगों को समान रूप से अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। स्वामीजी, जैसा कि कहा जा चुका है, अधिक पढ़े लिखे नहीं थे, किन्तु आत्मदर्शी थे। अन्य धर्माचार्यों की भाँति उन्होंने सम्प्रदाय के दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष पर कम कहा है, बल्कि जिसका अनुसरण-आचरण सर्वसामान्य कर सके, ऐसे सरल धर्ममार्ग पर चलने का निर्देश किया है। उन्होंने अपनी स्फुट शिक्षाओं में, जिनका सकलन उनके उत्तराधिकारियों ने किया, कृष्णभक्ति को सर्वोच्च माना है। उन्होंने भगवान् नारायण (विष्णु) के अवतार श्रीकृष्ण की सेव्य सेवक-भक्ति का उपदेश दिया। उन्होंने भक्ति को ही मुक्ति का साधन माना है। मूर्तिपूजा को स्वीकार किया। यह उल्लेखनीय है कि नारायण सम्प्रदाय की साधना-पद्धति वल्लभ सम्प्रदाय के अनुरूप है। भक्ति का स्वरूप भी पुष्टिमार्गीय है। सत्संग की महिमा पर बल दिया गया है। किन्तु आचार की दृष्टि से उनका वल्लभ सम्प्रदाय से मतभेद है।

आचार एवं दीक्षा

इस सम्प्रदाय के कुछ विशिष्ट आचार हैं, जो कि किसी अन्य धर्म-शाखा में देखने को नहीं मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप उनके मन्दिरों में स्त्री पुरुषों का स्पर्श सर्वथा वर्जित है। कहीं कहीं तो स्त्री-पुरुषों के लिए अलग-अलग मन्दिर हैं। मन्दिरों में मूर्तियों की अपेक्षा चित्रों की ही आराधना उपासना-पूजा होती है। धर्माचार्य उन्हीं स्त्रियों से वार्तालाप करते हैं, जिनसे कोई सम्बन्ध है, शेष स्त्रियों से वे वाणी का प्रयोग नहीं करते हैं। स्त्रियों को चरणस्पर्श नहीं करने दिया जाता, जैसा कि वल्लभ सम्प्रदाय में विशेष रूप में किया जाता है। यदि किसी धर्माचार्य का संयोगवश किसी स्त्री से स्पर्श हो गया तो पूरे दिन निराहार रहकर उसका प्रायश्चित किया जाता है। सम्प्रदाय के स्त्री-समाज को मन्त्रोपदेश देने के लिए आचार्यों की पत्नियाँ या उन घरों की स्त्रियाँ नियत होती हैं। आचार्य-परिवारों की स्त्रियों की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। इस सम्प्रदाय का दीक्षा महामन्त्र—'ओम् नमो नारायणाय' है।

नारायण सम्प्रदाय के अनुयायी गृहत्यागी साधु और गृहस्थ, दोनों प्रकार के हैं। ब्राह्मण, वैश्य तथा राजपूत जो भी साधुत्व के जीवन को वरण करने की दीक्षा लेता है, उसे ब्रह्मचारी का पद दिया जाता है। अन्य जाति के लोगों को साधु-सेवा तथा मन्दिरों की रक्षा का दायित्व सौंपा जाता है। उन्हें 'पाला' (पाल-रक्षक) कहा जाता है।

साधु सन्यासी गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं और 'पाला' सफेद वस्त्रों का उपयोग करते हैं। ब्रह्मचारी वर्ग दाढ़ी मूछ रखता है और शिखा, सूत्र (जनेऊ) तथा दोहरी कण्ठी धारण करता है। साधु सन्यासी तथा पाला जनेऊ छोड़कर अन्य सभी प्रकार का वेष धारण करते हैं। वे सदा ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करते हैं और उसके मध्य कुंकुम की बिन्दु अंकित करते हैं।

इस सम्प्रदाय की प्रमुख गद्दियाँ गढडा, अहमदाबाद और वडताल में हैं। ये ही उनके प्रमुख तीर्थ भी हैं। गुजरात में इस सम्प्रदाय के अनुयायी अधिक हैं। वहीं से इस सम्प्रदाय का उदय भी हुआ और वहीं के जन जीवन में आज तक उसकी परम्परा भी बनी हुई है।

रामभक्ति रसिक सम्प्रदाय

हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में रामभक्ति के 'रसिक सम्प्रदाय' का विशेष महत्त्व है। रामभक्ति का प्रसार यद्यपि आलवार वैष्णव भक्त कवि शठकोप, मधुर कवि तथा कुलशेखर आदि कर चुके थे, और तत्पश्चात् वैष्णवाचार्यों में रामानुज ने भी रामावतार में अपनी विशेष निष्ठा वर्णित की, तथापि रामोपासना को स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय स्वामी रामानन्द को है। उन्होंने ईश्वर-जीव के विभिन्न भाव-सम्बन्धों की व्याख्या कर इस रसमयी धारा में मर्यादा और सदाचार की नयी प्रतिष्ठा की। इन नयी स्थापनाओं को गोस्वामी तुलसीदास ने पल्लवित एवं प्रतिफलित किया। उन्होंने स्वामी तथा सखा के रूप में आराध्य राम के सालङ्कृत स्वरूप की व्याख्या की। उनके पश्चाद्वर्ती वैष्णव भक्तों ने राम की ऐश्वर्य-सम्पन्न लीलाओं की विभिन्नताओं को प्रदर्शित किया। उनके इन रसिक भक्त वैष्णवों ने उन्हें सौन्दर्य, माधुर्य आदि दिव्य गुणों से विभूषित कर परम्परागत रामभक्ति के क्षेत्र में उपासना की नयी भाव धारा को बहाया। राम को साकेतविहारी तथा युगल अवतार के रूप में अभिव्यंजित कर और ब्रज के सारे उपमानों को अयोध्या में नवाङ्कुरित कर रामभक्तों की नयी रसमयी धारा का सूत्रपात किया।

रामभक्ति में इस नयी रस धारा के प्रवर्तक भक्त-कवियों में अग्रदास आदि भक्तों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अयोध्या के रामघाट पर निरन्तर चौदह वर्षों तक नाम-जप करके अपने आराध्य के साक्षात् दर्शन किये। इन सगुणोपासक रसिक भक्तों ने अपने आराध्य के अलौकिक सौन्दर्य तथा लीला-माधुरी का अभिव्यंजन किया। रामभक्ति में रसिक उपासना की इस नयी परम्परा का आधार कृष्णभक्ति की रासलीलाएँ रही हैं। कृष्णभक्तों की भाँति रामभक्तों ने भी रामलीला की नयी रसमयी परम्परा को प्रचलित किया, जिसको मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य और लोक-जीवन में व्यापक रूप से अपनाया गया।

रामोपासना की परम्परा में रसिक भक्ति के प्रवर्तक स्वामी अग्रदास (१७वीं शती) हुए। उन्होंने परम्परागत रसिक भक्ति को एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया, जिसे 'रसिक सम्प्रदाय' के नाम से कहा जाता है। स्वामी अग्रदास स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में हुए।

उनके शिष्य नाभादास हुए, जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' में गोस्वामी तुलसीदास की परम्परा में रामभक्ति की माधुर्योपासना को अधिक लोकप्रिय बनाया।

स्वामी अग्रदास ने अपनी कृतियों में ऐसे भक्तों को रसिक सज्ञा से अभिहित किया है, जो राम की रसमय लीलाओं का अभिव्यंजन एवं उद्घाटन करते हैं और राम की अन्तरंग सेवा में निहित रहते हैं। लोकव्यवहार में रसिक शब्द विषय-वासनाओं में लिप्त प्रेमी जीवों के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु आध्यात्मिक भावना में उनको सगुण ब्रह्म की लीलाओं का रसपान करनेवाले भक्तों के अर्थ में ग्रहण किया गया है। इस रसिक भक्ति-रस में माधुर्य, हास्य, वात्सल्य, सख्य और शान्त भाव समन्वित है। राम की रसिक भक्ति के इन विभिन्न भावों को रसिक सम्प्रदाय के रामभक्त कवियों ने विभिन्नता से अभिव्यक्त किया है। इस सम्प्रदाय की परम्परा को नाभादास के बाद भानदास, मुरारीदास तथा प्रयागदास, रामचरणदास आदि भक्त कवियों ने प्रवर्तित किया।

मुगल काल में इस भक्ति-परम्परा में कुछ अवरोध उत्पन्न हुआ। कतिपय असहिष्णु मुगल शासकों के कारण और दसनामी शैवों के प्रतिरोध के फलस्वरूप रसिक सम्प्रदाय के अनुयायी एवं भक्त काशी, अयोध्या, प्रयाग आदि नगरों को छोड़कर मुस्लिम आतंकों से रहित सुदूर नगरों को चले गये। मुस्लिम आतंक के कारण अन्यान्य धर्म-सम्प्रदायों की भाँति, यह सम्प्रदाय भी किसी प्रकार अपने अस्तित्व को सुरक्षित बनाये रखा। रसिक सम्प्रदाय के भक्तों ने स्वयं को शक्ति-सम्पन्न 'अनी' तथा 'अखाड़ों' के रूप में विभक्त कर अपनी परम्परा को बनाये रखा। १८वीं शती में हिन्दू पुनर्जागरण के फलस्वरूप अन्य हिन्दू धर्म-सम्प्रदायों के साथ, रामोपासक सम्प्रदाय भी पुनर्जीवित हुआ। इस समय रामभक्तों तथा कृष्णभक्तों का घनिष्ट सम्पर्क बढ़ा। १९वीं शती में दोनों धर्म-सम्प्रदायों का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से हुआ। इस शती में रसिक भक्ति ने अपना अपूर्व विकास किया और साथ ही उसके साहित्य में भी अभिवृद्धि हुई।

सिद्धान्त निरूपण

रसिक सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष पर राधा-कृष्ण की लीलाओं का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। इस सम्प्रदाय के राम-सीता लीला-रस के आस्वादन की तीन कोटियाँ बताई गई हैं—मनस्संभोग, दृष्टिसंभोग और स्पर्शसंभोग या स्थूलसंभोग। प्रथम दो कोटियों में तत्सुख और तीसरी कोटि में

स्वसुख की अनुभूति बताई गई है। प्रिया-प्रियतम की दिव्य क्रीडा मे सीता द्वारा अनुभूत सुख को तत्सुख और अपना सुख, स्वसुख मानना ही इस भक्तिमार्ग का चरम लक्ष्य है। वास्तव मे इन दोनो प्रकार के सुखो मे प्रतीति-मात्र की भिन्नता है, वास्तविकता नही। इस भक्ति-सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि माधुर्य-भाव का आश्रय लेते हुए भी इस शाखा के भक्तो ने राम के एकपत्नीत्व व्रत को अक्षुण्ण बनाये रखा, राम की मर्यादा को सुरक्षित रखा। इस प्रकार अन्य शृगारी भक्त कवियो की अपेक्षा रामोपासक रसिक सम्प्रदाय के भक्तो ने सामाजिक सदाचार की रक्षा को भी दृष्टि मे रखा। उनमे रूढिवादिता तथा ओछी शृगारिकता नहीं दिखाई देती, अपितु अपने उपास्य राम सीता के आदर्शों की सीमा मे रहकर शृगार की एकरसता मे कोई व्यवधान नही आने दिया। इस सम्प्रदाय के भक्त कवियो की रचनाओ मे ऐसे सयमपूर्ण शृगार की सृष्टि की गई है, जो कि लोकाचार की दृष्टि से भी वरणीय है।

इस प्रकार रामभक्ति की परम्परागत धर्म-शाखाओ मे रसिक सम्प्रदाय अपनी लोकप्रियता एव सहजगम्यता के कारण, मध्ययुगीन धार्मिक इतिहास मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(भी)

वैष्णव धर्मशाखाएँ

१ वैष्णवधर्म
२ आलवार वैष्णव सम्प्रदाय
३ श्रीवैष्णव सम्प्रदाय
४ महानुभाव पन्थ
५ निम्बार्क मत या सनक सम्प्रदाय
६ विष्णुस्वामी सम्प्रदाय
७ माध्वमत या ब्रह्म सम्प्रदाय
८ महापुरुषिया सम्प्रदाय
९ वल्लभ सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग
१०. चैतन्य मत या गौडीय सम्प्रदाय
११ राधावल्लभ सम्प्रदाय
१२ मीराबाई

वैष्णव धर्म

भारत की पुरातन धर्म-परम्परा मे सात्वत एव पाचरात्र धर्मों का समन्वय भागवत धर्म मे हुआ और भागवत धर्म की पूर्णता वैष्णव धर्म के रूप मे प्रतिफलित हुई। इस रूप मे भागवत धर्म, वैष्णव धर्म तथा उसकी शाखा-उपशाखाओ का उपजीव्य रहा है।

वैष्णव धर्म की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जानने के लिए तत्कालीन प्रचलित जैन, बौद्ध धर्मों और शैव-शाक्त आदि अन्यान्य धर्मों का अध्ययन आवश्यक है। जैन और बौद्ध धर्म निरीश्वरवादी होने के साथ-साथ वैदिक परम्पराओ के भी आलोचक रहे हैं। इन दोनो धर्मों को, विशेष रूप से बौद्ध धर्म को अशोक जैसे प्रतापी सम्राट् का सरक्षण मिला, जिसके प्रयासो के कारण उसका प्रसार न केवल वृहत्तर भारत मे, अपितु एशिया के अनेक देशो तक हुआ। इसी प्रकार जैन धर्म ने भी निरन्तर अपना विकास किया। इन दोनो निरीश्वरवादी अवैदिक धर्मों की प्रतिद्वन्द्विता मे परम्परागत वैदिक धर्म की शाखाओ ने अपने उत्तराधिकार की पुन स्थापना मे जिस धर्मशाखा को जन्म दिया, उसे 'वैष्णव धर्म' के नाम से कहा गया।

विद्वानो के अभिमत से वैष्णव धर्म के जन्म एव उत्थान के मूल मे चार विचारधाराओं का योगदान रहा। प्रथम विचारधारा के मूल स्रोत वैदिक देवता विष्णु थे, दूसरी विचारधारा के आधार दार्शनिक देवता नारायण थे, तीसरी विचारधारा के अधिष्ठान ऐतिहासिक देवता वासुदेव थे और चौथी विचारधारा के स्रोत आभीर देवता बालगोपाल थे। इन चारो विचारधाराओ मे वैदिक देवता विष्णु को ही अधिक अपनाया गया। अन्य अनेक देवताओ के होते हुए भी विष्णु को ही एकमात्र आराध्यदेव मानने की आवश्यकता इसलिए भी हुई कि वे ही एकमात्र ऐसे देवता थे, जिनकी ख्याति पीडित मानवो के रक्षक के रूप मे प्रचलित थी। इसलिए वैदिक धर्मानुयायियो ने विष्णु को ही अपना आराध्य बनाया और वैष्णव मत के अनुयायी को इतनी अधिक मान्यता प्रदान की कि उसके सम्बन्ध मे 'महाभारत' (१८।६।९७) मे कहा गया है कि 'इसमे सन्देह नहीं कि अठारह पुराणो का श्रवण करने का जो फल प्राप्त होता है, उसे मनुष्य केवल वैष्णव बनने से ही प्राप्त कर लेता है।'

वैष्णव धर्म का जो नया रूप प्रकाश मे आया, वह परम्परागत सात्वत, पाचरात्र और भागवत धर्मों का रूपान्तर था। उसको वैष्णवत्व का व्यापक

स्वरूप पौराणिक युग ने प्रदान किया। पुराणों द्वारा विष्णु के विभिन्न अवतारों का प्रचलन हुआ और उससे वैष्णव धर्म का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत हुआ। इसलिए वैष्णव धर्म को वस्तुत पौराणिक धर्म कहना चाहिए, क्योंकि पुराणों में ही उसको पूर्णता प्राप्त हुई। वैष्णव मात्र बन जाने से अनन्त महिमा-मण्डित पुराणों का पुण्य सहज में ही प्राप्त हो जाने की यह धारणा वैष्णव धर्म की मान्यता तथा गरिमा को ही प्रकट करती है।

वैष्णव धर्म की इस महत्ता के कारण जहाँ एक ओर उसका उत्तरोत्तर प्रसार होता गया, वहीं दूसरी ओर अनेक धर्माचार्यों, तत्ववेत्ताओं, दार्शनिकों तथा विद्वान् सन्तों ने ज्ञानयुक्त एव भक्तिपूर्ण बहुमूल्यक कृतियों का निर्माण कर शैव एव शाक्त धर्मों के विरोध को परास्त कर अपने प्रभाव का प्रसार किया (परशुराम चतुर्वेदी वैष्णव धर्म, पृ० ८६–४७)।

यद्यपि भागवत धर्म के रूप में वैष्णव धर्म की परम्परा बहुत प्राचीन है, तथापि उसका इतिहास तीसरी चौथी शताब्दी तक क्रमबद्ध रूप में नहीं मिलता है। यद्यपि दक्षिण के अनेक अचलों—द्रविड, तैलग, कर्नाटक और महाराष्ट्र में उसका प्रचार प्रसार हो चुका था, किन्तु उत्तर भारत में उसका केन्द्र केवल मथुरा तक ही सीमित रहा। भारत में गुप्त साम्राज्य के उदय के साथ ही तीसरी-चौथी शती ई० के लगभग साम्राज्य की सीमाओं के साथ ही वैष्णव धर्म का प्रभाव भी बढ़ता गया। 'परम भागवत' का बीरुद धारण करने वाले गुप्त सम्राटों की सरक्षकता में वैष्णव धर्म का उल्लेखनीय विकास-विस्तार हुआ। उन्होंने वैष्णव धर्म को उदात्त सार्वभौम धर्म के रूप में विकसित किया। गुप्त युग में भागवत धर्म का पुनरुत्थान हुआ। उसका प्रभाव हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के विस्तृत भू-भाग में व्याप्त हुआ। गुप्तों के प्रश्रय के कारण धर्म का यह अभियान बृहत्तर भारत में फैला। भारत पर गुप्तों ने २७५–५१० ई० तक राज्य किया और इस अवधि में वैष्णव धर्म का जितना विकास हुआ, वह अभूतपूर्व था।

गुप्तकालीन भारत का साहित्य निर्माण की दृष्टि से भी उल्लेखनीय योगदान रहा। इस समय सस्कृत साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ तथा हिन्दू धर्म अपनी उन्नतावस्था को पहुँचा। हिन्दू धर्म के आचार, विचार तथा कर्म सस्कारों के प्रतिपादक बहुमूल्यक ग्रन्थों का निर्माण भी इसी समय हुआ। धर्म के व्यापक स्वरूप को प्रतिपादित करनेवाले धर्मशास्त्रीय साहित्य के निर्माण का भी यह उल्लेखनीय समय रहा। इसी युग में अनेक पुराण-ग्रन्थों के प्रामाणिक सस्करण प्रकाश में आये। श्लोकबद्ध स्मृति-ग्रन्थ भी इसी युग में

निमित हुए। उनमें मुख्य हैं— मनुस्मृति', याज्ञवल्क्यस्मृति', 'पराशरस्मृति', 'बृहस्पतिस्मृति' और 'कात्यायनश्रौतसूत्र'।

गुप्तों के बाद हर्षवर्द्धन (७वीं शती) भारत का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। वह स्वयं बहुत बड़ा विद्वान् था और उससे भी बढ़कर विद्वानों का आश्रयदाता। उसके शासन-काल में संस्कृत की उल्लेखनीय उन्नति हुई। उसके पूर्वज सूर्य (आदित्य) के उपासक थे। किन्तु वह बौद्ध-धर्मानुयायी था। उसके शासन-काल में बौद्ध धर्म को प्रश्रय मिला और वैष्णव धर्म की परम्परा तथा लोकप्रतिष्ठा की क्षति हुई।

८वीं शती ई० में शंकराचार्य के उदय के बाद वैष्णव धर्म का ह्रास और शैव मत का अभ्युदय हुआ। शंकराचार्य ने भारत के चारों धामों की यात्रा कर धार्मिक दिग्विजय प्राप्त की। उन्होंने वैचारिक तथा धार्मिक, दोनों क्षेत्रों में शिव की सत्ता का सर्वोपरि महत्व स्थापित किया। उन्होंने परम्परागत वैष्णव धर्म को पांचरात्र धर्म कह कर उसकी अनेक बातों को अपूर्ण और वैदिक सिद्धान्तों के विपरीत बताया। उन्होंने वैष्णवत्व की आलोचना कर शिवत्व की महनीयता को प्रस्थापित किया। उनके प्रभाव से विभिन्न क्षेत्रों में गाँवों से लेकर नगरों तक शिव मन्दिर स्थापित हुए और शैव मत को व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। आगे चल कर शैव मत सामान्य शैव, मिश्रशैव, कापालिक शैव, वीर शैव, लकुलीश शैव, तामिल शैव, रसेश्वर शैव और काश्मीर शैव आदि विभिन्न शाखा उपशाखाओं में पल्लवित हुआ। यद्यपि कुछ शैव शाखाओं ने शैव मत की महनीयता को क्षीण भी किया, तथापि जहाँ तक वैष्णव धर्म का सम्बन्ध है, उसकी प्रगति में बाधा उत्पन्न हुई। वैष्णव धर्म के अवरोध के अन्य भी अनेक कारण थे। योगी मार्ग तथा नाथपन्थ ने भी वैष्णव धर्म की लोकप्रियता को कम किया।

इन विपरीत परिस्थितियों में भी वैष्णव धर्म का अपना प्रभाव बना रहा। शंकराचार्य के कारण यद्यपि वैष्णव धर्म की प्रगति में अनेक बाधाएँ आईं, किन्तु जन मानस पर उसका इतना अधिक प्रभाव व्याप्त हो चुका था कि उसका सर्वथा उन्मूलन नहीं हो सका, अपितु मन्थर गति से उसकी परम्परा आगे बढ़ती रही। 'सौर सम्प्रदाय' तथा 'गाणपत्य सम्प्रदाय' के रूप में उसका अस्तित्व तब भी बना रहा।

भारत में अनेक धर्म शाखाओं के प्रचलन के फलस्वरूप वैष्णव धर्म ने अपनी लोकप्रियता को बनाये रखा। १०वीं शती में वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान हुआ और तब से उसकी परम्परा आगे निरन्तर प्रशस्त होती गई। उदाहरण स्वरूप श्री-सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय, माध्व सम्प्रदाय, रामावत सम्प्रदाय,

वल्लभ सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय (चैतन्य मत), राधावल्लभ सम्प्रदाय, नारायण सम्प्रदाय दत्तात्रेय मत, महापुरुषिया सम्प्रदाय और वारकरी सम्प्रदाय आदि शाखाओं-उपशाखाओं के रूप में वैष्णव धर्म अपने अस्तित्व एवं महत्त्व को अधिक लोकव्यापी बनाने में सफल रहा। उसकी यह विकासावस्था लगभग १९वीं शती तक बनी रही। इन धार्मिक सम्प्रदायों के वैष्णवाचार्यों ने 'प्रस्थानत्रयी', अर्थात् 'भगवद्गीता', 'ब्रह्मसूत्र' और 'उपनिषदों' पर भाष्य टीकाएँ तथा व्याख्यान लिख कर अपने अपने सम्प्रदायों की वैदिक धर्मानुरूप वेदान्तपरक व्याख्या करके उनको अधिक व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित किया।

भक्ति को भगवान् के सान्निध्य का सर्वोत्तम साध्य-साधन मान कर जिन भक्तों, सन्तों एवं महात्माओं ने व्यापक भारतीय जन-समाज में धर्म की परम्परा को प्रशस्त किया, उनमें १५वीं शती के भक्तकवियों का नाम प्रमुख है। सामान्यतः सभी वैष्णव सम्प्रदायों के भक्तकवियों ने इस अवधि में कृष्ण-भक्ति को अधिक प्रशस्त किया। उनकी वाणियाँ जन-जन की जिह्वा में समाहित होकर वैष्णव धर्म का देशव्यापी प्रसार हुआ। वैष्णव भक्तों की यह परम्परा गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, सुदूर दक्षिण, पश्चिम तथा पूर्वोत्तर भारत में प्रवर्तित हुई।

भारतीय साहित्य का भक्ति युग, जिसकी अवधि १३वीं से १७वीं शती ई० के बीच मानी जाती है, रामभक्ति और कृष्णभक्ति की भाव-धाराएँ लोक-मानस का कण्ठहार बनीं। भारत के लोक-जीवन में धर्म के प्रति इतनी अगाध निष्ठा इससे पूर्व कभी भी जागरित नहीं हुई। इतनी आस्तिकता एवं सात्त्विकता इतिहास में किसी भी युग में देखने को नहीं मिलती है।

इस भक्तियुग में उपासना पद्धति को लेकर वैष्णव धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ प्रकाश में आईं। एक शाखा के भक्तों ने सगुणोपासना की परम्परा को प्रवर्तित किया और दूसरी शाखा के सन्तों ने निर्गुणोपासना की नई परम्परा को स्थापित किया। उपासना की इस द्विरूपता के कारण भक्तियुग को सगुण और निर्गुण, इन दो भागों में विभक्त किया गया। उनमें भी सगुणोपासकों की दो उपशाखाएँ—रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा, प्रकाश में आईं। इसी प्रकार निर्गुणोपासना की भी दो उपशाखाएँ पल्लवित हुईं—ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी। सगुण रामभक्ति शाखा के आचार्यों, कवियों में रामानुजाचार्य, स्वामी रामानन्द और गोस्वामी तुलसीदास प्रमुख हुए। इसी प्रकार कृष्णभक्ति शाखा को वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग ने प्रशस्त किया। उसको सूरदास, मीराबाई सहित अष्टछाप के कवियों की वाणियों में अधिक

व्यापकता मिली। निर्गुणोपासक ज्ञानमार्गी सन्तो मे दक्षिण के आलवार भक्तो सहित कबीर, नानक, दादू आदि हुए। उनमे अनेक मुसलमान फकीरो का भी योगदान रहा। इसी प्रकार प्रेममार्गी सूफी सन्तो मे जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान, शेखनबी तथा नूर मुहम्मद आदि का नाम उल्लेखनीय है।

परम्परागत वैष्णवों की सगुणोपासक शाखा अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा की समर्थक रही। इस शाखा के अनुयायियो ने सम्प्रदायगत शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए प्रचलित सामाजिक रूढियो को भी अपनाये रखा। किन्तु दूसरी निर्गुणोपासक शाखा ने अद्वैतवादी उपासना-पद्धति को अपनाया और अवतारवाद, मूर्तिपूजा तथा प्रचलित सामाजिक रूढियो की कटु आलोचना की। इस निर्गुणोपासक सन्त-परम्परा की उपासना-पद्धति पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा बौद्धो के शून्यवाद का प्रभाव रहा। सामाजिक एवं साधना की दृष्टि से उन पर बौद्धधर्म तथा नाथपन्थ का प्रभाव था। इन सन्तो एवं फकीरो ने जात-पाँत तथा वर्ण-धर्म आदि सामाजिक असमानताओ का भी बहिष्कार किया। उन्होंने वैष्णवाचार्यों की शास्त्रीय पद्धति को नहीं अपनाया। उनके उपास्य निर्गुण, निराकार, निरंजन, और निःस्पृह एकमेव ब्रह्म था। नाथपन्थ के प्रभाव से इन सन्तो ने कठिन शारीरिक एवं मानसिक निग्रहो पर बल देकर जैनाचार्यों की सन्यास-पद्धति को भी अपनी उपासना का विषय बनाया।

इस प्रकार वैष्णव धर्म के क्षेत्र मे भक्ति और उपासना की विभिन्न पद्धतियो को अपना कर भक्तो एवं उपासको के विभिन्न वर्ग बने। किन्तु मूल रूप मे उन सब की अन्तर्वृत्तियो मे वैष्णव धर्म की प्रेरणाएँ विद्यमान थीं। अपने इन विभिन्न रूपो मे इतिहास के उत्थान-पतनो को झेलती हुई वैष्णव धर्म की परम्परा उत्तरोत्तर प्रशस्त एवं समृद्ध होती हुई आज तक पहुँची। आज के भारतीय जन-मानस पर उसका व्यापक प्रभाव है। उसका अपना विशाल साहित्य है, जिसमे उसके दया, प्रेम, समानता तथा सार्वभौम एवं शाश्वत सिद्धान्त निहित हैं।

विष्णु का स्वरूप

वैष्णव धर्म विष्णु की भक्ति-उपासना पर आधारित है। उसमें विष्णु के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना हुई है। भारत की धार्मिक परम्परा मे विष्णु को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। उन्हें जगत्पालक कहा गया है और जगत्संहारक सदाशिव के साथ आद्यदेवता के रूप मे उनकी पूजा की जाती है। ये दोनों देवता ऐसे हैं, जिनके प्रति भारतीयो मे आदि काल से

अब तक समान श्रद्धा एवं भक्ति रही हैं। भारतीय संस्कृति भी उनसे प्रभावित है। विष्णु एवं सदाशिव, दोनों का उत्तर वैदिक युग में मानवीकरण हुआ और इस रूप में उनकी देवोपासना प्रारम्भ हुई। शिव का मानवीरूप शिवोपासना के रूप में और विष्णु का मानवीस्वरूप वैष्णवोपासना के रूप में प्रचलित हुआ। इस प्रकार भारत के धार्मिक इतिहास में शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय परवर्तीकालीन समस्त धार्मिक सम्प्रदायों के मूल उत्स या उद्गम स्रोत बने।

वैदिक साहित्य में विष्णु को सात्वत लोगों ने वासुदेव भक्ति के रूप में और ब्राह्मणादि ग्रन्थों ने नारायण भक्ति के रूप में प्रचलित किया। आगे चलकर पुराणों में विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना हुई, जिनमें कृष्ण और राम प्रमुख हैं, और इस प्रकार इन अवतारों के भी नये धार्मिक सम्प्रदाय बने। पुराणों में विष्णु को प्रथम स्थान का देवता माना गया है, जब कि वैदिक साहित्य में विष्णु का स्थान इन्द्र, वरुण, अग्नि के बाद चतुर्थ है। ऋग्वेद के एक मंत्र (१।२२।१९) में विष्णु को इन्द्र का योग्य सहायक बताया गया है।

'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों ने दो प्रकार से की है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार 'सतत क्रियाशील (विष) रहनेवाले तथा मौर स्वरूप' होने के कारण उन्हें 'विष्णु' कहा गया, और दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार 'विश्व की उत्पत्ति (विश) करने के बाद उसको व्यापक करने' के कारण 'विष्णु' कहलाये, जैसा कि 'विष्णुसहस्रनाम' की टीका में भी लिखा गया है—

चराचरेषु भूतेषु वशनात् विष्णुरुच्यते।

ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख हुआ है कि (१।२२।१८) अपने तीन पगों से विष्णु ने पृथ्वीलोक, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक को नाप लिया था। ऋग्वेद के अन्य मंत्रों (१।१५५।५,१।२२।२० आदि) में कहा गया है कि तृतीय पद विष्णु का परम पद है। उसे विद्वज्जन आकाश में सदा दृष्टि लगाकर देखा करते हैं। विष्णु के उस परम पद में आनन्द रस का स्रोत विद्यमान है।

ऋग्वेद में अन्य सन्दर्भों (१।१५५।५, १६५।१) में कहा गया है कि विष्णु अत्यन्त पराक्रमी, विधि नियमों के पालनकर्ता और उन नियमों के प्रेरक भी हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विष्णु को इन्द्र तथा अग्नि से बढ़कर माना गया है (अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु परम, 'ऐतरेय ब्राह्मण' १।१।१)। इसी प्रकार 'शतपथ ब्राह्मण' (१४।१।१, १।२।५) में विष्णु को यज्ञ में अन्य देवताओं में बढ़कर काम करनेवाला बताया गया है। वे समस्त भूलोक में विचरण करनेवाले अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवता हैं।

ऋग्वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थो के उक्त सन्दर्भों की समीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण काल मे इन्द्र से देवराज का पद विष्णु को प्राप्त हो गया था और विष्णु की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए 'इन्द्रसूक्त' की भांति 'विष्णुसूक्त' की भी रचना की गई। इतना ही नही, अपितु अनेक सन्दर्भों से यह भी विदित होता है कि हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषभ तथा वैकुण्ठ आदि जो पर्याय इन्द्र के थे, वे विष्णु के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त होने लगे थे (वैष्णव धर्म, पृ० १४ १५)।

विष्णु के अवतारो के सम्बन्ध म वेदा मे प्राय कुछ नही कहा गया है। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ और पुराणो मे विष्णु के विभिन्न अवतारो का उल्लेख किया गया है। 'महाभारत' (शा० ३२६।८२५) मे विष्णु क दस अवतारो का उल्लेख हुआ है। उनके नाम हैं—१. वाराह, २ नरसिंह, ३ वामन, ४ परशुराम, ५ राम दशरथि, ६ वासुदेव कृष्ण, ७ हस, ८ कूर्म, ९ मत्स्य और १० कल्कि। 'वायुपुराण' तथा 'वाराहपुराण' मे विष्णु के दस ही अवतार बताये गये हैं। किन्तु उनमे कुछ नामान्तर है। महाभारत काल मे देवताओ मे विष्णु का सर्वाधिक महत्त्व बताया गया है। उन्हे सृष्टि का नियन्ता एव शास्ता माना गया है। इस युग मे नारायण, विष्णु और वासुदेव, तीनो देवता एकरूप हो गये थे और उनकी उपासना सम्मिलित रूप मे की जाती थी। 'महाभारत' (शा० ४३) मे विष्णु को बहुधा परमात्मा के रूप मे माना गया है और नारायण तथा वासुदेव उन्ही के स्वरूप बताये गये हैं।

'महाभारत' के 'नारायणीय उपाख्यान' मे नारायण की उपासना का विस्तार से उल्लेख हुआ है। नारायण ने अपने एकान्तिक धर्म का कथन सर्वप्रथम महर्षि नारद का किया था। उसी को नारायण ने राजा जनमेजय को उपदेश देते समय 'हरिगीता' मे कहा था। यह उपदेश इससे पूर्व कृष्ण-रूपधारी नारायण ने भारतीय युद्ध के समय अर्जुन को दिया था। वह उपदेश सात्वत धर्म का था। इस सात्वत धर्म के उपदेश मे यज्ञमार्ग और तपस्या-मार्ग का परित्याग कर निर्लेप भक्ति को श्रेष्ठ कहा गया है। इसी सम्प्रदाय के अधिष्ठान श्रीकृष्ण थे, जो कि नारायण अथवा वासुदेव के अवतार कहलाये। नारायण के इसी कृष्ण अवतार ने 'भगवद्गीता' का प्रणयन कर वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान किया।

पुराणो मे सत्वगुणप्रधान देवता विष्णु को जगत् का सचालक एव पालक बताया गया है। विभिन्न युगो मे नानाविध अवतार धारण कर उसने दुष्टो का सहार किया और पृथ्वी की रक्षा की। वह विश्वात्मा या विश्वरूप सात्विक तत्त्व है। उसका मुख्य कार्य सयोजन, धारण, केन्द्रीयकरण तथा

संरक्षण है। वह सर्वत्र व्याप्त है। समस्त पृथ्वी का स्वामी है और विध्वंसक शक्तियों का दमन करता है। सभी शक्तियों पर उसका प्रभुत्व है, इसीलिए वह 'विष्णु' है।

जब विष्णु देवता शयन करता है, तो सम्पूर्ण विश्व अपनी अव्यक्तावस्था में पहुँच जाता है। व्यक्त सृष्टि के अवशेष का नाम ही 'शेष' है, जो कुण्डली मार के *अनन्त जलराशि पर तैरता रहता है। शेषशायी विष्णु ही नारायण* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है 'नार', जल पर आवास करनेवाला, अथवा जिसमें समस्त मनुष्यों का आयान (आवास) है। विष्णु चतुर्हस्त है और चारों हाथों में शंख, चक्र, पद्म तथा गदा धारण किये हुए हैं।

विष्णु सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थ

विष्णु सम्प्रदाय के पाँच ग्रन्थ प्रमुख हैं, जिन्हें 'पंचरत्न' सामूहिक नाम से कहा जाता है। उनके नाम हैं—१ भगवद्गीता', २ 'विष्णुसहस्रनाम', ३ 'अनुगीता', ४. 'भीष्मस्तवराजस्तोत्र' और ५ 'गजेन्द्रमोक्ष'। इनके अतिरिक्त 'गरुडपुराण', 'नारदपुराण', 'भागवत' और 'विष्णुपुराण' आदि *अनेक ग्रन्थ विष्णु सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं।*

आलवार वैष्णव सम्प्रदाय

भारत की धर्म गंगा का मूल उद्गम वेद है। वेदों की धर्म महिता का व्याख्यान पुराणों और 'महाभारत' में हुआ है। पुराणों में भागवत धर्म की परम्परा का विस्तार से वर्णन किया गया है। भारत की समस्त पुरातन धर्म-प्रवृत्तियों पर भागवत धर्म का व्यापक प्रभाव रहा है। वैष्णव धर्म की जो अनेक शाखाएँ प्रकाश में आई, उनके उद्गम तथा विकास में भागवत धर्म का ही प्रभाव रहा है।

दक्षिण भारत में भागवत धर्म की परम्परा को प्रकाश में लाने और उसे लोकप्रचलित करने का श्रेय आलवार भक्तों को है। 'आलवार' का शाब्दिक अर्थ है—'ज्ञान-समुद्र में गहरे गोते लगानेवाला'। ये आलवार भक्त वास्तव में ऐसे ही थे, जिनकी वाणियों में ज्ञान तथा कर्म की परिणति भक्ति में दिखाई गई है। इन भक्तों द्वारा प्राचीन काल से ही दक्षिण भारत में हरिभक्ति (वैष्णव धर्म) का प्रचार-प्रसार हुआ। एक परम्परागत अनुश्रुति में कहा गया है कि कलियुग के उदय के साथ ही दक्षिण में आलवार भक्तों का जन्म हुआ। उनके प्रथम या आदिम तीन आचार्य हुए, जिनके नाम थे—पोहिये, पूदत्त और पे। पोहिये की ध्यानावस्थित मूर्ति आज भी कांची के प्रसिद्ध मन्दिर में विराजमान है। इन तीन आचार्यों के पश्चात् दो आचार्यों के नामों का उल्लेख हुआ है—तिरुमिडिशि और शठारि। उनको क्रमशः शठरिपु तथा शठकोप नामों से भी कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम तीन आचार्यों से इन दोनों आचार्यों का कालक्रम की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर था।

भक्त शठकोप पाण्ड्य राजाओं के शासन काल में हुए। उनके द्वारा तमिल भाषा में रचित कविता-संग्रह का नाम 'तिरुवाय मोलि' है। इस संग्रह में लगभग एक हजार कविताएँ संकलित हैं। इनकी कविताओं में प्रभु प्रेम तथा सौन्दर्य का सुन्दर समन्वय हुआ है और इसलिए आज भी उन्हें आलवार भक्तों की परम्परा में सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त है। प्रसिद्ध मधुर कवि इन्हीं के शिष्य थे। उनकी कविताएँ तमिल क्षेत्र की भक्त हृदय जनता में बड़ी श्रद्धा-निष्ठा से गाई जाती हैं। 'कुन्दमाला स्तोत्र' के रचयिता कुलशेखर त्रावणकोर के नरेश थे, जिन्होंने रामनाम की महिमा का उद्गायन कर स्वयं को आलवार भक्तों की परम्परा में प्रसिद्ध किया।

दक्षिण भारत मे आलवार वैष्णव मत की ऐतिहासिक प्राचीनता के सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नही है। दक्षिण भारत मे भागवत धर्म के प्रचार-प्रसार का प्राचीनतम साक्ष्य सातवाहन राजा का नानाघाट शिलालेख है, जो कि ई० पूर्व प्रथम शती का है। उसके पश्चात् इस धर्म की परम्परा किस रूप मे आगे बढी, इसका क्रमबद्ध इतिहास नही मिलता है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०) की प्रसिद्ध 'प्रयाग प्रशस्ति' से भी दक्षिण मे भागवत धर्म के अस्तित्व का पता चलता है। इन दोनो अभिलेखो से ज्ञात होता है कि दक्षिण मे वैष्णव भक्ति का उदय ई० पूर्व प्रथम शती से भी पहले हो चुका था और उसकी परम्परा को गुप्त सम्राटो ने पुनरुत्थापित किया।

दक्षिण में विष्णुभक्ति का क्रमबद्ध इतिहास बारह आलवार भक्तो से आरम्भ होता है। उनके नाम थे—१ पोरिगै आलवार, २ भूतत्तालवार, ३ पैयालवार, ४ तिरुमिलिसै आलवार, ५ नम्मालवार, ६ मधुरकवि आलवार, ७. कुलशेखरालवार, ८ पेरियालवार, ९. अण्डाल, १०. तोण्डर-डिप्पोडियालवार, ११ तिरुप्पाणोलवार और १२ तिरुमगैयालवार। इन बारह भक्त कवियो का समय ईसा की तीसरी शती से लेकर नवी शती के बीच था। उन्होने अपने भजनो तथा गीतो मे भागवत धर्म की महिमा का उद्गायन करके उसे लोक-प्रचारित किया।

ये धर्मानुरागी जन भगवत्प्रेम मे निमग्न, दुनियादारी से विमुख, सीधा-सादा जीवन बिताने वाले, कविहृदय और परम भक्त थे। उन्होने परमेश्वर के नारायण (विष्णु), राम, कृष्ण आदि लोक-प्रतिष्ठित प्रेममय, भक्तवत्सल एव परम कृपालु स्वरूपो का गुणगान करते हुए उनके चिन्तन-मनन मे ही एकाग्रतापूर्वक जीवन बिताया।

'श्रीवैष्णव सम्प्रदाय' के सस्थापक नाथमुनि (१०वी शती ई०) ने उक्त आलवार भक्तो की श्रुति-परम्परा मे जीवित वाणियो का सकलन किया और उन्हे एक एक हजार के चार भागो मे सकलित किया। चार हजार स्तुतियो एव भजनो का यह बृहत्सग्रह 'नालायिर प्रबन्धम्' (दिव्य प्रबन्ध) नाम से कहा जाता है। अपनी महानता एव पवित्रता के कारण वह 'वैष्णववेद' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इन पदो का प्रचार-प्रसार यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य ने किया।

आलवार भक्तो की इस परम्परा मे पेरिया आलवार (सर्वश्रेष्ठ भक्त) या विष्णुचित और उनकी पुत्री आण्डाल या गोदा का नाम उल्लेखनीय है। दक्षिण भारत की आलवार भक्त-परम्परा के अनुसार पेरिया का जन्म कलि स० ४५ और उनकी पुत्री आण्डाल का जन्म कलि स० ९६ मे हुआ। इन

सबतो की ऐतिहासिक प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा जा सकता है। आण्डाल बड़ी प्रसिद्ध भक्त हुई। मधुरभाषिणी होने के कारण वह गोदा नाम से भी कही गई। उनकी तीन सौ श्लोको (पद्यो) की तमिल रचना 'स्तोत्ररत्नावली' तमिल भक्तो मे आज भी आदर एव श्रद्धा के साथ गाई जाती है। उन्हे दक्षिण की मीराबाई कहा जाता है। उनकी कविताओ मे इष्टदेव की पतिरूप मे आराधना की गई है।

प्रसिद्ध बारह आलवार भक्तो मे नम्मालवार का भी एक नाम है। वे ८वी शती ई० मे हुए। उन्हे द्रविड वेदो का रचयिता कहा जाता है। उनकी भक्ति-तन्मयता के सम्बन्ध मे प्रचलित है कि वे अपने इष्टदेव के सामने इतने भाव-विह्वल हो जाते थे कि उन्हे स्वय की सुध तक नहीं रह जाती थी। उनका सम्मान आज भी जन-मानस मे सुजीवित है।

दक्षिण भारत मे विष्णुभक्ति का प्रचार-प्रसार करनेवाले ये बारह भक्त-कवि आज भी वहां के जन-मानस मे लोकप्रिय एव श्रद्धास्पद है। उन्होने समस्त दक्षिण भारत मे पैदल यात्रा कर जन-जन मे भगवद् भक्ति की ज्योति को जगाया। ये आचार्य एव कवि जन मानस से जुड़े हुये थे। उन्होने जन सामान्य मे उनकी भाषा तथा समझ के अनुरूप भक्ति का प्रचार किया। तमिल भाषा उनके भजनो तथा उपदेशो का माध्यम रही है। आलवार भक्तो का सम्पूर्ण साहित्य तमिल मे है। इसलिए आलवार वैष्णवो के धार्मिक साहित्य को 'उभय वेदान्त' के नाम से कहा जाता है। उसमे सस्कृत के 'प्रस्थानत्रयी' (गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र) और तमिल प्रबन्धको को समान रूप से प्रमाण माना जाता है।

सार्वभौम उदारता

आलवार वैष्णव सम्प्रदाय की सार्वभौम उदारता का दृष्टिकोण सराहनीय है। उसमे किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं है। किसी भी जाति, धर्म, मत, वर्ग का व्यक्ति उसमे सम्मिलित हो सकता है। इस सम्प्रदाय मे जाति-बहिष्कृत लोगो को भी सम्मिलित किया जाता था। समस्त मानवता मे एक ही भाव की अनुभूति का उच्चादर्श ही आलवार भक्तो की लोकप्रियता का कारण था।

विशिष्टाद्वैत भक्तिमार्ग

आचार्य रामानुज और प्रौढ दार्शनिक वेदान्तदेशिक के ग्रन्थो मे इन आलवार भक्तो की रचनाओ के महत्त्व पर तथा उनके सिद्धान्तो पर तर्कपूर्ण ढग से प्रकाश डाला गया है। रामानुजाचार्य (११वी शती ई०) इस

परम्परा के सर्वोच्च आचार्य हुए, जिन्होंने शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त का खण्डन करके भक्ति को मोक्ष प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया। आचार्य रामानुज ने शंकरपूर्व वेदान्तियो बोधायन आदि के तात्त्विक विचारो का परिशीलन कर और उपनिषदो, पुराणो, वैष्णव निगमो तथा आल्वार तमिल प्रबन्धो म समन्वय स्थापित कर अपने नये भक्तिमार्ग 'विशिष्टाद्वैत' का प्रवर्तन किया।

रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित धर्म परम्परा अत्यन्त ही लोकप्रिय सिद्ध हुई। भागवत धर्म पर आधारित जिन अनेक वैष्णव शाखाओ का उदय हुआ, उनमे रामानुजीय शाखा का व्यापक प्रचार प्रसार है। दक्षिण भारत मे आलवारो की परम्परा को पुनरुज्जीवित करके आज भी तमिल समाज मे भक्तिभाव की स्थापना मे रामानुजीय सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बनी हुई है। 'श्रीवैष्णव सम्प्रदाय' के रूप मे उनका 'विशिष्टाद्वैत मत' स्वतन्त्र शाखा के रूप मे प्रचलित है।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय

भारत के धार्मिक इतिहास में पुरातन वैष्णव धर्म की एक शाखा 'श्रीवैष्णव सम्प्रदाय' के नाम से कही जाती है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों की परम्परा बहुत प्राचीन है। इस मत के शास्त्रीय ग्रन्थों में कहा गया है कि श्रीवैष्णव (विशिष्टाद्वैत) सम्प्रदाय का उपदेश सर्वप्रथम भगवान् श्रीनारायण ने जगज्जननी महालक्ष्मी को दिया था। उन्होंने प्रसन्न होकर यह उपदेश वैकुण्ठपार्षद विश्वक्सेन को प्रदान किया। उपदेश की यह परम्परा शठकोप स्वामी, नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष स्वामी और राममिश्र स्वामी को प्राप्त हुई। राममिश्र स्वामी ने यामुनाचार्य को उसमें दीक्षित किया।

नाथमुनि

इस आचार्य परम्परा में नाथमुनि बड़े प्रसिद्ध हुए। उनका पारिवारिक नाम रघुनाथाचार्य या योगीन्द्र था। उनका जन्म त्रिचनापल्ली के निकट श्रीरंगम् में हुआ था। किन्तु उनके पूर्वजों का मूल स्थान वीरनारायणपुर था। उनका स्थितिकाल १०वीं शती वि० का उत्तरार्द्ध माना जाता है। नाथमुनि के पुत्र ईश्वरमुनि हुए, जो कि अल्पायु में ही परलोकवासी हो गये थे। पुत्र की असामयिक मृत्यु के कारण नाथमुनि के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और अपना जीवन उन्होंने सन्यासियों एवं मुनियों की भाँति बना लिया। इसी कारण उन्हें नाथमुनि के नाम से कहा जाने लगा। उन्होंने योगाभ्यास द्वारा अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थी, जिससे उन्हें योगीन्द्र नाम से भी कहा जाने लगा।

नाथमुनि ही 'श्रीसम्प्रदाय' के वास्तविक संस्थापक थे। उन्होंने सर्वप्रथम आलवार भक्तों की श्रुति-परम्परा में जीवित वाणियों का संकलन किया और उन्हें एक-एक सहस्रात्मक चार भागों में सम्पादित किया। चार हजार स्तुतियों का यह विशाल संकलन ग्रन्थ 'नालाभिर प्रबन्धम्' के नाम से कहा जाता है। उन्होंने स्वयं भी स्तुतियों की रचना की। उनके द्वारा रचित स्तुतियाँ त्रिचनापल्ली के प्रसिद्ध श्रीरंगम् मन्दिर में नियमित रूप से गायी जाने लगीं और धीरे धीरे उनकी स्तुतियाँ समस्त वैष्णव मन्दिरों में प्रचलित हो गईं। उनके उक्त ग्रन्थ पर अनेक भाष्य लिखे गये। आज भी दक्षिण के भक्त-समाज में उनकी लोकप्रियता पूर्ववत् बनी हुई है। उनके नाम से 'न्यायतत्त्व' तथा 'योगरहस्य' नामक दो ग्रन्थ बताये जाते हैं, जो संस्कृत में हैं।

नाथमुनि दक्षिण भारत से उत्तर भारत आये और व्रज मे आकर स्थायी रूप से रहने लगे। वहाँ उन्होने अपने मत का प्रचार-प्रसार किया। उनकी परम्परा को पुण्डरीकाक्ष तथा राममिश्र स्वामी ने आगे प्रवर्तित किया। उन्होने नाथमुनि के सिद्धान्तो की सरल व्याख्या की और समस्त उत्तर भारत तथा पूर्व पश्चिम भारत तक श्रीसम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया।

यामुनाचार्य

श्रीसम्प्रदाय के चौथे प्रभावशाली आचार्य यामुनाचार्य हुए। वे ईश्वरमुनि के पुत्र तथा नाथमुनि के पौत्र थे। राममिश्र उनके गुरु थे। उनका जन्म १०१० वि० को वीरनारायणपुर (मदुरा) मे हुआ। जब उनके पिता ईश्वरमुनि का निधन हुआ तो उनकी आयु केवल १० वर्ष की थी। नाथमुनि यद्यपि सन्यासी हो गये थे, किन्तु अपने पौत्र यामुनाचार्य के प्रति वे आशावान् बने रहे। अपने अन्तिम दिनो मे उन्होने यामुनाचार्य का सारा दायित्व अपने शिष्य राममिश्र पर छोड दिया। उन्हीं की देख-रेख तथा अनुशासन मे रहकर यामुनाचार्य ने शास्त्रो का अध्ययन किया। उनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि बाल्यकाल मे ही वे वेद-शास्त्रो मे पारगत हो गये थे। जब उनकी आयु केवल १२ वर्ष की थी, उन्होने पण्डितराज की विद्वत्सभा के दिग्विजयी विद्वान् आचार्य कोलाहल को शास्त्रार्थ मे पराजित कर आधा राज्य प्राप्त किया था। शास्त्रार्थ विजय मे प्राप्त राज्य का उन्होने लगभग ग्यारह वर्षों तक बडी योग्यता से सचालन किया। चोलवंश के तत्कालीन राजा और रानी ने यामुनाचार्य की विद्वत्ता का बडा सम्मान किया था। महारानी ने उनके अद्भुत पाण्डित्य के कारण उन्हे 'आलवन्दार' (विजेता) की उपाधि से विभूषित किया था। तबसे भारत के विद्वत्समाज मे उनका नाम प्रसिद्ध हो गया।

जब उनकी अवस्था २३ वर्ष की थी, एकाएक एक दिन उनके गुरु राममिश्र उनके पास आये। राज-काज मे निमग्न, विद्योपार्जन की कुल-परम्परा के प्रति उदासीन, यामुनाचार्य की स्थिति को देखकर उन्हे बडा दुःख हुआ। उन्होंने यामुनाचार्य को उनकी परम्परा के प्रति सचेत किया और पाण्डित्य के प्रति उद्बोधित किया। राममिश्र उन्हे यह कहकर श्रीरंगमजी के मन्दिर मे ले गये कि वहाँ उनके पितामह नाथमुनि ने उनके लिए अपार धन-राशि एकत्र की हुई है। वे उनके साथ चले गये। राममिश्र के उपदेशो का यामुनाचार्य पर इतना गहरा प्रभाव हुआ कि उन्होने अपनी राजसी वृत्ति का सर्वथा परित्याग कर दिया और वैराग्य वृत्ति धारण कर ली। वे

रंगनाथजी के मन्दिर मे ही रहने लगे और अपना शेष जीवन उन्होंने शास्त्र-चिन्तन तथा भगवद्भक्ति मे ही समर्पित कर दिया। वही रहकर उन्होंने अपने अधिकतर ग्रन्थो का प्रणयन किया। व्रजक्षेत्र मे भी उन्होने कुछ ग्रन्थ लिखे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थो के नाम है—'आगमप्रामाण्य', 'सिद्धित्रय', 'गीतार्थसग्रह', 'चतु श्लोकी' और स्तोत्ररत्न'। अपने 'आगमप्रामाण्य' मे उन्होंने भागवत धर्म की विष्णुपरक व्याख्या की और शकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया। ११३४ वि० के लगभग उन्होंने शरीर-त्याग किया।

सिद्धान्त-निरूपण

यामुनाचार्य 'विशिष्टाद्वैत मत' के स्रष्टा थे। विशिष्टाद्वैत मे चेतना-चेतन विभाग विशिष्ट ब्रह्म के अभेद या एकत्व का निरूपण किया गया है। यामुनाचार्य ने जिस विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसका अपना वैलक्षण्य है। शकराचार्य के अद्वैत वेदान्त मे सगुण ईश्वर और अवतारवाद को कोई स्थान नही है। इस दृष्टि से शकर का अद्वैतवाद या मायावाद सर्व-सामान्य को ग्राह्य एव ज्ञातव्य न होकर केवल ज्ञानियो तथा विचारको के चिन्तन-मनन तक ही सीमित है। जन-सामान्य की धारणा के अनुरूप ज्ञानगम्य ब्रह्म म परम पिता, कृपालु, दु खहर्ता एव करुणामय ईश्वर का भाव ग्रहण करना और उसके अनुग्रह का पात्र बनना सभव नही था। भक्ति द्वारा भगवद्-अनुग्रह प्राप्त करने के उद्देश्य से यामुनाचार्य ने शकराचार्य के अद्वैतवाद मे ईषत् परिवर्तन करके उसे महाभारतकालीन भागवत धर्म के साथ सयुक्त किया और विशिष्टाद्वैत' नाम से सरल, सुगम दार्शनिक मत का प्रवर्तन किया। उन्होने ज्ञान और कर्म, दोनो को भक्ति का उपादान सिद्ध किया और भक्ति को ही ईश्वर प्राप्ति का एकमात्र साधन बताया। उन्होंने ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता को तो स्वीकार किया, किन्तु उसे सगुण, सविशेष और विशिष्ट सिद्ध किया। उन्होने जीव, ब्रह्म और शरीर को कृष्ण, रक्त एव श्वेत तन्तुओं के सघात से बने हुए वस्त्र के समान बताया है। उसी प्रकार यह जगत जड, चेतन तथा ईश्वर के सघात से बना हुआ सिद्ध किया। जैसे कृष्ण, रक्त तथा श्वेत तन्तु एक नही हैं, उसी प्रकार ब्रह्म, जीव और जड भी भिन्न भिन्न है।

शकर मत के अनुसार ज्ञान ही आत्मा है, किन्तु यामुनाचार्य ज्ञान को आत्मा का धर्म मानते हैं। वह स्वस्वरूप, स्वत प्रकाश न होकर ज्ञाता है। ज्ञान सविशेष तथा सक्रिय है, आपेक्षिक है। ईश्वर पुरुषोत्तम है और जीव से श्रेष्ठ है। ईश्वर सदा सत्यसकल्प और असीम सुख-सागर है। ईश्वर पूर्ण तथा जीव अणु है। ईश्वर अशी और जीव अश है। यह जगत् ब्रह्म का

परिणाम है। ब्रह्म ही जगत् के रूप में दृष्टिगत होता है। यह जगत् ब्रह्मात्मक है।

रामानुजाचार्य

यामुनाचार्य के पश्चात् 'श्रीवैष्णव सम्प्रदाय' का अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रचार-प्रसार किया एवं लोकप्रिय बनाया उनके उत्तराधिकारी रामानुजाचार्य ने। एक वैष्णव परम्परा रामानुजाचार्य को यामुनाचार्य का शिष्य बताती है। उनका जन्म १०७४ वि० को दक्षिण भारत के वर्तमान पेरेम्बुदुरम् (भूतपुरी) नामक स्थान में हुआ था। उनके पिता केशवाचार्य और माता कान्तिमती आदर्श एवं धार्मिक गृहस्थ थे। रामानुज का लालन-पालन उनके मामा यादवप्रकाश के यहाँ हुआ। वे कांची निवासी और अपने समय के प्रसिद्ध वेदान्ती विद्वान् थे। उन्हीं से रामानुज ने वेद-वेदान्त और शास्त्रों का अध्ययन किया। कुछ विद्वानों के मत से रामानुजाचार्य के दीक्षागुरु गोष्ठीपूर्ण थे। उन्हीं से रामानुजाचार्य ने अष्टाक्षरयुक्त गोपनीय मन्त्र 'ओम् नमो नारायणाय' की दीक्षा ग्रहण की थी। आचार्य यादवप्रकाश अद्वैतवेदान्ती थे। अतः कुछ समय बाद रामानुजाचार्य का अपने विद्यागुरु से मतभेद हो गया। उन्होंने स्वतन्त्र रूप से आल्वारों के 'प्रबन्धम्' का गहन अनुशीलन किया और यामुनाचार्य के सुयोग्य उत्तराधिकारी बने।

रामानुजाचार्य की प्रतिभा का इतना अधिक विकास हुआ कि वे शास्त्राध्ययन करते समय अपने गुरु के दोष निकाल लिया करते थे। सर्वप्रथम उन्होंने गृहत्याग कर सन्यास धारण किया और तत्पश्चात् कांची के महापूर्ण स्वामी से 'वेदान्तसूत्र' का विधिवत् अध्ययन किया। धीरे-धीरे उनके पाण्डित्य का प्रभाव फैलने लगा और बड़े-बड़े विद्वान् उनका शिष्यत्व स्वीकार करने लगे। यहाँ तक कि वैचारिक मतभेद के बावजूद शिष्य के अद्भुत पाण्डित्य से प्रभावित होकर उनके आदि विद्यागुरु यादवप्रकाश ने भी उनसे यतिधर्म को ग्रहण किया।

इसी बीच यामुनाचार्य के पुत्र वरदरंग स्वामी कांची आये और उन्होंने रामानुज से श्रीरंगम् पीठ का आचार्यत्व ग्रहण करने का अनुरोध किया। वे अनुरोध को मान गये और श्रीरंगम् आकर उन्होंने पीठ के तत्कालीन आचार्यपाद गोष्ठीपूर्ण से विधिवत् मन्त्र-रहस्य की दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा प्रदान करते हुए आचार्यपाद ने यह भी निर्देश दिया कि विष्णुधाम को देनेवाले अष्टाक्षरी मन्त्र के गोपनीय रहस्य को वे किसी के समक्ष प्रकट न करें। इस सम्बन्ध में परम्परागत श्रुति में कहा गया है कि मनुष्यमात्र

को मुक्ति और विष्णुधाम प्रदान करनेवाले गोपनीय मंत्र को, गुरु आज्ञा का उल्लंघन कर, मन्दिर की छत पर चढ़कर वे उच्च स्वर से मंत्र का उच्चारण करने लगे, जिससे कि उसको बहुसंख्यक जनता सुन सके। गुरु ने असन्तुष्ट होकर रामानुज को नरकगामी होने का अभिशाप दिया। उन्होंने विनम्रता-पूर्वक गुरु आज्ञा को शिरोधार्य किया और कहा कि यदि सहस्रों नर-नारी मंत्र के श्रवण से सहज ही मुक्त हो सकते हैं, तो मुझ एकाकी को नरकगामी होना सहर्ष स्वीकार है। इस पर गुरु गोष्ठीपूर्ण रामानुज की सार्वभौम मानव मंगलकारी भावना से अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्होंने रामानुज को गले लगा लिया। साथ ही उन्हें आशीर्वाद दिया कि आज से 'विशिष्टा-द्वैत मत' 'रामानुज दर्शन' के नाम से कहा जायगा। इस अनुश्रुति में कितना सत्य है, कहा नहीं जा सकता है।

आचार्य रामानुज की विद्वत्ता और उनके द्वारा प्रवर्तित श्रीसम्प्रदाय का उत्तरोत्तर प्रसार होता गया, जिससे यामुनाचार्य भी प्रभावित हुए। उन्हें इस बात की प्रसन्नता थी कि रामानुज जैसे विद्वान् उत्तराधिकारी द्वारा धर्म-मार्ग का निरन्तर प्रसार हो रहा है। उनकी इच्छा थी कि अपने संकल्प की तीन कामनाओं को वे रामानुज से पूरी करायेंगे। उनकी तीन अन्तिम इच्छाएँ थीं—१ सम्प्रदाय के अनुरूप 'ब्रह्मसूत्र' का भाष्य लेखन, २ दिल्ली के तत्कालीन शाहँशाह से राममूर्ति का उद्धार और ३ दिग्विजय करके विशिष्टा-द्वैत मत की प्रतिष्ठा करना।

किन्तु रामानुज के श्रीरंगम् पहुँचने से पूर्व ही यामुनाचार्य का शरीरान्त हो चुका था। अंतिम आकांक्षा पूरी न होने के कारण यामुनाचार्य के पार्थिव शरीर के हाथ की तीन ऊँगलियाँ मुड़ी ही रह गई। रामानुज ने यामुनाचार्य के मृत शरीर के समक्ष उनकी तीन इच्छाओं को पूरी करने की प्रतिज्ञा की। कहा जाता है कि यामुनाचार्य की तीनों मुड़ी हुई उँगलियाँ सीधी हो गईं। यामुनाचार्य का अन्तिम संस्कार कर रामानुज काँची लौट आये। तत्पश्चात् यामुनाचार्य के पुत्र वरदरंग के आग्रह पर वे श्रीरंगम् चले गये।

रामानुजाचार्य महान् वेदान्ती एवं शास्त्रवेत्ता होने के साथ-साथ विलक्षण योगी भी थे। योगविद्या की साधना से उन्होंने अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं। कहा जाता है कि एक बार योगबल से उन्होंने काँची की राजकुमारी की प्रेतबाधा को दूर कर दिया था।

आचार्य रामानुज के समय ११वीं शती में देश की धार्मिक स्थिति बड़ी अस्थिर एवं संघर्षमय बन गई थी। शंकराचार्य के अद्वैतवाद के प्रभाव के कारण विष्णुस्वामी के उत्तराधिकारियों का प्रभाव क्षीण पड़ता जा रहा था

और स्वामी निल्वमगल के बाद उनकी परम्परागत गद्दी की गरिमा मन्द पड़ती जा रही थी। वैष्णवधर्म की अपेक्षा शैवधर्म का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। सगुणोपासना का स्थान निर्गुणोपासना ने ले लिया था। किन्तु यह स्थिति उच्च विद्वद्वर्ग तथा विचारकों तक ही सीमित थी। जन-सामान्य की निष्ठा सगुण भक्ति में ही अधिक थी। किन्तु किसी समर्थ एवं प्रभावशाली आचार्य के अभाव में सगुणोपासना की परम्परा शिथिल पड़ती जा रही थी।

देश जिस समय इस धार्मिक स्थिति से गुजर रहा था, ऐसी परिस्थितियों में रामानुजाचार्य का उदय हुआ। उनके कारण एक ओर तो दक्षिण तथा उत्तर भारत में धार्मिक समन्वय स्थापित हुआ और दूसरी ओर उनकी प्रेरणा तथा विद्वत्ता से सगुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। धार्मिक रूढ़ियों को लेकर तत्कालीन भारतीय शासकों में जो सामाजिक विघटन तथा वैमनस्य उत्पन्न हो गया था, उसमें भी सामंजस्य उपस्थित हुआ और इस प्रकार सगुण भक्ति की धारा द्विगुणित वेग से आगे बढ़ी।

जिस समय रामानुज श्रीरंगम् में रहकर भक्तप्रवण जनता को भक्ति का उपदेश दे रहे थे, उन दिनों वहाँ चोल शासकों का शासन था। वे कट्टर शैव थे। चोल राजा ने श्रीरंगम् मन्दिर की ध्वजा पर यह अंकित करा दिया था कि शिव से बढ़कर अन्य देव नहीं है (शिवात्परतरो नास्ति)। राजा ने रामानुज से शैव धर्म वरण करने का आग्रह किया किन्तु उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। राजा की इस शैव प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर रामानुज श्रीरंगम् को छोड़कर मैसूर राज्य के शालग्राम में रहने लगे। कुछ दिन बाद वे वैष्णवधर्मानुयायी हयसाल वंशीय राजा की राजधानी द्वारसमुद्र में चले गये। वहाँ उन्होंने निरन्तर बारह वर्षों तक अपने मत का प्रचार किया। उन्होंने राजदरबार के प्रभावशाली व्यक्ति विट्ठलदेव या बिट्टिदेव को १०९८ वि० में वैष्णव धर्म में दीक्षित कर उसका विष्णुवर्द्धन नामकरण किया। उसकी सहायता से ७४ शिष्यों को विशिष्टाद्वैत के प्रचारार्थ देश के विभिन्न अंचलों में भेजा। तदनन्तर वे स्वयं भी धर्म प्रचारार्थ यात्रा पर निकले और उत्तर भारत आकर उन्होंने जन-जन में वैष्णव धर्म वरण करने का उपदेश दिया। शिव-भक्त चोलराज की मृत्यु हो जाने के बाद वे पुनः श्रीरंगम् लौट आये। वहाँ उन्होंने मन्दिर का विस्तार किया और पूजा-सेवा की उचित व्यवस्था कर पुनः धर्म प्रचारार्थ वे देश भ्रमण के लिए निकल पड़े।

आचार्य रामानुज के शिष्य एवं सहकर्मी विद्वान् श्रीवत्साक मिश्र धर्म-प्रचारार्थ उनके साथ रहे। श्रीवत्साक मिश्र का जन्म काँचीपुर के समीप कूरम नामक गाँव में हुआ था। वे आजीवन आचार्य की सेवा में रहे। कहा

जाता है कि 'ब्रह्मसूत्र' पर 'बोधायनाचार्य वृत्ति' प्राप्त करने के लिए श्रीवत्साक मिश्र रामानुज के साथ काश्मीर गये थे। किन्तु उस वृत्ति को देने तथा प्रतिलिपि करने से काश्मीर के विद्वानों ने इन्कार कर दिया। उन्हें वह पढ़ने मात्र को मिली। श्रीवत्साक मिश्र ने उसको पढ़ा और अपनी अद्भुत दैवी स्मरण शक्ति से उन्होंने रामानुज को 'बोधायन वृत्ति' आनुपूर्वी सुना दी। तथा उसकी प्रतिलिपि तैयार कर दी। इसी वृत्ति के आधार पर रामानुज ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'श्रीभाष्य' की रचना की।

सिद्धान्त-निरूपण

आत्म-चिन्तन की प्रेरणा से रामानुज आजीवन भ्रमण करते रहे। उन्होंने स्थिरचित्त होकर निश्चय किया कि मनुष्य तृष्णा और सांसारिक बन्धनों से घिरा हुआ है और जीवन के मूल लक्ष्य से भ्रमित हो गया है। उन्होंने अनुभव किया कि मार्गभ्रमित जन-मानस को उद्‌बोधित किये बिना उसका उद्धार होना सम्भव नहीं है। वे समझते थे कि त्याग, सन्यास और वैराग्य की दुर्गम राह का अनुसरण करना जन-सामान्य के लिए सम्भव नहीं है। अतः ऐसे प्रवृत्तिमय धर्म का उपदेश देना उपयुक्त है, जिसे जन-सामान्य सहज रूप में ग्रहण कर सके और उसका अनुसरण तथा पालन कर सके।

रामानुजाचार्य ने भक्ति में सरल मार्ग का निरूपण किया। उन्होंने वात्सल्य भाव की भक्ति को भगवान्-प्राप्ति का साधन बताया। वात्सल्य-भाव भी दो प्रकार से निरूपित किया—एक तो पितृ-भाव और दूसरा मातृ-भाव। पितृ-भाव की अपेक्षा मातृ-भाव अधिक स्नेहिल होता है। पिता के प्रति सन्तान के हृदय में जहाँ आत्मीयता, सम्मान तथा श्रद्धा के भाव होते हैं, वहीं भय का भी आतंक विद्यमान रहता है। किन्तु माता का तो अपनी सन्तान के प्रति सदा ही स्नेह तथा ममता का भाव बना रहता है। इस सहज मानव-भावना ने वात्सल्य भक्ति को जन्म दिया। किन्तु वात्सल्य का क्षेत्र केवल मनुष्यों में ही नहीं, पशु पक्षियों तथा जीव-जन्तुओं में भी पाया जाता है। रामानुजाचार्य ने इस वात्सल्य-भक्ति का आश्रय लिया और इस आधार पर वैष्णव धर्म की लोकभावना को व्यापक किया। आगे चलकर हिन्दी के अमर भक्त-कवि सूरदास ने इस वात्सल्य-भक्ति को पराकाष्ठा पर पहुँचाया।

इस उद्देश्य से उन्होंने वेद-उपनिषद् के समन्वय से एक नयी विचार-पद्धति को जन्म दिया, जिसे उन्होंने 'विशिष्टाद्वैत' नाम से प्रचलित किया। यद्यपि इस सैद्धान्तिक विचारधारा का निरूपण उनके पूर्ववर्ती वैष्णव विद्वान् यामुनाचार्य कर चुके थे, तथापि उसको अधिक विस्तृत तथा लोकव्यापी बनाने

और सुबोध, सुगम रूप देने का नया प्रयास रामानुज ने ही किया। अपने इस नये विचारवाद की प्रतिष्ठा के लिए एक ओर तो उन्होंने सम-सामयिक अद्वैतवादी विचारकों के अद्वैत सम्बन्धी जटिल विचारों का खण्डन कर जीव-ईश्वर की भेदात्मक सत्ता का प्रतिपादन किया और दूसरी ओर आद्य विष्णु के राम तथा कृष्ण अवतारों का महत्त्व प्रतिपादित कर भक्ति की नवीन भावधारा को बहाया।

जन सामान्य और तत्कालीन विद्वत्मण्डली के समक्ष उन्होंने अनेक तर्कों एवं युक्तियों को प्रस्तुत कर यह स्थापित किया कि ब्रह्म अद्वितीय तो है, किन्तु केवल नहीं। जीवात्मा और परमात्मा में स्पष्ट भिन्नता है। परमात्मा एक है, जो व्यापक है और उसे विष्णु के आद्य नाम से कहा गया है। वही जगत् का स्रष्टा, पालक और संहारक है। उसकी सत्ता सगुण है और अपने भक्तों पर अनुग्रह कर वह उनका उद्धार करता है।

यामुनाचार्य के ब्रह्म, जीव तथा जगत् सम्बन्धी मन्तव्यों की रामानुजाचार्य ने विस्तार से व्याख्या की। शंकराचार्य ने अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, तो रामानुज ने अद्वैतविशिष्ट ब्रह्म का। शंकराचार्य का ब्रह्म अद्वैत है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। किन्तु रामानुज के मत से ब्रह्म वह है, जिसमें अन्य पदार्थ भी है और जो उसी के द्वारा बृहत् होते हैं। रामानुज के मतानुसार ब्रह्म, चिन्मय आत्मा और जड प्रकृति, दोनों में विद्यमान है, किन्तु वह उन दोनों से विशिष्ट है। आत्मा (जीव) और प्रकृति, इन दोनों पदार्थों से अद्वैत, किन्तु दोनों से विशिष्ट होने के कारण रामानुज ब्रह्म को 'विशिष्टाद्वैत' स्वीकार करते हैं। वह अपनी इच्छा-शक्ति से सोद्देश्य जगत् को उत्पन्न करता है।

रामानुज के मत में ब्रह्म एक है, और उसमें ईश्वर, आत्मा (चैतन्य) और प्रकृति (जड), ये तीनों पदार्थ विद्यमान हैं। इन तीनों का अभिन्न सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता है। इस शरीर को धारण करने वाला आत्मा है और आत्मा को धारण करनेवाला ईश्वर। जगत् सत्य है, नित्य है और प्रपंचरहित है।

उन्होंने तीन मूल पदार्थ माने हैं—चित् (जीव), अचित् (जड-समूह) और ईश्वर या पुरुषोत्तम। उन्होंने प्रतिपादित किया कि स्थूल-सूक्ष्म, चेतन-अचेतन विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। ब्रह्म सगुण एवं सविशेष है। वही अशेष कल्याणकारी गुणों का आलय है। सूक्ष्म चिदचिद्-विशेष रूप से वह जगत् का उपादान कारण है और संकल्पविशिष्ट रूप से वह जगत् का निमित्त कारण है। जीव-जगत् उसका स्वरूप है। ब्रह्म तथा जीव, दोनों चेतन हैं।

ब्रह्म विभु है, जीव अणु। ब्रह्म पूर्ण है, जीव खण्डित। प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न भिन्न है। वही सृष्टि, स्थिति, संहार का कर्ता है।

ब्रह्म पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार भेद से पाँच प्रकार का है। वह शंख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये हुये चतुर्भुज है। वह श्री-भू-लीला से सम्पन्न है और किरीटादि आभूषणों से अलंकृत।

पुण्यकर्मों के फलोदय से जीव की धर्म में प्रवृत्ति होती है और वह शास्त्रों की ओर उन्मुख होकर अपने आचरणों को सुधारता है। ऐसा करने से उसका अज्ञान दूर होकर उसमें ज्ञान का प्रकाश होता है। उसके बाद वह परमात्मा की ओर उन्मुख होता है। प्रेमपूर्वक उपासना करते हुए जब उपासक अपने उपास्य का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, तब वह अविद्याजनित संसार के जाल से छूटकर अपने स्वरूप को पहचान लेता है। इसी को 'मुक्ति' कहते हैं। उपासना और ध्यान मुक्ति के साधन हैं। परम भक्ति-भाव से भगवदर्पित होकर अपने सदाचरणों द्वारा भगवान् को प्रसन्न करना ही इस मत का एकमात्र लक्ष्य है। रामानुज के मत से उपासना के पाँच प्रकार हैं—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग। इसी को 'पंचधा भक्ति' कहते हैं और उसमें सन्निविष्ट भक्त ईश्वर-प्राप्ति का अधिकारी बनता है।

रामानुज के मतानुसार ईश्वर सगुण है और मनुष्य (जीव) भी सगुण है। मुक्त होने पर वह ईश्वर की समानता प्राप्त कर लेता है। जीव में केवल इतनी ही न्यूनता है कि वह जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता है। जीव मुक्त होकर निरन्तर हरि के स्वर्ग में वास करता है। राम और कृष्ण, दोनों ब्रह्म के अवतार हैं और वे करुणामय तथा भक्तवत्सल होने के कारण भक्तों के उद्धार हेतु अवतार धारण करते हैं। अतः आराधना-उपासना द्वारा उनको प्रसन्न करना चाहिए।

सर्वतोभावेन भगवान् की शरण में जाना ही प्रपत्ति (शरणागति) का लक्षण है। नारायण भूमा, विभु हैं। उनके चरणों में आत्म-समर्पण करने से जीव को परम शान्ति प्राप्त होती है। समस्त विषयों को त्याग कर उनके प्रति सर्वस्व समर्पण ही शरणागति है।

धार्मिक समन्वय की स्थापना

आचार्य रामानुज ने अपने मत का प्रचार करते समय अनेक प्रकार के विरोधों और संघर्षों का सामना किया। वे शैवों, शाक्तों तथा उनके अनुयायी शासकों के कोपभाजन बने। किन्तु, क्योंकि बहुसंख्यक समाज उनके विचारों का अनुयायी था, इसलिए वे अपने मार्ग से विरत एवं विचलित नहीं हुए।

उन्होंने दक्षिण तथा उत्तर भारत की जनता में धार्मिक समन्वय स्थापित किया। दक्षिण के मल्लकेत, चोल तथा कर्नाटक आदि विभिन्न क्षेत्रों का भ्रमण कर जगन्नाथ होते हुए वे काशी तथा जयपुर पहुँचे। तदनन्तर उत्तर भारत की ओर अग्रसर हुए। भारत के विशाल जन-मानस को अपने धार्मिक प्रवचनों द्वारा प्रभावित करते हुए अन्त में वे उत्तराखण्ड के महान् तीर्थ बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँ भगवान् नारायण के दर्शन-लाभ प्राप्त कर वे दक्षिण लौट गये। अपने जन्मस्थान वीरनारायणपुर में रहकर उन्होंने अपनी यशस्वी कालजयी कृतियों का प्रणयन किया। अन्त में अपने जन्मस्थान में १२० वर्ष की दीर्घायु पूरी कर ११९४ वि० को उन्होंने शरीर त्याग किया। उनके जन्मस्थान वीरनारायणपुर में आज भी उनका मठ वर्तमान है, जहाँ उनकी भव्य मूर्ति स्थापित है।

ग्रन्थ-निर्माण

आचार्य रामानुज ने लगभग ४९ कृतियों का निर्माण किया। इतनी अधिक कृतियों का निर्माण सम्भवतः किसी भी अन्य सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य ने नहीं किया। उनकी प्रमुख कृतियों के नाम हैं—'ब्रह्मसूत्रभाष्य', 'गीताभाष्य', 'न्यायामृत', 'वेदान्तप्रदीप', 'सर्वभाष्य', 'वेदार्थसंग्रह', 'वेदान्ततत्त्वसार', 'श्रीभाष्य', 'शतदूषणी', 'नारदीय पंचरात्र', 'त्रिवत् ध्यान', 'चण्डमारुति', 'विष्णुपूजन', 'विष्णुसहस्रनाम' और 'विशिष्टाद्वैत' आदि। 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखा हुआ 'श्रीभाष्य' श्रीसम्प्रदाय का एकमेव मान्य एवं लोकविख्यात ग्रन्थ है। उनके 'गीताभाष्य' पर वेदान्तदेशिक (१२६८-१३६९ ई०) ने 'तात्पर्यचन्द्रिका' नामक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी।

उत्तरवर्ती परम्परा

आचार्य रामानुज और उनके शिष्य प्रशिष्यों ने भारत के सभी अंचलों में अपने मत का प्रचार-प्रसार किया। दक्षिण भारत की जनता ने उनको अधिक अभिरुचि से अपनाया। कहा जाता है कि अकेले दक्षिण में उन्होंने अपने सम्प्रदाय के लगभग आठ सौ मठों की स्थापना की थी। उनमें इस समय उनानवे (८९) गद्दियाँ वर्तमान हैं। उनमें भी मालकोटन की गद्दी प्रमुख मानी जाती है। श्रीरंगम्, वेंकटाचलम् और काँजीवरम् में इस सम्प्रदाय के प्रधान मन्दिर हैं। भगवान् रंगनाथ का मन्दिर १३वीं-१४वीं शती में मुसलमानों द्वारा ध्वस्त तथा अपवित्र कर दिया गया था। उसमें स्थापित भगवान् की मुख्य प्रतिमा को भी वे ले गये थे। किन्तु हिन्दू राज्य की स्थापना

के बाद वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य (१७वीं शती) के मुख्य अधिष्ठाता बनने पर उस मूर्ति की पुन स्थापना की गई तथा मन्दिर का पुनर्निर्माण हुआ।

यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य ने भक्ति-समन्वित जिस विशिष्टाद्वैत' या 'श्रीसम्प्रदाय' की स्थापना एव प्रवर्तन किया, उसके बाद लगभग १४वीं शती ई० में कुछ सैद्धान्तिक मतभेदो को लेकर उनके परवर्ती अनुयायियो के दो वर्ग बन गये। यह मतभेद मुख्यत 'प्रपत्ति' (शरणागति) के प्रश्न को लेकर प्रकट हुआ। इन दो वर्गों या शाखाओं के नाम है—वडक्कलइ या वाडकलाई और तेन्कलइ या टेनकलाई। पहली शाखा के प्रवर्तक आचार्य वेदान्तदेशिक (१२६८–१३६९ ई०) और दूसरी शाखा के प्रवर्तक मनवल महामुनि या राम्य जामातृमुनि (१३७०-१४४३ ई०) हुए। पहली शाखा का सम्बन्ध कांजीवरम् का उत्तरी भाग और दूसरी शाखा का सम्बन्ध दक्षिणी भाग था। *श्रीरंगम् की वैष्णव शाखा के अध्यक्ष वेदान्तदेशिक थे। उनके बाद जामातृमुनि* प्रधान उपदेशक नियुक्त हुए। उनके 'तत्त्वनिरूपण' तथा 'उपदेशरत्नमाला' नामक दो ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ हैं। वडक्कलइ (उत्तरी ज्ञानी) भक्तो का अभिमत था कि भक्त ईश्वर की शरण मे आकर प्रसन्न हो जाता है। किन्तु दूसरी तेन्कलइ (दक्षिण ज्ञानी) भक्तो का कहना था कि भक्त को कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। उसे ईश्वर स्वय ही अपनी शरण में ले लेते हैं। प्रथम मतावलम्बी भक्तों ने यह नियम बताया कि शूद्रादि निम्न जाति के लोगो से विचार विनिमय करते वक्त का सीमित सम्बन्ध रखा जाये, जब कि दूसरे मत के भक्तो ने उनके साथ समान आचार विचार रखने का पक्ष प्रस्तुत किया।

उत्तर ज्ञानी शाखा मे भक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। भक्ति, अर्थात् भगवान् के प्रति क्रियात्मक प्रेम या तल्लीनता। दक्षिण ज्ञानी शाखा मे प्रपत्ति पर, अर्थात् सम्पूर्ण आत्म-समर्पण पर, अधिक बल दिया गया है। उत्तर ज्ञानी शाखा के भक्तो की तुलना एक ऐसे कपिशिशु से की गई है, जो अपनी माँ को पकडे सक्रिय रहता है और वह उसको लेकर कूदती रहती है। दूसरी दक्षिण ज्ञानी शाखा के भक्तो की तुलना एक ऐसे मार्जार-शिशु से की गई है, जो सर्वथा निष्क्रिय रहता है और उसकी माँ उसको अपने मुँह मे दबाकर चलती है।

मार्जारात्मक भक्ति वह है, जिसमे जीवात्मा भगवान् की कृपा पर निर्भर रहता है। यह भक्ति निष्क्रिय कहलाती है। अत उसे अधम कोटि का माना गया है। उसमें आत्मा स्वय अकर्मण्य बनकर देवकृपा पर निर्भर रहता है। दूसरी प्रकार की मर्कटात्मक भक्ति मे भक्त स्वय तादात्म्य स्थापित

करने का प्रयास करता है। यह सक्रिय भक्ति है। उसमे पूर्ण प्रपत्ति होने से उसे उत्तम कोटि की भक्ति माना जाता है। किन्तु श्रीसम्प्रदाय मे मार्जारात्मक भक्ति को ही श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि उसमे भक्त स्वय को भगवान् पर निर्भर कर देता है, जब कि मर्कटात्मक भक्ति मे भक्त स्वय भी अभिमान भावना रखता हुआ भगवान् पर आधा ही भरोसा करता है। एक शाखा का स्वरूप 'वानरी वृत्ति' और दूसरी शाखा का स्वरूप 'बैडाली वृत्ति' है। इन दोनो शाखाओ के अनुयायियो को 'मर्कट न्याय' तथा 'मार्जार न्याय' इन हास्यात्मक नामो से कहा जाता है। एक तो भगवान् के सहेतुक कृपा के और दूसरे निर्हेतुक कृपा के अनुयायी है।

दक्षिण भारत के तमिल वैष्णवाचार्यों मे नाथमुनि के समकालीन नाम्बि आण्डार भक्त-कवि ने तमिल स्तुतियो के तीन सग्रहो का सकलन किया, जिनका नाम 'तेवाराम' या 'देवाराम' अथवा 'देवीमाला' है। इस मत के प्रबल अनुयायी वीर राघवाचार्य, नरसिंहगुरु के पुत्र तथा वरदाचार्य के शिष्य थे। वे वाधूलवशीय थे और उन्होने वरदाचार्य के 'तत्त्वसार' पर 'रत्न-प्रसारिणी' नामक टीका लिखी थी। रामानुजाचार्य की विशिष्टाद्वैत-परम्परा मे लोकाचार्य (१५वी शती ई०) हुए। वे दाक्षिणात्य थे और उनके पिता का नाम कृष्णपाद था। उन्होने रामानुज मत पर 'तत्त्वत्रय' तथा 'तत्त्वशेखर' नामक दो प्रौढ ग्रन्थो की रचना की थी। उनके प्रथम ग्रन्थ पर वर्वरमुनि का भाष्य है। इसी प्रकार अनन्ताचार्य (१६वी शती) ने भी रामानुज मत पर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो का निर्माण किया।

आचार-पद्धति

श्रीसम्प्रदाय के वैष्णवो की परम्परा आज तक जीवित है। वे दक्षिण तथा उत्तर, दोनो अचलो मे पाये जाते हैं और अपने मन्दिरो मे परम्परा के अनुसार भगवान् का आराधना भजन करते हैं। इस सम्प्रदाय मे केवल ब्राह्मण वर्ग के लोगो को ही आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने का नियम है। गृहस्थ और सन्यासी, दोनो इस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। वे नासिका मूल से केशपर्यन्त ललाट पर गोपीचन्दन का खडा तिलक और उसके बीच पीली या लाल रेखा अकित करते है। कण्ठ मे तुलसीमाला धारण करते हैं। शरीर के द्वादशागो (ललाट, कण्ठ, दोनो बाहु, दोनो पार्श्व, हृदय, नाभि शिरोमध्य, पीठ और दोनो कर्णमूलो) मे शख, चक्र या राम नाम का भगवद्-प्रतीक अकित करते हैं। इन आचारो के परिपालन मे उनकी अगाध निष्ठा देखने को मिलती है।

सतानी पन्थ

वैष्णव धर्म से सम्बन्धित यह सतानी पन्थ या सम्प्रदाय लगभग रामानुजाचार्य का समकालीन है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तो को भी 'श्रीवैष्णव' कहा जाता है। सभवत इस शाखा का सम्बन्ध तेनूकलइ (दक्षिण ज्ञानी) भक्तो से था। इस मत के अनुयायी शूद्र या शूद्रवत् हैं, जो कि शिखा-सूत्र नही रखते। किन्तु ब्राह्मण आचार्यों से शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करते हैं। दक्षिण मे ये अनेक मन्दिरो के पुजारी है। किन्तु उनके मन्दिरो मे ब्राह्मण पूजा-प्रतिष्ठा नही करते। ब्राह्मण आचार्यों से जब वे दीक्षा ग्रहण करते हैं, तो उस समय उनके शरीर को तप्त शखचक्र से दागकर चिह्न अकित किया जाता है। तमिल वेद उनका मान्य साहित्य है। मैसूर, आन्ध्र तथा तमिलनाडु मे सतानी मत के अनुयायियो की अधिकता है।

महानुभाव पन्थ

भारत के धार्मिक इतिहास मे परम्परागत उदात्त मान्यताओ तथा लोकहितकारी आदर्शों को लेकर जिन धर्म मार्गों का उदय हुआ, उनमे 'महानुभाव पन्थ' का भी एक नाम है। इस पन्थ को 'मानभाऊ', 'महानुभाव' या 'मुनिमार्ग' और कोई-कोई 'दत्तात्रेय' भी कहते है। किन्तु 'दत्तात्रेय मत', 'महानुभाव पन्थ' से पृथक् जाता है। महानुभाव पन्थ के अनुयायियो का उपास्य भी दत्तात्रेय भगवान् ही रहे हैं। इसके साथ ही दोनो धर्म-पन्थो का उदय महाराष्ट्र मे होने के कारण दोनो को एक समझने का भ्रम हुआ है। किन्तु वस्तुत 'महानुभाव पन्थ' और 'दत्तात्रेय मत' का उदय तथा विकास अलग-अलग ढग से हुआ।

इस धर्मशाखा के सस्थापक का नाम कृष्णभट्ट जोशी था, जिनका जन्म दक्षिण भारत मे बेम्बे नामक गाँव मे १०४७ ई० को हुआ था। उनके पिता का नाम कुलकरणी गोपालराव पन्त था। कृष्णभट्ट जोशी का पैतृक व्यवसाय व्यापार था। किन्तु उन्होने जादूगरी मे निपुणता प्राप्त कर ली थी। रूप परिवर्तित करने स्वाग रचने या बहुरूपिया वेश धारण करने मे वे सिद्धहस्त थे। जन सामान्य मे उन्होने यह प्रचलित कर दिया था कि वे कृष्ण के साक्षात् स्वरूप हैं। उनके इस देवत्व प्रचार के कारण अनेक व्यक्ति उनके अनुयायी हो गये थे और फलत वे एक देव प्रतीक दर्शनीय या अवतारी पुरुष के रूप मे प्रचलित हो गये थे। उनके अनुयायियो ने उन्हे कृष्णावतार के रूप मे प्रचारित कर दिया था।

कृष्णभट्ट जोशी के इस अवतारी अलौकिक व्यक्तित्व और प्रभाव की चर्चा पैठन के तत्कालीन राजा चन्द्रसेन के मत्री हेमाद्रि पन्त के कानो तक पहुँची। उन्होने वास्तविकता का पता लगाने के उद्देश्य से कृष्णभट्ट जोशी को पैठन आमत्रित किया। साक्षात्कार होने पर उनके कृष्णस्वरूप वेश को देखकर मत्री बडे प्रभावित हुए। मत्री ने कृष्णावतार जोशीजी से स्नान तथा भोजन के लिए प्रार्थना की। किन्तु जोशीजी ने उनकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। उनके इस व्यवहार से मत्री हेमाद्रि पन्त की श्रद्धा निष्ठा जाती रही। उन्हे जोशी एक ढोगी व्यक्ति प्रतीत हुआ। उन्होंने अपने सेवक को आदेश दिया और उसने कृष्णभट्ट जोशी के कपडे उतार दिये। निरावरण हो जाने के बाद जोशीजी का वास्तविक रूप प्रकट हुआ। उनकी वास्त-

विकता का रहस्योद्घाटन हो जाने के बाद उन्हे जनता मे सर्वथा पाखण्डी घोषित कर दिया गया। फलस्वरूप उन्हे कारागार मे बन्द कर दिया गया और खोज-खोज कर उनके अनुयायियो का पता लगाया गया और उन्हे काले वस्त्र पहनाकर राज्य से निष्कासित कर दिया गया। उनके अवतारी स्वरूप की बडी दुर्दशा हुई।

धर्म-सस्थापक आचार्य की इस प्रकार दुर्गति तथा अपमान हो जाने के बाद भी महानुभाव पन्थ का सर्वथा उन्मूलन नही हो पाया। उसका प्रचार देश के अनेक अचलो मे हो चुका था। उसका उदय यद्यपि गुजरात मे हुआ था, किन्तु अल्प समय मे ही वह महाराष्ट्र, पजाब तथा बिहार तक प्रसारित हो गया। गुजरात मे वह 'अच्युत पन्थ', महाराष्ट्र मे 'मानभाव पन्थ' और पजाब तथा बिहार मे 'जयकृष्ण पन्थ' के नाम से प्रचलित हो चुका था। भारत के उत्तर पश्चिम अचलो मे भी वह फैल चुका था। इस प्रकार उसके अनुयायियो की सख्या निरन्तर बढती ही गई। महाराष्ट्र और बिहार मे महानुभाव पन्थ का आज भी अस्तित्व एव महत्त्व बना हुआ है। महाराष्ट्र स्थित बरार के ऋद्धिपुर नामक स्थान मे इस मत का प्रधान मठ है।

परम्परा का प्रवर्तन

इस धर्मशाखा की ऐतिहासिक परम्परा के सम्बन्ध मे जो तथ्य प्रकाश मे आये हैं, उनके अनुसार कृष्णभट्ट जोशी के बाद भडोच (गुजरात) के राजा हरपालदेव उसका प्रमुख आश्रयदाता और अनुयायी हुआ। उसने इस धर्म के प्रचार-प्रसार मे बडी अभिरुचि दिखाई। उसने अपना सर्वस्व त्याग कर सन्यास धारण किया और समाज मे चक्रधर के नये नाम से कहे जाने लगे। सन्त चक्रधर १३वी शती ई० मे हुए। उन्होंने इस धर्मपन्थ को पुनरुज्जीवित किया। 'चक्रधरचरित' नामक ग्रन्थ मे उनकी जीवनी उल्लिखित है जो कि मराठी मे है। इस सन्त ने मानभाऊ मत की परम्परागत धार्मिक प्रक्रियाओ को लोकसगत बनाया। इस मत के प्रमुख अनुयायियो मे यादवराजा रामचन्द्र (१२७१ १३०९ ई०) के समकालीन नागेश्वर भट्ट या नामदेव भट्ट और 'ज्ञानेश्वरी' के रचयिता प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर का नाम उल्लेखनीय है। इन ख्याति प्राप्त एव लोक-समान्य सन्तो के कारण महानुभाव पन्थ को पर्याप्त लोक-सम्मान प्राप्त हुआ। उसकी गिरती हुई लोकप्रतिष्ठा को पुनरुज्जीवित होने का सुयोग मिला।

मठ और महन्त

इस पन्थ के वर्तमान उत्तराधिकारी महन्त कहे जाते हैं, जिनकी अपनी गद्दियां हैं। रुद्रपुर, कारज, दरियापुर, फल्टन और पैठन में इस मत की प्रमुख पांच गद्दियां है। इनके अतिरिक्त नरमठ, नारायणमठ, प्रवरमठ, ऋषिमठ और प्रशान्तमठ नाम से उनके पांच उपमठ हैं।

उक्त मठो के स्वामी छत्र चामरधारी महन्त राजसी ठाट-बाट से जीवन यापन करते है। गृहस्थ तथा सन्यासी, दोनो प्रकार के वर्ग इस पन्थ के अनुयायी हैं। सन्यासियों को विवाह करने की अनुमति नही है। गृहस्थो को 'उपदेशी' कहा जाता है। उक्त गद्दियां परम्परा से वंशानुगत है। गृहस्थ और सन्यासी, दोनो मद्य-मास का सेवन नही करते हैं और हिंसा से अपने को विरत रखते है।

आचार-संहिता

महानुभाव पन्थ की अपनी आचार पद्धति है। मूलरूप से यह धार्मिक पन्थ उदारतावादी था। उसमे वर्णाश्रम, जात पात, ऊँच-नीच का भेद भाव नही था। सहभोज का आज भी रिवाज है। मद्य मास वर्जित है। प्रत्येक दीक्षित भक्त आचार्य होता है और सन्यासियो की भांति अपनी दिनचर्या रखता है। उनमे समाधि धारण करने का प्रचलन है। उनके मन्दिरो या मठो का वृत्ताकार या वर्गाकार सौध को ही भगवान् का प्रतीक माना जाता है।

इस धर्म पन्थ के उदारतावादी दृष्टिकोण के कारण रूढिवादी समाज द्वारा उसका विरोध किया गया। किन्तु अपने मूलरूप में उसमे कोई दोष नही था। उसके मूल संस्थापक सन्त चक्रधर स्वय करडाह ब्राह्मण थे और उनके उदात्त धर्मनिष्ठ चरित के कारण इस सम्प्रदाय के अनुयायी उन्हे भगवान् दत्तात्रेय का अवतार मानते थे।

यद्यपि इस पन्थ के आदि आराध्यदेव दत्तात्रेय भगवान् है, तथापि अब तक इस पन्थ में पांच अवतारी महापुरुष हो चुके हैं। इन पांचो के अलग-अलग पांच मन्त्र हैं, जो कि दीक्षा के समय दिये जाते हैं। त्रिमूर्ति दत्तात्रेय के अवतार हैं।

सिद्धान्त-निरूपण

महानुभाव पन्थ के अपने ग्रन्थ और सिद्धान्त है। उनका अपना गोपनीय और सीमित सगठन है। इस धर्म-शाखा के अनुयायियो के उपास्यदव दत्तात्रेय

भगवान् हैं, जो कृष्णावतार माने जाते है। यद्यपि प्रचलित द्वादशावतारो मे दत्तात्रेय अवतार का कही भी नाम नही है, तथापि इस मत के अनुयायी उनको कृष्णस्वरूप मानते हैं। दत्तात्रेय स्वय बडे विद्वान्, तपस्वी तत्ववेत्ता और महामुनि थे। महर्षि आत्रेय और महासती अनुसूया उनके पिता माता थे। गोदावरी के तट पर शिव की घोर साधना करने पर उन्हे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हुई थी। इस प्रकार दत्तात्रेय ऋषिकुलीन महामुनि थे।

महानुभाव पन्थ के अनुयायी स्वरचित भजनो को गाते हैं और कृष्ण-लीला का प्रदर्शन करते हैं। वे वर्णभेद तथा मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से वे अद्वैतवादी है। यद्यपि कृष्ण की लीलाओ को रचकर वे अपने उपास्यदेव दत्तात्रेय का गुणगान करते हैं, तथापि मूलरूप मे वे निर्गुणोपासक है। उनके परमेश्वर निर्गुण, निराकार होते हुए भी भक्तो के अनुग्रह के लिए समय-समय पर सगुण रूप धारण करते है, क्योकि वे अवतारी हैं।

अपने धर्म या सम्प्रदाय के रहस्य को वे नितान्त गूढ तथा गोपनीय रखते हैं। उसे सर्व-सामान्य पर प्रकट नही करते है। उनकी अपनी सांकेतिक लिपि और उसमे लिखा हुआ स्वतन्त्र साहित्य है। इस लिपि तथा साहित्य को वे उसी को बताते है, जो उनके पन्थ की दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

'भगवद्गीता' इस पन्थ के अनुयायियो का प्रमुख ग्रन्थ है। उसके अतिरिक्त उनके जो अन्य ग्रन्थ प्रकाश मे आये है, उनमे 'ज्ञानेश्वरी', 'भागवत एकादशस्कन्ध', 'दत्तात्रेयोपनिषद्', 'कृष्णचरित', और 'सिद्धान्त सूत्रपाठ' उल्लेखनीय हैं। उनके अपने स्वतन्त्र पुराण भी हैं। मराठी मे इस मत का विपुल साहित्य बताया जाता है।

पन्थ की रहस्यात्मकता का उद्घाटन

इस पन्थ की विशेषता उसकी रहस्यात्मकता मे निहित है, जिसके अनुसार उसके मूल सिद्धान्त तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थ नितान्त गोपनीय तथा उसकी लिपि सांकेतिक है। उनकी यह सांकेतिक लिपि, जिसमे उनके धार्मिक तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थ उल्लिखित है, लगभग २६ प्रकार की बताई जाती है। इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके धर्म-रहस्य की जानकारी प्राप्त करना सहज नही है। इस पन्थ की रहस्यात्मकता का उद्घाटन सर्व-प्रथम लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने १८९९ ई० मे किया। 'केशरी' मे लेख लिखकर उन्होने महानुभाव पन्थ की मान्यताओ पर मौलिक प्रकाश डाला और सारी रहस्यात्मकता स्पष्ट की। उनके प्रयास से इस पन्थ के प्रति

जो अज्ञानता, भ्रान्ति तथा गोपनीयता बनी हुई थी, उसका समाधान हो गया। वास्तविकता यह है कि महानुभाव पन्थ के नितान्त गोपनीय आचारो के कारण जन-सामान्य मे उनके प्रति श्रद्धा-निष्ठा होने की अपेक्षा घृणा-उपेक्षा एव भ्रम-सन्देह ही अधिक उजागर हुआ।

१९वी शती के मध्य मे मानभाऊ पन्थ के प्रति महाराष्ट्रीय समाज मे बडी घृणा उत्पन्न हो गई थी। जिस महाराष्ट्र मे उसको व्यापक लोकमान्यता प्राप्त हुई, वही उसका घोर विरोध भी हुआ। महाराष्ट्र के सन्त कवि एकनाथ तथा गिरधर न अपनी कविताओ म इस पन्थ को हेय बताकर उसकी निन्दा की है। महाराज माधवराव पेशवा ने १८३९ ई० मे एक फरमान निकाल कर यह घोषित किया था कि मानभाऊ मत सर्वथा निन्दनीय है। उसके अनुयायियों को वर्णबाह्य माना जाये। जो भी हिन्दू उनका उपदेश सुने, उसे भी जातिच्युत किया जाय। इस प्रकार १९वी शती मे महाराष्ट्र की जनता इस धार्मिक पन्थ की घोर निन्दा करने लगी थी।

ऐसा कहा जाता है कि इस पन्थ के प्रति जन-सामान्य की उपेक्षा तथा अनिष्ठा का एक कारण यह भी था कि इसके अनुयायी निर्धन परिवारो की अवयस्क बालिकाओ का क्रय कर उन्हे देवदासी बनाते थे, जो कि दक्षिण भारत के वैभवशाली मन्दिरो मे नर्तकियो का कार्य करती थी और धर्म के नाम पर दुराचार तथा अनैतिकता का कारण बनी हुई थी। इस कारण शासन ने इस देवदासी प्रथा को अवैध घोषित कर उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

इन सब कारणों से महानुभाव पन्थ को हीनता का द्योतक माने जाने लगा। आरम्भ मे इस पन्थ का जो उच्च ध्येय था, बाद मे वह विद्रूप हो गया। उसमे सामाजिक असमानता, विशेष रूप से वर्णभेद की बुराइयो को दूर करने, समानता स्थापित करने और स्वान्त सुखाय धर्मार्जन करने के जो उदात्त एव लोकहितकारी उद्देश्य थे बाद के उत्तराधिकारियो मे उनका अभाव होने से उनके प्रति लोकनिष्ठा क्षीण हो गई।

निम्बार्क मत या सनक सम्प्रदाय

भारत के धार्मिक इतिहास में 'निम्बार्क मत' या 'सनक सम्प्रदाय' का अपना विशिष्ट स्थान है। यह धार्मिक पन्थ वैष्णव धर्म के अन्तर्गत है, जिसका आधार कृष्ण भक्ति है। इस सम्प्रदाय के साहित्य में कहा गया है कि सनक सम्प्रदाय के आदि या प्रथम उपदेष्टा स्वयं श्रीहंस भगवान् थे। उनसे सनक-सनकादि ऋषियों ने उपदेश ग्रहण किया। तदुपरान्त इस धर्म की परम्परा को देवर्षि नारद ने प्राप्त किया और उनका उपदेश उन्होंने निम्बार्काचार्य को दिया। निम्बार्काचार्य ने उसे लोक में प्रचारित-प्रसारित किया। उन्होंने इस धर्म-शाखा को लोकमान्य बनाया।

इस धर्मोपदेश का सार 'महाभारत' (शान्ति पर्व—३१९।६) में इस प्रकार वर्णित है 'इस संसार में विद्या के समान श्रेष्ठ नेत्र नहीं हैं। साथ ही सत्य के समान श्रेष्ठ तप, राग के समान महादुःख और त्याग के समान उत्तम सुख इस संसार में नहीं है—

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥'

'महाभारत' के अनुसार सनत्कुमार ने 'सनत्सुजातीय' (सात्वत धर्म) का यह उपदेश महाराज धृतराष्ट्र को दिया था। यह 'भगवद्गीता' के उपदेश की भाँति महत्त्वपूर्ण था। इसलिए आद्य शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों ने 'भगवद्गीता' के ही समान उस पर स्वतंत्र भाष्यों की रचना की।

इस मत में सनत्कुमार (जीवन-मुक्त) को विष्णु का साक्षात् अवतार माना गया है। वे उपनिषत्कालीन महान् तत्त्ववेत्ता आचार्य थे। 'कुमार' सामूहिक नामान्तर से अभिवाच्य उनकी संख्या 'भागवत' (२।७।५ आदि) में चार बताई गई है—सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन। उनका मूल स्थान उत्तरी हिमगिरि था, जहाँ उन्होंने विभाण्डक ऋषि को उपदेश दिया था।

सनत्कुमार का उपदेश

सनत्कुमार ने महर्षि नारद को जो तत्त्वज्ञान दिया था, उसका वर्णन 'छान्दोग्योपनिषद्' (७।१७-२२) में किया गया है। उसमें कहा गया है—'आध्यात्मिक सुख प्राप्ति के लिए मनुष्य कर्म करता है, जिससे आगे चलकर उसमें श्रद्धा का उदय होता है। इसी श्रद्धा से ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो

आगे चलकर आत्मज्ञान की उपलब्धि कराता है। आत्मज्ञान (आत्मानुभूति) के अनन्तर साक्षात्कार होता है। आत्मानुभूति, अर्थात् 'सोऽहं आत्मा'—यही अन्तिम लक्ष्य है।'

इस प्रकार आत्मा ही इस सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है और इसी आत्मा से मानवीय आशा तथा स्मृति का निर्माण होता है। इसी आत्मा से सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का विकास होता है और विनाश के पश्चात् सृष्टि की प्रत्येक वस्तु इसी आत्मा में विलीन हो जाती है।

ग्रन्थ निर्माण

आत्मज्ञानी सनत्कुमार को अनेक ग्रन्थों का रचयिता माना गया है। उनके नाम से जो ग्रन्थ तथा उपाख्यान प्राप्त हैं उनके नाम हैं—'सनत्कुमार उपपुराण' (कूर्मपुराण के अन्तर्गत), 'सनत्सुजातीय उपाख्यान' (महाभारत के अन्तर्गत), जिस पर शाङ्करभाष्य है, 'सनत्कुमार संहिता' (शिवपुराण), 'सनत्कुमार वास्तुशास्त्र, 'सनत्कुमार तन्त्र' और 'सनत्कुमारकल्प'। इन ग्रन्थों में कुछ तो प्रकाशित हैं और कुछ हस्तलेखों के रूप में हस्तलेख-संग्रहों में सुरक्षित हैं।

निम्बार्काचार्य (सम्प्रदाय संस्थापक)

इस प्रकार सनत्कुमार से अथवा उनकी परम्परा के किसी अज्ञातनाम आचार्य से आत्मविद्या का दिव्य उपदेश ग्रहण कर निम्बार्काचार्य ने जिस धर्म-मार्ग की प्रतिष्ठा की, उसको 'सनक सम्प्रदाय' के नाम से कहा गया। इस सम्प्रदाय के आचार्यों का यह अभिमत है कि निम्बार्काचार्य बादरायण व्यास के समकालीन थे। देवर्षि नारद और बादरायण व्यास के समकालीन निम्बार्काचार्य का स्थितिकाल मानने की इस कल्पना का आधार उनके प्रति श्रद्धा एवं पूजाभाव हो सकता है। किन्तु इस कल्पना का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

इसी प्रकार कुछ विद्वानों का अभिमत है कि 'सिद्धान्तशिरोमणि' तथा 'लीलावती' के रचयिता प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् भास्कराचार्य तथा निम्बार्काचार्य एक ही थे और उनका जन्म दक्षिण हैदराबाद (भूतपूर्व निजाम राज्य) में स्थित वेदर नामक गाँव में हुआ था, किन्तु यह धारणा भी नितान्त कपोल-कल्पित सिद्ध हो चुकी है।

वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के विरोध में 'ब्रह्म-सूत्र' की विष्णुपरक व्याख्या करनेवाले और जैन-बौद्धों के बढ़ते हुए प्रभाव को क्षीण करने के उद्देश्य से वैष्णव धर्म के संपोषक, संस्थापक एवं प्रवर्तक धर्मा-

चार्यों ने अपने-अपने धार्मिक तथा दार्शनिक मतों का स्वतंत्र रूप से प्रतिपादन किया, उनमें यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य और निम्बार्काचार्य का नाम प्रमुख है। यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य ने 'श्रीवैष्णव सम्प्रदाय' का प्रचलन कर 'भागवत' की सगुण भक्ति की परम्परा को प्रतिष्ठित किया और निम्बार्काचार्य ने श्रीराधा की उपासना-भक्ति की नयी परम्परा को प्रतिष्ठित किया।

निम्बार्काचार्य का जन्म १०३६ शकाब्द (११७१ वि०), अर्थात् १११४ ई० में मैसूर राज्य के बेल्लारी जिले के निम्बापुर नगर में हुआ था। उनका पैतृक नाम नियमानन्द था। वे तैलंग ब्राह्मण थे और दक्षिण से चलकर उत्तर भारत वृन्दावन में बस गये थे। 'सनक सम्प्रदाय' के नाम से उन्होंने नया धार्मिक पन्थ चलाया, जो कि वैष्णव धर्म की ही एक शाखा है। यद्यपि वे दक्षिण भारत में पैदा हुए थे, किन्तु उनके मत का प्रचार-प्रसार दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक हुआ और तत्पश्चात् उनके दिव्य सन्देश दक्षिण तथा बंगाल में प्रचारित हुए। जैन-बौद्धों के बढ़ते हुए नास्तिकवाद को निरस्त एवं निष्प्रभावी सिद्ध कर उन्होंने अनेक वैष्णव देवालयों की स्थापना की और उनमें राधा-कृष्ण की प्रतिमाएँ स्थापित कर जन-सामान्य में वैष्णव धर्म की उदात्त भक्ति-परम्परा को उजागर किया।

उनके द्वारा वैष्णव धर्म के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण कार्य हुआ, उसके कारण 'सनक सम्प्रदाय' बाद में उनके नाम से 'निम्बार्क सम्प्रदाय' के रूप में विश्रुत हुआ। 'निम्बार्क सम्प्रदाय' के अनुयायी भक्त-जन उन्हें सूर्य भगवान् या श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र का अवतार मानते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि अत्यन्त सुन्दर होने के कारण उनको शैशव काल में सुदर्शन नाम से कहा जाता था। किन्तु उनके सूर्यावतार होने के कुछ रोचक प्रसंग आज भी प्रचलित हैं। नाभादास के 'भक्तमाल' में निम्बार्काचार्य के अलौकिक प्रभाव के सम्बन्ध में एक रोचक कथा वर्णित है। उसमें कहा गया है कि एक बार कोई जैन अर्हत् उनके पास आया। दोनों विद्वान् जैन धर्म के तत्त्वज्ञान पर विचार विनिमय करते हुए इतने तन्मय हो गये कि उन्हें सूर्यास्त हो जाने का ध्यान ही न रहा। इसी समय निम्बार्काचार्य को आभास हुआ कि अतिथि निराहार है और सूर्यास्त होने के बाद आहार नहीं करेंगे। अतिथि के लिए उन्होंने भोजन सामग्री उपस्थित की। किन्तु सूर्यास्त हो जाने के कारण जैनाचार्य ने भोजन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। इस पर आचार्य को अतिथि के रात भर निराहार रहने का घोर पश्चात्ताप हुआ। इस कथा में आगे कहा गया है कि उसी समय निम्बार्काचार्य ने भगवान् भास्कर की आराधना की। सूर्य भगवान् आकाश में दिखाई देने लगे। अतिथि उनके इस

चामत्कारिक अलौकिक व्यक्तित्व से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने भोजन किया। जब तक वे भोजन करते रहे, तब तक पास ही में स्थित नीम के वृक्ष पर सूर्य का प्रकाश विद्यमान रहा। उनके भोजन समाप्त करते ही सूर्य का प्रकाश विलुप्त हो गया। कहा जाता है, तब से उन्हें निम्बार्क या निम्बादित्य (नीम के वृक्ष पर सूर्य के दर्शन करने वाले), इस नये नाम से कहा जाने लगा।

निम्बार्काचार्य के इस अलौकिक प्रभाव की कथा कहाँ तक सत्य है, कहा नहीं जा सकता है। किन्तु उनके धर्मावतारी व्यक्तित्व की महिमा से इन्कार नहीं किया जा सकता है। वृन्दावन उनका साधना-क्षेत्र रहा। वृन्दावन के अतिरिक्त मथुरा, गोवर्द्धन और नीमगाँव आदि व्रज क्षेत्र में भ्रमण कर उन्होंने अपने मत को प्रतिष्ठित किया।

ग्रन्थ-निर्माण

निम्बार्काचार्य प्रभावशाली उपदेशक तथा तार्किक होने के साथ-साथ प्रख्यात विद्वान् भी थे। उन्होंने अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा एवं स्थिरता के लिए अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। अन्य सम्प्रदाय-संस्थापकों की भाँति उन्होंने भी 'ब्रह्मसूत्र' पर स्वतंत्र भाष्य-ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'वेदान्त पारिजात सौरभ' नाम से कहा जाता है। द्वैताद्वैत मत पर उन्होंने 'दशश्लोकी' नाम से एक लघु रचना का निर्माण किया, जिसमें कि सूत्ररूप में सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'श्रीकृष्णस्तवराज', 'मन्त्ररहस्यषोडशी' और 'प्रपन्न कल्पवल्ली' नाम से सम्प्रदाय में सम्बन्धित ग्रन्थ लिखे। अपने ग्रन्थों में उन्होंने अवतारी श्रीकृष्ण की सगुण भक्ति का प्रतिपादन करते हुए दाम्पत्य भक्ति को श्रेष्ठ बताया है।

सिद्धान्त निरूपण

निम्बार्काचार्य ने दार्शनिक जगत् में अपने स्वतंत्र 'द्वैताद्वैत मत' की स्थापना की, जिसके अनुसार द्वैत भी सत्य है और अद्वैत भी सत्य है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैष्णवाचार्य रामानुज द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म की विशिष्टता को स्वीकार नहीं किया। उनके मत से ईश्वर, जीव और जगत्, तीनों तत्त्व एकमेव ब्रह्म में पर्यवसित हैं। उन्होंने स्थापित किया कि यद्यपि ईश्वर, जीव और जगत् भिन्न भिन्न हैं, तथापि जीव तथा जगत् परतंत्र हैं और उनका समस्त क्रिया-व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वर की इच्छा पर अवलम्बित है। उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है और जगद्रूप में परिणत होने पर भी उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। इस दृष्टि से द्वैत भी सत्य है और अद्वैत भी सत्य है। उनके मतानुसार

श्रीकृष्ण ही एकमात्र उपास्य हैं, जिन्हें उपासना तथा भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

निम्बार्क मत में भक्ति को ईश्वर-प्राप्ति तथा मुक्ति का एकमात्र साधन बताया गया है। भक्ति के उन्होंने दो रूप बताये हैं—साधनारूपा और सिद्धि-रूपा। साधनारूपा भक्ति जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों से प्राप्त होती है। उसके वैदिक तथा पौराणिक, दो भेद हैं। साधनारूपा वैदिक भक्ति का अधिकार द्विजातियों और साधनारूपा पौराणिक भक्ति का अधिकार अन्त्यजों को है। इस भक्ति के आधार राधा-कृष्ण हैं।

निम्बार्क मत में राधा-कृष्ण के युगल भाव की भक्ति की गई है। वाम भाग में वृषभानुजा राधा के साथ विराजमान श्रीकृष्ण इस मत में भक्तों के उपास्य हैं। श्रीकृष्ण लीलावतारी हैं। अतः 'श्री' तथा 'लक्ष्मी', दोनों रूपों में वह कृष्ण के साथ प्रकट होती हैं। इस सम्प्रदाय में राधा को स्वकीया के रूप में स्वीकार किया गया है और उज्ज्वल या दाम्पत्य भक्ति को ही श्रेष्ठ माना गया है। महिमामयी राधा श्रीकृष्ण की शाश्वत पत्नी हैं। श्रीकृष्ण की ही भाँति राधाजी भी वृन्दावन में अवतरित हुईं और उनकी विवाहिता पत्नी बनीं। वैष्णव धर्म में राधा-कृष्ण सम्बन्धी भक्ति का प्रतिपादन सर्व-प्रथम निम्बार्काचार्य ने किया।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि निम्बार्काचार्य तथा उनके अनुयायी आचार्यों ने धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में अन्य वैष्णव मतों के साथ समन्वय का दृष्टिकोण अपनाया, आलोचनात्मक तथा खण्डनात्मक नहीं। यही कारण है कि राधावल्लभ, प्रणामी, चैतन्य, धर्मदासी, रामानन्दी, कबीरपन्थी तथा खालसा आदि पन्थों के साथ उनकी समदृष्टि एवं सहयोग देखने को मिलता है।

इस प्रकार धर्म, सदाचार तथा सन्मार्ग का उपदेश देकर १०८४ शकाब्द (११६२ ई०) को ४८ वर्ष की अल्पायु में ही निम्बार्काचार्य ने परम धाम को प्राप्त किया।

परम्परा का प्रवर्तन

निम्बार्काचार्य के पश्चात् उनके अनुयायी शिष्य-प्रशिष्यों ने सनक सम्प्रदाय की परम्परा को आगे बढ़ाया। सनक सम्प्रदाय के द्वैताद्वैतवादी वैष्णव दार्शनिकों में देवाचार्य का नाम प्रसिद्ध है। वे बहुत प्राचीन, अर्थात् निम्बार्का-चार्य के समकालीन १२वीं शती में हुए। वे तैलंग थे। उनके गुरु वेदान्ती कृपाचार्य को बताया जाता है। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष पर उन्होंने 'वेदान्तजाह्नवी' तथा भक्तिमार्ग पर 'भक्तरत्नावली' नामक दो ग्रन्थों का

प्रणयन किया। इस सम्प्रदाय के अनुयायियो का विश्वास है कि देवाचार्य विष्णु की नाभि मे स्थित कमल के अवतार थे।

१३वी शती मे वर्तमान सस्कृत के गीतकार एव 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे राधामत के थे और उनके गीतो को प्राय सभी वैष्णव मतानुयायियो ने, विशेष रूप से चैतन्य तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियो ने बडे भक्तिभाव से गायन किया।

निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्य अनुयायियो मे श्रीनिवासाचार्य, औदुम्बराचार्य, गौरमुखाचार्य, लक्ष्मणभट्ट, पुरुषोत्तमाचार्य, सुन्दराचार्य और केशवाचार्य प्रभृति आचार्यों का नाम उल्लेखनीय है। श्रीनिवासाचार्य ने निम्बार्काचार्य के 'वेदान्त पारिजात कौस्तुभ' पर प्रामाणिक भाष्य लिखा, जिसका नाम 'वेदान्त कौस्तुभ' है और जो इस सम्प्रदाय का मान्य ग्रन्थ माना जाता है। उनके शिष्य पुरुषोत्तमाचार्य ने निम्बार्काचार्य की 'दशश्लोकी' पर 'वेदान्तरत्न-मजूषा' नाम से एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी। श्रीनिवासाचार्य के दूसरे शिष्य केशवाचार्य (१५वीं शती) ने श्रीनिवासाचार्य द्वारा विरचित 'वेदान्त-कौस्तुभ' पर व्याख्यान लिखा।

इस परम्परा मे आगे अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए। उन्होने सस्कृत तथा ब्रजभाषा हिन्दी मे अनेक ग्रन्थो का प्रणयन कर सम्प्रदाय की परम्परा को सुस्थिर एव लोक प्रचलित किया। इस परम्परा में हरिव्यासदेव, परशुरामदेव, रूपरसिकदेव तथा वृन्दावनदेव प्रभृति विद्वानो ने ब्रजभाषा के ग्रन्थो की रचना कर द्वैताद्वैत मत के सिद्धान्तो तथा आचारो का समर्थ प्रतिपादन किया।

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रवर्तक ब्रजभाषा के हिन्दी कवियो मे श्रीभट्ट का नाम उल्लेखनीय है। उनका जन्म लगभग १६३० वि० माना जाता है। उनके पूर्वज हिसार (हरियाणा) के निवासी थे जो बाद में वृन्दावन मे आकर बस गये थे। उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'जुगलशतक' है, जिसको सम्प्रदाय मे आदि वाणी भी कहा जाता है। इस ग्रन्थ के रचना काल को लेकर बडा विवाद है। उसमे १०० पद हैं। श्रीभट्ट ने राधाकृष्ण के गोपी भाव या सखी भाव की भक्ति को अभिव्यजित किया है। प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता विद्वान् एव भक्त हरिव्यासदेव उनके शिष्य थे। आचार्य श्रीभट्ट प्रसिद्ध सगीत-कार भी थे। उनके रचे हुए पद सगीतशास्त्र की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय को सुप्रतिष्ठित करने और उसका देशव्यापी प्रचार-प्रसार करने में हरिव्यासदेव का नाम उल्लेखनीय है। निम्बार्क सम्प्रदाय के धर्माचार्यों एव ग्रन्थकारो में उनका प्रमुख स्थान है।

निम्बार्काचार्य के शरीर-त्याग के लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष बाद १५वीं शती ई० में इस सम्प्रदाय में 'गृहस्थ' और 'त्यागी' नाम से दो अलग-अलग शाखाएँ बनीं। गृहस्थ शाखा के प्रवर्तक उक्त केशव काश्मीरी थे और त्यागी शाखा का प्रवर्तन आचार्य हरिव्यासदेव ने किया। इसी समय इस सम्प्रदाय का पुनरुत्थान हुआ। केशव काश्मीरी के हरिव्यासदेव भागिनेय थे। किन्तु गृहस्थ त्याग कर वे सन्यासी हो गये थे।

इस सम्प्रदाय के पुनरुत्थापक केशव काश्मीरी ने लगभग आधे दर्जन ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके विषय में प्रसिद्ध है कि सरस्वती उनके कण्ठ में विराजमान रहती थी। वे बड़े तार्किक थे और उन्होंने अनेक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपने सम्प्रदाय के मत को प्रतिपादित एवं प्रतिष्ठित किया था। मुसलमान सूफी सन्तों से भी उनका तर्क वितर्क हुआ था, जिसमें उन्हें सफलता मिली। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम हैं—'तत्त्वप्रकाशिका', 'कौस्तुभप्रभा' और 'भागवतटीका'। उनकी चौथी कृति 'क्रमदीपिका' में निम्बार्क सम्प्रदाय के दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष का गंभीर विवेचन किया गया है।

इस सम्प्रदाय के आचार्य हरिव्यास देव को (१५वीं शती ई०) को 'हरिप्रिया' नाम से भी कहा गया है। सम्प्रदाय को संगठित करने और भारत के विभिन्न अंचलों में भजन-कीर्तन एवं उपदेशों का आयोजन कर उन्होंने सम्प्रदाय को व्यापक लोकमान्य बनाया। उनकी उपासना का केन्द्र यद्यपि वृन्दावन था, किन्तु मथुरा स्थित ध्रुवघाट का प्रसिद्ध नारदटीला मठ उनका गुरुस्थल था। उसका महत्व आज भी विद्यमान है।

वे संस्कृत तथा हिन्दी, दोनों भाषाओं के प्रौढ़ विद्वान् थे। उन्होंने हरिकीर्तन सम्बन्धी पदों का संग्रह 'महावाणी' के नाम से किया। निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य पुरुषोत्तमदेव की 'वेदान्तरत्नमंजूषा' पर उन्होंने विस्तृत संस्कृत व्याख्या लिखी। उनका 'महावाणी' ग्रन्थ आचार्य श्रीभट्ट (गुरु) के 'जुगलशतक' का व्याख्यान है। सम्प्रदाय की परम्परागत अनुश्रुति है कि रूपरसिकदेव ने इस ग्रन्थ को हरिप्रिया (श्रीराधा) को भेंटस्वरूप दिया था। किन्तु हरिव्यासदेव की ही रचना माना जाता है। यह ग्रन्थ पाँच सुखों (अध्यायों) में विभक्त है, जिनके नाम हैं—सेवासुख, उत्साहसुख, सुरतसुख, सहजसुख और सिद्धान्तसुख। यह ग्रन्थ रस-तत्त्व पर है, जिसमें श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण की रस-लीलाएँ वर्णित हैं। ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है।

सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार के लिए हरिव्यासदेव ने उल्लेखनीय कार्य किये। राजस्थान में सूफी फकीरों के आतंक को शान्त कर उन्होंने सलीम-

शाह सूरी को अपना शिष्य बनाया। हिमाचल के प्रसिद्ध देवीपीठ मे पशु-बलि प्रथा प्रचलित थी। उन्होने उसको बन्द किया। तभी से यह देवीपीठ वैष्णव (वैष्णो) देवी के नाम से कहा जाता है। उन्होने भारत के विभिन्न स्थानो तिरुपति, जगन्नाथपुरी, किन्दुबिल्व (बगाल) आदि स्थानो मे मठ-मन्दिर स्थापित किये और सम्प्रदाय के प्रति जन-भावना को उजागर किया।

सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होने अपने प्रसिद्ध बारह शिष्यो को धर्मप्रचारार्थ देश के विभिन्न अचलो मे भेजा और सम्प्रदाय के बारह अखाड़े स्थापित करवाये। उन्होने स्वयम्भूराम को पजाब और परशुरामदेव को राजस्थान भेजा। बाद मे स्वयम्भूराम के अनुयायियो का प्रसार बगाल तक हुआ। बगवासी आचार्य माधव मुकुन्द ने अपने न्याय-दर्शन के ग्रन्थ 'परपक्ष गिरिवज' मे उक्त शाखा का उल्लेख किया है। माधव मुकुन्द १७वी शती के लगभग हुए।

हरिव्यासदेव के दूसरे शिष्य परशुरामदेव ने भी उल्लेखनीय कार्य किया। उनका जन्म जयपुर राज्य के अन्तर्गत नारनोल नामक नगर मे गौड ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। नाभादास के 'भक्तमाल' मे उनके चमत्कारी व्यक्तित्व का उल्लेख हुआ है। १६वी शती के मध्य मे राजस्थान के कुछ अचलो मे सूफी सन्तो के एक वर्ग ने धर्मोन्माद का वातावरण फैलाया हुआ था और उनके प्रभाव से राजस्थान के कतिपय राजा सूफी फकीरो के अनुयायी बनते जा रहे थे। हरिव्यासदेव भी स्वय इस धर्मोन्माद को शान्त करने के लिए राजस्थान गये थे। किन्तु उसका पूरा उन्मूलन करने मे सन्त परशुरामदेव ही सफल हो सके थे। उन्होने अपने सुस्थिर वैष्णव विचारो के प्रभाव से सूफी फकीरो के हिन्दू-धर्म-विरोध का प्रबल प्रतिरोध किया। जन-सामान्य तथा प्रभावित राजाओ को पुन हिन्दुत्व की ओर आकर्षित किया। सन्त परशुरामदेव, हरिव्यासदेव के द्वादश शिष्यो मे से छठे थे।

उनके नाम से विभिन्न हस्तलिखित ग्रन्थ सग्रहो मे लगभग २२ ग्रन्थो का उल्लेख पाया जाता है। उनमे 'परशुरामसागर' उनकी उपदेशात्मक रचनाओ का विशाल सग्रह है। तीर्थराज पुष्कर उनकी तपोभूमि थी। किशनगढ़ राज्य के सलीमाबाद नामक स्थान पर उनकी प्रधान गद्दी है। वे इस गद्दी को व्रजमण्डल से उठाकर सलीमाबाद ले गये थे। यहाँ पर परशु-रामभक्तो का पवित्र तीर्थ है। किसी हिन्दू धर्म विरोधी सूफी फकीर को प्रभावहीन करके वहाँ उन्होने अपना वर्चस्व स्थापित किया था। इस गद्दी के उत्तराधिकारी वैष्णव सन्त आज भी धर्म प्रचार मे अभिरत हैं। उन्होंने

समस्त राजस्थान में निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया और सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए अनेक शिष्य नियुक्त किये।

जयपुर से आगे आमेर मार्ग पर स्थित 'परशुरामद्वारा' आज राजकीय स्मारक के रूप में प्रसिद्ध है, जो उनकी पवित्र स्मृति को अक्षुण्ण बनाये हुये हैं।

महान् सन्त हरिव्यासदेव के बारह प्रमुख शिष्यों में रूपरसिकदेव का भी एक नाम है। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने 'महावाणी' नामक ग्रन्थ को श्रीराधा (हरिप्रिया) को भेंटस्वरूप प्रदान किया था। उनके सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। किन्तु उनकी उपलब्ध रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे सम्प्रदाय की गृहस्थ शाखा से सम्बन्धित थे। अपने ग्रन्थ 'लीलाविंशति' की पुष्पिका में उन्होंने उसका रचना काल १७८७ वि० दिया है, जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे १८वीं शती के मध्य हुए होंगे। ब्रजभाषा में उल्लिखित उनके चार प्रमुख ग्रन्थ हैं, जिनके नाम हैं—'बृहत् सुख मणिमाल', 'हरिव्यासामृत', 'नित्यविहारपदावली' और 'लीलाविंशति'। उनका 'बृहत् सुख मणिमाल' तीन हजार छन्दों का विशालतम ग्रन्थ है। उसमें वर्ष भर में आयोजित होने वाले सम्प्रदाय के उत्सवों का क्रम और उनकी प्रक्रिया-विधि विस्तार से वर्णित है। वे भी रस-तत्त्व के विद्वान् दार्शनिक थे और उन्होंने श्रीकृष्ण की नित्य विहार लीलाओं के भक्तिरसामृत स्वरूप का रसभावपेशल वर्णन किया है।

इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में संगीताचार्यों की प्रधानता है। प्राचीन भारत के संगीतशास्त्र के क्षेत्र में हरिदास स्वामी का नाम प्रसिद्ध है, जिनकी जयन्ती संगीत महोत्सव के रूप में आज भी राष्ट्रीय स्तर पर मनाई जाती है। वे प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन के गुरु थे। उन्होंने निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बन्धित 'टट्टी सम्प्रदाय' के नाम से एक उपशाखा का प्रवर्तन किया था। १७वीं शती में वर्तमान रसिक भक्त बिहारीदास हुए, जो संगीत के प्रसिद्ध आचार्य थे। वे हरिदास स्वामी की परम्परा में हुए। वे स्वरचित संगीतपरक मधुर पदों को गाकर बाँके बिहारी श्रीकृष्ण की लीलाओं का गुणगान करते थे। उन्होंने हरिदास स्वामी के 'टट्टी सम्प्रदाय' को आगे बढ़ाया। यमुना तट पर स्थित 'टटिया थान' उनका उपासना स्थल था, जो कि आज भी वर्तमान है।

आचार-संहिता

निम्बार्क मत के वैष्णवों की अपनी आचार-परम्परा है। उनके मन्दिरों में नियमित सेवा-पूजा होती है और कीर्तन-गायन होता है। वे ललाट पर

गोपीचन्दन के दो ऊर्ध्व तिलक और उसके मध्य मे कृष्ण वर्ण की बिन्दु अंकित करते हैं। तुलसी की माला धारण करते हैं और उसी को जपते हैं। 'भागवत', 'भक्तमाल', 'रामायण' और पुराण उनके प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ हैं। भजन-कीर्तन मे उनकी विशेष अभिरुचि है। सगीत की परम्परा आज भी उनके मन्दिरो मे आयोजित समारोहो मे उज्जीवित है।

धार्मिक गद्दियाँ

निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रमुख गद्दी मथुरा के निकट यमुना के पवित्र तट पर ध्रुवक्षेत्र मे विद्यमान है। दूसरी प्रमुख गद्दी अजमेर (राजस्थान) के निकट सलीमाबाद मे है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रमुख केन्द्र व्रजक्षेत्र मे है। वृन्दावन मे श्रीजी की बडी कुज वाला स्थान तथा राधाकुण्ड, गोवर्द्धन और नीमगाँव आदि मे निम्बार्कीय मन्दिर हैं। व्रजमण्डल के अतिरिक्त प्रयाग, काशी, बगाल, उडीसा, राजस्थान, द्वारिका और नेपाल तक इस सम्प्रदाय की गुरु-गद्दियाँ स्थापित हैं। इन गुरु-गद्दियो के उत्तराधिकारी गृहस्थ तथा विरक्त या त्यागी, दोनो कोटियो के वैष्णव हैं। दोनो की उपासना के आधार राधा-कृष्ण की युगल मूर्तियाँ हैं।

विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय

भारत के धार्मिक इतिहास मे वैष्णव धर्म का अपना विशेष महत्त्व है। वैष्णव धर्म के वट-वृक्ष की जितनी भी शाखाएँ पल्लवित हुईं, उनमे 'विष्णु-स्वामी सम्प्रदाय' का नाम उल्लेखनीय है। इस धर्म शाखा के सस्थापक एव प्रवर्तक विष्णुस्वामी के जीवन-चरित एव स्थितिकाल के सम्बन्ध में अभी तक मतभेद बना हुआ है। विष्णुस्वामी और उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे अन्यान्य ग्रन्थो में जो उल्लेख देखने को मिलते हैं, उन्हे भी असन्दिग्ध नही कहा जा सकता है। उनका स्थितिकाल तीसरी शती ईसवी से लेकर तेरहवी शती ईसवी तक विभिन्न तिथियो मे रखा गया है।

उनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में प्राय निश्चित है कि वे दाक्षिणात्य थे। कहा जाता है कि उनके पिता किसी द्रविड राजा के मत्री थे और अपने पुत्र को भी वे किसी उच्चाधिकार पद पर रखना चाहते थे। किन्तु पुत्र राज्य-पद की अपेक्षा भगवद् भक्ति की ओर प्रवृत्त थे। उनके सम्बन्ध मे यह भी परम्परागत अनुश्रुति है कि दक्षिण के पाण्डय राजा के गुरु देवेश्वर के घर विष्णुस्वामी प्रकट हुए थे। वे आदि विष्णुस्वामी थे। उनके अतिरिक्त दो विष्णुस्वामी और हुए, जो उनके परवर्ती थे। कहा जाता है कि वे दैवी प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए थे और समस्त शास्त्र तथा विद्याएँ उन्हें जन्मसिद्ध थी। उनके शुद्ध-बुद्ध अन्त करण मे स्वत ही आत्मानुभूति हो गई थी और उन्होने आत्म चिन्तन द्वारा एक ऐसे सरल, सुगम सहज एव पवित्र धर्म-मार्ग का प्रचलन किया, जिसे जन-सामान्य ने बडी निष्ठा से वरण किया।

उनक समय अनेक धर्मों का प्रचलन हो चुका था। उन्होंने शैव, शाक्त और बौद्ध आदि विभिन्न धर्मों की समाज-विरोधी, अनैतिक एव अलोकप्रिय उपासना-पद्धति को अग्राह्य घोषित कर धर्म के एक ऐसे सार्वभौम स्वरूप की स्थापना की, जिसमे सत्यनिष्ठा से भगवान् का नामस्मरण करने मात्र से ही सहज में मोक्षलाभ हो जाता है।

भक्त-कवि नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' मे जो कथा कही है, उसके आधार पर डा० भाण्डारकर ने विष्णुस्वामी को ज्ञानदेव का गुरु बताया है और उनका समय १३वी शती ई० में निर्धारित किया है। किन्तु नाभादास की कथा भी अनुश्रुतियों पर आधारित है, जिससे कि उसकी सत्यता को असन्दिग्ध नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध मे यह तर्क दिया जाता

है कि ज्ञानदेव ने अपनी गुरु-परम्परा मे कही भी विष्णुस्वामी का उल्लेख नही किया है।

प्रसिद्ध विद्वान् श्रीरामदास गौड ने 'हिन्दुत्व' (पृ० ६७४-६७५) मे विष्णुस्वामी नाम के तीन आचार्यों का उल्लेख किया है। उनमे प्रथम विष्णुस्वामी दक्षिण भारत के पाण्ड्य विजय राज्य के राजगुरु और प्रथम वेदभाष्यकार थे। उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'सर्वज्ञसूक्त' नामक भाष्य की रचना की थी। द्वितीय विष्णुस्वामी ८वी शती ई० मे हुए। उन्होंने कांची मे श्रीवरदराज की ओर से श्रीगोपालदेव की स्थापना की थी और द्वारिकापुरी मे रणछोडजी को स्थापित किया था। वे भी दाक्षिणात्य थे। 'कृष्णकर्णामृत' के रचयिता लीलाशुक बिल्वमगल इन्ही के शिष्य थे। तीसरे विष्णुस्वामी आध्रप्रदेश के निवासी थे, जिनकी शिष्य-परम्परा मे लक्ष्मण भट्ट हुए। ये लक्ष्मण भट्ट वामनाचार्य के पिता थे। इस प्रकार विष्णुस्वामी के सम्बन्ध मे जो उल्लेख मिलते हैं, उनके आधार पर यह स्थिर करना कठिन है कि वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी उनमें कौन थे और वे किस समय हुए। किन्तु इस सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का सन्देह नही है कि वे प्राचीन आचार्य थे और श्रीधरस्वामी जैसे प्रख्यात विद्वानो ने उनकी परम्परा का अनुसरण कर उसे समृद्ध किया।

विष्णुस्वामी के ग्रन्थो के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही होता है। श्रीधरस्वामी ने उनके 'सर्वज्ञसूत्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख अपनी 'भागवत तत्त्वार्थ दीपिका' मे किया है, जो कि सभवत 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखा गया भाष्य था। उन्होने सभवत 'भगवद्गीता' पर भी भाष्य लिखा था, जो कि उपलब्ध नही है।

विष्णुस्वामी के समय की धार्मिक स्थिति बडी सघर्षमय थी। समाज मे अनेक धार्मिक पन्थो का उदय हो चुका था और अपनी-अपनी प्रतिष्ठा तथा लोकप्रियता के लिए उनमे पारस्परिक होड लगी हुई थी। इस प्रकार की धर्मशाखाओ मे जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त प्रमुख थे। किन्तु समाज मे इनकी स्थिति सन्तोषजनक नही थी। जहाँ एक ओर शाक्तमत के अनाचारो तथा असामाजिक प्रवृत्तियो से जन-मानस मे उसके प्रति हेयता की धारणा व्याप्त हो चुकी थी, वही दूसरी ओर शैवो तथा बौद्धो की कठिन साधना-पद्धति और सन्यास-वैराग्य से समाज ऊबता जा रहा था। जन-सामान्य को प्रभावित करने मे ये धार्मिक पन्थ उपादेय सिद्ध नही हुए। ऐसे समय विष्णुस्वामी ने एक ऐसे जन सुलभ एव सर्वग्राह्य धर्म-मार्ग का प्रवर्तन किया, जिसमे न तो सामाजिक अनाचारो की मनमानी थी और न ही कठिन एव दुर्गम साधना-

पद्धति का प्राबल्य था। उन्होंने जन-सामान्य के समक्ष सर्वव्यापी, भक्त-वत्सल एवं कृपालु भगवान् विष्णु की सगुण भक्ति का सरल मार्ग प्रस्तुत किया, उसमें न तो किसी प्रकार की जीव हत्या का भाव था और न नियम-अनुष्ठानों का प्रतिबन्ध ही। उन्होंने प्रतिपादित किया कि लोकव्यापी भगवान् विष्णु आदि देव हैं और विश्व के लिए कल्याणकारी तथा जीवों के प्रति करुणामय हैं। वे श्रद्धालु भक्तों के उद्धार के लिए समय-समय पर विभिन्न नाम रूपों में अवतार धारण करते हैं। वे विश्व के पालक रक्षक, शान्त उदार, अनादि, अविनाशी और सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म हैं। निष्ठापूर्वक उनका नाम-स्मरण करने मात्र से ही वे अपने भक्तों पर सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं।

परम्परा का प्रवर्तन

'रुद्र सम्प्रदाय' के ग्रन्थों में कहा गया है कि आदिदेव रुद्र ने बालखिल्य ऋषियों को जो उपदेश दिया था, शिष्य-परम्परा से प्रवर्तित होता हुआ वह विष्णुस्वामी को प्राप्त हुआ। इस दृष्टि से वैष्णव-परम्परा में शुद्धाद्वैत के प्रथम आचार्य विष्णुस्वामी ही हुए। उनके शिष्य ज्ञानदेव और ज्ञानदेव के शिष्य नामदेव तथा त्रिलोचन हुए। इसी परम्परा में आगे चलकर आचार्य वल्लभ हुए।

शंकराचार्य के बाद वेदान्त मत के प्रतिपादक जितने भी वैष्णवाचार्य हुए, उनमें अग्रणी होने के कारण विष्णुस्वामी का परवर्ती धर्माचार्यों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत-मत पर विष्णु-स्वामी मत का स्पष्ट प्रभाव है। विद्वानों की धारणा है कि वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतः वल्लभाचार्य ने उस सम्प्रदाय का तदनुरूप वरण तो नहीं किया किन्तु उसके सिद्धान्तों से अवश्य प्रभावित हुए।

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों में बिल्वमंगल तथा श्रीधर-स्वामी के अतिरिक्त ज्ञानदेव, नामदेव, केशव, त्रिलोचन, हीरालाल और रामाचार्य प्रभृति आचार्यों, भक्तों तथा कवियों ने विष्णुस्वामी की परम्परा को आगे बढ़ाया। इन प्रवर्तकों में बिल्वमंगल (१२वीं शती ई०) का नाम उनके 'कृष्णकर्णामृत' के कारण प्रसिद्ध है। राधा-कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध मधुर भक्तिरस का भावग्राही वर्णन इस काव्य में हुआ है। कृष्णभक्त समाज में इस कृति की बड़ी लोकप्रियता है। भक्तकवि बिल्वमंगल का सम्बन्ध त्रावणकोर के निकट भगवान् पद्मनाभ मन्दिर से बताया जाता है। वे दर्शन, व्याकरण, काव्य तथा काव्यशास्त्र आदि अनेक विषयों के प्रगाढ़

विद्वान् थे। उनका १२ सर्गों का महाकाव्य 'गोविन्दाभिनिवेश' या 'श्रीचिह्न-काव्य' कृष्णभक्ति से सम्बन्धित ग्रन्थ है। शंकराचार्य के किसी प्रशिष्य से उनका शास्त्रार्थ हुआ था। इस परम्परा मे श्रीधरस्वामी प्रसिद्ध विद्वान् हुए। उन्होंने भागवत' पर 'भावार्थदीपिका' नामक टीका लिखी, जो कि 'श्रीधरी टीका' के नाम से भी प्रसिद्ध है और आधुनिक विद्वत्समाज में बडी लोकप्रिय है।

शंकराचार्य के उदय के बाद, अर्थात् ८वी-९वी शती पश्चात्, वैष्णव धर्म की सगुण साकार उपासना-पद्धति का प्रभाव शिथिल पड गया था। उसकी लोकप्रियता कम होने लगी थी। उसको रामानुज, विष्णुस्वामी तथा वल्लभाचार्य आदि वैष्णवाचार्यों ने पुन प्रतिष्ठित कर लोकव्यापी बनाया।

वैष्णव धर्म का विष्णुस्वामी मत प्राचीनता के साथ ही बहुप्रचलित भी रहा है। विशेष रूप से दक्षिण भारत मे उसका प्रचार प्रसार अधिक रहा है। किन्तु उत्तर भारत मे उसका प्रसार बाद मे हुआ। ब्रजक्षेत्र मे उसका प्रभाव आज भी न्यूनाधिक रूप में बना हुआ है। विद्वानो ने विष्णुस्वामी मत के दो मठो का पता लगाया है। एक रामवन मे और दूसरा काकरोली मे। ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णुस्वामी मत सरल, सहज होते हुए भी उसे उतनी व्यापकता नही मिली। उसका कारण यह था कि उसमे केवल ब्राह्मण वर्ण को ही दीक्षित किया जाता था।

विष्णुस्वामी मत के अनुयायियो मे नृसिंह तथा गोपाल, दोनो देवो की उपासना प्रचलित थी। ईश्वर को वहाँ सत्-चित् नित्य, पूर्ण आनन्दमय विग्रहधारी नृसिंह माना जाता है। नृसिंह भगवान् को विष्णु का चौदहवाँ अवतार माना जाता है, जिसका आधा शरीर सिंह तथा आधा शरीर मनुष्य का है। हिरण्यकशिपु नामक राक्षस का नाश करने के लिए देवो तथा ऋषियो की प्रार्थना पर विष्णु ने नृसिंह का अवतार धारण किया था। अत इस मत मे प्रमुख इष्ट विष्णु अवतार नृसिंह सिद्ध होते हैं।

नृसिंहावतार की उपासना का एक पृथक् सम्प्रदाय भी प्रचलित हुआ था, जिसके प्रवर्तक आचार्य नरसिंह नाम से कहे जाते हैं। उन्होंने इस सम्प्रदाय पर अनुष्टुप् छन्द मे 'मंत्रराज' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। किन्तु आचार्य नरसिंह तथा उनके द्वारा प्रवर्तित नृसिंह सम्प्रदाय प्राय विलुप्त हो चुका है। इस सम्प्रदाय के अस्तित्व को बताने वाले कुछ ग्रन्थ और आधुनिक लोक-जीवन में वर्तमान विभिन्न मन्दिर उसके प्रमाण हैं। नृसिंह सम्प्रदाय से सम्बन्धित ग्रन्थो म नृसिंह पूर्व तापनीयोपनिषद्, नृसिंह उत्तर तापनीयोपनिषद्, नृसिंहपुराण और नृसिंहसंहिता का नाम उल्लेखनीय है।

भारत मे नृसिंह के अनेक मन्दिर और प्रतिमाएँ स्थापित है। विजय-नगर मे नृसिंह की एक भव्य विशाल प्रतिमा की उपलब्धि से ऐसा ज्ञात होता है कि वहाँ का राजवंश नृसिंह सम्प्रदाय का सरक्षक एव अनुयायी था। इस मत के अनुयायियो का प्रसार काश्मीर, पजाब तथा मुल्तान तक रहा है।

यद्यपि नृसिंह सम्प्रदाय सम्प्रति विलुप्तप्राय है, तथापि नृसिंह की उपासना का प्रचलन आज भी सारे भारत में है। नृसिंह के लगभग ६५ मन्दिर आज भी भारत के विभिन्न अचलो मे वर्तमान हैं और उसकी ये प्रतिमाएँ विभिन्न स्थानीय नामो से सम्पूजित होती हैं।

इस प्रकार यदि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय नृसिंहावतार का उपासक रहा है, तो निश्चित ही उसका प्रभाव सारे भारत मे व्याप्त हुआ। विष्णुस्वामी मत ने परवर्ती वैष्णव धर्म की शाखाओ को प्रभावित किया और सगुण-साकार उपासना-पद्धति को लोकव्यापी बनाने मे महत्वपूर्ण योगदान किया। इस दृष्टि से वैष्णव धर्म के इतिहास मे विष्णुस्वामी मत का उल्लेखनीय स्थान रहा है।



माध्वमत या ब्रह्म सम्प्रदाय

वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों की परम्परा मे मध्वाचार्य का भी एक प्रतिष्ठित स्थान है। उन्होने भी अपने पृथक् धार्मिक मत की प्रस्थापना की और अपने विलक्षण तर्कों के आधार पर परब्रह्म श्रीकृष्ण के द्वैतस्वरूप का प्रतिपादन किया। उनका जन्म दक्षिणी कर्नाटक में उडीपी या उदीपी नामक नगर (मालावार) के निकट बेलिग्राम मे १२३९ ई० मे हुआ था। उनके पिता का नाम मोधिजी भट्ट था, जो कि एक धार्मिक प्रवृति के गृहस्थ थे। मध्वाचार्य का परिवार-नाम वासुदेव था। दक्षिण के अनन्तेश्वर मठ मे उन्होंने अध्ययन किया। कहा जाता है कि बाल्यकाल से ही वे असामान्य प्रतिभाशाली थे। अल्पवय में ही उन्होने वेद-शास्त्रो को हृदयगम कर लिया था। जब वे केवल ११ वर्ष के थे, उन्होने सासारिक मोह-बन्धनों को विच्छिन्न कर लिया था। वे इतने आत्मज्ञानी हो गये थे कि स्वत प्रेरणा से उन्होने सन्यास धारण कर लिया था। उनके दीक्षा-गुरु का नाम अच्युतप्रेक्ष या अच्युतपक्षाचार्य अथवा शुद्धानन्द था, जो शाकरमत के अनुयायी थे। दीक्षा ग्रहण करने के बाद वे 'पूर्णप्रज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध हुए। अच्युतपक्षाचार्य से ही उन्होंने वेद-वेदान्त तथा शास्त्रो का अध्ययन किया। अपने बाद अच्युतपक्षाचार्य ने पूर्णप्रज्ञ को 'आनन्दतीर्थ' नया नाम देकर मठ का उत्तराधिकारी नियुक्त किया। उनके द्वारा प्रचलित भक्तिमार्ग 'ब्रह्म सम्प्रदाय' या पूर्णप्रज्ञ सम्प्रदाय' के नाम से कहा गया।

सन्यास धारण करने तथा मठ का स्वामित्व प्राप्त करने के उपरान्त मध्वाचार्य पहले दक्षिणाचल और उसके बाद उत्तराचल के अनेक तीर्थों मे गये। वे उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध तीर्थ बदरिकाश्रम तक गये और यात्रा पूरी कर उडीपी मे आकर स्थिर रूप मे रहने लगे। वहाँ उन्होने उडीपी, सुब्रह्मण्यम् और मध्यतल मे तीन मठ स्थापित किये। उनके द्वारा स्थापित इन तीनों मठो में राम, सीता, लक्ष्मण, वाली, वाराह और नृसिह आदि देवी-देवताओ की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुईं। उडीपी (मालावार) का मठ मध्व सम्प्रदाय के अनुयायियो का प्रमुख तीर्थ माना जाता है। उसमे विष्णु, सीता, राम, कालियमर्दन, वाराह और नृसिह आदि विभिन्न देवी देवताओ की मूर्तियाँ स्थापित है।

इस सम्प्रदाय का प्रचार विशेष रूप से कर्नाटक और मैसूर मे है। अकेले कर्नाटक मे मध्व मत के आठ मठ हैं। इनके अतिरिक्त ब्रजक्षेत्र मे, विशेष

रूप से वृन्दावन तथा उत्तरी भारत के अनेक स्थानों में इस सम्प्रदाय के मठ तथा बहुसख्यक अनुयायी हैं। सम्प्रदाय-परम्परा के अनुसार इन मठों के उत्तराधिकारी दीक्षायुक्त ब्राह्मण तथा सन्यासी हुआ करते हैं।

मध्वाचार्य समाजसुधारक भी थे। पशुबलि के विरोध में उन्होंने एक आन्दोलन चलाया था। नारायणाचार्य कृत 'मध्वविजय' और 'मणिमजरी' नामक ग्रन्थों में उनकी जीवनी उल्लिखित है। किन्तु उनमें तथ्यात्मक कम और श्रद्धात्मक अधिक लिखा गया है। उनमें अतिरंजना अधिक होने के कारण वास्तविक जीवनी-अशो का पता नहीं चलता है।

ग्रन्थ-निर्माण

अन्य सम्प्रदाय आचार्यों की भाँति मध्वाचार्य ने भी अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए प्रौढ ग्रन्थो की रचना की। उन्होंने लगभग ३७ ग्रन्थों की रचना की और प्रायः सभी ग्रन्थों की रचना उडीपी में हुई। उनमें 'ऋग्भाष्य', 'ब्रह्मसूत्रभाष्य', 'ईशोपनिषद्भाष्य', 'अनुवाकानुनय विवरण', 'अनुवेदान्तरस प्रकरण', 'भारततात्पर्यनिर्णय', 'भागवततात्पर्य', 'गीतातात्पर्य', 'तन्त्रसारसंग्रह' और 'कृष्णामृत महार्णव' आदि का नाम प्रमुख है। सम्प्रदाय में ये ग्रन्थ अधिक प्रचलित है।

सिद्धान्त-निरूपण

मध्वाचार्य मत में सर्वज्ञ आनन्दस्वरूप भगवान् नारायण को एकमात्र परमेश्वर माना गया है। मध्वाचार्य वेद, शास्त्र एवं उपनिषदों की तत्वविद्या के प्रकाण्ड विद्वान् थे। अपने 'गीताभाष्य' में उन्होंने जिस दार्शनिक मत का प्रतिपादन किया है, उसे 'द्वैतवाद' के नाम से कहा गया है। उन्होंने विष्णु को परमेश्वर सिद्ध किया है और अपनी सिद्धान्त-स्थापना के लिए उपनिषदों के प्रमाणों को उद्धृत किया है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि आरम्भ में परमेश्वररूप एकमात्र नारायण ही विद्यमान थे, न ब्रह्मा थे और न शकर। वे नारायण सर्व-गुण-सम्पन्न, स्वतन्त्र और आनन्दस्वरूप हैं। उन्हीं से ब्रह्मादि देवताओं और सृष्टि का सृजन हुआ—

'एको नारायणो ह्यासीत् न ब्रह्मा न च शङ्कर ।
आनन्द एक एवाग्र आसीन्नारायण प्रभु ॥'

मध्वाचार्य आरम्भ में शांकर मत के अनुयायी थे। उनके दीक्षा-गुरु अच्युतप्रेक्ष या अच्युतप्रेक्षाचार्य स्वय शाकर मत के सन्यासी थे। अपने गुरु से उनका शास्त्रार्थ हुआ था और उनसे मतभेद होने के कारण उन्होंने अपना अलग 'द्वैतमत' चलाया। 'भागवत' के अध्ययन के बाद उन्होंने शाकर मत

को त्यागकर वैष्णव मत अपना लिया था। उनके दर्शन को उनके दीक्षा-नाम से 'पूर्णप्रज्ञ दर्शन' भी कहा जाता है।

मध्वाचार्य के पूर्णप्रज्ञ दर्शन या द्वैतमत को 'स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद' भी कहा जाता है। उसके अनुसार जीव तथा ब्रह्म, दोनो नित्य हैं और दोनो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ब्रह्म भी स्वतन्त्र है और जीव भी स्वतन्त्र है। दोनो मे सेव्य-सेवक-भाव-सम्बन्ध है। सेवक कभी भी सेव्य वस्तु से अभिन्न नहीं हो सकता है। ब्रह्म सगुण एव सविशेष है। जीवो की सख्या अनन्त है और वे अणु परिमाण हैं, भगवान् के दास हैं। मूलत वे चेतन और आनन्दरूप नित्य तत्त्व हैं। किन्तु भौतिक शरीर के ससर्ग एव कर्मबन्ध के कारण दु ख भोगते हैं। ईश्वर जीवो का अन्तर्यामी रूप से नियन्ता है। किन्तु वास्तविक कर्ता, भोक्ता और कर्म का उत्तरदायी जीव ही है।

उनके मत से परमात्मा और जीवात्मा, दोनो अनादि हैं। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध वैसे ही है, जैसे पक्षि सूत्र, वृक्ष रस, नदी-समुद्र और इन्द्रिय-विषय का। समस्त पदार्थों की दो कोटियाँ हैं—स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र। अशेष सद्गुणयुक्त परमात्मा या भगवान् विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व हैं, जड तथा जड जगत् अस्वतन्त्र तत्त्व हैं। भगवान् का दास जीव यदि स्वामी से साम्य का बोध करे तो भगवान् जीव को नीचे गिरा देते हैं। परम सेव्य भगवान् की सेवा के अतिरिक्त जीव का कोई अधिकार नहीं है। भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। भगवान् का अकन भजन तथा नाम सकीर्तन के द्वारा ही जीव को पुरुषार्थ प्राप्त होता है। भगवान् के दिव्य गुणो का स्मरण चिन्तन ही सारूप्य एव सालोक्य मुक्ति के साधन हैं। कैवल्य या मुक्ति के समय जीवात्मा चैतन्य परमात्मा के सम्मुख उसी प्रकार नहीं दिखाई देता, जैसे सूर्य के प्रकाश मे तारे।

माध्वमत मे सृष्टि प्रक्रिया का स्वतन्त्र सिद्धान्त है। उनके मतानुसार ईश्वर को जब सृष्टि करने की आवश्यकता होती है तो मूल प्रकृति नाना भौतिक पदार्थों के रूप मे अपना विकास करती है। सृष्टि का अर्थ है सूक्ष्म का स्थूल रूप मे विस्तार या परिणाम और जीवो को कर्मानुरूप फल प्राप्त करने के लिए शरीर रूप मे परिणत होना। नारायण यद्यपि गुणातीत हैं, तथापि माया-समुक्त होकर उनके सत्त्व, रज, तम अश से क्रमश ब्रह्मा, विष्णु तथा शम्भु का आविर्भाव हुआ और उनके द्वारा सृष्टि, स्थिति और लय की प्रक्रिया निष्पादित हुई। ससार सत्य है और उसमे होने वाले भेद भी सत्य हैं। वस्तु का स्वरूप ही भेदमय है। उनके अनुसार यह जगत्प्रवाह पाँच भेदो से समन्वित है—१ जीव ईश्वर का भेद, २ जीव जीव का भेद, ३ जीव-

का साम्निध्य प्राप्त होता है। मुक्त जीव ईश्वर की समानता नहीं कर सकते, अपितु सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं। भक्ति की तीव्रता के अनुसार मुक्ति चार प्रकार की मानी गई है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। सायुज्य मुक्ति सर्वोत्तम मानी गई है।

इस प्रकार मध्वाचार्य ने भारतीय तत्वविद्या एवं चिन्तन के क्षेत्र में ब्रह्म-जीव की स्पष्ट भिन्नता का प्रतिपादन कर 'द्वैतवाद' के नाम से एक नये दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा की और वेद, उपनिषद्, पुराणों में अनेक प्रकार के तर्कों, प्रमाणों तथा युक्तियों से उसका मण्डन किया।

आज से लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व भारतीय धर्म और तत्त्वविद्या के क्षेत्र में अपने ओजस्वी दिव्य प्रतिभा एवं अद्भुत पाण्डित्य से एक नये दार्शनिक-धार्मिक मत का प्रौढ़ प्रतिपादन कर आचार्य मध्व ७९ वर्ष की आयु बिताकर १३१८ ई० में वैकुण्ठ-धाम को सिधारे।

परम्परा का प्रवर्तन

माध्वमत की परवर्ती परम्परा को उजागर करनेवाले अनेक विद्वानों एवं दार्शनिकों ने द्वैतमत पर उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रणयन किया। आचार्य मध्व के बाद उनके शिष्य पद्मनाभाचार्य (१३वीं शती) ने माध्वमत का व्यापक प्रचार-प्रसार किया। पद्मनाभ का मूल नाम शोभन भट्ट था। वे बड़े विद्वान् थे और चालुक्यों की राजधानी कल्याण में रहते थे। एक बार मध्वाचार्य से उनका शास्त्रार्थ हुआ और उसमें वे पराजित हो गये। तब से उन्होंने आचार्य मध्व का शिष्यत्व वरण कर वैष्णव मत में दीक्षा ले ली थी। मध्वाचार्य ने देह-त्याग करते समय अपने सुयोग्य शिष्य पद्मनाभाचार्य को रामचन्द्र की प्रतिमा तथा शालिग्राम की शिला देकर उन्हें यह निर्देश किया था कि वे आजीवन माध्वमत का प्रचार करते रहें। पद्मनाभ ने उस प्रतिज्ञा को पूरा किया और अपनी कृतियों तथा अपने उपदेशों शिक्षाओं से माध्वमत का आजीवन प्रचार करते रहे। उन्होंने माध्वमत के चार पीठ स्थापित किये। तथा आचार्यपाद के ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं। मध्व के बाद वे ही पीठ के प्रधान नियुक्त हुए। उनका 'कात्यायन श्रौतसूत्र' पर लिखा गया भाष्य प्रमुख है। उनका 'पदार्थधर्मसंग्रह' और उस पर लिखी गई टीका 'मध्वसिद्धान्तसार' उल्लेखनीय है।

मध्वाचार्य के निर्वाण के लगभग ५० वर्ष पश्चात् पद्मनाभाचार्य के उपरान्त आचार्य जयतीर्थ सम्प्रदाय के आचार्य नियुक्त हुए। उन्होंने आचार्य-पाद की कृतियों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य की रचना की, जिन्हें व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। मध्वाचार्य के 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' पर उन्होंने 'तत्त्वप्रकाशिका' और

'न्यायसुधा' नाम से अनुव्याख्यान लिखे। उन्होने 'पदावली' के नाम मे एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की, जिसमे श्रीहर्ष के टीकाकार चित्सुखाचार्य के सिद्धान्तो की कटु आलोचना की गई है। इसी परम्परा मे व्यासदास ने 'भेदोज्जीवन' और न्यायामृत' ग्रन्थो की रचना की। मधुसूदन सरस्वती ने अपनी 'अद्वैतसिद्धि' मे न्यायामृत' की आलोचना की है, जिसका उत्तर रामाचार्य ने अपनी 'न्यायामृततरगिणी' मे दिया। रामाचार्य (१७वी शती) बड़े विद्वान् थे। उनके पिता का नाम विश्वनाथ था। उनका जन्म व्यासकुल मे गोदावरी के तट पर स्थित अन्धपुर नामक गाँव मे हुआ था। अपने गुरु व्यास दास के कहने पर रामाचार्य ने शाकर वेदान्त के आचार्य मधुसूदन सरस्वती से गुरुत्व प्राप्त कर विद्याध्ययन किया था। तत्पश्चात् ही उन्होने अपनी 'न्यायामृततरगिणी' मे अद्वैत मत का खण्डन कर माध्वमत का मण्डन किया था। उनके भाई नारायणाचार्य बड़े विद्वान् हुए। उन्होंने 'मणिमजरी' तथा 'माध्वविजय' लिखकर सम्प्रदाय की परम्परा को परिपुष्ट किया। वे माध्वाचार्य के प्रशिष्य थे।

माध्वमत की धार्मिक तथा दार्शनिक परम्परा को प्रवर्तित करने वाले विद्वानो मे १४वी शती मे वर्तमान आचार्य विष्णुपुरी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'भागवत' के चुने हुए भक्तिरस विषयक स्थलो पर 'भक्तिरत्नावली' की रचना की। माध्वमत के सन्त ईश्वरपुरी ने चैतन्यदेव को माध्वमत मे दीक्षित किया। उन्होने १५०९-१५११ वि० मे दक्षिण भारत मे माध्व मत का प्रचार प्रसार किया। दक्षिण भारत मे माध्वमत का प्रचार-प्रसार करने वाले भक्त-कवियो म महात्मा ईश्वरपुरी का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने चैतन्यदेव के अनुकरण पर माध्वमत के प्रचार के लिए 'नगर सकीर्तन' का प्रचलन किया। विभिन्न वाद्ययन्त्रो के साथ भक्त-मण्डली जुटाकर उन्होंने सामूहिक रूप से नगर-नगर का परिभ्रमण किया और जनता को अपने मत का अनुयायी बनाया। प्रचार का यह माध्यम बड़ा सफल सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार के भजन-कीर्तन करने वाले भक्तो मे पुरन्दरदास का नाम अग्रणी है। उन्होंने कनडी भाषा मे सुललित भक्तिगीतो की रचना की। उनके भक्तिगीत बड़े लोकप्रचलित हुए। कनडी भाषा मे 'रामायण' के अनुवादक कुमार वाल्मीकि ने भी कर्नाटक मे माध्वमत का प्रचार किया।

१७वी शती मे राघवेन्द्र यति या राघवेन्द्रस्वामी माध्वस्वेदान्त के प्रौढ़ विद्वान् हुए। उन्होने आचार्य जयतीर्थ की 'तत्त्वप्रकाशिका' पर 'तत्त्वोद्योतवृत्ति' लिखी। अन्य अनेक ग्रन्थो का भी उन्होंने प्रणयन किया। सरलता की दृष्टि

से उनकी कृतियों का अधिक प्रचलन है। इसी परम्परा को १८वीं शती में चम्भयदास, मध्वदास और चिदानन्ददास ने आगे बढ़ाया। ये तीनों विद्वान् भक्त कर्नाटकवासी थे। सन्त चिदानन्ददास ने कन्नडी भाषा में 'हरिभक्ति-रसायन' तथा 'हरिकथासार' नामक दो लोकप्रिय ग्रन्थों का निर्माण किया।

आचार-संहिता

माध्व सम्प्रदाय की अपनी अलग आचार संहिता है। उसमें उपासना में तीन अंग बताये गये हैं—अंकन, नामकरण और भजन। नारायण (विष्णु) के शंख, चक्र, गदा, पद्मादि चिह्नों को शरीर में दाग (अंकित) करना और तप्तमुद्रा धारण करना ही 'अंकन' उपासना है। अपनी सन्तति का तथा शिष्य का नाम विष्णुपर्याय नामों के अनुरूप रखना ही 'नामकरण' है। इसी प्रकार काया, मनसा, वाचा विष्णु के नाम का संकीर्तन करना ही 'भजन' है। दान, परित्राण तथा परिरक्षण, ये तीन 'कायिक भजन' हैं। सत्यवचन, हितकथन, प्रियभाषण तथा शास्त्रानुशीलन, ये चार 'वाचिक भजन' हैं और दया, अस्पृहा तथा श्रद्धा, ये तीन 'मानसिक भजन' हैं। इनके साथ ही भक्ति के दस अंगों का पालन करना अनिवार्य बताया गया है। भक्ति के दस अंगों के नाम हैं—सत्यवादिता, हितकर वाणी, शरणागतरक्षा, दरिद्र का दुःख-हरण, स्वाध्याय, विपन्न की सहायता सत्पात्र को दान, प्रिय भाषण, केवल भगवान् के दासत्व की इच्छा और शास्त्रों में विश्वास।

इस सम्प्रदाय के आचार्य दण्डी सन्यासियों की भाँति गैरिक वस्त्र धारण करते हैं। दण्ड, कमण्डलु रखते हैं, सिर मुँड़ाते हैं और यज्ञोपवीत धारण नहीं करते हैं। वे स्वेच्छा से ही बाल्यकाल में सन्यास धारण कर सकते हैं।

माध्व सम्प्रदाय के अनुयायियों की तिलक धारण करने की अपनी पृथक् विधि है। वे नासिका से केशपर्यन्त ललाट पर खड़ा तिलक गोपीचन्दन की दो ऊर्ध्व रेखा और उनके बीच नारायण निवेदित गन्धद्रव्य की भस्म की कृष्णरेखा और उसके शिरोभाग पर हरिद्रा की गोल बिन्दु अंकित करते हैं।

माध्व सम्प्रदाय की आचार-पद्धति रामानुजी वैष्णवों के अधिक निकट है। रामानुज के अनुरूप मध्व ने भी श्रीविष्णु के आयुधों शंख, चक्र, गदा और पद्म से अपने अंगों को अलंकृत करने की प्रथा को अपनाया। माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी आज भी उसी नियम का निर्वाह करते हैं।

माध्व मतानुयायी सन्यासी शांकर मत के दशनामी सन्यासियों की कोटि में गिने जाते हैं। स्वयं मध्वाचार्य तीर्थ शाखा के सन्यासी थे। माध्वमत के परवर्ती अनेक आचार्य एवं 'पुरी' तथा 'भारती' शाखाओं से सम्बद्ध थे।

महापुरुषिया सम्प्रदाय

वैष्णव सम्प्रदाय के धार्मिक पन्थो की सख्या गणनातीत है। विष्णु, राम, कृष्ण, सीता, राधा आदि अवतारी देवी-देवताओ को उपास्य-आराध्य मानकर समय-समय पर भारत के धर्म-प्रवर्तक वैष्णव आचार्यों, सन्तो, महापुरुषो और भक्तो ने अपने आराध्यदेव की आराधना-उपासना की विभिन्नता को लेकर अपने अलग-अलग मत-पन्थ प्रचलित किये। कुछ धार्मिक मत तो ऐसे भी देखने को मिलते हैं, जो अपने सस्थापक तक ही सीमित रहे और उसके साथ ही विलुप्त भी हो गये। कुछ का इतना सीमित प्रचार हुआ कि अल्पकाल मे ही उनकी परम्परा क्षीण पड गई। इस प्रकार विभिन्न धर्म-शाखाओ का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु उनकी परम्परा आगे किस रूप मे बढी, इसका इतिहास अज्ञात है। 'महापुरुषिया सम्प्रदाय' भी ऐसी ही एक वैष्णव धर्मशाखा है, जिसके सम्बन्ध मे अधिक जानकारी उपलब्ध नही है।

इस सम्प्रदाय के सस्थापक का नाम आचार्य शकरदेव था। उनका जन्म कामरूप (असम) के एक भूयन परिवार में १४४९ ई० (१३७१ शक सं०) मे हुआ था। उनके पिता का नाम कुसुमवर और माता का नाम सत्यसन्ध्या था। कुछ दिन बाद यह परिवार नवगाँव जिले के अलिपुरवुरी नामक स्थान मे आकर बस गया था, जो कि असम का ही अंग है। बाल्यावस्था मे ही माता पिता का निधन हो जाने के कारण उनका लालन-पालन उनकी दादी ने किया। उन्ही के सरक्षण मे वे पढे-लिखे और थोडे ही समय मे विद्वानो की कोटि मे गिने जाने लगे। उन्होने दो विवाह किये थे। उनकी एक पत्नी का नाम सूर्यवती और दूसरी का नाम कालिन्दी था। उनका पहला विवाह २१ वर्ष की अवस्था मे और दूसरा ५४ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। पहली पत्नी के निधन के कारण उन्होने दूसरा विवाह किया था।

बाल्यकाल से ही शकरदेव धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। अध्ययन पूरा करने और गृहस्थ जीवन को वरण करने के पश्चात् उन्होने अपने लिए कुछ नियम तथा सिद्धान्त स्थिर कर दिये थे और अपने दो-एक सुयोग्य साथियों को साथ लेकर जन-सामान्य के बीच अपना सम्पर्क स्थापित करने पर लग गये। उनसे कुछ समय पूर्व बंगाल मे चैतन्य महाप्रभु की माधुर्य भक्ति का प्रचार-प्रसार हो चुका था, जिसमे वे स्वयं भी प्रभावित हुए। उन्होने स्वय अपना स्वतंत्र भक्तिमार्ग निश्चित किया और उसको 'सनातन भगवती धर्म' के

नाम से प्रचारित किया। किन्तु कुछ समय बाद उन्होंने उसमें कुछ परिष्कार किया और उसको 'महापुरुषिया सम्प्रदाय' के नाम से अभिहित किया। इस सम्प्रदाय के आराध्यदेव श्रीकृष्ण थे।

अन्य सम्प्रदाय-प्रवर्तकों की भाँति शकरदेव भी उत्तर भारत की यात्रा पर आये और श्रीकृष्ण की लीलाभूमि व्रजमण्डल के सहित उन्होंने उत्तराखण्ड के अनेक तीर्थों तथा धर्मस्थलो का दर्शन किया। वृन्दावन मे चैतन्य मत के प्रख्यात आचार्य रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी का भी उन्होंने सत्संग किया। तत्पश्चात् वे वहाँ से लौट आये और बरदोवा में रहने लगे। वहाँ तिरहुतिया निवासी ब्राह्मण जगदीश मिश्र से शकरदेव ने 'भागवत' का श्रवण किया और अन्त मे उन्हे 'भागवत' भेंटस्वरूप दे दिया। 'भागवत' के विद्वान् जगदीश मिश्र के स्वागत सत्कार हेतु शकरदेव ने 'महानाट' के अभिनय का आयोजन किया।

कुछ वर्ष तक भुइयाँ राज्य मे रहकर वे अहोम राज्य मे जाकर बस गये। वहाँ भी उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। किन्तु वहाँ के कर्मकाण्डी ब्राह्मणो ने शकरदेव के भक्तिमार्ग का घोर विरोध किया। उसका कारण यह था कि शकरदेव द्वारा प्रचलित धर्म-मार्ग उदार एव उदात्त था और उसमे किसी भी जाति, सम्प्रदाय तथा वर्ग का कोई भेद-भाव नही था। कर्मकाण्डी ब्राह्मणो ने दिहिगिया राजा से शकरदेव के अवैदिक मत की शिकायत की। इस पर राजा ने शकरदेव को दरबार मे बुलाया और पण्डित मण्डली के समक्ष उनसे कतिपय धार्मिक प्रश्न किये। किन्तु राजा को उनके अवैदिक होने का कोई प्रमाण नही मिला, अत विरोधी लोग मौन हो गये। अन्तत उन्होंने अहोम राज्य का परित्याग कर दिया।

ग्रन्थ-निर्माण

वहाँ से वे पाटबाउसी मे आकर बस गये। वहाँ वे पूरे १८ वर्षों तक रहे और वही पर उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थो का निर्माण किया। वे परम भक्त होने के साथ साथ अपने समय के सर्वोच्च विद्वानो में से थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् थे और उन्होंने सस्कृत तथा असमिया मे बहुसख्यक ग्रन्थो का प्रणयन किया। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थो के नाम हैं—'हरिश्चन्द्र उपाख्यान', 'भक्तिप्रदीप', 'रुक्मिणीहरणकाव्य', 'कीर्तनघोषा', 'अनादिपत्तनम्', 'अजामिलोपाख्यान', 'अमृतमन्थन', 'बलिछलन', 'आदिदशम्', 'कुरुक्षेत्र', 'निमिनवसिद्धसवाद', 'गुणमाला', 'रामायण अनुवाद', 'विप्रपत्नीप्रसाद', 'कालिदमनयात्रा', 'केलिगोपाल', 'रुक्मिणीहरण नाटक', 'पारिजातहरण नाटक' और 'रामविजय नाटक' आदि।

उन्होंने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए 'भक्तिरत्नाकर' नाम से संस्कृत में एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा। असमिया वैष्णवों में यह ग्रन्थ बड़ा पवित्र एवं सम्पूज्य माना जाता है। इस ग्रन्थ में शंकरदेव ने सम्प्रदाय की उदात्त आचार-पद्धति सर्वजनानुग्राह्य सरल सिद्धान्तों का विस्तार से निरूपण किया है। उनकी अधिकतर कृतियाँ पुराण-कथाओं पर आधारित हैं और असमिया वैष्णव धर्मानुयायियों तथा साहित्य के इतिहास में उनको बड़ा सम्मान प्राप्त है।

सिद्धान्त-निरूपण

आचार्य शंकरदेव ने जिस 'पुरुषिया सम्प्रदाय' की स्थापना की, उसको दार्शनिक सिद्धान्तों या वादों में उलझाने की अपेक्षा सरल, सुगम रूप में प्रस्तुत किया। 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' के संस्थापक गोस्वामी हितहरिवंश की भाँति शंकरदेव ने भी भगवत्प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के आडम्बर को अपेक्षित नहीं समझा। उनका अभिमत था कि चाहे गृहस्थाश्रम हो या सन्यास-त्याग हो, भगवान् की आराधना-उपासना तथा भजन-कीर्तन करके उस परम दयालु की कृपा प्राप्त की जा सकती है। श्रीकृष्ण के प्रति एकान्तिक भक्ति का उन्होंने निरूपण किया। उनके मत से भक्ति के चार प्रकार हैं—परब्रह्मज्ञान, एकशरणागतभक्ति, सत्संग और भगवत्सेवा। उन्होंने 'एकशरणागतभक्ति' को उत्तम माना है। उसे उन्होंने 'सेव्य-सेवक-भाव-विशिष्ट-भक्ति' के नाम से कहा है। उसके एकमात्र आधार श्रीकृष्ण हैं। उन्होंने अपनी भक्ति भावना एकमात्र श्रीकृष्ण पर आधारित की है, उसमें राधाजी को कोई स्थान नहीं दिया गया है। उनके मतानुसार उद्धव श्रीकृष्ण के आदर्श भक्त थे। उद्धव की भाँति भक्त को शाश्वत अमरत्व प्रदान करने वाली श्रीकृष्ण की एकान्तिक भक्ति ही जीव के उद्धार का एकमात्र साधन है।

महापुरुषिया मत की अपनी विशेषता यह है कि जहाँ अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में, राधावल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त, श्रीकृष्ण और राधा, दोनों की उपासना पर बल दिया गया है, वहाँ इस सम्प्रदाय में एकमात्र श्रीकृष्ण को ही उपास्य माना गया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में, ठीक इसके विपरीत राधाजी को सर्वोच्च महाशक्ति के रूप में माना गया है और उन्हीं को श्रीकृष्ण की वशवर्तिनी बताया गया है। आचार्य शंकरदेव ने भी स्वामी हितहरिवंश की भाँति सेव्य-सेवक-भाव की विशिष्टता पर बल दिया है। उनके मत से श्रीकृष्ण ही परात्पर ब्रह्म है और जीव-जगत् के कर्ता, धर्ता एवं स्वामी हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय के वे ही एकमात्र कारण हैं।

आचार-पद्धति

आचार्य शकरदेव ने अपने 'भक्तिरत्नाकर' मे सम्प्रदाय की आचार-पद्धति पर भी प्रकाश डाला है। उनके मत से शिष्यत्व प्राप्त करने या सम्प्रदाय का अनुयायी बनने के लिए किसी प्रकार की दीक्षा की कोई आवश्यकता नही है। जो भी भक्ति-भाव से श्रीकृष्ण की भक्ति का अभिलाषी हो, किसी आचार-प्रक्रिया की दीक्षा लिए बिना ही वह सम्प्रदाय का अनुयायी बन सकता है।

'महापुरुषिया सम्प्रदाय' मे मूर्तिपूजा को कोई स्थान नही है। 'भागवत' उनका भगवान् का प्रतीक ग्रन्थ है। धार्मिक उत्सवो के अवसर पर इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'भागवत' को चौकी पर रखते है और उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करते है, उसे नैवेद्य, अर्घ्य आदि अर्पित करते हैं। 'भागवत' का इस सम्प्रदाय मे वही स्थान है, जो सिक्खो मे 'गुरुग्रन्थ साहिब' का। वे 'भागवत' को भगवत्स्वरूप मानते है और अपने मन्दिरो मे उसको प्रतिष्ठित करते हैं। इस ग्रन्थ मे उनकी परम श्रद्धा निष्ठा है। उनके मन्दिरो मे नित्य प्रति 'भागवत' का अखण्ड पारायण होता रहता है। ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन-यापन करना इस सम्प्रदाय का मुख्य उद्देश्य है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी गृहस्थ और गृहत्यागी, दोनो श्रेणियों के लोग सम्मिलित हो सकते है। सम्प्रदाय के अविवाहित ब्रह्मचारी अनुयायियो को 'केवली' कहा जाता है।

धार्मिक उदारता

महापुरुषिया सम्प्रदाय मे धार्मिक उदारता देखने को मिलती है। उसमे कोई भी श्रद्धालु सम्मिलित हो सकता है। उसमे समाज-सुधार की लोकहित-कारी भावना निहित है। आचार्य शकरदेव ने परम्परा और वर्ण-व्यवस्था की सकीर्णताओ का घोर विरोध किया है। यही कारण था कि कर्मकाण्डी ब्राह्मणो के जाति एव वर्गगत भेद-भाव और ऊँच-नीच को नही माना है। मनुष्यमात्र को एकसमान समझ कर उन्होने सबके उद्धार के लिए श्रीकृष्ण की शरण मे जाने का निर्देश किया है और अपने धर्मक्षेत्र मे सबको समान रूप से प्रवेश करने का अधिकार दिया है। उनके द्वारा 'सत्र' नाम से एक सस्था की स्थापना की गई, जो कि समाज मे नाटको का आयोजन कर अपनी धर्म-नीति एव अपने आचार-विचारो का प्रचार करती रही है। इस सस्था द्वारा विशेष रूप से धार्मिक उत्सवो के समय अपने मन्दिरो मे नाटको का आयोजन होता है। वैसे वे समय-समय पर अपने मत के प्रचार हेतु विभिन्न स्थलो पर अपना आयोजन करते रहे हैं।

आचार्य शकरदेव जब ९७ वर्ष के थे, उन्होंने पुन उत्तर भारत, विशेष रूप से श्रीकृष्ण की लीला-भूमि व्रज-मण्डल की पुन यात्रा की। इस काल मे उन्होने समाज-सुधारक विचारो के महान् सन्त कबीर के मठ के दर्शन किये। यात्रा समाप्त कर वे बरपेटा (असम) लौट आये। तत्कालीन कोच राजा नरनारायण ने आचार्य शकरदेव को कूचविहार आमन्त्रित किया और उनके पुण्य दर्शनों से लाभान्वित हुए। उनके सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है कि अनेक राजा उनके देवतुल्य व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धावनत थे। निमत्रण प्राप्त होने पर भी वे राजदरबारो मे कम जाते थे।

इस प्रकार सत्यनिष्ठ भगवद्भक्त के रूप मे धर्म और समाज की सेवा करते हुए और सस्कृत तथा असमिया साहित्य को बहुसख्यक उत्तम कृतियो से समृद्ध कर आचार्यदेव ने ११९ वर्ष की लम्बी आयु बिताकर कूचविहार मे १५६८ ई० (१४९० शक) को शरीर त्यागकर वैकुण्ठधाम को प्राप्त किया।

परम्परा का प्रवर्तन

आचार्य शकरदेव के बाद उनके शिष्य माधवदेव ने धर्म की परम्परा को प्रवर्तित किया। उन्होने बडी लोकनिष्ठा प्राप्त की। सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार उन्हे 'महापुरुष' की उपाधि से सम्मानित किया गया था। वे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे और अपने गुरु द्वारा सस्थापित धर्म-ज्योति से उन्होने लोक-मानस को आलोकित किया।

स्वामी माधवदेव भी अपने गुरु शकरदेव की भाँति वेद-शास्त्रो के ज्ञाता एव तत्त्वविद्या मे पारगत थे। उन्हे असमिया साहित्य के श्रेष्ठतम भक्तकवियो मे गिना जाता है। उनका जन्म उत्तरी असम के लखीमपुर जनपद के अन्तर्गत नारायणपुर के समीप १४९१ वि० को हुआ था। उनके पिता बाडुका राज्य मे कर्मचारी थे। वहाँ से वे बाद मे वाणिज्य-व्यवसाय के लिए पूर्व असम चले गये थे। महाराष्ट्र मे जब अकाल पडा था, तो उनके पिता उन्हे साथ लेकर पुन बाडुका लौट आये थे। वही पर माधव ने वेद शास्त्र शास्त्रो तथा दर्शन आदि अनेक विषयो का अध्ययन किया। उनके विद्यागुरु आचार्य राजेन्द्र थे, जो कि एक शिक्षक थे। पिता के निधन के उपरान्त वे वाणिज्य-व्यवसाय मे लग गये और उसीसे जीविकोपार्जन करने लगे।

माधवदेव आरम्भ मे शक्ति के उपासक थे। किन्तु आचार्य शकरदेव से प्रवृत्ति निवृत्ति पर शास्त्रार्थ मे पराजित होकर वे उन्ही के शिष्य बन गये थे। उन्होने घर सम्पत्ति का परित्याग कर एकनिष्ठ ब्रह्मचर्य जीवन धारण किया और गुरु के धर्म-मार्ग के प्रचार प्रसार मे लग गये। आचार्य शकरदेव की

आज्ञा से माधवदेव ने 'कीर्तनघोषा' नामक ग्रन्थ का सकलन कार्य पूरा किया। उन्होने भी गुरु प्रदर्शित श्रीकृष्ण की एकान्तिक भक्ति को ग्रहण किया और उसी को जनता मे प्रचारित किया। आचार्य शकरदेव ने जब दो बार उत्तर भारत विशेष रूप से व्रज मण्डल की यात्रा की, तो माधवदेव उनके साथ थे। अपने गुरु के प्रति एकनिष्ठ भाव से रहकर उन्होने उनकी सेवा की।

ग्रन्थ-निर्माण

अपने गुरु आचार्य शकरदेव की ही भाँति स्वामी माधवदेव भी विद्वान् और विभिन्न विषयो पर अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थो के निर्माता थे। उन्होने 'भक्तिरत्नावली', 'आदिकाण्ड', नामघोषा', 'जन्म रहस्य', 'राजसूययज्ञ', अर्जुनभजन', 'चोपधरा' पिंपरागुचुना', भूमिलोटावा', 'रासझूमरा', 'भूषणहेरोवा', 'ब्रह्ममोहन' और 'कटोरा खेलावा' नाम से अनेक ग्रन्थो का प्रणयन किया। उनके द्वारा सकलित एव पूर्ण 'नामघोषा' नामक ग्रन्थ मे एक सहस्र घोषाएँ हैं, जिनमे सम्पूर्ण शास्त्रो, आचारो तथा मतो का वर्णन हुआ है। स्वामी माधवदेव की कृतियो पर 'भगवद्गीता', 'उपनिषद्', 'रामायण' आदि का प्रभाव है। उनके रचे हुए लगभग दो सौ 'बरगीतो' को सम्प्रदाय के 'नामसेवा' प्रसग मे गाया जाता है। उनकी बडी लोकप्रियता है।

इस प्रकार सम्प्रदाय की सेवा और उसके प्रचार प्रसार मे अपना जीवन समर्पित कर स्वामी माधवदेव ने गुरुस्थान कूचविहार मे ही दीर्घायु प्राप्त कर शरीर त्याग किया।

आचार्य माधवदेव के उपरान्त इस सम्प्रदाय का विकास प्राय अवरुद्ध हो गया और उनके अनुयायियो की सख्या क्षीण होती गई। आज असम के विभिन्न अचलों मे छिटपुट रूप से 'महापुरुषिया सम्प्रदाय' के अनुयायी देखने को मिलते हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग

भारत के धार्मिक इतिहास मे वैष्णव धर्म की एक शाखा 'वल्लभ सम्प्रदाय' या 'पुष्टिमार्ग' अथवा 'रुद्र सम्प्रदाय' के नाम से कही गई है। इस शाखा के सस्थापक वल्लभाचार्य थे। उनके पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट और माता का नाम अल्लमागोर था। वे सोमयाजी तैलग ब्राह्मण थे। लक्ष्मण भट्ट का मूल स्थान आन्ध्रप्रदेश स्थित काकरव या काकरवाड ग्राम था, जो कि सम्प्रति एक नगर के रूप मे वर्तमान है। वल्लभाचार्य का जन्म नाम वदक्रम था।

वल्लभाचार्य के उक्त जन्मस्थान के सम्बन्ध मे मत-मतान्तर है। कुछ *विद्वानो का कहना है कि उनके जन्म से पूर्व उनके माता पिता तीर्थाटन के* उद्देश्य से काशी आ गये थे। उन दिनो काशी मे हिन्दू-मुसलमानो का पारस्परिक मनमुटाव चल रहा था। इस वातावरण से खिन्न होकर लक्ष्मण भट्ट सपत्नीक काशी से चम्पारन चले गये थे। वही पर १५३५ वि० (१४७९ ई०) को वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। उनके जन्मकाल के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की रहस्यात्मक बातें कही जाती है। कहा जाता है कि वे अग्निदेव के साक्षात् अवतार थे और अपने मत का उपदेश उन्होंने सीधे श्रीकृष्ण से प्राप्त किया था।

उनके उक्त स्थितिकाल को वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी प्रामाणिक मानते हैं। इसी तिथि को सम्प्रदाय के अनुयायी 'वल्लभोत्सव' के रूप मे मनाते है। उनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उपनयन-सस्कार के बाद जब वे कुछ बडे हुए तो उन्हे काशी मे स्वामी राघवेन्द्र पुरी के पास अध्ययन के लिए भेजा गया। तत्पश्चात् नारायण भट्ट नामक विद्वान् से भी उन्होने शिक्षा ग्रहण की। कहा जाता है कि वे बडे मेधावी थे और अल्पकाल मे ही *उन्होंने वेद-शास्त्रो का ज्ञान अर्जित कर लिया था। जब उनकी अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की थी, उनके पिता का निधन हो गया था।* किन्तु पितृहीन होकर भी उन्होंने अपना अध्ययन नही छोडा और काशी मे रहकर तत्त्वविद्या का गहन ज्ञान प्राप्त करते रहे। बाल्यकाल से उनकी रुचि तीर्थाटन और विद्वानो के ससर्ग मे रहने की हो गई थी। वे जहाँ भी उपयुक्त समझते, वहीं रहकर विद्योपार्जन करते रहे और अपनी शास्त्र-जिज्ञासा को उत्तरोत्तर सवर्द्धित करते रहे।

वेद-शास्त्रों का गहन ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त वे अपनी माता की आज्ञा प्राप्त कर दक्षिण भारत की यात्रा पर गये। वहाँ उन्होंने दामोदरदास नामक एक धनिक को अपना शिष्य बनाया और उसे साथ लेकर वे विजय-नगर चले गये। विजयनगर पर उन दिनों कृष्णदेव (१५०९-१५२९ ई०) का शासन था। उसकी विद्वत्सभा में वैष्णवों और स्मार्तों का समय-समय पर शास्त्रार्थ होता रहता था। वल्लभाचार्य भी राजदरबार में पहुँचे। उस समय वहाँ मध्वाचार्य के शिष्य व्यासतीर्थ स्मार्त मत का खण्डन कर रहे थे। वल्लभाचार्य ने भी शास्त्रार्थ में भाग लिया और व्यासतीर्थ के मत की प्रबल युक्तियाँ प्रस्तुत कर मण्डन किया तथा स्मार्त मत की कटु आलोचना की। तदनन्तर उन्होंने स्वतन्त्र रूप में अनेक विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और सर्वत्र ही अपने पुष्टिमार्ग की स्थापना कर विद्वानों को पराजित किया। इस प्रकार समस्त दक्षिण भारत में वल्लभाचार्य की विद्वत्ता का प्रचार प्रसार हो गया।

वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में 'सम्प्रदाय प्रदीप' नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि उनकी अद्भुत प्रतिभा तथा विलक्षण शास्त्रज्ञान से प्रभावित होकर विजयनगर के वैष्णव विद्वानों ने विष्णुस्वामी के उच्छिन्न मठ की पुनः प्रतिष्ठा की और उसमें वल्लभाचार्य को प्रमुख धर्माचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया।

दक्षिण भारत से उन्होंने उत्तर भारत की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उन्होंने गोकुल में अपनी प्रमुख गद्दी स्थापित की और स्वयं को 'गोस्वामी' या 'गोसाईं' अभिधान से प्रचलित किया। अपने धर्म-मार्ग के प्रचार के लिए उन्होंने मथुरा, वृन्दावन तथा काशी का भ्रमण किया। जिस स्थान पर वे प्रवचन करने के लिए रुके, उसे 'बैठक' नाम से कहा गया और उनकी स्मृतिस्वरूप मठ-मन्दिरों की स्थापना की गई। उन्हीं दिनों गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के रूप में गोपालकृष्ण का आविर्भाव हुआ। इसकी सूचना वल्लभाचार्य को स्वप्न में प्राप्त हुई। वे वहाँ गये और गोवर्द्धन पर्वत पर उन्होंने श्रीनाथजी की प्रतिष्ठा की तथा गोवर्द्धन पर्वत को प्रमुख तीर्थस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की। १५७५ वि० में वे गोवर्द्धनपर्वत से श्रीनाथजी को उठाकर नाथद्वारा ले गये और वहाँ उनको प्रतिष्ठित किया। उनकी पूजा-सेवा में ही उन्होंने अपने जीवन का शेष भाग बिताया। नाथद्वारा (राजस्थान) वल्लभ सम्प्रदाय का भारत प्रसिद्ध मुख्य पीठ है। वहाँ पर श्रीनाथजी का भव्य एवं विशाल मंदिर है। साथ ही हरिरायजी की बैठक भी है। नाथद्वारा स्थित अन्य वैष्णव मन्दिरों में नवनीतलालजी, विट्ठल-नाथजी, कल्याणरायजी, मदनमोहनलालजी, वनमालीजी और मीराबाई के

मन्दिर उल्लेखनीय हैं। इन मन्दिरो के दर्शन करने प्रति वर्ष हजारो वैष्णव भक्त तथा श्रद्धालु लोग नाथद्वारा आते हैं।

अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए वल्लभाचार्य निरन्तर भ्रमण करते रहे। चौरासी लक्ष योनियों के उद्धार के लिए देश के विभिन्न अचलो मे वल्लभाचार्य ने 'चौरासी बैठकें' स्थापित की और प्रत्येक बैठक मे एक सप्ताह बैठकर 'भागवत' का पारायण किया। इन चौरासी बैठकों के उत्तराधिकारी उनके चौरासी शिष्य नियुक्त हुए। इन चौरासी वैष्णवो की भक्तिरस से आप्लावित प्रेरणाप्रद कथाएँ ब्रजभाषा गद्य में उल्लिखित है, जिसे 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' के नाम से कहा जाता है। अपने धर्म एव सम्प्रदाय को लोकव्यापी बनाकर वल्लभाचार्य १५८७ वि० मे गोलोकवासी हुए।

ग्रन्थ-निर्माण

वल्लभाचार्य अद्भुत तार्किक और अनेक विषयों के गभीर एव मौलिक विद्वान् थे। उन्होंने अनेक प्रौढ ग्रन्थों की रचना की। अपनी समस्त कृतियो का निर्माण उन्होंने काशी मे किया। उनकी रचनाओ म 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखा हुआ उनका 'अणुभाष्य' उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'भागवतलीलारहस्य', (सुबोधिनी) 'एकान्तरहस्य', 'तत्त्वप्रदीप निबन्ध', 'पुष्टिप्रवाह मर्यादा' और 'नवरत्न' नामक अनेक विद्वत्तापूर्ण, तत्त्वज्ञान-सम्पन्न एव सम्प्रदाय समर्थित ग्रन्थो का निर्माण किया। वल्लभाचार्य और उनके सम्प्रदाय-अनुयायियो का 'भागवत' एकमात्र प्रेरणाप्रद तथा अध्ययनशील ग्रन्थ रहा है। वल्लभाचार्य ने अपने द्वारा प्रतिष्ठित चौरासी पीठों या बैठको मे 'भागवत' के महत्त्व को सर्वोपरि मान्य घोषित किया।

पुष्टिमार्ग का महत्त्व एव वैशिष्ट्य

सम्प्रदाय-सस्थापक एव प्रवर्तक अन्य धर्माचार्यों की भाँति वल्लभाचार्य ने भी अपने मत का स्वतन्त्र रूप से तात्त्विक विवेचन किया है। उनके पिता लक्ष्मण भट्ट विष्णुस्वामी मत के अनुयायी थे। अत यह असभव नहीं कि उनके प्रभाव से वल्लभाचार्य भी आरम्भ मे विष्णुस्वामी मत के अनुयायी रहे हो। किन्तु बाद मे उन्होंने अपने मत की स्वतत्र प्रतिस्थापना की। निम्बार्क मत का भी उन पर प्रभाव रहा। भक्तिमार्ग के क्षेत्र में उन्होंने 'पुष्टिमार्ग' का और दार्शनिक क्षेत्र मे 'शुद्धाद्वैत सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की। उनके मत मे यह विशेषता देखने को मिलती है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती वैष्णवाचार्यों यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य तथा निम्बार्काचार्य प्रभृति के मतों का कहीं भी खण्डन नहीं किया है। उन्होंने अपने अनुयायी बहुसख्यक भक्त-

समाज के लिए भगवद्-अनुग्रह का जो नया उपाय या मार्ग खोज निकाला है, उसे ही 'पुष्टिमार्ग' के नाम से कहा गया है। 'पुष्टि' का अपना व्यापक एवं मौलिक महत्त्व है।

'भागवत' के अनुसार भगवान् का अनुग्रह ही पोषण या पुष्टि है। वैष्णव विद्वान् बालकृष्ण भट्ट ने अपने 'प्रमेयरत्नार्णव' (र० १६५७ वि०) मे लिखा है कि 'जीव द्वारा सर्वतोभावेन समस्त विषयों का परित्याग और सर्वस्व समर्पण का भाव ही पुष्टिमार्ग है'—

'समस्तविषयत्याग सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पण च देहादे पुष्टिमार्ग स कथ्यते॥'

पुष्टिमार्ग वस्तुत 'वेद', 'गीता', 'ब्रह्मसूत्र' और 'भागवत' इस प्रस्थान-चतुष्टय का समन्वित स्वरूप है, जिसमे ईश्वर के प्रति जीव का सेव्य-सेवक-भाव-सम्बन्ध या पति-पत्नी-भाव सम्बन्ध से अनन्य आसक्ति का निरूपण है। वल्लभाचार्य ने भगवान् की प्राप्ति के लिए भक्ति को आवश्यक बताया है। उनका भक्तिमार्ग मधुर तथा वात्सल्य भाव का है। जीव मे भक्ति का उदय भगवान् की कृपा से होता है। ईश्वर की कृपा ही 'पुष्टि' है। इसलिए वल्लभ सम्प्रदाय को 'पुष्टिमार्ग' कहा गया है। पुष्टिमार्ग के अनुसार भक्ति साध्य है, साधन नही, क्योकि भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। सच्चा भक्त मुक्ति नही चाहता है, अपितु भगवान् का सायुज्य चाहता है, जिसमे कि वह सर्वोच्च स्वर्ग गोलोक मे उनकी लीला के साथ एकरूप बना रहे।

पुष्टिमार्गीय भक्ति मे गोलोक का विशेष महत्त्व माना गया है। विष्णु, शिव और ब्रह्मा के स्वर्गों से भी ऊपर गोलोक है। मुक्त आत्मा इसी गोलोक (कृष्णलोक) को प्राप्त करता है। कृष्ण स्वय परब्रह्म हैं। राधा उनकी सहधर्मिणी है। राधा कृष्ण सर्वोच्च स्वर्ग गोलोक मे लीलारत रहते हैं। इसी गोलोक को प्राप्त करना ही श्रीकृष्ण के विशुद्ध दैवी स्वरूप को प्राप्त करना है।

वल्लभाचार्य ने भक्ति के दो प्रकार बताये हैं—मर्यादा और पुष्टि। मर्यादा-भक्ति मे शास्त्रविहित ज्ञान तथा कर्म की आवश्यकता होती है। पुष्टि-भक्ति उसे कहते है, जो भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होती है। ऐसा भक्त भगवान् मे अनुग्रह के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु की अपेक्षा नही रखता है। इसे 'प्रेमलक्षणा भक्ति' भी कहते हैं। उसमे भक्त भगवान् के प्रति सर्वस्व समर्पण कर देता है। यह प्रेमलक्षणा भक्ति स्वत ही फलरूपा है और कर्म, ज्ञान तथा योग से भी श्रेष्ठ है। वल्लभाचार्य ने अपने 'अणुभाष्य' मे कहा है कि 'मर्यादा-भक्ति' के द्वारा जीव कर्मानुरूप फल के बन्धन मे रहता है।

अर्थात् जैसा कार्य करता है, तदनुरूप फल प्राप्त करता है। किन्तु पुष्टिमार्ग में भगवान् को जीवकृत शुभाशुभ कर्मों को परखने की आवश्यकता नहीं होती है। 'पुष्टि-भक्ति' में ज्ञान-कर्म की निरपेक्षता परमावश्यक होने से जीव का लक्ष्य केवल विरहाकांक्षा होती है। मर्यादा-भक्ति में शास्त्रविहित ज्ञान-कर्म के अनुसार चतुष्टय-रूप मुक्ति-फल प्राप्त होता है। अतः पुष्टिमार्ग निराश्रित जीवों के मोक्ष का ही साधन नहीं, अपितु उनके उद्धार का भी उपाय है।

पुष्टिमार्ग के अनुसार एकाकी परमेश्वर ने स्वयं को प्रकृति, जीवात्मा और आत्मा के रूप में त्रिधा विभक्त किया। प्रकृति में सत् (चित् और आनन्द तिरोहित) और आनन्द, जीवात्मा में सत् और चित् (आनन्द तिरोहित) तथा ब्रह्म में सत् चित्-आनन्द—तीनों विद्यमान रहते हैं। सच्चिदानन्द की समवेत शक्ति का नाम माया है, जिससे विमुक्त हो जाने पर जीवात्मा और परब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। परमात्मा या ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हुए बिना मायाधीन जीवात्मा को मोक्ष-लाभ नहीं हो सकता है। इसी भगवदनुग्रह को वल्लभाचार्य ने पुष्टि या पोषण के नाम से कहा है। 'भागवत' (३।२।११) में कहा गया है कि 'प्रभु की ओर उन्मुख मन की उस गति का नाम 'भक्ति' है, जो समुद्र की ओर प्रवाहित होनेवाली गंगा की गति के समान है।' इस भक्ति के वहाँ चार प्रकार बताये गये हैं—मर्यादापुष्टि, प्रवाहपुष्टि, पुष्टिपुष्टि और शुद्धपुष्टि। इसी प्रकार उपासना के वहाँ तीन प्रकार बताये गये हैं—भोग, राग और सेवा। इन तीनों साधनों के द्वारा भगवान् का जो अनुग्रह प्राप्त किया जाता है, उसे ही पुष्टि (पोषण तदनुग्रह) कहा गया है।

वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित एवं प्रवर्तित पुष्टिमार्ग सरल, सुगम और सब के लिए ग्राह्य एवं उपादेय है। इस सार्वभौम मार्ग में किसी भी प्रकार के जात-पाँत, ऊँच नीच तथा जाति-वर्ण का भेद-भाव नहीं है। वह सबके लिए समान रूप से वरणीय है। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि भगवान् की अपने भक्त के प्रति वय, विद्या, बुद्धि, वैभव, आचरण, कुल, पराक्रम, सौन्दर्य और स्त्री-पुं-भाव की भेद-दृष्टि नहीं होती है। भक्तवत्सल भगवान् ने ध्रुव की वय, गजेन्द्र की विद्या बुद्धि, पारधी का आचरण, कुब्जा का सौन्दर्य, विदुर का कुल, उग्रसेन का पराक्रम और शबरी की जाति का कोई भेद-भाव नहीं देखा। भगवान् अपने इन भक्तों की प्रेमलक्षणा मधुर भक्ति से द्रवित होकर तथा उनके दीनतापूर्वक निरन्तर विलाप एवं विरहजनित आसक्ति से करुणार्द्र होकर उन पर सहज ही अनुग्रह किया।

सिद्धान्त निरूपण

वल्लभाचार्य ने अपने पुष्टिमार्ग की प्रस्थापना के लिए 'शुद्धाद्वैत' नाम से एक नये दार्शनिक सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने रामानुज के विशिष्टाद्वैत तथा निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत से भिन्न शुद्धाद्वैत मत की स्थापना की। शंकर, रामानुज और निम्बार्क आदि आचार्यों ने जहाँ 'गीता', 'उपनिषद्' और 'ब्रह्मसूत्र'—इस प्रस्थान-त्रयी के आधार पर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, वहाँ वल्लभाचार्य ने 'भागवत' को भी अपने सिद्धान्तों का आधार बनाया। उन्होंने उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म की अद्वैतता को तो स्वीकार किया, किन्तु शंकर के निर्विशेष ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार नहीं किया। उनके मत से मायारहित शुद्ध जीव और परब्रह्म में कोई भेद नहीं है। उन्होंने माया का कोई अस्तित्व स्वीकार ही नहीं किया है। उनका अभिमत है कि यह समस्त संसार विशुद्ध ब्रह्म की लीला का विस्तार है। संसार उसका लीलाक्षेत्र होने के कारण प्रत्येक जीव में वह अंश रूप में विद्यमान है। उन्होंने कारण रूप ब्रह्म से कार्य रूप जगत् की अभिन्नता का प्रतिपादन किया और ब्रह्म की गुणवत्ता को माना है। यह उनके मत की विशिष्टता है।

उनके मत के अनुसार सृष्टि के दो आधार हैं—चैतन्य और जड़। इन दोनों के आविर्भाव और तिरोभाव से सृष्टि का क्रम चलता है। उनके अणु-सिद्धान्त के अनुसार जो नहीं दिखाई देता या जिसे लोप होना अथवा तिरोहित होना कहा जाता है, वह वास्तव में नष्ट नहीं होता, अपितु परमाणु रूप में ब्रह्माण्ड में बना रहता है। उसका परमाणुओं में रूपान्तर हो जाता है। वस्तुओं का एक रूप से दूसरे रूप में परिणत हो जाना ही 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' है।

उन्होंने इस समस्त जगत् को श्रीकृष्ण का सत्स्वरूप माना है, जिसमें चिद् और आनन्द तिरोहित है। सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण ही साक्षात् परब्रह्म हैं। निष्काम भाव से प्रेमपूर्वक भगवान् को भजने तथा उनकी सेवा में जीवनोत्सर्ग कर देने पर भक्त को श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है।

इस नये दार्शनिक मत की स्थापना के साथ ही उन्होंने समय, परिस्थिति और लोकनिष्ठा को ध्यान में रखते हुए एक सहज, सर्वग्राह्य और राधा कृष्ण की अलौकिक लीलाओं को उसका आलम्बन बनाया। 'भागवत' तथा 'ब्रह्मवैवर्त' आदि पुराणों में प्रतिपादित श्रीकृष्ण को परम पुरुष, मायातीत, नित्य और सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म माना गया है। वहाँ श्रीकृष्ण को कौतुकपूर्ण यौवन लीलाओं में सम्पन्न, नाना रत्नविभूषित, मुरलीधर एवं गोलोकनिवासी बताया गया है। ब्रह्मादि देवताओं और इस त्रिगुणात्मक सृष्टि के वे ही एक-

मात्र स्रष्टा और पालक हैं। उनकी बाल-लीलाएँ और यौवन-लीलाएँ अलौकिक एवं अद्भुत हैं। इस आधार पर वल्लभाचार्य ने यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वर-प्राप्ति के लिए सन्यास, उपवास या तपस्या की आवश्यकता नहीं है, अपितु आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हुए उस आनन्दमय को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रवृत्तिपरक निष्ठा में गृहस्थ-जीवन में रहकर नियमों का परिपालन किया जा सकता है। श्रीकृष्ण गोलोक में राधादि के साथ आनन्दभोग में नित्य लीलालीन रहा करते हैं। अतः भक्तों को सखा-भाव या सख्य-भाव से उनकी उपासना कर उनके निकट सदा विलासरत रहकर मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए।

भक्ति का एक साधन सख्य-भाव भी है। इस भाव के अनुसार जीव, ईश्वर का शाश्वत सखा है। दोनों एक साथ प्रकृतिरूपी वृक्ष पर बैठे हुए हैं। जीव प्रकृति वृक्ष के फलों का आस्वादन कर लेता है और ईश्वर से अलग हो जाता है। जब वह साधनारत होता है, तो दास्य, वात्सल्य तथा दाम्पत्य भक्ति द्वारा ईश्वर के प्रति अपना नैकट्य स्थापित कर पुनः अपना सखा भाव प्राप्त करता है। उसमें न तो स्वामी-दास का वैषम्य है और न माता-पुत्र का सकोच और न पति पत्नी की आधीनता। ईश्वर का सखा जीव सर्वथा स्वतन्त्र है, मर्यादाओं से भी अतीत। पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्य ने प्रवाह, मर्यादा, शुद्ध तथा पुष्ट, इन चारों भक्तियों में अन्तिम पुष्ट-भाव ही सख्य-भाव माना है।

वल्लभाचार्य के दार्शनिक मत को शुद्धाद्वैत कहा गया है, जिसके अनुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, सत्ता, ज्ञान और आनन्द के पुञ्ज हैं। जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंगों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उस परब्रह्म से समस्त भौतिक जगत्, जीवात्माएँ तथा देवों की उत्पत्ति हुई है। जीव ब्रह्मानुरूप है, जब सत्त्व, रज, तम––इन तीनों गुणों में प्रत्यावर्तन होता है, तब आनन्द तिरोहित हो जाता है और सत्ता तथा अल्पज्ञता ही शेष रह जाते हैं।

उनके मत में जीव अणु और परमात्मा सेवक है। यह प्रपंचभेद (जगत्) सत्य है। ब्रह्म ही जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण है। गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण ही परब्रह्म तथा जीव के सेव्य हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा––दोनों शुद्ध हैं। इसलिए इस दार्शनिक मत को 'शुद्धाद्वैत' नाम से कहा गया है।

वल्लभाचार्य सगुण भक्ति के उपासक हैं। उनके मत से ईश्वर सगुण है, जो कि गोलोक या वैकुण्ठ में निवास करता है। राधा तथा लक्ष्मी प्रभृति देवियाँ उसकी पत्नियाँ हैं। उनके साथ वे नाना प्रकार के सुख-भोग किया करते हैं। मानव-कल्याण के लिए वे अवतार धारण करते हैं और उनका

उद्धार करते हैं। ईश्वर का यह सुख-भोग सर्वथा निर्दोष और निर्गुण है। जिस प्रकार अग्नि में डाले गये पदार्थ अग्नि को दूषित नहीं कर पाते, उसी प्रकार ईश्वर भोगों से निर्लिप्त और कर्मों से अतीत है। कृष्णावतार पुष्टि-पुरुषोत्तम है।

इस प्रकार समाज को धर्मनिष्ठ जीवन बिताने और सन्मार्ग पर चलने का उदात्त उपदेश देने के उपरान्त वल्लभाचार्य ने अपनी साधना-भूमि काशीजी में १५३१ ई० को ५२ वर्ष की अल्पायु में ही परम गति गोलोक को प्राप्त किया। उनके पश्चात् उनकी धर्म-परम्परा को उनके पुत्रों तथा बहुसंख्यक शिष्यों एवं अनुयायियों ने प्रवर्तित किया।

परम्परा का प्रवर्तन

वल्लभाचार्य के बाद उनके उत्तराधिकारियों ने पुष्टिमार्ग की परम्परा को आगे बढ़ाया। इस सम्प्रदाय की यह परम्परा रही है कि गृहस्थ जीवन धारण करते हुए आचार्य पद प्राप्त किया जा सकता है। वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ और तदनन्तर उनके वंशजों को ही गुरुपद या आचार्यपद प्राप्त होता रहा। वल्लभ सम्प्रदाय की यह उत्तराधिकार-परम्परा पैतृक चली आ रही है।

आचार्य वल्लभ स्वयं गृहस्थ थे। उनके दो पुत्र हुए, जिनके नाम थे गोपीनाथ और विट्ठलनाथ। वल्लभाचार्य के गोलोकवास के पश्चात् इन दोनों भाइयों में कुछ समय तक उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए विवाद चलता रहा, जिसके निर्णय के लिए ये दोनों भाई तत्कालीन मुगल शाहंशाह अकबर के पास गये। इसी पारस्परिक विवाद की स्थिति में कुछ दिनों बाद गो० गोपीनाथ का शरीरान्त हो गया और गो० विट्ठलनाथ को एकाकी उत्तराधिकार प्राप्त हो गया।

गो० विट्ठलनाथ अपने पिता की भाँति विद्वान्, सुवक्ता एवं प्रभावशाली उपदेशक थे। अपने सम्प्रदाय के उन्नयन और प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने पुष्टिमार्गीय मत को अत्यन्त सरल एवं हृदयग्राही रूप में परिवर्तित किया। उन्होंने श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं तथा राधा के साथ युगल लीलाओं की रचना कर सम्प्रदाय को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाया। सम्प्रदाय की परम्पराओं को अधिक आकर्षक बनाने एवं उनको लोकरुचि में ढालने के लिए उन्होंने अनेक प्रकार के व्रतोत्सवों तथा त्यौहारों को मनाने की प्रथा को प्रचलित किया। वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित जो बैठकें थीं, उनका भी विस्तार किया। काशी, मथुरा, कच्छ, द्वारिका, मारवाड, मेवाड और पण्ढरपुर आदि देश के विभिन्न अंचलों में उन्होंने मन्दिरों का निर्माण किया और वहाँ अपने सम्प्रदाय के

भजन-कीर्तन आदि के रोचक कार्यक्रम आयोजित किये। इस प्रकार उनके इन नये प्रयासो से जनता उनके भक्तिमार्ग मे अधिकाधिक रुचि प्रदर्शित करने लगी। वे जहाँ भी जाते, अपने प्रभावपूर्ण उपदेशो से जनता को विमोहित कर देते।

उन्होने पुष्टिमार्ग के उच्च मानवीय आदर्शो एव सार्वभौम सिद्धान्तो को लोकव्यापी बनाने का सराहनीय प्रयास किया। प्रेमलक्षणा मधुर भक्ति द्वारा उन्होंने अधिक लोकरजन एव लोकाकर्षण के निमित्त सुष्ठु भाषा मे सुमधुर साहित्य, सगीत तथा ललित कलाओ का धर्म के साथ सन्निवेश किया। उनके प्रभाव से भक्तकवि सूरदास तथा अष्टछाप के कीर्तनकलाविद् भक्तहृदय व्रज-भाषा के कवियो ने अपने कीर्तन-गायन द्वारा जन-जन के हृदयों मे व्रजनन्दन श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी को प्रतिष्ठित किया।

गो० विट्ठलनाथ के सात पुत्र, चार कन्याएँ और २५२ प्रमुख शिष्य हुए। उनकी दो पत्नियाँ थी—रुक्मिणी और पद्मावती। उनसे उनकी शोभा, कमला, यमुना और देवकी नामक चार कन्याएँ हुई। उनके सात पुत्रो के नाम थे—१ गिरिधर, २. गोविन्दराम, ३. बालकृष्ण, ४ गोकुलनाथ, ५. घनश्याम, ६. रघुनाथ और ७ यदुनाथ। इन सातो पुत्रो ने अपने-अपने विस्तार के लिए गोवर्द्धन पर्वत पर अपने-अपने सात भव्य मन्दिरो की स्थापना की और ठाकुर बालकृष्ण की सात मूर्तियाँ स्थापित की। उनकी सेवा-पूजा का नियमित कार्यक्रम प्रचलित किया। कहा जाता है कि एक बार रात्रि के समय शाहँशाह अकबर ने आगरा के ताजमहल के बुर्ज पर चढकर गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित सात मन्दिरो की जगमगाहट देखी तो उन्हे बडी ईर्ष्या एव आशका उत्पन्न हुई और उन्होने उन मन्दिरो को नष्ट करने का आदेश दिया। शाहँशाह की इस नियत का गोस्वामियो को पता चल गया और भयभीत होकर उन्होंने अपने-अपने मन्दिर मे स्थापित भगवान् की सातो मूर्तियो को अन्यान्य स्थानो मे स्थानान्तरित कर दिया। इस प्रकार नाथद्वारा मे श्रीनाथजी की, काकरोली मे द्वारिकानाथजी की, कोटा मे मथुरेशजी की, सूरत मे बालकृष्णजी की, जयपुर मे मदनमोहनजी की, गोकुल मे गोकुल-नाथजी की और अहमदाबाद मे नटवरजी की मूर्तियाँ स्थापित की।

गो० विट्ठलनाथजी के सात पुत्रो द्वारा उक्त प्रकार से अपने-अपने ठाकुरो की सेवा तथा पूजा की विधियो का अलग-अलग प्रवर्तन हुआ। उनके अनुयायियो की भी सात श्रेणियाँ बन गई। छ श्रेणी वालो की आचार सहिता प्राय समान थी, किन्तु गो० गोकुलनाथजी की परम्परा मे कुछ भिन्नता

दर्शित हुई। उन्होंने स्वयं को ही भगवान् का प्रतीक मानकर अपने में ही सर्वस्व समर्पण की नई सेवा-पद्धति प्रचलित की।

वल्लभाचार्य के चौरासी प्रमुख शिष्यों की भाँति गो० विट्ठलदासजी के दो सौ बावन शिष्यों ने अपने सम्प्रदाय के प्रसार के लिए व्यापक कार्य-क्रमों का आयोजन किया। भगवान् श्रीकृष्ण के विभिन्न गुणगान, कीर्तन-भजन के लिए उन्होंने 'दो सौ वैष्णवों की वार्ता' नाम से अलग-अलग वार्ताएँ प्रचलित कीं। इन वार्ताओं में श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का समायोजन कर उन्होंने भजन-कीर्तन, सेवा-पूजन का ऐसा आडम्बर बनाया कि उत्तरोत्तर बहुसंख्यक जनता उसमें सम्मिलित होती गई और वल्लभ सम्प्रदाय का भारत के कोने-कोने में विस्तार होता गया। इस सम्प्रदाय का अधिकाधिक प्रचार गुजरात तथा काठियावाड में हुआ, जो कि आज भी वर्तमान है। जन-सामान्य से लेकर बड़े-बड़े धनी-मानी वैष्णव-वर्ग उसके अनुयायी हैं। ब्रजक्षेत्र में भी उसके अनुयायियों भक्तों की संख्या अधिक है।

यद्यपि गोस्वामी विट्ठलनाथ सम्प्रदाय की परम्परागत मर्यादाओं को उदात्त एवं उदार बनाने और उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए आजीवन प्रयत्न शील बने रहे, किन्तु सम्प्रदाय के संगठन की एकता को स्थिर न रख सके। उनके जीवनकाल में ही सम्प्रदाय के अनुयायियों के दो दल बन गये। एक दल के प्रवर्तक उनके चौथे पुत्र गो० गोकुलनाथ थे। उन्होंने पुष्टिमार्ग की सहज प्रेमातुर भक्ति-भावना को विलासमय वातावरण में प्रवर्तित कर दिया। उसका कारण उनका मुगल सम्पर्क था। मुगल संस्कृति की उत्कट भोगेच्छा और शृंगार विलास की भावना के कारण इस सम्प्रदाय में *एक सर्वथा नया पन्थ प्रचलित किया, जो कि 'गोकुलनाथ पन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसमें मध्ययुगीन तंत्रसाधना का समावेश था और आगे चलकर वह 'मडूचों' तथा 'जैगोपाल' पन्थों में विभाजित हो गया।* इन दोनों पन्थों के अनुयायियों ने परम्परा के विपरीत वल्लभ सम्प्रदाय की पवित्र ईश्वरीय भक्ति को मानव भोग-वृत्ति तथा विलास का केन्द्र बना दिया, जिसके परिणामस्वरूप सम्प्रदाय में जन-सामान्य की निष्ठा क्षीण होती गई। वस्तुतः इन विकृत पन्थों ने वल्लभ सम्प्रदाय की उदात्त परम्परा को पतनोन्मुख स्थिति में परिणत कर दिया।

साहित्य-निर्माण

वल्लभ सम्प्रदाय के प्रचार प्रसार में उसके जिन तत्त्ववेत्ता विद्वान् अनुया-यियों का विशेष योगदान रहा, उनमें गो० गिरिधरजी का नाम उल्लेखनीय

है। उन्होने सम्प्रदाय के सैद्धान्तिक पक्ष पर 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड', नाम से उच्च दार्शनिक ग्रन्थ का निर्माण किया। इसी प्रकार आचार्य बालकृष्ण भट्ट ने 'प्रमेयरत्नार्णव' तथा 'सुबोधिनी' पर 'योमना' टीका नाम से एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना की। ये दोनो ग्रन्थ इस सम्प्रदाय के दार्शनिक आधार माने जाते हैं। उनके अतिरिक्त गो० पुरुषोत्तम आदि ने भी सम्प्रदाय के प्रवर्तन मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनकी 'अणुभाष्य व्याख्या', 'सुबोधिनी टीका' और 'प्रस्थानरत्नाकर' प्रमुख हैं। गो० हरिवंश के (१६वी शती) के 'चौरासी पद' और गो० गोकुलनाथ (१७वी शती) की 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' भी इस सम्प्रदाय की बहुप्रचलित कृतियां हैं। इन पदो तथा वार्ताओ का एक ओर तो साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्त्व है और दूसरी ओर वार्ताकार भक्त-कवियो का काल-निर्धारण के लिए उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से भी वे उल्लेखनीय हैं। गो० विट्ठलनाथ की वल्लभाचार्य की 'सुबोधिनी टीका' पर टिप्पणी उल्लेखनीय है।

वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक एव लोक-प्रचार मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान व्रजभाषा के भक्त-कवियो का रहा है। इन भक्त-कवियो की सख्या बहुत है। किन्तु उनमे प्रमुख आठ हैं। आचार्य वल्लभ तथा उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ के चार-चार शिष्यो को मिलाकर, व्रजभाषा के इतिहास मे 'अष्टछाप' के नाम से कहा जाता है। उनके नाम हैं—१. कुभनदास (१४६८-१५६२ ई०), २. सूरदास (१४७८-१५८० ई०), ३. कृष्णदास (१४९५-१५७५ ई०), ४. परमानन्ददास (१४९१-१५८३ ई०), ५. गोविन्ददास (१५०५-१५८५ ई०), ६ छीतस्वामी (१४८१-१५८५ ई०), ७ नन्ददास (१५३३-१५८६ ई०) और ८. चतुर्भुजदास (१५१८-१५८५ ई०)।

अष्टछाप के इन भक्त-कवियो मे सूरदास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके जीवन पर प्रकाश डालनेवाले अनेक ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध हैं। उनसे विदित होता है कि उनका जन्म १५३५ वि० मे सीही नामक ग्राम के सारस्वत ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। वे जन्मान्ध थे, किन्तु उन्हे अलौकिक दिव्य शक्ति प्राप्त हुई थी। उनका आरम्भिक भक्त-जीवन आगरा के पास रेणुका क्षेत्र (रुनकता) के गोघाट पर व्यतीत हुआ। बाद मे वे वल्लभाचार्य के शिष्य बनकर उनके साथ गोवर्द्धन चले गये थे और वहाँ पारसौली नामक ग्राम मे रहने लगे थे। वही १६४० वि० को वे गोलोकवासी हुए।

वल्लभ सम्प्रदाय के पुष्टिमार्गीय भक्त-कवियो मे, अपितु समस्त व्रजभाषा कवियो मे, सूरदास का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उन्होने छोटी-बड़ी अनेक

रचनाओं का सृजन किया था, किन्तु उनकी अमर स्मृति का परिचायक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'सूरसागर' है। यह ग्रन्थ कृष्णभक्ति साहित्य में अपना अनन्य स्थान रखता है।

सूरदास की मूल प्रेरणा साहित्य-रचना नहीं, अपितु भक्ति है। वे भगवान् के द्वार पर बैठकर प्रेम विह्वल होकर नित्य नई रचना करते और प्रभु के सामने उसका उद्गायन करते थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की बाललीलाओं, राधा तथा गोपियों के साथ अनेक चेष्टाओं और गोपियों के असह्य विरह का मार्मिक वर्णन किया है। पुष्टि-सम्प्रदाय के मन्दिरों में भगवान् की दर्शन-झाँकी के आयोजन में बाल-भावना का ही प्राधान्य है। अतः सूरदास ने श्रीकृष्ण के बाल भाव को ही विशेष रूप से अपनाया है।

उनके जीवन काल में ही उनके पद कवियों, कीर्तनकारों, गायकों तथा भगवद्भक्तों में बहु-प्रचलित हो गये थे। कहा जाता है कि एक बार जब तानसेन द्वारा सम्राट् अकबर ने सूरदास के एक पद का गायन सुना तो वे सूरदास से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो उठे थे। सूरदास एक आत्मदर्शी महान् भक्त थे और उनके पदों में कृष्णभक्ति ने अपना पूर्ण स्वरूप प्राप्त किया।

आचार-संहिता

अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों की भाँति वल्लभ सम्प्रदाय की भी अपनी आचार परम्पराएँ हैं। इस सम्प्रदाय में सन्यास और गृहत्याग को कोई स्थान नहीं दिया गया है। गुरु ही ईश्वर है और उसकी सेवा पूजा ही ईश्वर भक्ति है। वही मोक्ष का साधन है। 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' या 'श्रीकृष्ण शरण मम' यह अष्टाक्षरी मन्त्र ही गुरुदीक्षा है। भगवदनुग्रह के अधिकारी जीव के लिए वल्लभाचार्य ने इस मन्त्रोपदेश का विधान किया है। उनके ब्रह्म-सम्बन्ध का बीजमन्त्र है—'श्रीगोपीजनवल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण को देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण तथा इनके धर्म—स्त्री गृह, परिवार, वित्त और आत्मा, सभी कुछ को समर्पण कर देना।'

वल्लभ सम्प्रदाय के प्रत्येक मन्दिर में प्रतिदिन आठ प्रकार की पूजा होती है। उसे 'सेवा' कहा जाता है। सेवा दो प्रकार की कही गई है—*फलरूपा और साधनरूपा। सर्वदा ही श्रीकृष्ण की श्रवण-चिन्तन रूपी मानसी* सेवा 'फलरूपा' कहलाती है और द्रव्यार्जन तथा शारीरिक सेवा साधनरूपा' है। इन दोनों प्रकार की सेवाओं का क्रम इस प्रकार है—मंगलारति, शृंगार, गोपाल, राजभोग, उत्थान, भोग, सन्ध्या और शयन। इस अष्टप्रकारी सेवा के समय वैष्णव भक्तों द्वारा रचे गये व्रजभाषा के पदों को रागबद्ध रूप में

गाया जाता है। इस सम्प्रदाय के आचार्यों एवं अनुयायियों द्वारा भारतीय संगीत के संरक्षण में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वहाँ यह परम्परा रही है कि प्रत्येक उत्तराधिकारी आचार्य संगीतज्ञ होता है और उनके मन्दिरों में समय-समय पर बड़े वैभवपूर्ण ढंग से उत्सवों के समय संगीत का भव्य आयोजन होता आया है।

सम्प्रदाय के आचार-नियमों के अनुसार प्रत्येक वैष्णव स्वयं को कृष्णार्पित करता है। वहाँ यह नियम है कि ग्यारह वर्ष की आयु में प्रत्येक वैष्णव अपने पुत्र को और विवाह के समय अपनी कन्या को गुरु के पास ले जाता है। उससे दीक्षा ग्रहण कराता है। उस दिन वे गुरु से अष्टाक्षरी मन्त्र की दीक्षा लेते हैं और गले में तुलसी की कण्ठी धारण करते हैं। इस सम्प्रदाय के वैष्णवों के तिलक धारण की अपनी पृथक् विधि है।

चैतन्य मत या गौड़ीय सम्प्रदाय

भारतीय वैष्णव मत की परम्परा मे गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के संस्थापक चैतन्य महाप्रभु या कृष्ण चैतन्य हुए। इस मत के अनुयायियो ने उन्हे श्रीकृष्ण का पूर्णावतार माना है और इसी रूप मे उनका गुण-कीर्तन किया है। इसी प्रकार शैव मतानुयायियो ने उन्हे त्रिपुरासुर का अवतार माना है और उन्हे शैव मत का उच्छेदक कहा है। किन्तु जहाँ तक उनकी लौकिक-अलौकिक *जीवन-सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है, उसको देखते हुए उनके सम्बन्ध मे* कही गई उक्त बातें कपोल-कल्पित एव निराधार सिद्ध होती हैं। वे धर्म-प्रवर्तक महापुरुष हुए और अन्य धर्माचार्यों की भाँति उनमे भी असाधारण अलौकिक गुण विद्यमान थे।

गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के विद्वानो तथा भक्तो ने चैतन्य महाप्रभु पर बगला तथा अन्य भाषाओ मे जीवनी ग्रन्थ लिखे है। उनमे उनके दो शिष्यो—मुरारिगुप्त और दामोदर ने सर्वप्रथम उनकी प्रामाणिक जीवनी लिखी। मुरारिगुप्त के ग्रन्थ का नाम (आदिलीला) और दामोदर के ग्रन्थ का नाम 'शेषलीला' है। ये दोनो ग्रन्थ वस्तुत उनके पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध जीवन से सम्बन्धित हैं और उनमे किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम नही है। प्रथम ग्रन्थ मे उनके गृहस्थ जीवन पर्यन्त का और दूसरे ग्रन्थ मे उसके उपरान्त की घटनाओ का वर्णन है। इन दोनो जीवनी-ग्रन्थो के आधार पर वृन्दावनदास ने 'चैतन्यचरित' की रचना की, जो कि अधिक प्रामाणिक एव उपादेय मानी जाती है। उसका भार लेकर कृष्णदेव ने १५३७ शकाब्द (१६१५ ई०) मे 'चैतन्य चरितामृत' नाम से बगला मे एक वृहद् ग्रन्थ का निर्माण किया, जिसमे महाप्रभु चैतन्य से लेकर उनके दो अन्तरग शिष्यो—नित्यानन्द तथा अद्वैतानन्द की जीवनी तथा इस सम्प्रदाय के धार्मिक क्रिया-कलापो का विस्तार से वर्णन किया गया है।

उक्त जीवनी ग्रन्थो के अनुसार चैतन्य महाप्रभु का जन्म बगाल के प्रसिद्ध सास्कृतिक एव बौद्धिक केन्द्र नवद्वीप (नदिया) मे १४०७ शकाब्द (१४८५ ई०) को हुआ था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का नाम शची देवी था। उनका मूल पैतृक स्थान श्रीहट्ट नामक गाँव था, किन्तु बाद मे वे नवद्वीप मे आकर बस गये थे। चैतन्य का पारिवारिक नाम निमाई या विश्वम्भर था और गौरवर्ण होने के कारण उन्हे गौराग भी वहा

जाता था। उनके माता-पिता के वे कनिष्ठ पुत्र थे। वासुदेव सार्वभौम से उन्होने वेद-शास्त्रो, विशेष रूप से नव्य न्याय का अध्ययन किया था। वासुदेव सार्वभौम अपने समय के विख्यात नैयायिक थे। समस्त नवद्वीप और भारत मे उनकी विद्वत्ता का वर्चस्व व्याप्त था। मुगलकालीन भारत मे नवद्वीप, बगाल की राजधानी थी। वहाँ मध्ययुगीन भारत का सुप्रसिद्ध विद्या-केन्द्र भी था। वेद-शास्त्रो के साथ-साथ नवद्वीप मे ही चैतन्य ने 'भागवत' का भी विशेष अध्ययन किया था जिसने कि उनके जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। कहा जाता है कि बाल्यकाल मे ही चैतन्य मे असाधारण मेधाशक्ति का उदय हो चुका था।

जब उनकी अवस्था केवल १८ वर्ष की थी, उनका विवाह लक्ष्मी देवी नामक एक सद्गुणसम्पन्न सुशील स्वभाव की कन्या से हो गया था, किन्तु दैवी सयोग, कुछ दिन बाद ही उसका निधन हो गया। उन्होंने पुनर्विवाह किया। उनकी दूसरी पत्नी का नाम विष्णुप्रिया था। किन्तु जीवन की निःसारता और गृहस्थ के प्रति उदासीनता की उनकी प्रवृत्ति तीर्थाटन तथा भगवत्प्रेम के प्रति उत्तरोत्तर सवर्द्धित होती रही।

एक बार वे पितरो का श्राद्ध करने के लिए गयाजी गये। वहाँ के वातावरण और कर्मकाण्डी ब्राह्मणो, विशेष रूप से पण्डा समाज के आचरण को देखकर उनके मन मे कर्मकाण्ड के प्रति अनास्था उत्पन्न हो गई। उसका प्रभाव यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था के वे कटु आलोचक और सर्ववर्ण-समन्वय के पक्षपाती हो गये। उनके बडे भाई नित्यानन्द भी उनके इन विचारो से सहमत हो गये। दोनो भाइयो ने वर्ण-सकीर्णताओ तथा धार्मिक आडम्बरो से ऊब कर भगवद्भजन एव हरिकीर्तन का आश्रय लिया। वे मण्डली बनाकर कीर्तन-भजन मे तल्लीन रहने लगे।

चैतन्य के बडे भाई नित्यानन्द ने कुछ दिनो बाद सन्यास धारण कर लिया। उनका सन्यासी नाम विश्वरूप पडा। उनके वैदूष्य की ख्याति उत्तरोत्तर बढने लगी। बडे भाई के सन्यास धारण करने के उपरान्त परिवार तथा माता के भरण-पोषण का भार भी चैतन्य पर अवलम्बित हो गया। किन्तु गृहस्थावस्था का निर्वाह करते हुए भी वे श्रीकृष्ण के लीला सकीर्तन मे तल्लीन रहने लगे।

जब उनकी अवस्था २४ वर्ष की थी, उन्होंने स्वेच्छा से सन्यास धारण कर लिया। सभवत तबतक उनकी माता का शरीरान्त हो चुका था। उससे गृहस्थ जीवन के प्रति उन्होने निवृत्ति पा ली। १५०९ ई० मे स्वामी केशव भारती से उन्होंने सन्यास की दीक्षा ली और 'कृष्ण चैतन्य' का नया

सन्यास नाम ग्रहण किया। वे शकराचार्य के दसनामी सन्यासियो मे से 'भारती' शाखा के थे। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति को उत्प्रेरित करने में माध्व सन्यासी ईश्वरपुरी का योगदान रहा। सन्यास धारण करने के पश्चात् गृह-त्याग कर वे भगवद्भजन एव तीर्थाटन के लिए निकल पडे। भगवदाराधन मे वे इतने तल्लीन हो गये कि उनका बाह्य ज्ञान सर्वथा विलुप्त हो गया और भक्ति के भावावेश मे वे उन्मत्तो की भांति प्रलाप करने लगे। स्वयसिद्ध होकर लोगो को उपदेश करना उन्होने प्रारम्भ कर दिया।

देशाटन करने के पश्चात् उन्होने जगन्नाथ पुरी को अपना स्थायी केन्द्र बनाया और लगभग १८ वर्षों तक वही रहे। समस्त सासारिक भोगो और बाधा-बन्धनो का परित्याग कर वे लोगो को धर्म-मार्ग मे प्रवृत्त होने का उपदेश देते रहे और करुणार्द्र भाव से जन-जन के कष्टो एव दु खो को दूर करने के लिए नि स्वार्थ भाव से सेवारत बने रहे। साधारण भिक्षुक की भांति वे स्थान-स्थान पर जाकर जन-सामान्य को ईश्वर-भक्ति के प्रति उद्बोधित करते रहे। समाज मे दया, सदाचार, परोपकार और समानता तथा सद्भाव स्थापित करते रहे। हरिकीर्तन उनके जीवन का एकमात्र आधार बन गया। उनके हृदय मे कृष्णभक्ति का ऐसा अद्भुत उदय हुआ कि वे सब कुछ भूलकर हाथो मे खटताल लिए भगवान् के गुण सकीर्तन में निमग्न रहने लगे। लोग जब उन्हे पागलो की भांति प्रलाप करते हुए देखते तो द्रवित होकर उनकी आँखो मे आँसू निकल आते। कृष्ण चैतन्य की विलक्षण भक्ति-भावना को देखकर जन-सामान्य मे उनके अवतारी महापुरुष होने का विश्वास फैलता गया और विद्वान्, योगी, अनपढ, सभी क्षेत्रो का व्यापक जन-समाज उनका अनुयायी बन गया। वे जिस क्षेत्र मे जाते, वही उनके भक्तो एव अनुयायियो का समूह जुट जाता।

कहा जाता है कि एक चाँदनीयुक्त स्वच्छ धवल रात्रि मे उन्हे एकाएक यह आभास हुआ कि समुद्र की उत्ताल तरगो मे श्रीकृष्ण अटखेलियाँ कर रहे हैं। वे भक्ति के भावावेश में उफनते हुए समुद्र में कूद पड़े और पर-ब्रह्म की ज्योति मे विलीन हो गये। यह घटना १५३३ ई० की है, जब कि उनकी आयु केवल ४८ वर्ष की थी। इस प्रकार दिव्य महापुरुष कृष्ण चैतन्य ने अल्प आयु में ही लोक-जीवन को भक्ति-रसामृत का पान कराकर वैकुण्ठ-लोक को प्रस्थान किया।

सम्प्रदाय का प्रवर्तन

चैतन्य महाप्रभु के शरीर-त्याग के बाद समस्त बगाल और विभिन्न अचलो मे निवास करने वाले भक्तजन आगामी लगभग तीस वर्षों तक शोका-

कुल रहे। महाप्रभु ने उत्तराधिकारी शिष्यों में नित्यानन्द, उनके पुत्र वीरचन्द और अद्वैतानन्द ने गौड़ीय सम्प्रदाय की परम्परा को आगे बढ़ाया। सम्प्रदाय के अनुयायियों ने नित्यानन्द और अद्वैतानन्द को महाप्रभु की भाँति आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया और उनको वही सम्मान दिया, तथा उनके अनुशासन में रहकर सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया। कहा जाता है कि नित्यानन्द के पुत्र वीरचन्द ने एक ही दिन में २५०० बौद्ध भिक्षुओं एवं सन्यासियों को चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षित कर दिया था। नित्यानन्द ने सम्प्रदाय की गरिमा महिमा को बढ़ाया और अनुयायियों को अनुशासनबद्ध किया।

नित्यानन्द स्वामी के उपरान्त उनके पुत्र वीरचन्द ने इस सम्प्रदाय के विस्तार में बहुत बड़ा योगदान किया। उन्होंने सम्प्रदाय की परम्परा को अनुशासनबद्ध करने के लिए विशेष बल दिया। उनके समय सम्प्रदाय में वैरागियों तथा महिला वैरागियों का प्रचलन हुआ। उन्होंने सम्प्रदाय के अनुयायियों को सरल, सादा, किन्तु आचारनिष्ठ जीवन-यापन करने का निर्देश किया। साधुओं के लिए भी उन्होंने अनुशासन की व्यवस्था की। साधुओं की एक श्रेणी 'भारती' कहलाई।

१६वी-१७वी शती में चैतन्य सम्प्रदाय की लोकप्रियता बंगाल के अतिरिक्त देश के अन्य अंचलों में भी फैली। इस कीर्ति को फैलाने वाले आचार्यों में महाप्रभु के छः शिष्यों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके नाम है—रूप, सनातन, जीव, रघुनाथ भट्ट, रघुनाथदास और गोपाल भट्ट। ये सभी आचार्य 'गोस्वामी' कहे जाते थे। उन्होंने अपनी शिक्षाओं तथा अपने उपदेशों से जनता को प्रभावित किया और सम्प्रदाय के महत्त्व को प्रतिपादित करने के उद्देश्य से नियम तथा अनुशासन बनाये।

इन आचार्यों में रूपगोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रूपगोस्वामी के सनातन गोस्वामी भतीजे एवं शिष्य थे। इन दोनों आचार्यों ने एक ओर तो सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रणयन किया और दूसरी ओर अपने प्रचारकों को दक्षिण तथा उत्तर भारत में भेजा।

रूप गोस्वामी आरम्भ में बंगाल के किसी मुसलमान सूबेदार के यहाँ कार्य करते थे। किन्तु महाप्रभु के देवोपम प्रभाव से प्रेरित एवं आकर्षित होकर वे घर-बार त्याग कर उनके शिष्य बन गये। वे अनेक विषयों के गंभीर विद्वान् थे और महाप्रभु के जीवन-काल में ही उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन कर अपनी असहज प्रतिभा का परिचय दिया। जीवन के अन्तिम समय में वे

वृन्दावन मे बस गये थे। सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए उन्होने आजीवन निरन्तर कार्य किया।

रूप गोस्वामी के भतीजे सनातन गोस्वामी हुए। उन्होने सम्प्रदाय के प्रचार प्रसार और उसमे स्थिरता तथा व्यापकता लाने मे उल्लेखनीय योगदान किया। उनका जीवन बडी विडम्बनाओ से भरा हुआ था। वे आरम्भ म बगाल के किसी नवाब के यहाँ नौकरी करते थे। उनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि अपने इसी सेवाकाल मे वे एक दिन किसी सरकारी कार्य से कही जा रहे थे। इसी बीच आकाश घिर गया और भयकर आँधी चलने लगी। इसी बीच उन्हे रास्ते म किसी मेहतर-दम्पती का वार्तालाप सुनाई दिया। वे कह रहे थे— ऐसे झझावात के समय या तो दुर्भाग्य का मारा कोई नौकर ही बाहर निकल सकता है या कोई सन्त ही।' इस वार्तालाप से वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होने नौकरी त्यागने का निश्चय कर लिया। किन्तु जब नवाब के कानो तक यह बात पहुँची तो उन्होंने सनातन गोस्वामी को कारागार मे बन्द कर दिया। किन्तु उनके मन मे ससारत्याग एव वैराग्य का जो भाव उदय हो चुका था, वह अडिग बना रहा। उन्होने कारागाराध्यक्ष को किसी प्रकार प्रभावित किया और एक कम्बल साथ लेकर वे कारागार से निकल पडे। वे आत्म-समर्पण के लिए सीधे चैतन्य महाप्रभु के चरणो मे उपस्थित हुए। किन्तु कम्बल धारण किये हुये उनको देखकर महाप्रभु के मन में कुछ उदासीनता प्रकट हुई। उन्होने उस कम्बल का भी परित्याग कर दिया। इस प्रकार अपना भक्तिप्रवण वैराग्यमय जीवन उन्होने महाप्रभु के चरणो में समर्पित कर दिया। वे बगाल छोडकर वृन्दावन मे आ बसे और वहाँ आजीवन भगवान् के भक्ति कीर्तन तथा प्रचार प्रसार मे तल्लीन हो गये। वही उन्होंने अपनी यशस्वी कृतियो का निर्माण किया।

गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय की इस परम्परा मे तीसरा नाम जीव गोस्वामी का है। वे सनातन गोस्वामी तथा रूप गोस्वामी के शिष्य थे। चैतन्यदेव के अन्तर्धान के बाद वे भी बगाल छोडकर वृन्दावन चले गये थे। वृन्दावन का प्रसिद्ध राधा दामोदर का मन्दिर जीव गोस्वामी ने ही बनवाया था। बगाल मे चैतन्य मत के पुनरुत्थान के लिए उन्होने वृन्दावन से श्रीनिवासाचार्य आदि प्रचारक भक्तो को बगाल भेजा। वृन्दावन मे रहकर सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के लिए उन्होने अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियो का निर्माण किया। वे आजीवन चैतन्य-मत के प्रचार एव उत्थान के लिए समर्पित रहे।

इस प्रकार चैतन्य महाप्रभु के बाद भी उनके उत्तराधिकारियो द्वारा निरन्तर गौडीय सम्प्रदाय का प्रचार होता रहा। ऐसे अनुयायियो मे महाप्रभु

के प्रमुख शिष्यों में रघुनाथदास का नाम उल्लेखनीय है। वे भी वृन्दावन मे रहते थे। उन्होंने सम्प्रदाय के आचारो को चरितार्थ करने की विशेष व्यवस्था की।

उक्त छहो आचार्यों ने ब्रज मे 'यात्रापथ' का निश्चय किया और राधा-कृष्ण की लीलाओ को जनव्यापी बनाया। रघुनाथदास के 'मथुरामाहात्म्य' मे व्रज-यात्रा के नियम और उसका महत्त्व विस्तार से वर्णित है। चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियो ने ही सर्वप्रथम 'वनयात्रा' का भी प्रचलन किया। तत्पश्चात् वैष्णव सम्प्रदाय के अन्य मतावलम्बियो, विशेष रूप से वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियो, ने उसको अधिकाधिक अपनाया। सर्वप्रथम चैतन्य-मत के आचार्यों एव भक्तो ने मथुरा-वृन्दावन के तीर्थस्थानो के परिभ्रमण की परम्परा प्रचलित की। व्रज-मण्डल मे कृष्णलीला से सम्बन्धित पवित्र तीर्थों की परिक्रमा का भी निर्धारण किया। इस परिक्रमा को सम्प्रति 'वनयात्रा' के नाम से कहा जाता है, जो कि ८४ कोस की है।

वनयात्रा के अतिरिक्त रामलीला के द्वारा भी चैतन्य मत का जन-सामान्य मे अधिकाधिक प्रचलन हुआ। ये रामलीलाएँ इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि उनका आयोजन उत्तर भारत से लेकर बगाल तक व्यापक रूप मे होने लगा। व्रजक्षेत्र से लेकर समस्त भारत मे आज भी रामलीला का प्रचलन चैतन्य-मत के अनुयायियो की ही देन है।

१७वी शती के पश्चात् चैतन्य सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार बगाल के अतिरिक्त उत्तर भारत के विभिन्न अचलो मे व्याप्त हुआ। उनके भक्तो एव अनुयायियो की सख्या निरन्तर बढती गई। नगर-सकीर्तन, रासलीला और ८४ कोसी यात्रा आदि के आयोजन इतने लोक प्रचारित हुए कि उनके प्रभाव मे चैतन्य का भक्तिमार्ग निरन्तर प्रशस्त होता गया। इस प्रसार मे उन भक्त कवियो का योगदान भी उल्लेखनीय है, जिन्होने अपने सुललित भक्तिगीतो से जनता को विमोहित कर दिया था। ऐसे गीतकार भक्तो मे गोविन्ददास, ज्ञानदास, बलरामदास और वीर हम्मीर आदि का नाम उल्लेखनीय है। बगवासी बलरामदास ने प्रशस्तियो के रूप मे अच्छी स्तुतियो का निर्माण किया है। उनका लोक-प्रचलन भी अधिक है।

गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय मे यद्यपि अनेक विद्वान्, तत्त्ववेत्ता, तथा ग्रन्थकार हुए, सम्प्रदाय के आचारो एव शासन प्रक्रियाओ पर भी अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए और नियमो एव सस्कारो से सुसबद्ध होकर यह सम्प्रदाय आगे बढता गया, किन्तु उसको दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक स्वरूप देने का कार्य आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने किया। आचार्यपाद का जन्म उडीसा स्थित बालेश्वर

जिले के रेनुका के निकट एक गाँव मे हुआ था। उनका स्थिति-काल १७५०-१८४० वि० के बीच निर्धारित किया गया है। वही उन्होने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की और वेद दर्शन के अध्ययन के लिए महीसुर गये। अध्ययन के समय ही उन्होने माध्वमत की दीक्षा ग्रहण कर ली थी। सन्यास धारण कर वे पुरी गये और उन्होने वहाँ शास्त्रार्थ मे अनक विद्वानो को पराजित किया। रसिकानन्द के प्रशिष्य राधा दामोदर जैसे प्रसिद्ध विद्वानो ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। पुरी से वे नवद्वीप होते हुए वृन्दावन पहुँचे। वहाँ उन्होने 'भागवत' का अध्ययन किया और विशेष रूप से भक्ति-रस-तत्त्व मे *निष्णात* हुए। 'भागवत' के प्रभाव से उन्होंने चैतन्य सम्प्रदाय को अपनाया और 'ब्रह्मसूत्र' पर 'बलदेव भाष्य' लिखकर गौडीय सम्प्रदाय को सुप्रतिष्ठित किया। तभी से उन्हे बलदव विद्याभूषण के नाम से कहा जाने लगा। उससे पूर्व माध्व मतानुयायी होने से उन्हे गोविन्ददास के नाम से कहा जाता था। उनका दार्शनिक मत *'अचिन्त्य भेदाभेद'* के नाम से कहा जाता है।

जिस समय आचार्य विद्याभूषण अपने उपदेशो, व्याख्यानो तथा शास्त्रार्थों मे चैतन्य सम्प्रदाय के दार्शनिक मत का मण्डन कर रहे थे, उन दिनो वृन्दावन क्षेत्र जयपुर नरेश जयसिंह के अधीन था। जयपुर नरेश को किसी ने यह भ्रमित कर दिया कि गौडीय मत अवैदिक है। इस शका के समाधान के लिए जयपुर मे विभिन्न मतो के आचार्यों एव विद्वानों को बुलाया गया। आचार्य विद्याभूषण ने बडी विद्वत्ता के साथ गौडीय मत एव परकीयावाद को वेदानुकूल सिद्ध किया और उसके साक्ष्य मे अपने दर्शन को प्रस्तुत किया। इस प्रकार विद्वत्सभा को निरुत्तर कर उन्होने गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय की गरिमा को प्रतिष्ठित किया। गल्ता मे उन्होने गोपाल मन्दिर को स्थापित किया जो कि आज भी उनकी पुण्य स्मृति को जीवित बनाये हुए है।

इस प्रकार चैतन्य मत की यह परम्परा परिपुष्ट होती हुई आगे बढी। किन्तु १९वी शती ई० मे उसमे कुछ क्षीणता तथा शिथिलता आई। उसका *कारण सम्प्रदाय के एक वर्ग की आचारहीनता थी।* यद्यपि आचार्य वीरभद्र ने सम्प्रदाय मे वैरागी तथा वैरागिनियो के प्रवेश की अनुमति दे दी थी, साथ ही आचार के बडे नियमो के पालन का भी निर्देश कर दिया था, किन्तु उसके बाद वैरागी-वैरागिनियो के आगमन से अनुशासन तथा नियमो का पक्ष शिथिल होता गया और उसके कारण चारित्रिक दोषो का प्रभाव बढता गया। *उससे समाज मे सम्प्रदाय की उदात्त परम्पराएँ सन्देह एव अनिष्ठा की दृष्टि* से देखी जाने लगी। इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता को जानकर खाने पीने तथा मौज उडाने की इच्छा मे हजारो शाक्त तथा बौद्ध उसमे दीक्षित हुए।

उनके कारण सम्प्रदाय की लोकप्रियता एवं पवित्रता कम हो गई। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, इस सम्प्रदाय में साधुओं की कमी होती गई और वर्तमान में यह सख्या नगण्य-सी हो गई।

इस सम्प्रदाय के परवर्ती गुरुओं ने परम्परा से हटकर आचारों के कुछ नये नियम बनाये, जिनमें स्वार्थपरता, पक्षपात और स्वेच्छाचार को प्रमुखता दी गई। इन नियमों के अन्तर्गत सम्प्रति सम्प्रदाय के गुरुओं द्वारा शिष्यों के प्रति अनेक प्रकार के अत्याचारों तथा दण्डित करने की बातें समाज में फैलती जा रही हैं। सम्प्रदाय के इन उत्तराधिकारियों की स्वार्थपरता के बावजूद आज भी समस्त भारत में, विशेष रूप से बगाल और उड़ीसा में इस सम्प्रदाय का विशेष प्रचार है।

सम्प्रदाय की शाखाएँ

१९वीं शती के लगभग इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में आचार के नियमों को लेकर प्रमुख दो वर्ग बन गये और उनकी भी अनेक शाखाएँ हुईं। सम्प्रदाय की गोस्वामी, गृहस्थ, वैरागी और जातवैरागी नाम से चार प्रमुख शाखाएँ हुईं। किन्तु उनमें भी समय-समय पर मतभेद बढ़ते गये। इन मतभेदों के परिणामस्वरूप स्पष्टदायक, बाउल, न्याड़ा, सहजी, गौरांगसेवक, दरवेश, कर्ताभक्त (या सत्कूंभज) और राधावल्लभी आदि अनेक शाखाएँ सम्प्रति चैतन्य मत का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। कर्ताभक्त या सत्कूंभज के पन्थ को मानने वाले हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों हैं। इस पन्थ पर इस्लाम का भी प्रभाव है। किन्तु सभी अनुयायी अपने को चैतन्य-मत से जोड़ते हैं।

चैतन्य-मत की जिन सुधारवादी धार्मिक शाखाओं का उदय हुआ, उनमें 'बाउल' मत का भी एक नाम है। इस शाखा का उदय बगाल में हुआ और वहीं उसका प्रचार-प्रसार भी है। 'बाउल' का अर्थ है 'विमुक्त'। इस मत के अनुसार ससार में रहते हुए भी मनुष्य को सर्वथा निरपेक्ष एवं उदासीन बना रहना चाहिए। निष्काम भाव से कार्य करते रहने से ही मुक्तिलाभ हो सकता है।

बाउल-मत के कोई अपने मन्दिर नहीं हैं। वे मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। जात-पाँत का भेद भाव नहीं मानते हैं। वे न तो कट्टरपन्थी हिन्दू हैं और न कट्टरपन्थी मुसलमान ही। सभी धर्मों के लोग उसमें सम्मिलित हो सकते हैं। बाउल मतानुयायी बड़े भजनीक होते हैं। वे गा-गाकर अपने मत का प्रचार करते हैं। उनके गीतों में बगाल के लोक-जीवन का सजीव, वास्तविक एवं मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। वे सगीत में पारंगत होते हैं और भगवान्

श्रीकृष्ण के माधुर्य भाव के भक्ति गीतो को गाते हैं। गृहस्थ और विरक्त, दोनो ही इस मत के अनुयायी है।

उत्तर भारत की अपेक्षा, जहाँ चैतन्य मत का जन्म तथा सवर्द्धन हुआ, बगाल तथा उडीसा मे उक्त शाखा उपशाखाओ के अनुयायी आज भी न्यूनाधिक रूप मे विद्यमान हैं। इन अनेक शाखा-उपशाखाओ के विभाजन के कारण सम्प्रदाय की मर्यादा प्रतिष्ठा का उत्कर्ष होने की अपेक्षा अपकर्ष ही अधिक हुआ।

साहित्य-निर्माण

गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय का अपना प्रचुर साहित्य है। इस सम्प्रदाय के सस्थापक चैतन्य महाप्रभु यद्यपि स्वयमेव बडे विद्वान्, अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न, शास्त्रज्ञ तथा दर्शन के ज्ञाता थे, तथापि अपने विचारो तथा सिद्धान्तो को उन्होने किसी ग्रन्थविशेष मे निबद्ध नही किया। उनके द्वारा विरचित कोई भी कृति सम्प्रति उपलब्ध नही है। स्वयमेव वे विशुद्ध भक्त मात्र थे और इसलिए ग्रन्थ रचना की अपेक्षा उन्होने भगवद्-भक्ति को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। बडे बडे विख्यात विद्वान् उनके शिष्य एव अनुयायी बने। इन्ही विद्वानो एव तत्त्ववेत्ताओ द्वारा जिन कृतियो का प्रणयन हुआ, वे ही सम्प्रति इस सम्प्रदाय के आचारो तथा सिद्धान्तो के ज्ञान के आधार हैं।

इस सम्प्रदाय का साहित्य कुछ तो प्रकाशित हो चुका है और कुछ विभिन्न हस्तलेख सग्रहो मे अप्रकाशितावस्था मे ही है। सम्प्रदाय के आदि आचार्य चैतन्य, नित्यानन्द और अद्वैतानन्द—तीनो ने किसी भी प्रकार की ग्रन्थ रचना नही की। चैतन्य महाप्रभु के बाद नित्यानन्द स्वामी और अद्वैतानन्द स्वामी ने अपने धर्ममार्ग को व्यावहारिक दृष्टि से प्रशस्त किया, उसकी लोक-प्रतिष्ठा की। वे दोनो चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। उनके अतिरिक्त महाप्रभु के छ शिष्य और हुए, जिनके नाम थे—रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, जीव गोस्वामी, रघुनाथ भट्ट रघुनाथदास और गोपाल भट्ट। ये सभी आचार्य एव विद्वान् १६वी शती मे हुए और सभी 'गोस्वामी' कहे जाते थे।

महाप्रभु के उक्त शिष्यो मे रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रूप गोस्वामी ने महाप्रभु के जीवन काल मे ही 'विदग्ध माधव' नामक नाटक की रचना कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। यद्यपि उन्होने कुल मिलाकर लगभग १४ ग्रन्थो की रचना की थी, तथापि उनमे से 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'भक्तिरसामृतसिन्धु' विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं। पहला ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर और दूसरा स्तुतियो का

संग्रह है। काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में उनका 'उज्ज्वल नीलमणि' और गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय पर 'भक्तिरसामृतसिन्धु' का बड़ा सम्मान तथा लोकप्रचलन है। वे बहुमुखी प्रतिभा के विद्वान् थे।

रूप गोस्वामी के भतीजे सनातन गोस्वामी ने सम्प्रदाय पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके ग्रन्थों में 'गीतावली', 'वैष्णवतोषिणी', 'भगवतामृत', 'सिद्धान्तसार' और 'हरिभक्तिविलास' प्रमुख हैं। ये सभी ग्रन्थ संस्कृत में हैं। उन्होंने रूप गोस्वामी के ग्रन्थ 'भक्तिरसामृतसिन्धु' पर 'हरिभक्तिविलास' नाम से एक व्याख्या लिखी। उनके 'भगवतामृत' ग्रन्थ की चैतन्य सम्प्रदाय में बहुत मान्यता है। इन संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने 'रसमयकलिका' नाम से बगला में भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा। जीवन के अन्तिम दिनों में वे बगाल को छोड़कर श्रीकृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन में आ बसे थे। वहीं उन्होंने उक्त ग्रन्थों का प्रणयन किया।

इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ-निर्माताओं की परम्परा में तीसरा नाम जीव गोस्वामी का है। वे सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी के शिष्य थे। उन्होंने सम्प्रदाय पर अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। उनके प्रमुख ग्रन्थों के नाम हैं—'क्रमसन्दर्भ' (भागवत टीका), 'षट्कर्म', 'भक्तिसिद्धान्त', 'गोपालचम्पू' और 'उपदेशामृत'। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने रूप गोस्वामी के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' पर भी पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी। उनका 'षट्कर्म' (छ निबन्ध) चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णवों का सम्मान्य ग्रन्थ है।

चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख छ शिष्यों में रघुनाथदास का भी एक नाम है। उन्होंने चैतन्य-मत पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया और सम्प्रदाय के आचारों को सुव्यवस्थित रूप दिया। उनका 'मथुरमाहात्म्य' सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें सम्प्रदाय के आचारों एव नियमों का विस्तार से प्रतिपादन किया है।

चैतन्य सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त-कवि लोचनदास १६वीं शती में हुए, जिन्होंने 'चैतन्यमगल' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। १७वीं शती से १८वीं शती के बीच बगाल में अनेक गीतकार हुए। उन्होंने अपने भक्तिपूर्ण गीतों से एक ओर तो जनता में चैतन्य-मत को लोकप्रिय बनाने में योगदान किया और दूसरी ओर बगला के भक्ति-साहित्य का सवर्द्धन किया। इस प्रकार के गीतकारों में गोविन्ददास, ज्ञानदास, बलरामदास, यदुनन्दनदास और वीर हम्मीर का नाम उल्लेखनीय है। १७वीं शती में उल्लिखित नित्यानन्ददास का 'प्रेमविलास' चैतन्य सम्प्रदाय के इतिहास पर प्रथम बार प्रकाश डालने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसी १७वीं शती में विरचित स्वामी हरिदास का

'भरथरी वैराग्य' चैतन्य मत के भक्तो मे बडा लोकप्रिय रहा है। इसी प्रकार १८वी शती मे नरहरि चक्रवर्ती ने 'भक्तिरत्नाकर' की रचना कर सम्प्रदाय के इतिहास को क्रमबद्ध रूप मे व्यवस्थित किया। यह ग्रन्थ नित्यानन्ददास के 'प्रेमविलास' की अपेक्षा अधिक विस्तृत तथा सुसगत है।

चैतन्य सम्प्रदाय के प्रौढ दार्शनिक एव विद्वान् बलदेव विद्याभूषण हुए। वे रामानन्द महाप्रभु के प्रशिष्य तथा राधा दामोदर के शिष्य थे। उन्होने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'गोविन्दभाष्य' लिखकर गौडीय सम्प्रदाय की स्वतत्र प्रतिष्ठा की और अपने विरोधियो का युक्तियुक्त विखण्डन किया। इस ग्रन्थ मे गौडीय वैष्णव दर्शन के सिद्धान्तो का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

सस्कृत और बगला के अतिरिक्त हिन्दी मे भी चैतन्य-मत पर अनेक ग्रन्थो का निर्माण हुआ। नाभादास के 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार प्रियादास, गो० मनोहरराम के शिष्य थे। उनकी 'भक्तिरसबोधिनी' नामक टीका सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। उनके अन्य ग्रन्थो के नाम है—'रसिकमोहिनी', 'अनन्यमोहिनी' और 'भक्तसुमिरनी' आदि।

हिन्दी के अन्यान्य वैष्णव कवियो ने भी चैतन्य-मत पर अनेक भक्तिपूर्ण रचनाओ का निर्माण कर परम्परा को समृद्ध किया।

सिद्धान्त-निरूपण

चैतन्य महाप्रभु ने जिस धर्ममार्ग की प्रतिष्ठा की और जन-सामान्य को उस पर चलने का निर्देश किया, उसमे सैद्धान्तिक या दार्शनिक निर्देशो एव ऊहापोहो की अपेक्षा सामाजिक तथा व्यावहारिक उदारता और सर्व-सामान्य द्वारा ग्राह्य भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति का उपदेश निहित था। उन्होने अपने धर्म-मत मे ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, छोटा-बडा, जात-पाँत और वर्ण वर्ग का कोई भेदभाव नही माना। समानता एव सत्प्रेरणा से जो भक्त उनका अनुयायी बनने का इच्छुक हुआ, उसी को उन्होने दीक्षित किया। उनका मत था कि—'भक्ति की विशुद्ध दीपाग्नि मे पडकर जिसके दुर्जातिजन्य दोष भस्म हो गये, वह चाण्डाल होने पर भी, उस वेदज्ञ से कही अधिक श्लाघ्य है, जो भक्तिशून्य और नास्तिक है—

> 'शुचिसद्भक्तिदीपाग्नि दग्धदुर्जातिकल्मष ।
> श्वपाकोऽपि बुधै श्लाघ्यो न वेदज्ञोऽपि नास्तिक ॥'

समस्त वैष्णव सम्प्रदायो एव मतो के आचारों तथा सिद्धान्तो का अनुशीलन करने पर कहा जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचलित गौडीय सम्प्रदाय मे जितनी उदार एव सार्वभौम दृष्टि देखने को मिलती है, उतनी

अन्य किसी भी सम्प्रदाय में नहीं है। उनकी इस उदात्त एवं उदार दृष्टि के फलस्वरूप हिन्दू-इतर अन्य जाति वर्गों के लोग भी गौडीय सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। इस उदार धर्मदृष्टि के कारण महाप्रभु पर उनके आलोचकों ने 'पठान वैष्णव' होने का आरोप लगाया और हिन्दुत्व की ओट में उनकी निन्दा एवं अवमानना की। किन्तु वह वास्तविक नहीं थी।

चैतन्य सम्प्रदाय में भक्तिमार्ग की अपनी विशेषताएँ हैं। श्रीकृष्ण उनके एकमात्र उपास्य हैं, जो कि अपने-आप में पूर्णब्रह्म हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के रूप में जगत् की उत्पत्ति पालन तथा संहार करते हैं। ब्रह्म सगुण एवं सविशेष है। यह जगत् सत्य है और ब्रह्म का परिणाम है।

गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रौढ़ विद्वान् आचार्य बलदेव विद्याभूषण हुए। उन्होंने इस सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष का समर्थ प्रतिपादन किया। वे १८वीं शती में आरम्भ में हुए। अपने 'गोविन्दभाष्य' में उन्होंने गौडीय वैष्णव मत के दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेद' का प्रतिपादन किया है। इस मत के अनुसार ईश्वर तथा आत्मा का सम्बन्ध अचिन्त्य, अर्थात् कल्पनातीत है। यह कहना कठिन है कि ईश्वर तथा आत्मा या प्रकृति का भेद सत्य है या असत्य। उन्होंने यह सिद्ध किया कि ईश्वर सर्वशक्तिमान तथा जीव, जगत् उसकी शक्तियाँ हैं। शक्तिमान और शक्ति, दोनों अचिन्त्य हैं। ब्रह्म तथा जीव, गुण तथा गुणी भाव से भिन्नाभिन्न हैं। ब्रह्म-जीव की इस भिन्नाभिन्नता के कारण ही इस सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को 'भेदाभेद' नाम से भी कहा गया है।

आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने चैतन्य भगवान् को श्रीकृष्ण का प्रेमावतार बताया है और भक्ति द्वारा उसको प्राप्त करने का उपाय बताया है। उनके मतानुसार ब्रह्म परात्पर है, किन्तु जीवों के कल्याण हेतु वह पूर्णावतार, अंशावतार रूप धारण कर अपनी लीलाओं का विस्तार करता है। चैतन्य महाप्रभु उसी का अंशावतार हैं। हरि (भगवान्) ही परम तत्त्व एवं अन्तिम सत्य हैं। उनमें षट् ऐश्वर्य विद्यमान हैं—१ पूर्णश्री, २ पूर्ण ऐश्वर्य, ३ पूर्ण वीर्य, ४ पूर्ण यश, ५. पूर्ण ज्ञान और ६ पूर्ण वैराग्य।

सभी वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति चैतन्य मत में भी 'भागवत' को एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इस मत के अनुयायी 'भागवत' (स्कन्ध ११, अध्याय १०) उल्लिखित इस भगवद्वाणी को अपना आधार मानते हैं। उसमें कहा गया है—' कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग और अन्यान्य शुभानुष्ठानों द्वारा जिस फल की प्राप्ति नहीं होती, उसे मेरे भक्त,

भक्तियोग के अनुष्ठान द्वारा सहज ही प्राप्त कर लेते हैं। यदि वे चाहें तो स्वर्ग, मुक्ति और मेरा वैकुण्ठधाम भी प्राप्त कर सकते है।"

अतः भक्ति को ही भगवान् ने मोक्ष का उत्तम साधन बताया है। ज्ञान और वैराग्य तो उसके सहायक है, साधन हैं। भक्ति साध्य है और वही एकमात्र भगवत्प्राप्ति का लक्ष्य है। भक्ति द्वारा भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करके मुक्ति लाभ प्राप्त किया जा सकता है। भक्ति के यहाँ पाँच प्रकार बताये गये हैं—१. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४ वात्सल्य और ५ माधुर्य। सनत-सनकादि पुरातन ऋषि-मुनियो ने जिस भाव से भगवान् की आराधना-उपासना की, उस भाव को 'शान्त' कहा गया है। साधारण जन जिस भाव से भगवदाराधन करते है, उस भाव को 'दास्य' कहते है। अर्जुन तथा भीम आदि ने इसी भाव से भगवान् को प्राप्त किया था। सखावत् समभाव से भगवत्प्राप्ति के लिए जो आराधन किया जाता है, उस भाव को 'सख्य' कहते हैं। माता पिता का अपनी सन्तान के लिए जो स्नेह भाव होता है, उस भाव को 'वात्सल्य' कहते है। नन्द और यशोदा ने इसी भाव से श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था। राधा आदि गोपागनाओं ने जिस भाव से श्रीकृष्ण की आराधना-उपासना-सेवा की थी, उस भाव को 'माधुर्य' कहते हैं। यह माधुर्य-भाव ही पचधा भक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है और इसी भाव से चैतन्य महाप्रभु ने भगवत् सान्निध्य प्राप्त किया था।

इस प्रकार गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय मे माधुर्य-भाव मे भक्ति की अन्तिम परिणति बताई गई है। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग मे भी माधुर्य-भाव को भक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन बताया गया है। किन्तु चैतन्य के माधुर्य-भाव और वल्लभ के माधुर्य-भाव मे अन्तर है। वल्लभ सम्प्रदाय मे माधुर्य-भाव की भक्ति के लिए अष्टप्रकारी सेवा का नियम बताया गया है। वह चैतन्य सम्प्रदाय मे नही है। हरिनाम स्मरण एव सकीर्तन ही इस सम्प्रदाय के अनुयायियो की 'माधुर्य भाव भक्ति' है।

'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।'

श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करनेवाली श्रीराधा आदि व्रजागनाओं ने जिस माधुर्य-भाव-भक्ति को सबल बनाया था, चैतन्य ने भी केवल हरिनाम स्मरण एव सकीर्तन द्वारा ही भगवान् का सान्निध्य प्राप्त किया। चैतन्य महाप्रभु हरिनाम की रट लगाते हुए बावलो की भाँति अपने परम आराध्य की खोज मे भटकते फिरते रहे।

महाप्रभु के बाद उनके अनुयायी भक्तजन जयदेव, विद्यापति और चण्डी दास के पदों को गाकर नगर मे निकलते थे और हरिनाम का सकीर्तन करके

अपने आराध्य की खोज करते थे। उन्ही चैतन्य भक्तो द्वारा 'नगर सकीर्तन' की परम्परा स्थापित हुई। ये भक्तजन राधा-कृष्ण के कीर्तन-गीत इस तन्मयता से गाते थे कि सुनने वाले आत्मविभोर होकर आँसू बहाने लग जाते थे। इस नगर सकीर्तन' के कारण चैतन्य-मत का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। बाद के अनेक धार्मिक पन्थो ने अपने मत के प्रचार के लिए सामूहिक 'नगर सकीर्तन' का अनुसरण किया।

भक्त मे भक्तिभाव की आतुरता तो होनी ही चाहिए, साथ ही चारित्रिक सद्गुणो की सम्पन्नता भी होनी चाहिए। भक्त को निर्लिप्त, निष्काम, सत्सगी, श्रद्धालु और-शम-दमादि गुणो से युक्त होना चाहिए। ऐसे गुण-सम्पन्न भक्त के हृदय मे ही ब्रह्म जिज्ञासा का उदय होता है और माधुर्य-भाव से भक्तिपरायण होकर वह परम गति मोक्ष का अधिकारी बनता है।

महाप्रभु चैतन्य ऐसे ही भक्त थे। उन्होने राधा-कृष्ण की कथा को अपने जीवन की आराधना एव अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन बनाया। सामान्यत. समस्त वैष्णव समाज मे और विशेष रूप से बगाल तथा बगला साहित्य मे चैतन्य की भक्तिप्रवणता को व्यापक रूप से अपनाया गया।

महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित गौडीय वैष्णव मत मे मुक्ति के दो भेद माने गये हैं—ऐश्वर्यलाभ (स्वर्गप्राप्ति) और वैकुण्ठवास। जो भक्त, या उपासक अपने सत्कर्मों द्वारा वैकुण्ठधाम प्राप्त करता है, उन्हे पुन आवागमन के चक्र मे नही पडना पडता। वे सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सारूप्य—इस चतुर्विध मुक्ति का लाभ प्राप्त कर वैकुण्ठ का अक्षय, अखण्ड सुखोपभोग करते हैं।

मन्दिरों का निर्माण

चैतन्य सम्प्रदाय की भव्य एव श्लाघ्य परम्परा के स्मारक उसके बहुसंख्यक एव विशाल मन्दिर हैं। ये मन्दिर इतने दर्शनीय हैं कि उनके द्वारा भारत मे इस मत के सर्वांगीण प्रभाव का पता चलता है। वस्तुत जिस समय महाप्रभु चैतन्य का आविर्भाव हुआ, और उनके प्रभाव से धर्मप्राण जनता ने अपने इष्टदेव के मन्दिरो के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया, उस समय भारत पर इस्लाम धर्म का शासन था। अक्बर, बाबर तथा हुमायूँ जैसे धार्मिक, सहिष्णु बादशाहों के शासन-काल मे मन्दिरो का व्यापक रूप से निर्माण हुआ। गोस्वामी आचार्यों ने विशेष रूप से वृन्दावन मे सम्प्रदाय के मन्दिरो का निर्माण कराया। न केवल मुगल शाहँशाहो का, अपितु राजपूत राजाओ के योगदान से भी मन्दिरो के निर्माण की परम्परा एवं निष्ठा को बल मिला। सवाई मानसिंह तथा महाराजा जयसिंह जैसे धर्मवीर एवं साहित्य-कला के

सरक्षक शासको ने वैष्णव आचार्यों की इच्छाओ के अनुरूप मन्दिरो के निर्माण मे विशेष रुचि ली।

चैतन्य सम्प्रदाय के मन्दिरो मे मुख्यता राधा-कृष्ण की मूर्तियों की है। कुछ मन्दिरो मे राधा-कृष्ण की मूर्तियो के अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु, अद्वैतानन्द और नित्यानन्द की मूर्तियाँ भी स्थापित हैं। उनकी पूजा मे नियमित रूप मे सकीर्तन होता है। व्यक्तिगत घरो मे भी सकीर्तन का आयोजन होता है।

प्रमुख गद्दियाँ

चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियो की प्रमुख गद्दियाँ नवद्वीप (नदिया), मथुरा, वृन्दावन और श्रीहट्टपुरी मे स्थित हैं। नवद्वीप धाम बगाल का प्रसिद्ध तीर्थ एव विद्या-केन्द्र है। चैतन्य महाप्रभु की जन्मभूमि होने के कारण समस्त गौडीय वैष्णवो का यह सबसे बडा तीर्थ है। वैष्णव समाज के समागम का भी यह प्रसिद्ध धर्मस्थान है। यहाँ पर अनेक धर्मशालाएँ और मन्दिर हैं। कुछ मन्दिर अत्यन्त दर्शनीय हैं।

आचार-परम्परा

गौडीय वैष्णव धर्मानुयायियों की अपनी अलग आचार-परम्पराएँ हैं। अविवाहित ब्रह्मचारी और साधु सन्यासी, गृहस्थी आदि सभी क्षेत्रो के लोग उसके अनुयायी हैं। किन्तु गुरुपद प्राप्त करने के अधिकारी केवल गृहस्थ (गुसाँई) ही होते है। गुरुपद वरण करते समय दीक्षा दी जाती है। जो वैराग्य या सन्यास धारण कर दीक्षा प्राप्त करते हैं, उनका पहले मुण्डन किया जाता है और उन्हे कटिसूत्र, कोपीन, बहिर्वास, तिलक, मुद्रा, जलपात्र, जपमाला और त्रि दण्डिका देकर दीक्षित किया जाता है। उनके आचार मे परिनिष्ठता, पवित्रता और सदाचरण आदि पर विशेष बल दिया जाता है। अधिकतर अनुयायी गृहस्थ होते हैं। जब गृहस्थ शिष्यो के घर विवाह होते हैं तो उस समय आदिम तीन प्रभुओ (चैतन्य, नित्यानन्द और द्वैतानन्द) को नैवेद्य दान किया जाता है। नववधू को माला (कण्ठी) और सिन्दूर दिया जाता है। प्रतिदान के रूप मे गुरु को उपहार तथा दक्षिणा आदि से सम्मानित किया जाता है।

इस सम्प्रदाय के सभी अनुयायी गोपीचन्दन का खडा तिलक धारण करते है और शरीर के द्वादशागो पर राधा-कृष्ण का नामाकन करते हैं। जपमाला पहनते हैं।

राधावल्लभ सम्प्रदाय

मध्ययुगीन वैष्णव धर्म की जो अनेक शाखाएँ प्रकाश मे आईं, उनमे 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' का भी एक नाम है। इस सम्प्रदाय के प्रेरणा-स्रोत माध्वमत और चैतन्य मत हैं। राधा-कृष्ण की भक्ति एव उपासना के विभिन्न रूपो का आधार बनाकर अनेक सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों ने अपने-अपने अलग मत प्रचलित किये। किसी ने सख्यभाव की भक्ति को अपनाया, तो किसी ने दाम्पत्य-भक्ति को अपना आधार बनाया और किसी ने रसमय माधुर्य एव प्रेमपरक स्वरूप की उपासना की। भक्ति और उपासना के ये विभिन्न मार्ग एक ही परम लक्ष्य भगवान् की कृपा को प्राप्त करने के हैं।

राधा-कृष्ण की अनन्त दिव्य लीलाओ की क्रीडाभूमि व्रजमण्डल रहा है। भारत के सभी अचलो की धर्मप्राण जनता और धर्म-प्रवर्तक आचार्यों एव विद्वानो ने व्रजमण्डल मे आकर ही अपने इष्ट की पूर्णता प्राप्त की। व्रजमण्डल मे भी वृन्दावन को ही सभी धर्माचार्यों ने अपना साधना-केन्द्र बनाया और अपने-अपने मतो तथा सिद्धान्तो के अनुरूप उपास्यदेवो की मूर्तियाँ स्थापित की और उनके लिए विशाल मन्दिरों का निर्माण किया।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के सस्थापक भक्तकवि स्वामी हितहरिवश ने वृन्दावन को अपनी साधना-भूमि बनाकर वही विशाल मन्दिर की स्थापना की और अपने इष्टदेव राधा-कृष्ण को प्रतिष्ठित किया। उन्होने अपने मत मे विशिष्ट आचार-प्रक्रियाओ का समावेश न कर उसे सर्वसाधारण के लिए उन्मुक्त रखा। स्वामीजी वस्तुत एक सद्गृहस्थ थे और उनके मत से भगवत्प्राप्ति के लिए गृहत्याग एव वैराग्य धारण कर विरक्तो की भाँति विचरण करना अभिप्रेत नहीं था। मनुष्यमात्र के हृदय मे जब भी, जिस समय भगवान् की दिव्य भक्ति का उदय हो जाये, तभी वह भगवान् की दया-कृपा का अधिकारी बन जाता है। उनके मत से लौकिक क्रिया कलापो मे एकनिष्ठ एव आस्थावान् बने रह कर भी अलौकिक प्रकाश को प्राप्त किया जा सकता है। पुण्यकर्मों के फलोदय से मनुष्य के हृदय मे भक्ति का उदय होता है और अनन्त समृद्धियो एव परम सुख की प्रदात्री श्रीराधाजी के चरणो मे सर्वस्व समर्पण कर देने से भक्त को सहज ही मे वह आनन्दलोक प्राप्त हो जाता है, जहाँ अपनी अनन्त शक्ति श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण विराजमान हैं।

हितहरिवंश

गोस्वामी हितहरिवंश का जन्म सहारनपुर जिले (उत्तरप्रदेश) के अन्तर्गत देववन (या देववन्द) नगर में १५५९ वि० (१५०२ ई०) को हुआ था। उनकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा अपने पैतृक स्थान पर ही सम्पन्न हुई। जब वे सोलह वर्ष के थे, उनका विवाह रुक्मिणी देवी से हुआ। उससे उन्हें एक कन्या और तीन पुत्र उत्पन्न हुए। तीस वर्ष की अवस्था में वे अन्तःप्रेरणा से व्रजयात्रा को गये। जब वे चिरथावल गाँव में गये, तो एक धर्मपरायण ब्राह्मण आत्मदेव ने हरिवंशजी के साथ अपनी दो कन्याओं का विवाह करने का आग्रह किया। कहा जाता है कि इस विवाह के सम्बन्ध में आत्मदेव और हरिवंशजी को एक स्वप्न हुआ। दिव्य प्रेरणा से प्रेरित होकर हरिवंशजी ने दोनों कन्याओं के साथ विवाह कर लिया और उन्हें साथ लेकर वे वृन्दावन पहुँचे। उनकी मधुर वाणी और दिव्य शरीर पर मुग्ध होकर जनता उनकी ओर आकर्षित होने लगी। उनके महनीय व्यक्तित्व की ख्याति निरन्तर फैलती गई। वे स्थाई रूप से वृन्दावन में ही बस गये।

वृन्दावन के वातावरण में उनका मन भगवत्प्रेम में रम गया। उन्होंने *मानसरोवर, वंशीवट, सेवाकुंज और रासमण्डल नामक व्रजमण्डल के चारों* स्थानों में भगवान् की लीलाओं का आयोजन किया। १५९१ वि० (१५३४ *ई०) को उन्होंने सेवाकुंज में अपने उपास्यदेव का विग्रह स्थापित किया और* 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' के नाम से वैष्णव धर्म की एक नई शाखा की स्थापना *की। उन्होंने माधुर्य-भक्ति का पुनरुत्थान किया और अपने मन की नई* उपासना-पद्धति प्रचलित की।

ग्रन्थ-निर्माण

गोस्वामी हितहरिवंश एक आचार्य तथा दार्शनिक होने की अपेक्षा एक भक्त थे। उनकी कृतियाँ उनके आचार्यत्व की अपेक्षा भक्तहृदय की भावविह्वलता को अधिक प्रकट करती हैं। वे संस्कृत तथा व्रजभाषा के निपुण विद्वान् थे। 'राधासुधानिधि' और 'यमुनाष्टक' नाम से उन्होंने संस्कृत में दो कृतियों का प्रणयन किया। उनके अतिरिक्त 'हितचौरासी' और 'स्फुटवाणी' उनकी दो कृतियाँ व्रजभाषा की हैं। अपनी इन कृतियों में उन्होंने श्रीराधा की भक्तवत्सलता का गंभीर गुणगान किया। उन्हीं की उपासना-आराधना को अपने जीवन का अपरिहार्य अंग बनाया। स्वामीजी द्वारा विरचित उक्त कृतियाँ ही इस सम्प्रदाय का एकमात्र साहित्य है।

सिद्धान्त-निरूपण

भक्तप्रवर हितहरिवंश ने अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों तथा तत्त्ववेत्ताओं की भाँति न तो प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा और न किसी दार्शनिक सिद्धान्त या वाद का प्रतिपादन किया। उनका अभिमत था कि ईश्वर प्राप्ति के लिए वैराग्य धारण या गृहत्याग की आवश्यकता नहीं है। एक सद्गृहस्थ का जीवन बिताते हुए अपने आराध्य की कृपा प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए उन्होंने गृहस्थाश्रम को नहीं छोड़ा। पार्थिव दाम्पत्य प्रेम को अपार्थिव दाम्पत्य प्रेम में परिणत करके भव-बन्धना का उन्मूलन किया जा सकता है और उपास्यदेव का सानिध्य प्राप्त किया जा सकता है।

उन्होंने जिस उपासना-पद्धति को प्रचलित किया, वह अन्य वैष्णव मतों से सर्वथा भिन्न है। वे माधुर्योपासना के अनुयायी थे। उनके मतानुसार प्रेमतत्त्व या 'हिततत्त्व' ही सर्वोपरि है। यह प्रेम या 'हित' ही जीवात्मा को परम आराध्य का सान्निध्य प्राप्त कराता है। राधा-कृष्ण की उपासना या भक्ति का यही प्रेममार्ग एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। उनकी इष्टदेवी श्रीराधा हैं, जो कि श्रीकृष्ण की सहचरी होते हुए भी अपनी महिमा में महीयसी एवं सर्वोपरि हैं।

राधावल्लभ सम्प्रदाय वस्तुतः प्रेममार्गी मत है। हितहरिवंश ने इस प्रेम-मार्ग को सरलतम तथा सर्वोत्तम कहा है। आरम्भ में उन्होंने माध्व तथा निम्बार्क मत का गंभीरता से अनुसरण तथा अनुशीलन किया और अन्त में श्रीराधा की उपासना का अत्यन्त सरल मार्ग खोज निकाला। उन्होंने राधाजी को श्रीकृष्ण से उच्च स्थान दिया और राधाजी की पूजा उपासना से श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करने का नया दृष्टिकोण स्थापित किया। उनके राधावल्लभ मत के अनुसार श्रीकृष्ण, श्रीराधा के दास या सेवक हैं। श्रीकृष्ण संसार की सुरक्षा का कार्य करते हैं, उसका संचालन करते हैं, जब कि राधारानी बैठे-बैठे शासन का कार्य करती हैं। राधारानी ही एकमात्र महाशक्ति हैं, श्रीकृष्ण जिनके अनुवर्ती हैं। जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय में वही महाशक्ति मूल रूप में अधिष्ठित हैं।

इस सम्प्रदाय में प्रेम को ही भक्ति का एकमात्र मूलाधार माना गया है। इस सम्प्रदाय के अनुसार अनन्त भावों तथा अनन्त रूपों में नित्य क्रीडा करने वाला प्रेम ही परात्पर तत्त्व है। वहाँ न तो मुक्ति को कोई स्थान दिया गया है, और न उसकी कामना की गई है। सहचरी (जीवात्मा) का नित्य विहार-दर्शन ही उपास्य भाव है, जिसकी प्राप्ति का साधन प्रेम है। नित्य

विहार-लीला मे कृष्ण, राधा, सहचरी और वृन्दावन, ये चार तत्त्व हैं। उन्ही का सायुज्य सम्बन्ध ही प्रेम है। प्रेम मे नित्य मिलन और विरह की विभिन्न परिस्थितियो को हितहरिवश ने चकवा-चकवी के प्रणय-सम्बन्ध द्वारा स्पष्ट किया है। राधा स्वय आनन्दस्वरूप नित्य भाव हैं। वही उपासना आराधना, पूजा प्रतिष्ठा की एव एक मात्र अधिकारिणी हैं।

इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परा मे 'राधावल्लभ मत' के नाम से नये प्रेममार्गी पन्थ की स्थापना कर गोस्वामी हितहरिवश ने राधा-भक्ति का नया रूप प्रस्तुत किया। केवल ५० वर्ष की अल्पायु प्राप्त कर १६०९ वि० (१५५२ ई०) मे उन्होंने वृन्दावन मे ही शरीर त्याग किया।

परम्परा का प्रवर्तन

स्वामी हितहरिवश अपने सम्प्रदाय के एकमात्र सस्थापक एव प्रवर्तक भी थे। उनके बाद भी यद्यपि यह मत लगभग १८वी शती तक बना रहा, किन्तु उसका वैभव-काल उनके शरीर-त्याग के बाद ही क्षीण होता गया। स्वामीजी के बाद राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियो मे हरिराम व्यास, दामोदरदास (सेवक कवि) और ध्रुवदास का नाम प्रमुख है।

हरिराम व्यास का जन्म सनाढ्य ब्राह्मण वश मे १५६७ वि० को ओडछा (मध्यप्रदेश) मे हुआ था। उनके पिता का नाम सुखोमन शुक्ल था। ओडछा-नरेश मधुकरशाह के वे दीक्षा गुरु थे। पिता के वैष्णव सस्कारो का प्रभाव हरिराम व्यास पर भी पडा और युवावस्था मे ही वे राधा कृष्ण की भक्ति मे विभोर होकर वृन्दावन मे आकर बस गये थे। उस समय वृन्दावन मे हितहरिवश के नाम का बडा प्रचार था। हरिराम व्यास उनके सम्पर्क मे गये और उनके देवोपम प्रभाव से राधावल्लभ सम्प्रदाय मे सम्मिलित हो गये। वे नित्य किशोर श्रीकृष्ण और नित्य किशोरी श्रीराधा के लीलागायन मे इतने तल्लीन हुए कि घर-बार का स्मरण ही नही रहा। ओडछा नरेश के बार-बार के आग्रह पर भी वे वृन्दावन को छोडने के लिए तैयार नही हुए।

जिन दिनो स्वामी हितहरिवश राधाभाव की प्रेमपरक भक्ति के प्रचार मे तल्लीन थे, उन्ही दिनो चैतन्य सम्प्रदाय के प्रख्यात विद्वान् एव दार्शनिक रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी वृन्दावन मे थे। हरिराम व्यास ने उनसे भी सम्पर्क स्थापित किया और वे उनके सत्सग मे भी सम्मिलित होते रहे।

हरिराम व्यास का धार्मिक दृष्टिकोण उदार एव व्यापक था। दार्शनिक मतभेदो से दूर रहकर वे राधावल्लभीय मत की नित्यविहारलीलाओ के

प्रचार-प्रसार मे लगे रहे। उनकी वाणी मे मधुरता एव भाव विह्वलता थी। उन्होने राधा-कृष्ण की शृगारमयी नित्यलीलाओ का गुणगान किया।

उनकी लिखी भक्तिपूर्ण रचनाओ का सग्रह 'व्यासवाणी' के नाम से प्रसिद्ध है। वे एक भक्त होने के साथ-साथ उच्च कोटि के कवि भी थे। 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' के उत्थान के लिए उन्होने आजीवन कार्य किया और इसीलिए 'हरिवश' से उनको सम्प्रदाय का सम्मानजनक पद प्राप्त हुआ।

भगवान का भजन-कीर्तन करते हुए और सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा को बढाते हुए १२२ वर्ष की लम्बी आयु बिताकर उन्होने १६८९ वि० मे वृन्दावन मे शरीर-त्याग किया।

आचार-पद्धति

राधावल्लभ सम्प्रदाय की आचार प्रक्रिया माध्व तथा चैतन्य सम्प्रदायो से मिलती-जुलती है। किन्तु कुछ बातो मे भिन्नता भी है। इस सम्प्रदाय के आचारो मे पहली बात तो यह देखने को मिलती है कि उनके मन्दिरो मे राधा का विग्रह कृष्ण के साथ नही दिखाया गया है। कृष्ण के वामभाग मे वस्त्र-निर्मित गद्दी के ऊपर स्वर्णपत्र पर 'श्रीराधा' शब्द का उल्लेख होता है। इसे सम्प्रदाय मे गद्दी-सेवा कहा जाता है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी नासिका भाग से ऊर्ध्व त्रिपुटी तक गोपीचन्दन की तिलक-रचना करते है और उसके बीच मे काली बिन्दु अकित करते हैं। सीधी ऊर्ध्व रेखाएँ श्रीकृष्ण की और काली बिन्दु श्रीराधा की प्रतीक है।

यद्यपि इस सम्प्रदाय का उद्गम वृन्दावन मे हुआ, तथापि कालान्तर मे वह देश के अनेक अचलो मे प्रचारित हुआ। सम्प्रदाय का सबसे बडा एव भव्य राधावल्लभ भगवान् का मन्दिर वृन्दावन मे है। किन्तु उसके अनुयायी गुजरात, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान आदि के दूराचलो तक फैले हुए है। वहाँ पर उनके अपने सम्प्रदाय के मन्दिर भी हैं।

मीराबाई

मध्ययुगीन कृष्णभक्तो मे मीराबाई का भी एक नाम है। यद्यपि उन्होने अपना कोई सम्प्रदाय प्रचलित नही किया, तथापि कृष्णभक्ति की परम्परा मे उनका नाम ही एक सम्प्रदाय के रूप मे सपूजित है। श्रीकृष्ण के चरणो मे सर्वस्व समर्पित कर देने वाले भक्तजनो मे प्रेमवियोगिनी मीराबाई का नाम समस्त हिन्दू समाज मे, और विशेष रूप से हिन्दी साहित्य के भक्तियुग मे बडे समान के साथ स्मरण किया जाता है। मेडता (राजस्थान) के राठौर परिवार मे १५५५ वि० मे उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम रत्नसिंह था। उदयपुर के राणा सागा के ज्येष्ठ पुत्र राणा भोजराज के साथ १५७३ वि० मे उनका विवाह हुआ था।

बाल्यावस्था मे ही वे धार्मिक प्रवृत्ति की थी, और स्वत ही जन्मत उनके अन्त करण मे श्रीकृष्ण की भक्ति का उदय हो चुका था। दाम्पत्य जीवन मे रहते हुए भी वे उससे सर्वथा उदासीन रहा करती थी। साधु-सन्तो, भक्त-भजनीको के सत्सग ससर्ग मे रहना उनको अधिक पसन्द था। भगवत्प्रेम मे बाधक लोकलाज को एक आडम्बर एव अवरोध मानकर उन्होने उनका परित्याग कर दिया था और श्रीकृष्ण की मूर्ति के आगे भाव-विभोर होकर नाचने-गाने लगती थी। उनके पति और स्वजनो ने उन्हे इस प्रकार के अमर्यादित आचरणो को करने से बाधित किया। किन्तु उन पर इस प्रकार की बातो का कोई असर न हुआ। उनकी जीवन लीला समाप्त करने के लिए उन्हे विष दिया गया और विषधर मे डँसवाने का प्रयास किया गया, किन्तु भगवत्कृपा से विष अमृत बन गया और विषधर ने भगवान् की मूर्ति का रूप धारण कर लिया।

१५७५ वि० म वे विधवा हो गई। परिवार जनो द्वारा निरन्तर विरोध तथा अपमान किये जाने के कारण उन्होने राजमहल का परित्याग कर दिया और श्रीकृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन मे जा पहुँची। वहाँ भक्तजनो के बीच उनका बडा समान हुआ। वृन्दावन मे वे द्वारका पहुँची। वहाँ श्रीरण-छोडजी के मन्दिर मे पैरो मे घुघरू बाँध और हाथो मे करताल लेकर श्रीकृष्ण के ध्यान मे तल्लीन होकर गाने नाचने लगी। वृन्दावन मे ही वे १६०३ वि० को कृष्णलोकगामी हुई।

ग्रन्थ-निर्माण

मीराबाई श्रीकृष्ण की परम भक्त थी। कबीर, सूरदास आदि सन्तो की भाँति न तो उन्होने किसी ग्रन्थ का निर्माण किया और न कवि की दृष्टि से कुछ लिखा। वे भक्ति की भावधारा मे विभोर होकर जो कुछ कहती गई, वह स्वत ही लोक प्रचारित होता गया, और बाद मे भक्तजनो द्वारा उनके भजनो या पदो का सग्रह किया गया। आधुनिक विद्वानो ने मीराबाई के नाम से उनकी चार कृतियो का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं—'नरसीजी का मायरा', 'गीतगोविन्दटीका' 'रागगोविन्द' और 'राग सोरठ'।

सिद्धान्त-निरूपण

मीराबाई उदार, सहिष्णु एव मर्यादित धार्मिक प्रवृत्ति की भक्त थी। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी भक्ति की आतुरता वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय भक्ति भावना की अपेक्षा कबीर की निर्गुण भावना से अधिक तारतम्य एव निकटता रखती है। दोनो की भक्ति-भावना मे अन्तर यह है कि मीराबाई मूर्तिपूजक थी, जब कि कबीरदास मूर्तिपूजा विरोधी थे। यही कारण है कि मीराबाई ने स्वामी रामानन्द के शिष्य और अपने गुरुभाई सन्त रैदास को गुरु रूप मे वरण किया तथा उनकी वाणी को आध्यात्मिक प्रेरणा का आधार बनाया। यही कारण है कि मीरा की भक्ति निर्गुण भावना का प्रभाव है। उनकी सगुण भावना मे भी वस्तुत निर्गुण या गुणातीत के ही दर्शन होते हैं। उमने वल्लभ अनुयायियो की भाँति कृष्ण की लीलाओ का नही, अपितु अपनी अनुभूतियो का, अपने अन्तरतम की वृत्तियो का बखान किया। सन्त रैदास ने राम का नाम लेकर जो भावोद्गार प्रकट किये है, वे ही भावोद्गार मीरा ने श्रीकृष्ण के लिए प्रकट किये हैं। उसने निर्गुण भक्तो की भाँति प्रेमलक्षणा भक्ति का आश्रय लिया। उसकी भक्ति के आधार एकमात्र श्रीकृष्ण थे, जो कि परम परमेश्वर थे और जिनको उन्होने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था।

मीराबाई की अनन्य भक्ति भावना के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। कहा जाता है कि गौडीय सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् जीव गोस्वामी ने स्त्रियो का मुख न देखने का व्रत लिया था। किन्तु जब मीराबाई वृन्दावन मे थी, उन्होने उनके दर्शन करने के लिए अपना व्रत भग कर दिया। ऐसी भी अनुश्रुति है कि गोस्वामी तुलसीदास के साथ मीराबाई का पत्र-व्यवहार हुआ था। वल्लभाचार्य से भी मीराबाई का साक्षात्कार हुआ था। 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' (वार्ता—४१) से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य के

शिष्यो एव अनुयायियो द्वारा मीराबाई को वल्लभाचार्य की सेवक बनाने हेतु बहुत प्रयास किये गये। किन्तु वह उनकी अनुयायी नही बनी। विट्ठलदास के प्रयासो से भी मीराबाई ने उनका अनुसरण नही किया।

इस प्रकार मीराबाई ने न तो सैद्धान्तिक स्थापना के अभिप्राय से कुछ कहा है और न ही अपना कोई धार्मिक मत या पन्थ प्रचलित किया। वे एकान्त मन से, सब-कुछ त्याग कर, लोकलाज की चिन्ता किये बिना, एक-मात्र श्रीकृष्ण के भजन कीर्तन मे तल्लीन रही और अपना सब कुछ उन्होंने भगवान् को अर्पित कर दिया था।

परम भक्त मीराबाई की इन विशेषताओ को दृष्टि मे रखकर भारत के धार्मिक इतिहास मे, विशेष रूप से वैष्णव धर्म की परम्परा मे उनका उल्लेख होना आवश्यक है।

(दस)

आधुनिक नवोत्थान युग

१. ब्राह्म समाज
२. आर्य समाज
३ ब्रह्मविद्या समाज
४. रामकृष्ण मिशन
५. सत्यशोधक समाज

आधुनिक नवोत्थान युग

भारतीय इतिहास मे आधुनिक युग, भारत मे अंग्रेजो का शासन स्थापित होने के साथ आरम्भ होता है। अपने शासन की सुदृढता एव व्यापकता के लिये अंग्रेजो ने जिन कूटनीतिक प्रयत्नो का आश्रय लिया, उनमे से एक उद्देश्य यह भी था कि विभिन्न धर्मों तथा मत पन्थों के केन्द्र भारत मे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जायें, जिनमे साम्प्रदायिक विषमता तथा पारस्परिक भेद-भाव का वातावरण बना रहे। इसके बीज मुगलशासन और विशेष रूप मे औरगजेब के समय मे ही अंकुरित हो चुके थे। शहंशाह औरगजेब के शासन काल मे यद्यपि साम्प्रदायिक विद्वेष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था, किन्तु उसके निधन के पश्चात् विषम धार्मिक परिस्थितियों मे कुछ सामजस्य हुआ। उसका श्रेय उन विभिन्न सन्तो, फकीरों तथा भक्त कवियों को दिया जा सकता है, जिन्होंने हिन्दू-मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता को दूर करने और उनमे परस्पर सद्भाव स्थापित करने का प्रयास किया।

स्वामी रामानन्द (१३वी शती ई०) ने जिस धार्मिक सद्भाव का अभियान चलाया, उसका प्रभाव देश के समस्त धर्मावलम्बियों पर समान रूप से परिलक्षित हुआ। उन्होंने धार्मिक रूढियों तथा जात-पाँत, ऊँच-नीच की विषमताओ को मिटाया और एक ऐसे धर्म की स्थापना की, जो सबके लिये समान रूप मे ग्राह्य एव वरणीय था। स्वामीजी के उत्तराधिकारी एव अनुयायी धर्म-नेताओ तथा सन्तों-फकीरों ने हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मों मे समन्वय स्थापित किया। मुसलमानो के सहित हिन्दू शूद्रो और अछूतों को भी उन्होंने समान अधिकार तथा स्वतन्त्रता प्रदान की। इन सत्प्रयत्नो का परिणाम यह हुआ कि जहाँ एक ओर धार्मिक कट्टरता मे शिथिलता आयी, वही दूसरी ओर इस्लाम भारतीय धर्म का एक अग बना और अनेक मुसलमानो मे स्वेच्छया हिन्दुत्व के प्रति आस्था उत्पन्न हुई।

मुगल शासन के बाद भारत के शासन का स्वामित्व जब अंग्रेजो के हाथ मे आया तो उन्होंने शिथिल हुई धार्मिक विषमताओ एव जाति वर्ग के भेद-भावो को पुन उभारा। यह कार्य ईसाई मिशनरियो ने किया। जिस प्रकार मुहम्मद साहब ने काबा मे एक हाथ पर 'कुरान' और दूसरे हाथ पर तलवार लेकर यहूदियो को इस्लाम धर्म-वरण करने के लिये बाध्य किया, उसी प्रकार अंग्रेज मिशनरियों के धर्म-प्रचारको ने एक हाथ मे 'बाइबिल'

और दूसरे हाथ मे आर्थिक तथा बड़े-बड़े पदो ओहदो का प्रलोभन देकर भारतीयो को ईसाई धर्म ग्रहण करने का प्रलोभन दिया। इन मिशनरियो ने अँग्रेजी शासन की उदारताओ तथा ईसाई धर्म की उच्चताओ का प्रचार कर विपन्न एव अनुन्नत भारतीयो को धर्म परिवर्तन के लिये विवश किया। हिन्दुओ को धर्म-परिवर्तन के लिये मुगलो तथा अँग्रेजो के तौर-तरीके यद्यपि भिन्न-भिन्न थे, किन्तु लक्ष्य दोनो का एक ही था।

अँग्रेजो ने 'असभ्य' भारतीयो को 'सभ्यता' का पाठ पढाने के लिये स्त्रियो तथा बालको की शिक्षा का नया तरीका अपनाया। उन्होंने स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे विद्यालय स्थापित किये। पश्चिम की शिक्षा-सभ्यता से प्रभावित एव पक्षपाती कुछ भारतीय अँग्रेजो की इस शिक्षानीति से प्रभावित अवश्य हुये, किन्तु बहुसख्यक समाज की आशकाएँ नही मिटी। अँग्रेजो ने अपनी जनसेवा की प्रवृत्ति को जताने के उद्देश्य से नगर-नगर मे अस्पताल खोले। अपनी सभ्यता तथा सस्कृति के प्रचार प्रसार हेतु अल्पमूल्य या नि शुल्क साहित्य जनता मे वितरित किया गया।

सर्वप्रथम अँग्रेजो ने अपने प्रचार एव प्रभाव का केन्द्र दक्षिणी भारत को बनाया। उसका कारण यह था कि दक्षिण भारतीय समाज धर्म के प्रति कट्टर आस्थावान् था और इस कारण वहाँ द्विजो द्वारा अन्त्यज समाज अधिक त्रस्त एव उपेक्षित था। इन अन्त्यजो को अँग्रेज मिशनरी पादरियो ने प्रभावित किया और उन्हे ईसाई धर्म ग्रहण करने मे कामयाबी हासिल की। यही कारण है कि दक्षिण भारत मे आज, देश के अन्य भागो की अपेक्षा, ईसाईयो की सख्या अधिक है। उत्तर भारत मे ईसाई मत के लक्ष्य अधिकतर आदिवासी हुये, जो कि अपेक्षातर अनुन्नत थे। जहाँ तक समाज के अन्य वर्गों का सम्बन्ध है, अँग्रेजी पढे लिखे कुछ भारतीयो ने इस नयी सस्कृति-सभ्यता का विरोध करने की अपेक्षा उसे वरण करने मे अपने को अधिक प्रबुद्ध एव प्रगतिशील अनुभव किया।

अँग्रजो ने भारत का नया सविधान बनाया, जिसमे अपने विशेषाधिकारो की व्यवस्था की। भारतवासियो के मूलाधिकारो को उस सविधान में सर्वथा उपेक्षित कर दिया। इस प्रकार भारत मे पैर जमाने के कुछ समय बाद ही चतुर एव नीतिज्ञ अँग्रेज जाति ने अपनी स्थिति को अधिक दृढ बना दिया। जिन भारतीयों ने आरभ मे अँग्रेजो की उन्नत सभ्यता का अनुकरण एव समर्थन किया था और जो विभिन्न व्यक्तिगत स्वार्थों से बँधे हुये थे, अँग्रेजों ने अपने सकल्पो की सफलता के बाद उनकी भी उपेक्षा करनी आरभ कर दी।

भारत मे अँग्रेजो के बढते हुये प्रभाव और भारतीयो के प्रति अपनाई जाने वाली उपेक्षावृत्ति के प्रति अधिसख्य जागरूक भारतीय अनभिज्ञ एव अनपेक्ष नही थे। अँग्रेजो द्वारा भारतीय परम्पराओ, सस्कृति, सभ्यता, साहित्य तथा धर्म के प्रति जो उपेक्षावृत्ति अपनाई जा रही थी और जिसके कारण पश्चिमी प्रभाव के आगे उनका ह्रास होता जा रहा था, उसको रोकने के लिये कुछ भारतीयो ने नये प्रयास किये। उन्होंने आत्मगौरव, स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय अस्तित्व की रक्षा के लिये विभिन्न सगठनो की स्थापना की। इस प्रकार के सगठनो मे ब्राह्म समाज, आर्य समाज, ब्रह्मविद्या समाज, (थियोसॉफिकल सोसाइटी), प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन और सत्य-शोधक समाज आदि का नाम उल्लेखनीय है।

ये सगठन ऐसे थे कि जिन्होंने भारतीय परम्पराओ को नया आलोक दिया और भारतीयता की रक्षा की। इस प्रकार के कुछ सगठन इतने सफल एव कारगर सिद्ध हुये कि न केवल भारत मे, अपितु विश्व के अनेक देशो मे उनकी शाखाएँ स्थापित हुईं और आधुनिक विश्व के व्यापक मानव समाज ने उनके उच्चादर्शों को वरण किया।

———

ब्राह्म समाज

आधुनिक युग की जिन संस्थाओं और समाज-संगठनों ने देशवासियों को अपनी पुरानी परम्पराओं तथा मान्यताओं की पुनः प्रतिष्ठा के लिये, अपने स्वत्व की स्थापना के लिये उजागर किया, उनमे 'ब्राह्म समाज' का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। १९वी शती ई० मे भारतवासियों को न केवल पराधीनता की दुर्दान्त परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, अपितु नई शिक्षा नीति और नये आचार विचारों की आँधी ने राष्ट्र के अस्तित्व को धूमिल कर दिया था, उसकी रक्षा के लिये जिन नयी संस्थाओं का उदय हुआ, उनमे 'ब्राह्म समाज' का नाम उल्लेखनीय है। इस संस्था के संस्थापक राजा राम-मोहन राय थे।

राजा राममोहनराय का जन्म हुगली जिले के राधानगर नामक गाँव मे एक जमीन्दार ब्राह्मण परिवार मे १७७४ ई० को हुआ था। उनके पिता का नाम रामकण्ठ राय था। उनकी प्रथम शिक्षा अरबी फारसी के माध्यम से पटना में हुई और तत्पश्चात् काशी मे रहकर उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। अपने छात्र जीवन मे ही उन्होने अँग्रेजी, बंगला के अतिरिक्त हिब्रू और ग्रीक भाषाओं का भी अध्ययन किया। बाल्यकाल से ही उनमें ज्ञानार्जन की अपरिमित उत्कण्ठा थी। किशोरावस्था मे ही उन्होने हिन्दू, ईसाई और इस्लाम आदि धर्मों के मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया और तत्पश्चात् 'भगवद्-गीता' तथा उपनिषदों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुये। उपनिषदों के प्रति-पादित विचारों और सूफी प्रभाव के कारण अवतारवाद, मूर्तिपूजा और बहु-देवतावाद के प्रति उनकी आस्था नहीं थी। उन्होने शंकर के अद्वैत-वेदान्त को सर्वोपरि मानकर एकेश्वर अद्वैत ब्रह्म का सिद्धान्त स्वीकार किया। जब वे केवल १६ वर्ष के थे, उन्होने 'मूर्तिपूजा निषेध' नाम से एक पुस्तक लिखकर अपने विचारों को स्पष्ट किया। इस पुस्तक मे उन्होने अवतारवाद, मूर्तिपूजा, पुनर्जन्म तथा कर्मफल आदि विषयों का घोर खण्डन किया।

इस पुस्तक के प्रकाश मे आने से उन्हे जाति-बहिष्कृत कर दिया गया और पिता ने भी असन्तुष्ट होकर घर से निकाल दिया। राजा राममोहनराय, परिवार तथा समाज के विरोधों की चिन्ता न करके अपने विचारों एवं सिद्धान्तों पर दृढ बने रहे। वे घर से निकल पड़े और देश के विभिन्न अंचलों का भ्रमण कर उन्होंने विभिन्न वर्गों के आचार-विचारों का अनुशीलन किया

तथा विद्वान् पुरुषो के सम्पर्क मे रहकर ज्ञानार्जन किया। वे तिब्बत गये और वहाँ उन्होंने बौद्धधर्म को सार्वभौम मानवीय महानताओं का अध्ययन किया। इसी बीच उन्हें अपनी माता का पत्र मिला, जिससे द्रवीभूत होकर वे घर लौट आये। घर आकर एक जगह उन्होंने सरकारी नौकरी प्राप्त कर ली। इन परिस्थितियो मे भी उन्होने अपने अध्ययन और चिन्तन को बनाये रखा।

१८०३ ई० मे उनके पिता का निधन हो गया और १८१४ ई० मे नौकरी को तिलाजलि देकर वे पुन धर्म-प्रचार मे लग गये। उन्होंने 'ब्रह्म-सूत्र' तथा उपनिषदो का सार सकलित कर एक पुस्तक की रचना की और प्रचारार्थ उसे नि शुल्क वितरित किया।

देश की तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक अस्थिरता का अनुभव कर राजा राममोहन राय ने एक ऐसे धर्ममार्ग की खोज निकालने का प्रयास किया, जिसके मूलतत्त्व यद्यपि भारतीय थे, किन्तु जिसको सम-सामयिक रूप देने के लिये उसमे प्रचलित क्रिश्चियन धर्म के उदात्त सिद्धान्तों का भी समावेश कर दिया गया। उन्होंने अपने नये विचारो को वाणी देने की उत्कण्ठा से १८१८ ई० मे 'ब्राह्म समाज' के नाम से एक धार्मिक सस्था की स्थापना की। इस सस्था की स्थापना मे उनके प्रमुख सहयोगी थे—बाबू प्रसन्नकुमार और श्रीद्वारिकानाथ टैगोर।

आचार और सिद्धान्त

इस नयी सस्था की स्थापना के उद्देश्यो की भी उन्होंने घोषणा की। उसके प्रमुख लक्ष्य थे—समाज-सुधार और धार्मिक पुनर्जागरण। इस धर्म-सस्था मे सभी जातियो, वर्गों और धर्मों के लोगो को अपनी-अपनी परम्पराओं एव आस्थाओ को सुरक्षित रखते हुये सम्मिलित होने के लिये स्वागत किया गया। आचार, खान पान और रहन-सहन सम्बन्धी बातो मे उदारता बरती गयी। हिन्दू और ईसाई धर्मनीतियो के समन्वय से एक नवीनतम मत को प्रचलित किया गया। उसको अपनाने के लिये सुशिक्षित हिन्दू समाज उद्यत हुआ। बगाल के तत्कालीन सम्भ्रान्त एव शिक्षा-सम्पन्न व्यक्तियों ने राजा राममोहनराय के इस नयी धर्म सस्था का स्वागत किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन प्रभृति प्रतिष्ठित व्यक्ति उसमे सम्मिलित हुये।

इस धर्मशाखा के उदार सिद्धान्तो को देखते हुये समस्त बगाल मे उसका नाम प्रसिद्ध हुआ। सर्वसहज एव सर्वग्राह्य इस धर्मपन्थ मे किसी पुरोहित, आचार्य अथवा पैगम्बर या देवदूत की मध्यस्थता स्वीकार नहीं की गयी है।

सर्वव्यापी ब्रह्म को सर्वत्र व्यापक मानकर उसकी उपासना पर बल दिया गया है। मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर सभी प्रकार के धर्मस्थानों में एकमेव ब्रह्म, को स्थित माना गया है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से 'ब्राह्म समाज' में वेदान्त मत के अनुसार ईश्वर की निराकारोपासना पर बल दिया गया है। राजा राममोहनराय ने अपने उपदेशों, व्याख्यानों और निबन्धों में परमात्मा को निरंजन, निराकार और जीव से भिन्न बताया है तथा उसकी स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है। उस अद्वितीय तत्त्व को प्राप्त करने के लिये चिन्तन, ध्यान तथा उपासना का मार्ग निरूपित किया है। ममत्व और त्याग की भावना से उसको प्राप्त किया जा सकता है।

ब्राह्म समाज में जात पाँत, वर्ण-व्यवस्था, जप-होम, व्रत-उपवास और श्राद्ध आदि कर्मों को कोई मान्यता नहीं दी गयी है। उपनिषदों के सिद्धान्तों एवं महावाक्यों को आधार तो माना है, किन्तु प्रमाण नहीं। वेद, 'कुरान', 'बाइबिल' और 'इंजील' आदि धर्म-ग्रन्थों के प्रति समान श्रद्धा प्रकट की गयी है। विश्व के समस्त धर्मानुयायियों को समादर की दृष्टि से देखा गया है। उसमें विश्वजनीन व्यापक सांस्कृतिक समन्वय पर बल दिया गया है और हिन्दू धर्म को अधिक उदार रूप दिया गया है।

भारत का नवशिक्षित समाज, जो नई पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता तथा ईसाई पादरियों के प्रलोभन पर पथभ्रष्ट एवं विदेशी आचार-विचारों के रंग में डूबता जा रहा था, इस धर्मसंस्था का अनुयायी बन गया। ब्राह्म समाज की स्थापना ने राष्ट्रीय गौरव की रक्षा में भी योगदान किया। जिस प्रकार पश्चिमोत्तर भारत में आर्य समाज ने हिन्दुओं के गिरते हुये अस्तित्व को पुनरुज्जीवित किया, उसी प्रकार विदेशी सभ्यता एवं आचारों की आँधी से प्रभावित आत्म-अस्तित्व को भुलाये बैठे भारतीयों को, विशेषरूप से बंगाल को, ब्राह्म समाज ने विधर्मी होने से बचाया।

समाज-सुधार के क्षेत्र में इस संस्था ने जो कार्य किये, वे भी उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन प्रचलित सामाजिक कुप्रथाओं का समाप्त करने के उद्देश्य से राजा राममोहनराय ने १८२८ को सती प्रथा को बन्द करने के लिये कानून बनवाया और उसे पारित कराया। समाज-सुधार की दिशा में इस समाज ने अभूतपूर्व कार्य किया।

भारत में 'ब्राह्म समाज' की प्रतिष्ठा को देशव्यापी रूप देकर राजा राममोहनराय १८३१ ई० में लन्दन गये और वहाँ भी उन्होंने अपने मत का प्रचार-प्रसार किया। निरन्तर बौद्धिक और शारीरिक अथक परिश्रम ने

उनके स्वास्थ्य को प्रभावित किया और थोड़े दिनों की बीमारी के बाद ही लन्दन के ब्रिस्टल नगर में १८३३ ई० को लगभग ६१ वर्ष की अल्पायु में ही उनका निधन हो गया। वहाँ पर आज भी राजा राममोहनराय की समाधि विद्यमान है। 'राजा' उनकी उपाधि थी जो कि उन्हें उनके प्रशसनीय कार्यों के कारण अंग्रेजी शासन से प्राप्त हुई थी।

परम्परा का प्रवर्तन

राजा राममोहनराय के निधन के पश्चात् देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्रसेन और राय महोदय के पुत्र रामप्रसाद राय ने ब्राह्म समाज की बागडोर को सँभाला। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के कार्यकाल को इस धर्मसुधारक-समिति का द्वितीय उत्कर्ष काल कहा जा सकता है। उन्होंने उपनिषद् विद्या का परिशीलन कर १८५० ई० में 'ब्राह्मधर्म' के नाम से एक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें अद्वैत दृष्टि से ब्रह्म सिद्धान्त का गभीर एवं विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। उसमें उपनिषदों के उपयोगी सन्दर्भों का सार देने के साथ ही ब्रह्मोपासना तथा समाज-सेवा की पद्धति पर भी प्रकाश डाला गया है।

राजा राममोहनराय के उपरान्त कई वर्षों तक बाबू देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने समाज का अस्तित्व बनाये रखा। उनके आग्रह पर केशवचन्द्र सेन १८५८ ई० में समाज में सम्मिलित हुये। वे प्रभावशाली विद्वान् और अच्छे वक्ता थे। अपनी सारी शक्ति उन्होंने समाज के उत्थान में लगा दी। सेन महोदय ने अपनी पत्नी को भी समाज के उत्थान एवं प्रचार प्रसार के कार्य में लगा दिया। सेन महोदय की अथक सेवा को देखते हुये देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें समाज के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। अब तक इस गरिमामय प्रतिष्ठित पद पर ब्राह्मण आचार्य ही आसीन हुआ करते थे। केशवचन्द्रसेन बड़ी रुचि एवं निष्ठा से समाज की सेवा में लग गये और उन्होंने समाज के कार्यक्षेत्र में विस्तार किया। मद्रास और बम्बई में उन्होंने 'ब्राह्म समाज' की दो शाखाएँ सस्थापित की। उन्होंने धर्मनिष्ठा तथा समाजोद्धार का उद्देश्य लेकर देश के अनेक भागों का भ्रमण किया। मद्रास तथा बम्बई के अतिरिक्त पूना, अहमदाबाद और राजकोट आदि नगरों में समाज की शाखाएँ स्थापित कीं और उनमें नियमित रूप से व्याख्यान देने का कार्यक्रम बनाया। १८७० ई० में वे लन्दन गये और वहाँ भी अपने भाषणों से जनता को प्रभावित किया। उन्होंने लन्दन में 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की और वहीं के अनुयायियों को उसके सचालन का भार सौंपा। लन्दन में रहकर बाबू केशवचन्द्रसेन ने महारानी विक्टोरिया और वेदों के व्याख्याता एवं भारतीय दर्शन तथा इतिहास के ज्ञाता प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर से भी भेंट की।

लन्दन से लौटकर उन्होने भारत मे 'इडियन रिफार्म एसोसिएशन' की स्थापना की। जिसकी कार्य-प्रवृत्ति के पाँच विभाग थे—सस्ते साहित्य का प्रकाशन एव वितरण, दान की व्यवस्था, स्त्री विकास, शिक्षा प्रचार और आत्मनिग्रह। उनके इस प्रयास से देश-विदेश मे 'ब्राह्म समाज' की लगभग १७३ शाखाएँ और १५०० स्थायी सदस्य थे।

अनेक वर्षों तक सेन बाबू का समाज पर एकाधिकार बना रहा। समाज के अनुयायी उन्हे देवतुल्य मानते थे और साष्टाग प्रणाम करते थे तथा उनके प्रभुत्व को एकनिष्ठ होकर स्वीकार करते थे।

समाज का विभाजन

केशवचन्द्र सेन ने समाज को अधिक व्यापक एव उदार बनाने की दृष्टि से उसमे कुछ सुधार कार्य किये। उन्होने अन्तरजातीय विवाहो तथा विधवा विवाह को मान्य घोषित किया और समाज की ओर से ऐसे विवाहो के लिये लोगो को प्रोत्साहित किया। समाज को अधिक उदार एव सरल बनाने की बात तक तो बाबू देवेन्द्रनाथ ठाकुर को केशवचन्द्र सेन से कोई विरोध नही था, किन्तु जब उन्होने अन्तरजातीय तथा विधवा विवाहो को समाज-सम्मत घोषित किया, तो सेन महोदय से उनका घोर मतभेद हो गया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर पुरानी आचार पद्धति के पक्षपाती थे, जबकि केशवचन्द्र सेन अपने नये विचारो के नवयुवक साथियो के सहयोग से समाज मे आमूल परिवर्तन करना चाहते थे। परिवर्तन के पक्षपाती वर्ग का कहना था कि यज्ञोपवीत-धारण-सस्कार का बहिष्कार किया जाय और जात पाँत की प्रथा को समाप्त किया जाये। पुरानी पीढी के वर्ग को ये परिवर्तन मान्य नही थे। उनका कहना था कि जात-पाँत की प्रथा को समाप्त करने की बात तो उचित है, किन्तु परम्परागत विवाह सस्था के भारतीय आदर्शों की अवहेलना करके विधवा तथा अन्तरजातीय विवाहो का दृष्टिकोण अनुचित है। यज्ञोपवीत, जो कि वैदिक सस्कारो का एक अग है और जिसकी पृष्ठभूमि मे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर चरित्र निर्माण की भावना निहित है उसको त्याग दिया जाए। वस्तुत जिस उद्देश्य से 'ब्राह्म समाज' के आदर्शों को महामना राजा राममोहनराय ने अभिव्यक्त किया था और पाश्चात्य सस्कृति सभ्यता एव आचारो के देश-व्यापी प्रभाव से अछूता रहने का आदर्श जन-सामान्य के समक्ष रखा था, उनकी उपेक्षा करना, धर्मसस्था के मूल आदर्शों को ही मिटा देना है।

इन मतभेदो के कारण ११ नवम्बर, १९६४-६५ को बाबू केशवचन्द्र सेन के अनुयायी वर्ग ने 'भारतवर्षीय ब्रह्म समाज' या 'प्रार्थना समाज' या

'नव ब्रह्मसमाज' के नाम से समाज का नया नामकरण किया। उधर बाबू देवेन्द्रनाथ ठाकुर के अनुयायी वर्ग ने भी अपनी धर्मसंस्था का नया नामकरण किया 'आदि ब्राह्म समाज'। 'आदि ब्राह्म समाज' राजा राममोहनराय तथा बाबू देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा निश्चित नियमों का पालक था और दूसरा इतना उदार था कि उनमें सीमा-रेखाओं की बद्धता को नकार दिया गया था। इस दूसरे वर्ग के 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' के धर्म-चिन्तन के लिये हिन्दू ग्रन्थों के अतिरिक्त ईसाई, मुस्लिम, जोरोस्ट्रियायी कनफ्यूसियस आदि अन्यान्य धर्मों के ग्रन्थों का भी पाठ किया जाने लगा। उसको मानवतावादी धर्म के रूप में प्रचारित किया गया, किन्तु जितना ही वह सुधारवादी हुआ, अपनी मूल-परम्पराओं को छोड़ता गया और इस कारण सेन बाबू के जीवन-काल में ही उसे जन-सामान्य ने अस्वीकार कर दिया।

इस धर्मशाखा के ह्रास के अन्य भी कारण थे। जब बाबू केशवचन्द्र सेन लन्दन से लौटकर आये तो उन्होंने १८७८ ई० में स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया, जिससे प्रबुद्ध समाज आशंकित हुआ। जिस अवतारवाद को इस समाज में कोई स्थान नहीं दिया गया था, सेन बाबू द्वारा स्वयं को अवतारी पुरुष घोषित करना एक थोथी कल्पना थी। उन्होंने परम्परा के आदर्शों एवं सवैधानिक नियमों की उपेक्षा कर अपनी १३ वर्षीया पुत्री का विवाह कूच बिहार के नवयुवक महाराज के साथ कर दिया। इस घटना से जन-सामान्य ही नहीं, उनके समाज के लोग भी क्षुब्ध हो उठे। इस क्षोभ को व्यक्त करने के लिये १५ मई, १८७८ ई० को कलकत्ता के टाउनहाल में एक विशाल जनसभा का आयोजन हुआ। उसमें सेनबाबू के समाज का बहिष्कार किया गया और उनके कुछ अनुयायियों ने 'साधारण समाज' के नाम से एक तीसरी धर्मशाखा की स्थापना की। इस नये समाज की स्थापना हो जाने के पश्चात् सेनबाबू का 'भारतवर्षीय ब्राह्म समाज' प्रायः क्षीण पड़ गया। उससे सेन बाबू के सम्मान को बड़ा आघात लगा। १८८४ ई० में सेन बाबू का निधन हो गया।

बाबू देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी खिन्न होकर समाज का कार्यभार बाबू राजनारायण बोस पर सौंपकर स्वयं उससे अलग हो गये।

आगे चलकर १९१४-१५ ई० में इस समाज के कुछ अनुयायियों ने 'आर्यन ब्रदरहुड' नाम से एक नयी धर्मशाखा को जन्म दिया। उसमें आचारों तथा जातीय विषयों को अधिक उदार एवं सहज बनाया गया था, किन्तु वह भी विशेष प्रगति न कर सकी।

आर्य समाज

भारत मे २०वी शती के मध्य मे जिन समाज सुधार सगठनो एव धर्मशाखाओ का जन्म हुआ, उनमे 'आर्य समाज' का भी एक नाम है। इस धर्मशाखा के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। उनका जन्म मोरवी राज्य (काठियावाड) स्थित टकारा नामक गांव मे १८२४ ई० (१८८१ वि०) को हुआ था। उनका पितृप्रदत्त गृहनाम मूलशकर था। उनके पिता का नाम अम्बाशकर था, जो कि औदिच्य ब्राह्मण और शैवमतानुयायी थे।

उपनयन-सस्कार के बाद ही आठ वर्ष की अवस्था मे ही उनकी संस्कृत की शिक्षा आरम्भ कर दी गयी थी। इसी समय उनकी अद्भुत प्रतिभा के लक्षण प्रकट होने लग गये थे। घर पर ही अध्ययन करते हुये उन्होने कुछ दिन बिताये। कहा जाता है कि जब वे बालक ही थे, एक दिन शिवरात्रि के उत्सव पर शिवमन्दिर मे पूजा करने के लिये गये। उन्होंने वहाँ देखा कि शिवलिंग के ऊपर एक चुहिया दौड रही है। यह देखकर उनके बालसुलभ निर्मल मन पर भगवान् की शक्ति एव महिमा के प्रति अनिष्ठा एव अनिच्छा हो गयी। मूर्तिपूजा से उनकी आस्था समाप्त हो गयी।

समय के साथ ही उनकी वैचारिक बचैनी बढती गयी। एक दिन वे चुपचाप घर से निकल पडे। तब उनकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। घर से निकलकर वे साधु-सन्तो की जमात म सम्मिलित हो गये। पिता एव उनका परिवार उनके एकाएक गृहत्याग स चिन्तित था। उनके पिता को पता चला कि मूलशकर साधुओ की मण्डली के साथ सिद्धपुर मे हैं। उनके पिता वहाँ गये और उन्ह पकडकर साथ ले आये। उन्होने पुत्र के भगवा वस्त्र फाड डाले और उन्ह उचित वस्त्र पहनाये। मूलशकर पिता के बलात् कहने पर उनके साथ चले आये, किन्तु उनका मन परिवार से विमुख हो गया था। मार्ग म अवसर देखकर वे पिता के चगुल से भाग निकले। उसके बाद उनको बहुत खोजा गया, किन्तु वे कही नही मिले।

कुछ दिन वे उसी प्रकार साधु सन्तो के सत्सग मे रहे और तत्पश्चात् उत्तर हिमालय पर बदरिकाश्रम की यात्रा पर चले गये। वहाँ वे कई वर्षो तक घोर तप एव योगाभ्यास करते रहे। अपनी एकनिष्ठ एकान्त साधना के कारण उनके अन्त करण मे ज्ञान का प्रकाश हुआ और देशाटन करते हुये वे काशी पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रहकर उन्होंने वेदाध्ययन किया। काशी के अनेक वेद-वदाग-वेत्ता विद्वानों से उन्होंने शास्त्रो का गभीर अध्ययन किया।

इसी बीच चान्दोद (गुजरात) में सन्यासियों का एक बृहद् सम्मेलन आयोजित हुआ। उसमें सम्मिलित होने के लिये वे गुजरात गये। इसी समय ज्वालापुरी के निकट उनकी भेंट स्वामी पूर्णानन्दजी से हुई, जो कि दण्डी सन्यासी थे। उनके आश्रम में रहकर स्वामीजी ने सन्यास की विधिवत् दीक्षा ली। दीक्षा के समय उनका दयानन्द सरस्वती के नाम से नया नामकरण हुआ। सन्यास-दीक्षा के समय उनकी आयु २३ वर्ष की थी।

वहाँ से वे सन्यासियों और तत्त्ववेत्ता विद्वानों का सत्संग करते हुये १९१७ वि० के आरम्भ में मथुरा पहुँचे। वहाँ वे प्रज्ञाचक्षु उद्भट दार्शनिक विद्वान् दण्डी स्वामी विरजानन्द के आश्रम में गये। स्वामी विरजानन्द उनके ज्ञानगुरु थे। उनके अन्तेवासित्व में रहकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद, वेदांग, उपनिषद्, गीता और दर्शनों का गंभीर अध्ययन किया। वहाँ वे सात वर्ष रहे।

अब स्वामीजी पूर्णप्रज्ञ हो चुके थे। गुरुचरणों में दक्षिणास्वरूप वेद-प्रचार और मूर्ति-पूजा के खण्डन की प्रतिज्ञा कर वे देश-देशान्तर प्रचार-कार्य के लिये निकल पड़े। वे दक्षिण में बम्बई, पूना, दिल्ली, पूर्व में कलकत्ता तथा पश्चिम लाहौर तक अपने उपदेशों के प्रचारार्थ गये। इसी बीच प्रसिद्ध पण्डितों, मौलवियों तथा पादरियों से उन्होंने साक्षात्कार किया और शास्त्रार्थ में अपने मत का मण्डन किया। जहाँ भी वे गये, उन्होंने 'समाज' की शाखाएँ स्थापित कीं। मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड के पाखण्डों तथा जाति-वर्ग की धार्मिक तथा सामाजिक कुप्रथाओं का विरोध किया और उनकी व्यर्थता सिद्ध करने के लिये शास्त्रीय तर्क दिये। इसी बीच काशी में १७ नवम्बर, १८६० ई० (१९१७ वि०) में आत्मज्ञानी राजा जयकृष्ण के सभापतित्व में एक विद्वत्सभा का आयोजन हुआ। उसमें सुदूर अंचलों के विद्वानों, धर्मवेत्ताओं ने भाग लिया। इस सभा में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मूर्तिपूजा का खण्डन और वेदधर्म का प्रतिपादन कर अपने विलक्षण पाण्डित्य का परिचय दिया। उनकी नवीन वेदव्याख्या का अनेक विद्वानों ने घोर विरोध किया, किन्तु वे अपने सङ्कल्प पर अडिग बने रहे।

भारत के सभी अंचलों का भ्रमण कर स्वामीजी ने पाया कि समाज में धर्म की जो मान्यताएँ प्रचलित हैं, वे भ्रमित करनेवाली हैं और उनकी कुछ बातें वेद धर्मानुकूल नहीं हैं। वे तत्कालीन धर्मचिन्तकों एवं धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं के सरपरस्त महापुरुषों से मिले। उन्होंने 'ब्राह्म समाज' के देवर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर एवं केशवचन्द्र सेन, ब्रह्मविद्या समाज (थियोसॉफिकल सोसाइटी) की मैडम ब्लावाट्स्की एवं कर्नल अल्कॉट, प्रार्थनासमाज के

श्रीभोलानाथ साराभाई, रिफार्म्ड इस्लाम के सर सैय्यद और ईसाई पादरी डा० टी० जे० स्काट एव रे० जे० ग्रे आदि युगधर्म प्रवर्त्तक प्रसिद्ध व्यक्तियो से मिले। ब्रह्मविद्या समाज के तो वे सर्वसमत सभापति भी रहे।

अपने युग की इन प्रचलित धर्मशाखाओं के उद्देश्यो का उन्होने अनुशीलन किया और अन्तत यह निश्चय किया कि भारतीय समाज को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो परम्परागत है और जिसमें समाज की वास्तविक आस्था एव विश्वास है। अपने इस निश्चय को कार्यरूप देने के लिये उन्होने १० अप्रैल, १८७५ ई० (५ चैत्र, १९३२ वि०) को बम्बई मे 'आर्य समाज' अर्थात् 'भद्रजनो का समाज' या भद्रसभा (आर्य = भद्र, समाज = सभा) की स्थापना की। 'आर्य' शब्द अपने आप में भारत की पुरातन ऐतिहासिक गरिमा और देश-प्रेम का प्रतीक है।

स्वामीजी सभी धर्म दर्शनो के ज्ञाता थे। शैवधर्म और वेदान्त मे उनकी गभीर जानकारी थी। फिर भी उन्होने इन दोनो विषयो की उपेक्षा कर साख्ययोग को वरण किया। 'भगवद्गीता' के इस योगदर्शन के अनुरूप उन्होने वेदो का व्याख्यान किया। उन्होने अपने वेद-भाष्य मे वेदधर्म का सर्वोपरि प्रतिपादन किया।

स्वामीजी की इस धर्मसस्था का लक्ष्य केवल धर्म का मार्ग प्रशस्त करना नही था, अपितु उसके आचरण तथा सिद्धान्तो को ग्रहण करने वाले निष्ठावान् समाज की भी आवश्यकता थी। अत उन्होने प्रचलित सामाजिक कुप्रथाओ के उन्मूलन के लिये भी अपने 'समाज' का देशव्यापी अभियान चलाया। बाल-विवाह एव विधवा विवाह और जात पाँत, वर्ण-वर्ण भेद के वे विरोधी रहे हैं। उन्होने समाजानुसार शिक्षा, विशेष रूप से स्त्रीशिक्षा, हरिजनोत्थान, अस्पृश्यतानिवारण, अनाथालय, चिकित्सालय, समाजोत्थान और राष्ट्रप्रेम आदि अनेक विषयो को प्रस्थापित किया। ये सभी विषय आज भी समाज के लिये उतने ही आवश्यक हैं। यह स्वामीजी की दूरदर्शिता थी और उनकी धर्म-स्थापना का एक अग समाज मे समानता एव एकता को सुदृढ करना था। स्वामीजी के मतानुसार यद्यपि पुनर्विवाह निंद्य है, तथापि विशेष परि-स्थितियो मे आपद्धर्म समझकर 'नियोग' कर लेना चाहिये।

समाज-सुधार के साथ-साथ स्वामीजी ने हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दी भाषा की रक्षा का भी अभूतपूर्व कार्य किया। समस्त देश मे हिन्दुत्व की पताका को फहराते हुये उन्होने उन लाखो हिन्दुओ को धर्मभ्रष्ट होने से बचाया, जो मुसलमान होने के लिये तैयार थे। उन्होने ऐसे हिन्दुओ, मुसल-मानो तथा ईसाइयो का हिन्दूकरण किया, जो किसी कारणवश धर्मच्युत हो

गये थे। उन्होंने हिन्दुत्व की रक्षा के साथ ही विदेशी भाषा का बहिष्कार कर हिन्दी भाषा तथा नागरी लिपि की सर्वश्रेष्ठता को प्रस्थापित किया। उन्होंने हिन्दी तथा नागरी में 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना कर भाषा तथा लिपि की एकरूपता का सूत्रपात कर देशवासियों को उस ओर प्रेरित किया। उनका राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय लिपि का यह प्रेरणाप्रद कार्य इतिहास की चिर-स्मरणीय घटना और आर्य समाज की उल्लेखनीय उपलब्धि है।

स्वामीजी के समाज-सुधार सम्बन्धी विचारों का प्रभाव सारे समाज पर लक्षित हुआ। रंक से राजा तक सभी वर्गों और विचारों के लोगों ने 'आर्य समाज' की शिक्षाओं एवं नीति-नियमों को हृदय से अपनाया। मध्य भारत तथा राजस्थान के राज-परिवार स्वामीजी के कट्टर अनुयायी थे। राजस्थान के नरेशों के राजमहलों में वांदियों के रूप में वेश्याओं को रखने तथा उनसे नृत्य कराने का प्रचलन था। स्वामीजी ने राजमहलों में प्रवेश किया और उन्होंने राजाओं का वेश्यानुराग समाप्त किया। जोधपुर-नरेश उनसे इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने दरबार की नन्हीजान नामक वेश्या को बाहर कर दिया। जोधपुर-नरेश उनके पक्के भक्त हो गये।

स्वामीजी के सतत प्रयास से जहाँ एक ओर समाज से पाखण्डों, कुरीतियों तथा आचारों का दमन होकर विशुद्ध वैदधर्म का प्रचार-प्रसार हुआ, वहीं दूसरी ओर उनके अनेक कट्टर शत्रु भी बन गये। जिन दिनों स्वामीजी जोधपुर-नरेश के यहाँ रह रहे थे, उनके विरोधियों ने एक निन्दनीय षड्यन्त्र की रचना की। नन्हीजान नामक वेश्या ने स्वामीजी के रसोइया जगन्नाथ को प्रलोभन देकर स्वामीजी को दूध में काँच का चूर्ण खिला दिया। स्वामीजी को इस षड्यन्त्र का पता चल गया। वे चिकित्सा के लिये आबू और अजमेर गये, किन्तु सब व्यर्थ हुआ। दीपावली के दिन ३० अक्टूबर, १८८३ ई० (कार्तिक अमावस्या १९४० वि०) को अजमेर में स्वामीजी ने शरीर त्याग किया।

ग्रन्थ-रचना

स्वामी दयानन्द सरस्वती सर्वांगीण विद्वान् थे। उन्होंने शास्त्र निर्देशों को अपने जीवन और जन-जीवन में उतारा। उनका 'वेदभाष्य' उनकी अद्भुत प्रतिभा और गंभीर ज्ञान का परिचायक है। महर्षि अरविन्द ने उनके भाष्य को वेदज्ञान की कुंजी कहा है। उन्होंने 'सायणभाष्य' का गंभीर अध्ययन कर मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों के वेदविषयक मन्तव्यों का खण्डन कर वेद-व्याख्या का नया भारतीय दृष्टिकोण स्थापित किया। उनके द्वारा विरचित

'सत्यार्थप्रकाश' आधुनिक भारत की धर्म-कर्म संहिता है। उसका भारत के सभी धर्मों के अनुयायियों में प्रचार-प्रसार है। उसका निर्माण उन्होंने हिन्दी में किया।

सिद्धान्त-निरूपण

आर्य समाज का धर्म-विज्ञान वेदों पर आधारित है। स्वामीजी ने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान और धर्म का अन्तिम प्रमाण माना है। ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण वे पवित्र और पूर्ण हैं। वेद ही एकमात्र सच्चे ज्ञान ग्रन्थ हैं और उनको पढ़ना, सुनना तथा उनका ज्ञान दूसरे को देना, प्रत्येक आर्य का पुनीत कर्तव्य है। उन्होंने वेदों के सत्यधर्म का निरूपण करते हुये यह स्थापित किया कि परमात्मा सर्वव्यापी तथा निराकार है और वह अवतार धारण नहीं करता है। मूर्तिपूजा व्यर्थ का पाखण्ड है। बालविवाह पतित और वेदविरुद्ध है। ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। पुनर्जन्म की प्रक्रिया शाश्वत है। वर्ण-व्यवस्था परम्परागत एवं जातिगत नहीं है, अपितु गुण-कर्मानुसार होती है। द्विजमात्र को नित्यकर्म और सोलह संस्कारों का पालन करना चाहिये। 'सत्यार्थप्रकाश' में उन्होंने समस्त धर्मों तथा दर्शनों का समादर करने का निर्देश दिया है।

स्वामीजी के मत से जीव और ईश्वर भिन्न-भिन्न हैं। स्वामीजी का आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी दृष्टिकोण उपनिषदों से प्रभावित है। उन्होंने आत्मा को नित्य एवं अविनाशी माना है। एक वृक्ष पर बैठे हुये दो पक्षियों की भाँति जीवात्मा तथा परमात्मा की स्थिति है। जीवात्मा सुस्वादु फलों का भक्षण करता है, जब कि परमात्मा केवल द्रष्टा है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के समन्वय से पुनर्जन्म का बन्धन विच्छिन्न कर मोक्षत्व प्राप्त किया जा सकता है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही उन्होंने मोक्ष बताया है। समस्त ज्ञान का कारण ईश्वर है। वह सत्य है, सर्वज्ञानमय है, सौन्दर्यमय है, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, अपरिवर्तनशील, अनादि, अतुलनीय सबका पालनकर्ता, स्वामी, सर्वव्याप्त, सर्वज्ञ, अजर-अमर तथा पापरहित हैं। ईश्वर परम पवित्र और सृष्टि का कारण है। उसी की एकमात्र पूजा करनी चाहिये।

आचार

सत्यविद्या और धर्म का एकमात्र मूल वेद है। अतः सर्वतोभावेन वही मान्य है। वेदविहित सत्यधर्म के सम्बन्ध में मनु ने 'मनुस्मृति' में जिन दस लक्षणों का उल्लेख किया है, उनके अनुसार आचार करना चाहिए। वेदानुरूप

आचरण करना ही धर्म है। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह किसी भी जाति या मत का हो, शुद्धि सस्कार करने पर और दसविध नियमों का पालन-आचरण करने पर वह आर्य समाज म प्रविष्ट हो सकता है।

आर्य समाज की आचार सहिता के अग दसविध आचारो का स्वरूप इस प्रकार है—१ समस्त पदार्थों का मूल परमेश्वर है। २ परमेश्वर सच्चिदानन्द, निराकार सर्वव्यापी, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसकी उपासना करनी चाहिये। ३ वेद सत्य-विद्याओं का भण्डार है। परम कर्तव्य समझकर उसका अध्ययन अध्यापन और श्रवण तथा व्याख्यान करना चाहिये। ४ सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना चाहिये। ५. समस्त कर्मों मे धर्मानुरूप सत्यासत्य का विचार कर उन्ह सम्पादित करना चाहिये। ६. समाज का प्रधान उद्देश्य है—सामाजिक, मानसिक और शारीरिक दृष्टि से ससार का उपकार करना। ७ सबके साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुरूप व्यवहार करना चाहिये। ८ अविद्या का नाश और विद्या की उपलब्धि करनी चाहिये। ९ प्रत्येक मनुष्य को न केवल अपनी उन्नति म, अपितु सबकी उन्नति मे सन्तुष्ट होना चाहिये। १०. सबको सभी प्रकार के सामाजिक अहितकारी नियमों के पालन मे परतत्र और प्रत्येक हितकारी नियमो के पालन मे स्वतत्र रहना चाहिये।

परम्परा का प्रवर्तन

स्वामीजी के जीवनकाल मे ही, उनके निरन्तर प्रयासो के फलस्वरूप आर्य समाज का समस्त मध्यभारत, उत्तरभारत, राजस्थान और पश्चिम भारत मे व्यापक प्रचार प्रसार हो चुका था। बाहरी देशो मे भी उनका सदेश पहुँच चुका था। देश के प्राय सभी क्षेत्रो मे उन्होंने आर्य समाज की शाखाएँ स्थापित की। उन शाखाओ के प्रचारको द्वारा आर्य समाज का प्रसार निरन्तर होता रहा। शिक्षा के क्षेत्र मे विशेष प्रगति हुई। आर्य समाज की भावी परम्परा का व्यापक प्रचार-प्रसार होने के साथ ही उसमे कुछ विषमताएँ भी उत्पन्न हुई।

स्वामीजी के शरीरत्याग के कुछ वर्षों बाद ही आर्यसमाजी मतानुयायियो में खान पान के मतभेदो के कारण दो वर्ग बन गये-- मासभक्षी वर्ग और शाकाहारी वर्ग। इसी प्रकार शिक्षा सम्बन्धी सिद्धान्तों एव नीतियो को लेकर दो दल बन गये---कालेजपार्टी और महात्मापार्टी। कालेजपार्टी ने लाहौर मे 'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज' की और महात्मापार्टी ने हरिद्वार मे 'गुरुकुल' की स्थापना की।

सगठन की दृष्टि से भी आर्यसमाज के तीन अग हैं—स्थानीय समाज, प्रान्तीय समाज और सार्वदेशिक समाज। इन तीनो समाजो के प्रतिनिधि ही समाज की विभिन्न प्रवृत्तियो का सम्पादन और उसका प्रचार-प्रसार तथा सगठन कार्य करते हैं। प्रचारक और शिक्षक भी दो प्रकार के हैं—एक वेतन-भोगी और दूसरे अवैतनिक। पहला वर्ग शिक्षा और दूसरा उपदेश पर बल देता है।

आर्यसमाजी लोग सप्ताह मे एक दिन रविवार को सत्सग एव हवन करते हैं। हवन के समय वेदमन्त्रो का सामूहिक उच्चारण होता है। फिर उपदेश एव शिक्षा विषयक प्रवचन होते हैं। उपदेश के लिये कोई नियत आचार्य या पुरोहित नही होता है, अपितु कोई भी सुयोग्य एव विज्ञ व्यक्ति पूजन-हवन-उपदेश का सचालन कर सकता है।

आर्यसमाज का मुख्य केन्द्र लाहौर मे था, किन्तु लाहौर के पाकिस्तान मे चले जाने के कारण आजकल दिल्ली उसका मुख्य केन्द्र है। उसकी शाखाएँ भारत के अतिरिक्त बर्मा, पूर्वी अफ्रीका, मारीशस और फिजी आदि द्वीपो मे धर्मप्रचार म कार्यरत हैं।

आर्यसमाजी विद्वानो ने वेदो तथा हिन्दू धर्म-सस्कृति पर अनेक विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थो की रचना की। इसी प्रकार अनेक अज्ञात ग्रन्थो को प्रकाश मे लाकर साहित्य को समृद्ध किया। उन्होंने पुराणो की प्रतीकात्मक कथाओ का इतिहास के आलोक मे समालोचित कर उनकी वास्तविकता एव उपयोगिता को प्रतिपादित किया। भारतीय इतिहास की भ्रामक तिथियो का भी उन्होंने स्पष्टीकरण किया और इतिहास को नयी दृष्टि दी।

ब्रह्मविद्या समाज

(थियोसॉफिकल सोसाइटी)

भारतीय धार्मिक इतिहास के आधुनिक युग में जिन सुधारवादी संगठनों ने धार्मिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया, उनमें 'ब्रह्मविद्या समाज' या थियोसॉफिकल सोसाइटी' का नाम महत्त्वपूर्ण है। समस्त धर्म तथा दर्शन का मूलाधार 'सत्य' ही थियोसॉफी' है और सब प्रकार के भेद-भावों से रहित सत्यान्वेषियों का समूह ही 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' है। जिस प्रकार हिन्दू धर्म में 'ब्रह्मविद्या', ईसाई धर्म में 'नोटिसिज्म' और इस्लाम धर्म में 'सूफीज्म' है, उसी प्रकार प्राचीन अर्वाचीन धर्म-दर्शन विचारधारा का पर्याय 'थियोसॉफी' है।

इस संगठन की संस्थापिका एक रशियन महिला मैडम हेलना पैट्रोवना ब्लावास्की (या ब्लेवेट्स्की) थी। मस्त स्वभाव की इस महिला ने किसी अज्ञात नाम के महात्मा से 'योगविद्या' का ज्ञान प्राप्त किया और उनसे प्रभावित होकर अपने उद्देश्य की खोज के लिये वह रूस से अमेरिका गई। वहाँ उनकी भेंट एक सद्‌गृहस्थ सेवानिवृत्त वयोवृद्ध व्यक्ति कर्नल हेनरी स्टील अल्कोट से हुई। कर्नल से उनकी योगविद्या विषय पर विस्तार से चर्चा हुई और साथ ही उन्होंने योगविद्या-विषयक रहस्यों को प्रकट किया। कर्नल से मैडम ब्लावास्की की गंभीर मंत्रणा हुई और दोनों ने एकमत होकर एक सुस्थिर संगठन बनाने की योजना को कार्यरूप देने का निश्चय किया। उन्होंने न्यूयार्क (अमेरिका) में १७ नवम्बर, १८७५ ई० को 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' के नाम से एक संस्था की स्थापना की।

इस संगठन को अधिक प्रभावशाली एवं विश्वव्यापी रूप देने के लिये उनका ध्यान योगविद्या की जन्मभूमि भारत की ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने यह भी ज्ञात किया कि योगविद्या पर विपुल ज्ञान की उपलब्धि का एकमात्र स्थान भारत ही है। उन दिनों भारत में 'आर्य समाज' के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम विदेशों तक फैल चुका था। अतः १८७८ ई० को उन्होंने स्वामीजी से पत्र-व्यवहार किया और उनका सन्तोषजनक उत्तर पाकर २२ मई, १८७८ ई० को न्यूयार्क में ही सोसाइटी का प्रथम अधिवेशन आयोजित किया। उस अधिवेशन में सर्वसम्मति से स्वामी दयानन्द सरस्वती को आचार्यपद प्रदान करने का प्रस्ताव पारित

किया। तत्पश्चात् मैडम और कर्नल भारत आये और स्वामीजी के साथ रहकर धर्मप्रचार में लग गये।

कुछ समय उन्होंने स्वामीजी के साथ रहकर कार्य किया। इसी बीच उन्होंने राजा राममोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा श्रीकेशवचन्द्र सेन प्रभृति जिज्ञासु ज्ञानी पुरुषों द्वारा संस्थापित 'ब्राह्म समाज' के उद्देश्यों से भी परिचय प्राप्त किया। उन्होंने बड़े मनोयोग से भारत में प्रचलित एवं बहुसंख्यक समाज द्वारा वरण किये गये इन दोनों धार्मिक संगठनों के विचारों का अनुशीलन किया। तत्पश्चात् इन पाश्चात्य तत्त्व-जिज्ञासुओं ने यह अनुभव किया कि वे जिस विचारधारा का विकास-विस्तार करने के इच्छुक हैं, उसका सामंजस्य न तो 'आर्य समाज' से और न 'ब्राह्म समाज' से ही बैठता है। 'आर्य समाज' में मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि का खण्डन किया गया है और 'ब्राह्म समाज' एक ऐसे सिद्धान्त की स्थापना की ओर अग्रसर है, जो कि जन-सामान्य की दृष्टि से दुरूह है।

इन सब सम्भावनाओं का विश्लेषण कर दोनों पाश्चात्य सन्तों ने स्वतंत्र संगठन की स्थापना का विचार किया। सर्वथा उपयुक्त स्थान देखकर उन्होंने मद्रास से लगभग सात मील की दूरी पर अवस्थित आडियार में १८८२ ई० को 'ब्रह्मविद्या समाज' का प्रधान कार्यालय स्थापित किया। इससे पूर्व १८७९ ई० को सोसाइटी की एक शाखा वे बम्बई में स्थापित कर चुके थे। आडियार की इस राष्ट्रीय शाखा के प्रथम प्रधानमंत्री बर्टरम कैटले थे। तत्पश्चात् १८९५ ई० को वाराणसी में भी सोसाइटी की एक शाखा खोली गयी। सोसाइटी का आडियार स्थित प्रधान कार्यालय का अनेक रूपों में निरंतर विस्तार होता गया। उसका हस्तलिखित ग्रन्थ-पुस्तकालय न केवल भारत में, अपितु समस्त विश्व में अपने ढंग का एक अद्भुत ज्ञान-भण्डार है।

इस धर्म समाज को न केवल भारतवासियों ने, अपितु विश्व के बहुसंख्यक धर्मावलम्बियों ने अपनाया। भारत में उसके अनेक अधिवेशन हुये। मैडम ब्लावात्स्की के पश्चात् सोसाइटी की अध्यक्षा श्रीमती एनी बेसेंट हुईं। २०वीं शती की प्रसिद्ध विदुषी, समाजसेविका एवं दयामयी महिला श्रीमती एनी बेसेंट ने हिन्दुत्व का एक अंग मानकर 'ब्रह्मविद्या समाज' के उदार सिद्धान्तों को अधिक व्यापक बनाने में आजीवन प्रयास किया। अनेक वर्षों तक उन्होंने भारत में इस संस्था का संचालन किया।

इस उदार, उदात्त एवं समन्वयात्मक विचारधारा के समाज में वे सभी भारतीय सम्मिलित हुये, जो 'आर्य समाज' तथा 'ब्राह्म समाज' के विचारों से सहमत नहीं थे। स्वेच्छा से अपने विचारों तथा आचारों का पालन करने

हुये, किसी प्रकार का कोई परिवर्तन किये बिना, आत्मचिन्तन का उचित मार्ग समझकर भारत तथा विश्व का बहुसंख्यक समाज इस संगठन का अनुयायी बना। आज इस संस्था की ५५ देशों में शाखाएँ उपशाखाएँ विद्यमान हैं और लगभग ३५ हजार से अधिक उसके सदस्यों की संख्या है।

कुछ वर्षों तक भारत में इस संस्था का वर्चस्व व्यापक रूप से बना रहा किन्तु जहाँ विश्व का अधिसंख्य मानव समाज उसकी ओर उन्मुख होता गया, भारत में उसके प्रचार प्रसार में बाधाएँ उत्पन्न होती गई। श्रीमती एनी बेसेंट के सत्प्रयासों के फलस्वरूप भी भारत में सोसाइटी की लोकप्रियता कम होती गई। उसके कई कारण थे। उसमें प्रधान कारण पारस्परिक वैमनस्य एवं मतभेद था। सोसाइटी के भीतर कुछ अन्धविश्वासी लोगों का एक समुदाय बन गया था। इस गुप्त समुदाय में ऐसे विवादास्पद तथा अवांछित लोग जुड़ गये थे कि जनसामान्य में जिनके प्रति अच्छी धारणा नहीं थी। इन लोगों ने अपना एकाधिकार एवं प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से इस प्रकार की नई मान्यताएँ स्थापित की कि राम, कृष्ण, बुद्ध, जरथुस्त्र, ईसा और मैत्रेय आदि विभिन्न अवतारी महात्मा एवं महापुरुष एक ही मूल आत्मा के रूपान्तर हैं। इसी वर्ग ने यह घोषित किया कि थियोसॉफिस्ट पेंशनर नारायण अय्यर के घर प्रभु रूप में कृष्णामूर्ति नामक एक अवतारी बालक का जन्म हुआ है, जो बड़ा होकर विश्व को उपदेश देगा और मानव समाज के लिये सन्मार्ग का निर्देशन करेगा।

श्रीमती एनी बेसेंट भी उस चमत्कारी बालक से प्रभावित हुई। उन्होंने नारायण अय्यर को समझा बुझाकर कृष्णामूर्ति को अपने साथ १९११ ई० में अध्ययनार्थ इग्लैण्ड ले गई। वे उस बालक को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में रखना चाहती थी, किन्तु वैसी व्यवस्था न होने के कारण वे उसे साथ लेकर भारत लौट आई। कुछ दिन बाद उन्होंने पुनः लेडी-बीटर के साथ कृष्णामूर्ति को इग्लैण्ड भेज दिया।

इधर सोसाइटी के भीतर रहस्यमय व्यक्तियों का जो समुदाय बन गया था, उसके कारण सोसाइटी की प्रतिष्ठा एवं ख्याति को आघात लगा। पारस्परिक विवाद की स्थिति यहाँ तक पहुँची कि विरोधियों के उकसाने पर नारायण अय्यर ने श्रीमती एनी बेसेंट पर मद्रास हाईकोर्ट में इस आशय का एक मुकदमा दायर कर दिया कि उनके पुत्र को लौटा दिया जाये। १९१३ ई० में हाईकोर्ट ने निर्णय दिया कि कृष्णामूर्ति को उसके पिता को लौटा दिया जाये।

अवतारी कृष्णमूर्ति विषयक यह विवाद सोसाइटी के विखण्डन का कारण बना। निष्ठावान् जन-सामान्य उससे अलग होने लगा। श्रीमती एनी बेसेंट के प्रति भी विवेकशील समाज की धारणा उनकी इस घोषणा से कम हो गई, जब उन्होंने घोषित किया कि वे पूर्वजन्म में भारतीय थीं। इस प्रकार के अन्धविश्वासों का यह परिणाम हुआ कि भारत में 'ब्रह्म विद्या समाज' का प्रभाव एवं अस्तित्व निरन्तर क्षीण होता गया।

सिद्धान्त-निरूपण

ब्रह्मविद्या समाज के अपने उदात्त मानवीय सिद्धान्त हैं। उसमें पूर्व तथा पश्चिम के शाश्वत विचारों का समन्वय है। उसमें धर्म के उदात्त मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाया गया है। उसकी विशेषता यह है कि उसमें सर्वधर्म समन्वय के उच्च आदर्श निहित हैं। उसके प्रत्येक अनुयायी को यह अधिकार दिया गया है कि सत्य का अन्वेषण करते हुये जिसको जो उपयोगी लगे एवं योग्य लगे, उसे ग्रहण करने के लिये वह स्वतन्त्र है। धर्म की शाश्वत, चिरन्तन मान्यताओं को अपनाते हुये प्रत्येक सत्यान्वेषी आचार एवं चरित्र की शुद्धता पर निष्ठावान् बना रहे। सत्य धर्म का पालन करते हुये वह पुण्यार्जन करे। दूसरों के हित तथा कल्याण की इच्छा से उनके दोषों का इसलिये उनके समक्ष उद्घाटन न करना कि उनको दुःख होगा पाप है। उनको प्रकट करने में पाप नहीं होता।

भारत में ब्रह्मविद्या पर जो अगाध चिन्तन हुआ है और वहाँ गुह्यविद्या के जो चमत्कारी रहस्य प्रच्छन्न हैं, उनकी खोज करना और उन्हें सामान्य मानव बुद्धि के अनुरूप प्रकाशित करना इस सोसाइटी के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है। सांसारिकता से अलिप्त रहकर ही आध्यात्मिक उन्नति संभव है।

इस संस्था के तत्त्वज्ञानियों का मत है कि वेदमंत्रों के ध्यान में गति, रंग, रूप और शक्ति है। उनका यदि एकाग्रचित्त से यथाविधि अनुष्ठान किया जाये, तो उनकी सिद्धि में, उनसे साक्षात्कार करने में कोई सन्देह नहीं है। धर्मशास्त्र तथा पुराणों में जहाँ तक कथा-विस्तार और रूपक एवं प्रतीक रचना का सम्बन्ध है, उनकी उनके शब्दार्थ तक ही सीमित न रखकर उनके गूढार्थ की खोज करनी चाहिये।

सैद्धान्तिक दृष्टि से इस संस्था के अनुयायी पुनर्जन्म, परलोक और अवतारवाद के समर्थक हैं। इस दृष्टि से यह मत हिन्दुत्व मान्यताओं के अधिक निकट है। इस मत के अनुसार यद्यपि अनादि, अद्वैत ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, तथापि जगदुत्पत्ति के प्रयोजन में वह प्रकृति-पुरुष के द्वैतरूप में भी सत्तावान् है। 'भगवद्गीता', धर्मशास्त्र और पुराणों की मान्यताओं को स्वीकार करते

हुये इस मत मे कर्मयोग के सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया गया है। मनुष्य के आचार-विचार के अनुरूप ही उसके कर्म होते हैं और कर्मानुरूप ही उसकी नियति (भाग्य) होती है। कर्म ही भाग्य का निर्माण करता है और उसी से परलोक का सुधार होना है। भाग्य के भरोसे अकर्मण्य होकर बैठे रहना मूर्खता है। मनुष्य के जन्मान्तर मे उसके कर्मो का लेखा-जोखा उसके साथ रहता है। पुरुषार्थ द्वारा कर्मों के दुष्परिणामो को बदला जा सकता है। कर्म-सिद्धान्त मनुष्य को यह बताता है कि भूतकालीन कर्मों का परिणाम वह वर्तमान जीवन मे और वर्तमान जीवन के कर्मों का फलोपभोग भविष्य जीवन मे करता है। इसीलिये भावी सुफल की आकाक्षा से वह वर्तमान जीवन मे सत्कर्मों के अर्जन की ओर स्वत ही प्रवृत्त होता है। पृथ्वीलोक मे मनुष्य के जीवन धारण का एकमात्र उद्देश्य है आत्मसंयम। जीवन को आत्मसंयमी बनाकर जब वह जन्मान्तर प्राप्त करता है तो उसे दुष्प्रवृत्तियो से जूझना नहीं पड़ता है।

इस मत मे अवतारवाद को माना गया है और उसकी वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या की गयी है। वहाँ यह माना गया है कि दशावतार वस्तुतः मानव-सृष्टि के विकास के प्रतीक हैं। अपनी आरम्भावस्था से लेकर अब तक मानव ने जिस क्रम एव रूप मे अपने स्वरूप विचार-बुद्धि-बल आदि का विकास किया, तदनुरूप अवतारो की कल्पना की गई है। राम, कृष्ण, ईसा तथा जरथुस्त्र आदि ऐसे ही अवतारी महात्मा थे। ईश्वर मानव-कल्याण के लिये अवतार लेता है और वे योगी, सिद्ध एव उद्धारक के रूप मे मानव की भाँति जन्म लेते हैं।

सृष्टि-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे, 'ब्रह्मविद्या समाज' के अनुयायियो का अभिमत है कि प्रकृति-पुरुष के सयोग मे सृष्टि का उदय हुआ है। दोनों तत्त्व सनातन एव अनादि हैं। यद्यपि अद्वैत ब्रह्म ही परम सत्य है, तथापि सृष्टि-प्रक्रिया के सचालन के लिये उस अद्वैत को प्रकृति-पुरुष रूप मे विभक्त (द्वैत) होना पड़ा। मृत मनुष्य का जीवात्मा तब तक स्व-कर्मबन्धनो से मुक्त नहीं हो पाता, जब तक कि उसका श्राद्ध न किया जावे।

गुरु के प्रति श्रद्धा-निष्ठा का इस मत मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस मत के अनुसार वर्तमान जगद्गुरु मैत्रेय हैं, जिनका निवास उत्तरी हिमालय पर है। इस हिमालय अचल मे ही ऋषि-सघ का आवास है और वहीं ससार के आध्यात्मिक आधार भगवान् सनत्कुमार का निवास है।

इस सस्था का अपना वृहत्साहित्य है, जो कि प्राय अँग्रेजी मे है। उसमे सस्था की सर्वांगीण प्रक्रिया पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

यद्यपि सम्प्रति भारत में 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' नाम मात्र के लिये है, किन्तु उसके उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों की महनीयता मानव-समाज के लिये सतत प्रेरणादायी एवं अनुकरणीय बनी रहेगी। सर्व-धर्म-समन्वय द्वारा विश्व-बन्धुत्व स्थापित करना इस संगठन का मूल उद्देश्य है। उनमें सभी धर्मों, मतों और जाति वर्गों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित होने के लिये स्वतंत्र हैं। प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार है कि वह किसी भी धर्म, दर्शन, गुरु तथा संस्था से अपना सम्बन्ध बनाये रख सकता है। उसमें जात पाँत, वर्ण, सम्प्रदाय और यहाँ तक कि किसी राष्ट्रविशेष का भेद-भाव नहीं माना जाता है। कोई भी मतावलम्बी अपने दैनिक नैष्ठिक कर्मों को सम्पादित करते हुये, चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक, गुरुभक्ति तथा योग साधना द्वारा कर सकता है और संगठन का सदस्य बन सकता है। इस संगठन में हिन्दू धर्म के आदर्शों के अनुरूप पूर्वजन्म, कर्मवाद, अवतारवाद, पूजा, उपासना, योगसाधना, तप और व्रत द्वारा आत्मकल्याण कर सकता है।

इस समाज के प्रमुख तीन उद्देश्य इस प्रकार हैं—१. मानवजाति के सार्वभौम मातृभाव का एक केन्द्र बिना किसी जाति धर्म स्थापित करना, २ विभिन्न धर्म, दर्शन तथा विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहित करना, और ३ प्रकृति के अज्ञात नियमों तथा मानव में अन्तर्निहित शक्ति का विकास करना।

उसका एक सर्वव्यापी सत्ता में विश्वास है, जो कि समस्त सृष्टि का मूल स्रोत और सर्वत्र व्याप्त है। उसका लक्ष्य एक ऐसे मानव समाज का निर्माण करना है, जिसमें सेवा, सहिष्णुता, आत्मविश्वास और समानभाव की प्रतिष्ठा है। उसका आदर्श वाक्य है—'सत्य से श्रेष्ठतर कोई धर्म नहीं है' (सत्यान्नास्ति परो धर्मः)।

इस सोसाइटी का एक चिह्न या मोहर है, जो कि षट्कोणयुक्त है और जिसके प्रत्येक कोण प्रतीकात्मक हैं। उसके द्वारा आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करना है। वह विष्णु की मुद्रा तथा सुलेमान एवं डेविड की मोहर का प्रतीक है।

रामकृष्ण मिशन

आधुनिक विश्व को ज्ञान के आलोक से प्रकाशित करने वाली धर्मसंस्थाओं मे 'रामकृष्ण मिशन' का नाम उल्लेखनीय है। इस धर्मसंस्था के जनक स्वामी विवेकानन्द थे। उन्होंने अपने गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस के नाम पर उसकी स्थापना की। स्वामी रामकृष्ण परमहंस भारत के विद्याविदों एवं सिद्ध महापुरुषों में थे। उनका जन्म हुगली जिला (बगाल) के कामारपुकर (या कामापुर) नामक गाँव में १८३६ ई० में हुआ था। बाल्यकाल में ही माता पिता का निधन हो जाने के कारण उन्हें असह्य कष्टों का सामना करना पड़ा और इन्हीं कष्टों एवं निराशाओं ने उनके जीवन को एक नई दिशा दी। जब वे केवल दस वर्ष के बालक थे, उनमे धर्मानुराग की लौ प्रज्ज्वलित हो चुकी थी और उनके व्यक्तित्व के असाधारण चमत्कारी लक्षण प्रकट होने लग गये थे। जो भी योगी या सन्यासी उन्हें दिखाई देता, वे उसके पास जा बैठते।

इसी विरक्तावस्था में किसी प्रकार उन्हें विवाह-बन्धन मे बाँध लिया गया, किन्तु परिवार में उनका मन नहीं लगा। सासारिक क्रिया-कलापों के प्रति उनकी उदासीनता बढ़ती ही गयी। वे विभिन्न देवी देवताओं के भजन एवं ध्यान में दत्तचित्त रहने लगे। कभी-कभी समाधिस्थ होकर वे भगवत्-चिन्तन में ध्यानमग्न हो जाते थे। ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती गयी, एक जन्मसिद्ध योगी के रूप में उनका नाम प्रचारित होने लगा।

घर की विपन्नावस्था ने उनके चिन्तन की एकाग्रता में विषमता उत्पन्न की और वे आजीविका की खोज में घर से निकल पड़े तथा कलकत्ता के निकट एक मन्दिर मे पुजारी हो गये। उन दिनों मन्दिर का पुजारी होना एक ब्राह्मण के लिये निकृष्ट कार्य समझा जाता था, किन्तु उन्होंने उसकी कोई चिन्ता नहीं की। मन्दिर में रहने से उन्हें दो लाभ हुये। एक तो उन्हें भगवान् के आराधन पूजन का सुयोग प्राप्त हो गया और दूसरे मे साधु-सन्तों का सम्पर्क प्राप्त होता गया।

जिस मन्दिर के वे पुजारी थे, वहाँ आनन्दमयी जगन्माता की एक मूर्ति थी। उसके समक्ष करुणार्द्र होकर वे इतने विह्वल हो उठते कि उनके हृदय की व्यथा आँसुओं मे बहने लगती। जगन्माता के ध्यान मे वे इतने तल्लीन हो गये कि उन्हें रात-दिन तक का ज्ञान नहीं रहता। स्वामी विवेकानन्द ने

उनकी इस विक्षिप्तावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि माता के दर्शन के लिये वे बिलखने लग जाते थे।

जगन्माता के प्रति उनकी भक्ति की तन्मयता यहाँ तक बढ़ी कि वे घर-बार त्यागने के लिये तत्पर हो गये। अपनी पत्नी मे उन्होने जगन्माता का रूप देखने का व्रत धारण कर लिया। उनकी इस स्थिति से दु खित पत्नी ने उन्हे घर चलने के लिये कहा, किन्तु स्वामीजी उसके चरणो मे गिर पडे और उसे 'जगन्माता' कहकर पुकारने लगे। उन्होने अपार व्यथा को प्रकट करते हुये अपने सकल्प को अपनी पत्नी के सामने रखा। पति की इस स्थिति को देखकर वह उनकी बात मानने के लिये विवश हो गई, किन्तु उसने पति से निवेदन किया कि निष्ठित जीवन बिताती हुई वह पति-सेवा मे ही तन्मय रहकर उन्ही के समीप रहेगी। स्वामीजी ने पत्नी की बात को मान लिया।

स्वामीजी के जीवन के उद्देश्यो की ये असाधारण गाथाएँ समाज मे फैलती गयी और जन-समुदाय उनके दर्शनो एव उपदेशो को सुनने के लिये उनके पास आने लगा। स्वामीजी के सम्बन्ध मे यह ज्ञात नही होता है कि उन्होने विधिवत् सन्यास धारण किया था नही। किन्तु शक्तिसाधक स्वामी तोतापुरी को स्वामीजी का गुरु बताया जाता है, जो कि शकरमतानुयायी दशनामी सन्यासियो मे से थे और इसलिये उनके मिशन या मठो के सन्यासी दशनामी पुरी शाखा के अनुयायी माने जाते है।

स्वामी रामकृष्ण परमहस ने वेद शास्त्रो की विधिवत् शिक्षा दीक्षा प्राप्त नही की थी और न ही किसी विद्वान् के समक्ष बैठकर उन्होने दर्शन एव तत्त्व-विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। जगन्माता की कृपा से उन्हे समस्त वेद शास्त्र, तत्त्वज्ञान स्वत सिद्ध हो चुके थे। उन्होने स्वत प्रेरणा से प्रचलित धर्मों तथा धर्माचार्यों से परिचय प्राप्त किया। वे विभिन्न धर्मों के तत्त्व को जानने की इच्छा से मुसलमान फकीरो तथा ईसाई पादरियो के पास गये। उन्होने अनुभव किया कि विभिन्न धर्मो मे ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग आदि का विभिन्न रूपो मे आधार लिया गया है, किन्तु सबका अन्तिम लक्ष्य एक ही है।

सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिये स्वामी रामकृष्ण परमहस ने आत्मसयमी, चरित्रवान् और समभावयुक्त होने का उपदेश दिया। उनके उपदेशो को सुनने के लिये प्रतिदिन लोग आते और आत्मशान्ति प्राप्त कर लौटते थे। उनकी वाणी मे अद्भुत आकर्षण था। वे बोलचाल की सरल, किन्तु ओजस्वी भाषा मे सत्यधर्म का गभीर निरूपण करते और उसको सुनकर श्रोताजन इतने प्रभावित होते कि वे सहसा उनके चरणो मे आत्मसमर्पण कर दे ते थे।

इस प्रकार एक विलक्षण बुद्धि, सिद्ध, आत्मदर्शी महापुरुष के रूप में स्वामीजी का नाम न केवल भारत में, अपितु विदेशों तक फैल गया था। प्रतिदिन सुदूर अंचलों से ज्ञान पिपासु लोग उनके पास आते और अपनी पिपासा को पूर्ण कर लौटते थे। कहा जाता है कि उनकी सिद्धि का कारण भगवती जगन्माता थीं। उनकी कठिन साधना से प्रसन्न होकर आनन्दमयी माँ स्वयं प्रकट हुई थी और स्वामीजी को उन्होंने साक्षात् दर्शन दिया था।

जीवन के उत्तरार्द्ध में स्वामीजी ने एकान्त में रहकर आत्मचिन्तन किया। वे सुदूर बंगाल से चलकर उत्तराखण्ड पहुँचे और वहाँ भगवान् बदरीनाथ तथा केदारनाथ के दर्शन कर उन्होंने अपनी अध्यात्मनिष्ठा को पूरा किया। तत्पश्चात् वे बंगाल लौट आये। १६ अगस्त, १८८६ ई० को उन्होंने परमधाम को प्राप्त किया। उनका प्रसिद्ध मठ कलकत्ता के निकट गंगा तट पर विद्यमान है, जो कि 'बेलूर मठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने देश के दक्षिणांचल, पूर्वांचल तथा उत्तरांचल का भ्रमण कर व्यापक जन-समाज को धर्म-गंगा से अभिषिक्त किया और उन्हें आत्मशान्ति का अमर सन्देश दिया।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शिष्य और 'रामकृष्ण मिशन' के संस्थापक स्वामी विवेकानन्द हुये। उनका जन्म कलकत्ता के कायस्थ परिवार में ७ जनवरी, १८६३ ई० को हुआ था। वे महान् योगी, तत्त्ववेत्ता, भक्त, धर्म-प्रचारक, भारतीय-संस्कृति के पुजारी और राष्ट्र-निर्माता के रूप में आधुनिक भारतीय इतिहास के देदीप्यमान रत्न थे। उन्होंने पौर्वात्य धर्म-दर्शन को पाश्चात्य धर्म-दर्शन के साथ समन्वित करके व्यापक मानव समाज को उद्बोधित किया।

स्वामी विवेकानन्द का पारिवारिक पितृ-प्रदत्त नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनके पिता श्रीविश्वनाथ दत्त विख्यात बैरिस्टर थे और कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे। सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित परिवार के बालक नरेन्द्रनाथ की बाल्यकाल से ही समुचित शिक्षा की सुव्यवस्था थी। अपनी छात्रावस्था से ही बालक नरेन्द्र की विलक्षण प्रतिभा के चमत्कार प्रकाश में आने लग गये थे। वे स्वत प्रेरणा से शास्त्रीय ग्रन्थों तथा दर्शन के तत्त्वज्ञान की जिज्ञासावश गंभीर साहित्य का अध्ययन करने लगे थे। वे इतने प्रत्युत्पन्न हो चुके थे कि एक बार उन्होंने पाश्चात्य दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर के दार्शनिक विचारों की आलोचना लिखकर उनके पास भेज दी थी, जिसे देखकर हर्बर्ट स्पेन्सर बड़े

प्रभावित हुये। उन्होने बालक नरेन्द्र का समुचित समाधान कर उन्हे नियमित अध्ययन के लिये प्रोत्साहित किया।

जिस समय बालक नरेन्द्र छात्रावस्था मे थे, उस समय भारत पर अंग्रेजो का शासन था और वे अपनी सस्कृति तथा धर्म के प्रचार प्रसार के लिये निष्ठा-पूर्वक निरन्तर कार्यरत थे। उच्च शिक्षा प्राप्त बहुसख्यक भारतीय, भारत की परम्पराओ एव उच्चादर्शों को पिछडा हुआ समझकर, पाश्चात्य आचार-विचारो के रग मे निमग्न होते जा रहे थे। नरेन्द्रनाथ दत्त भारतीयो की इस दशा को देखकर बडे चिन्तित हुये। उन्होने राजा राममोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन द्वारा सचालित 'ब्राह्म समाज' से सम्पर्क स्थापित किया। वे इन महापुरुषो से भी मिले। विचारो का आदान-प्रदान किया, किन्तु इस सस्था से कुछ दिनो के अनुभवो के बाद वे अलग हो गये।

इसी बीच उन्हे एक सिद्ध पुरुष आत्मज्ञानी स्वामी रामकृष्ण परमहस का नाम सुनाई दिया। वे उनके दर्शन के लिये उनके आश्रम मे गये और पहली ही भेंट से इतने प्रभावित हुये कि अपना सब कुछ उन्होने स्वामीजी के चरणो मे समर्पित कर दिया। १८८१–८६ ई० तक वे निरन्तर स्वामीजी के सम्पर्क मे रहे और उनके विचारो को ग्रहण करते रहे। अन्तत उन्होने गृहस्थ जीवन का परित्याग कर स्वामीजी से सन्यास की दीक्षा ग्रहण की। तब उनकी अवस्था २३ वर्ष की थी। ठीक इसी अवस्था मे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी सन्यास धारण कर लिया था। अपने नये दीक्षा नाम स्वामी विवेकानन्द से वे प्रसिद्ध हुये। सुयोग्य शिष्य समझकर स्वामी रामकृष्ण परम हस ने अपनी कठिन साधनाओ द्वारा अर्जित सम्पूर्ण आध्यात्मिक अनुभूतियो और स्वत सिद्ध विभूतियो को उन्हे समर्पित कर दिया। तत्पश्चात् कुछ समय बाद स्वामीजी ने शरीर त्याग कर दिया।

गुरुपाद के निधन के बाद स्वामी विवेकानन्द के समक्ष अनेक उत्तर-दायित्वो का गुरुभार उपस्थित हुआ। एक ओर तो मिशन का कार्य था, और दूसरी ओर देश मे बढती हुई पाश्चात्य सभ्यता की समस्या थी। उनके सन्यास का उद्देश्य परम्परागत भारत की धर्म तथा सस्कृति का सम्पोषण, प्रचार और देश का उद्धार करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सर्वप्रथम उन्होने कलकत्ता मे बराह नगर के निकट एक मठ की स्थापना की और वहाँ नियमित रूप से धर्म-चर्चा एव उपदेश भजन की व्यवस्था की। स्वामी विवेकानन्द ने भारत के महान् आत्मवेत्ता महापुरुष एव अपने गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहस की स्मृति को चिरस्थायी बनाने और मानव-कल्याण के

लिये उनके द्वारा बताये गये उद्देश्यों की पूर्ति के लिये 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना कर उनके उपदेशों का प्रचार-प्रसार किया।

तत्पश्चात् वे मिशन के सिद्धान्तों के प्रचार हेतु देश भ्रमण पर निकले। अपने पूर्ववर्ती महापुरुषों एवं तत्त्वज्ञ महापुरुषों के अनुकरण पर वे उत्तराखण्ड की यात्रा पर निकले। स्वामीजी ने वहाँ भगवान् बदरी-केदार के दर्शन किये और दिव्य विभूतियों से सम्पन्न आत्मदर्शी सन्त महात्माओं से तत्त्वज्ञान के उपदेश ग्रहण किये। उत्तराखण्ड की तपोभूमि में वे निरन्तर ६ वर्षों तक आत्मचिन्तन में साधनारत रहे। वहाँ से वे तिब्बत गये। वहाँ उन्होंने विद्वान् बौद्ध भिक्षुओं से बौद्ध-धर्म-दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया। तिब्बत से उन्होंने पुन भारत में प्रवेश किया। वे देश के विभिन्न अचलों में घूमे और उन्होंने वहाँ की परम्पराओं, प्रथाओं तथा रीति रिवाजों की जानकारी प्राप्त की। उन्होंने देश की तत्कालीन परिस्थितियों का अनुशीलन कर यह अनुभव किया कि अनेक कारणों से देश की उन्नत परम्पराएँ क्षीण होती जा रही हैं और देशवासी एक निराशापूर्ण अन्धकारमय भविष्य की ओर बढ रहे हैं। स्वामीजी ने देशवासियों को उनकी उदात्त परम्पराओं, धर्म तथा संस्कृति के महान् आदर्शों की ओर उद्बोधित किया।

देश में वे धर्मप्रचार में लगे ही थे कि उन्होंने समाचारपत्रों में पढ़ा कि शिकागो (अमेरिका) में विश्व-धर्म सम्मेलन होने जा रहा है। सुअवसर देखकर वे अमेरिका गये। वहाँ सम्मेलन में उन्होंने भारतीय धर्म दर्शन पर अपना जो प्रथम भाषण दिया, उससे बड़े-बड़े धर्मवेत्ता एवं तत्त्वज्ञ विद्वानों पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनके इस भाषण से सम्पूर्ण अमेरिका और विश्व में उनकी ख्याति फैल गयी। उन्होंने भारतीय धर्म के उच्चादर्शों एवं उद्देश्यों की सार्वभौम व्याख्या करते हुये यह प्रतिपादित किया कि उसका लक्ष्य विश्व-मानवता का उत्कर्ष एवं श्रेय करना है। उन्होंने भारत के सम्बन्ध में फैलाई गई सकीर्णताओं एवं भ्रान्तियों का भी जोरदार खण्डन किया और दृढता-पूर्वक यह प्रस्थापित किया कि विश्व-हित तथा मानव-कल्याण के लिये भारतीय धर्मादर्शों का व्यापक समर्थन होना चाहिये। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व ने भारतीय धर्म की महिमा को परिमण्डित किया।

अमेरिका के समाचारपत्रों में स्वामी विवेकानन्द के सचित्र भाषण प्रकाशित हुए और उनको भारत का महान् पुरुष कहा गया। अमेरिका के अनेक नगरों में उनके अनेक भाषण हुए। उन्होंने अमेरिका में 'वेदान्त सोसाइटी' की स्थापना कर लाखों लोगों को उनका अनुयायी बनाया।

अमेरिकी जन समाज स्वामीजी के उपदेशो से अत्यधिक प्रभावित हुआ और अनेक पश्चिमी देशो की यात्रा करने के लिये उन्हे आमन्त्रित किया गया।

अमेरिका से वे अक्टूबर १८९५ ई० मे लन्दन गये। वहाँ निरन्तर तीन महीनो तक उन्होने भारतीय धर्म तथा वेदान्त मत पर भाषण एव उपदेश दिये। लन्दन मे भी उनके सहस्रो अनुयायी हुये। उनमे भगिनी निवेदिता (मिस मारगेट नोबिल) आदि उनकी परम शिष्या बन गयी। १६ दिसम्बर, १८९६ ई० को स्वामी विवेकानन्द अपने अनेक विदेशी शिष्यो के साथ भारत लौट आये। भारत मे उन दिनो विकट अकाल पड़ा हुआ था। स्वामीजी ने सब कुछ छोड़कर पूरी तन्मयता से अकालपीडितो की सहायता मे जुट गये।

इस प्रकार निरन्तर बौद्धिक तथा शारीरिक परिश्रम से स्वामीजी अस्वस्थ हो गये। भारतीय डॉक्टरो ने उनकी चिकित्सा की और किंचित् स्वस्थता प्राप्त करने के बाद डॉक्टरो के परामर्श से वे विदेश चले गये। पहले वे इग्लैंड गये और उसके बाद अमेरिका। स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करते ही उन्होने अनेक देशो का भ्रमण किया और अपने मत तथा सिद्धान्तो के प्रचार प्रसार के लिये प्रत्येक देश मे 'वेदान्त सोसाइटी' की स्थापना की। १९०० ई० मे जब वे न्यूयार्क मे थे, उन्हे पेरिस मे आयोजित होने वाले 'कांग्रेस ऑफ रिलिजन्स' मे भाषण करने के लिये आमन्त्रित किया गया। स्वामीजी वहाँ गये और उनके गभीर विद्वत्तापूर्ण भाषण सुनकर श्रोताओ पर चामत्कारिक प्रभाव हुआ। इस प्रकार समस्त योरप तथा अमेरिका मे स्वामी विवेकानन्द ने भारत की धर्मध्वजा फहरा कर भारत के नाम को उज्ज्वल किया।

देश-विदेश मे निरन्तर मिशन के कार्यों मे दत्तचित्त रहने और बीमारी की अवस्था मे भी यथोचित विश्राम न करने से उनका स्वास्थ्य एकदम बिगड़ गया और ४ जुलाई, १९०२ ई० को अल्पावस्था मे ही आधुनिक भारत के बुद्ध एव शकराचार्य के स्वरूप, भारत के सपूत एव परम्परा के रक्षक स्वामी विवेकानन्द का शरीरान्त हुआ।

सिद्धान्त-निरूपण

स्वामी विवेकानन्द ने देश विदेश मे अपने मिशन के उद्देश्यो को प्रचारित किया। उन्होने अपने गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहस के अनुकरण पर अपने धर्म का मुख्य उद्देश्य दु खियो, पीडितो एव निराश्रितो की सेवा मे निहित किया। इसी सेवा को उन्होने अपनी सच्ची सेवा स्वीकार की और परोपकार को ही धर्म का निष्कर्ष एव उद्देश्य समझा। उन्होंने जहाँ जहाँ अपने भाषण दिये, वहाँ-वहाँ मानव-सेवा के महत्त्व को प्रतिपादित किया और उसे ही धर्म की सज्ञा दी।

वेदो पर आधारित वेदान्त को स्वामीजी भारतीय मनीषियो की सर्वोच्च देन मानते थे। उसमे सार्वभौम मानवता का ऐहिक तथा पारलौकिक हित एव श्रेय निहित है। उन्होंने वेदान्त की पूर्व परम्परा मे प्रस्थापित द्वैतमत तथा अद्वैतमत, दोनो मे समन्वय स्थापित किया। किसी दार्शनिक 'वाद' विशेष पर उन्होंने बल नही दिया। पुस्तको के ज्ञान की अपेक्षा उन्होने गुरु-ज्ञान को महनीय एव वरणीय बताया। अवतारवाद और मूर्तिपूजा के सम्बन्ध मे उनका मत सर्वथा अपूर्व एव सापेक्ष्य था। उनका कहना था कि महान् तत्ववेत्ता सन्तो एव आत्मज्ञानियो क अतिरिक्त भगवन्नाम का अभिलाषी प्रत्येक जन-साधारण मूर्तिपूजक है, अवतार-वाद पर विश्वास करता है, क्योकि वह आस्तिक है। वेदधर्म को स्वीकार करने वाला प्रत्येक भारतीय स्वभावत प्रकृतित आस्तिक है और इसलिये वह किसी भी मत-मतान्तर को मानने वाला हो, उसका मूर्तिपूजा और अवतारवाद पर विश्वास है।

स्वामीजी केवल कोरे तत्ववेत्ता एव धर्मप्रचारक ही नही थे, अपितु शिक्षा, सस्कृति और सामाजिक विषयो के प्रति उतने ही सजग एव सक्रिय थे। भारत की शिक्षा प्रणाली क सम्बन्ध मे उनके विचार रूढिवादी नही थे। वे यह मानते थे कि भारतीय शिक्षा प्रणाली को पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली मे परिवर्तित कर देना उचित नही है। छुआछूत की सकीर्ण मनोवृत्तियो के प्रति उनकी अनास्था थी और वे यह मानते थे कि सम्पूर्ण भारतीय समाज मे समानता स्थापित हुये बिना देश का उत्थान नही हो सकता है।

स्वामीजी विचारो की स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे और मनुष्य मात्र के लिये उसको जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। देश को पराधीनता से मुक्ति दिलाने के लिये उनका एक ही मूल मत्र था—'आगे बढो, कर्तव्य पालन करते हुये अपने अधिकारो की रक्षा के लिये तत्पर बने रहो। व्यक्तिगत उन्नति की अपेक्षा राष्ट्र की उन्नति बढकर है। राष्ट्र की उन्नति मे लगे रहने के अतिरिक्त उससे बढकर दूसरा धर्म नही है।'

इस प्रकार स्वामीजी ने अपने सिद्धान्तो को जटिल, गहन एव दुर्गम बनाने की अपेक्षा उसे सर्वसामान्य की समझ के अनुरूप प्रस्तुत किया। उनका धर्म वस्तुत मानव-सेवा, राष्ट्र-प्रेम का धर्म था।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण मिशन' के अपने विशिष्ट नियम एव सिद्धान्त है, जिनका पालन करना प्रत्येक अनुयायी का कर्तव्य बताया गया है। मिशन के सिद्धान्तो को साररूप मे इस प्रकार समझा जा सकता है—प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान का सदुपदेश देने से पहले स्वय ज्ञानार्जन करने का प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर के निराकार साकार, अद्वैत-द्वैत स्वरूपो

के जंजाल में पड़ने की अपेक्षा भजन तथा चिन्तन द्वारा मन को एकाग्र तथा संयमित करने का अभ्यास करना चाहिये। अपने हृदय का द्वार खोलकर सत्यासत्य का चिन्तन मनन करना चाहिये। किसी अन्य मत-मतान्तर की आलोचना प्रशंसा करने की अपेक्षा उसमें जो उपादेय है, उसे ग्रहण करना चाहिये। धर्म का आशय नाम-श्रवण तथा भजन करना मात्र नहीं है, अपितु अपनी आध्यात्मिक स्थिति का अनुशीलन करना चाहिए। वास्तविक धर्म वही है, जो जीवन में निर्मलता एवं पवित्रता का आधान करे।

इस प्रकार 'रामकृष्ण मिशन' के द्वारा विगत अनेक वर्षों से ज्ञान तथा धर्म का प्रचार-प्रसार होता रहा और दीन दुःखियों तथा अकालपीड़ित लोगों की रक्षा का प्रयास होता रहा। सेवा शुश्रूषा के इस लक्ष्य से मिशन को न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी सम्मान्य स्थान मिला। इस मिशन के सन्यासी महान् प्रतिभाशाली विद्वान् हुये, जिन्होंने एशिया, अमेरिका और योरप के विभिन्न देशों में मिशन की शाखाएँ स्थापित कीं। वे शाखाएँ आज भी अपने परम लक्ष्य को पूरा करके मानवता की उल्लेखनीय सेवा कर रही हैं।

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने देश तथा विदेश में भारतीय धर्म दर्शन की मान्यताओं को जन सामान्य की आस्थाओं का विषय बनाया। इस परम्परा को स्वामी रामतीर्थ ने आगे बढ़ाया। उनका जीवन में योग तप-साधना का समन्वय था। जन्मना उन्हें सिद्धि प्राप्त थी और इसका परिचय उनके विलक्षण व्यक्तित्व से सहज ही मिल जाता है।

स्वामी रामतीर्थ का जन्म मुरारीवाला (पंजाब) में एक गोस्वामी वैष्णव परिवार में दीपावली की ज्ञानदीप्त पवित्र तिथि को १८७३ ई० में हुआ था। बाल्यकाल में ही उनकी विलक्षण प्रतिभा के उदाहरण प्रकाश में आने लगे थे। उच्च शिक्षा प्राप्त कर कुछ दिनों तक उन्होंने मिशन कालेज, लाहौर में अध्यापन कार्य किया। इसी बीच उन्होंने 'भगवद्गीता' तथा उपनिषदों का अनुशीलन किया। वे संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और फारसी आदि भाषाओं के सम्यक् ज्ञाता थे।

स्वामीजी के हृदय में भगवद् भक्ति का जो उत्ताल वेग उद्वेलित हुआ, उसकी शान्ति एवं तृप्ति के लिये उन्होंने मथुरा तथा वृन्दावन की यात्रा की। वहाँ उन्होंने अपने हृदय की चिर साध को पूरा किया। वे कृष्णभक्ति में इतने रमे कि लौटने की सुध तक नहीं रही। उनका मन ब्रज के राधा कृष्ण-मय वातावरण में डूब गया। कृष्णभक्ति में तरंगायित होकर जब वे पंजाब

लौटे तो वे आत्मसमर्पित भक्त बन चुके थे। उनके पिता महाप्रभु चैतन्य मत के गोस्वामी थे। अतः उन पर पारिवारिक संस्कारो के कारण वे भी चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी बन गये।

स्वामीजी का समय अब भजन-कीर्तन तथा उपदेश-व्याख्यान मे ही बीतने लगा। पंजाब के अनेक नगरो का भ्रमण कर उन्होने चैतन्यमत के अनुरूप प्रेममय कृष्णभक्ति विषयक व्याख्यान दिये। उनकी वाणी के माधुर्य से श्रोता इतने विमुग्ध एवं प्रभावित हुए कि उनकी आँखो से अश्रुधारा बह निकली। वे भक्ति के उद्गार मे विह्वल होकर स्वयं ही आँसू बहाने लगते थे। उनकी ख्याति धीरे धीरे सारे पंजाब मे फैल गयी।

शास्त्रो और दर्शनो का अध्ययन उनकी नियमित चर्या हो गई। उपनिषदो से उनके अन्तस् मे आत्मचिन्तन की भावना बलवती हो उठी। उन्होंने भारत के पुरातन सन्तो, साधको, एवं धर्माचार्यो की परम्परा का अनुकरण करते हुये उत्तराखण्ड की यात्रा का निश्चय किया। उत्तराखण्ड जाकर उन्होने भगवान् बदरी-केदार के दर्शन किये। वहाँ के अन्य तीर्थस्थलो का भ्रमण किया। साधु-सन्तों, महात्माओ और सिद्ध पुरुषो के दर्शन किये। उनसे साधना और आत्म-चिन्तन का उपदेश ग्रहण किया। वर्षो एकान्तवास मे रहकर उन्हे आत्मानुभूति हुई। वे सांसारिकता से वैराग्य की ओर उन्मुख हुए। उत्तराखण्ड मे भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर किसी सन्यासी से दीक्षा लेकर उन्होने सन्यास धारण कर लिया और 'गोस्वामी' से केवल 'स्वामी' कहे जाने लगे।

उत्तराखण्ड से पुनः वे पंजाब लौट आये। वहाँ आकर १९०० ई० मे अध्यापक पद से त्यागपत्र दे दिया और ऋषिकेश, हरिद्वार तथा तपोवन आदि तीर्थस्थानों पर रहकर उन्होने साधु सन्तो का सत्सग प्राप्त किया। वे पुनः उत्तराखण्ड की यात्रा पर गये और वहाँ एकान्तवास मे रहकर साधना करते रहे। इसी समय टिहरी नरेश कीर्तिशाह से उनकी भेंट हुई। महाराज की सात्विक प्रवृत्ति एवं धर्म के प्रति निष्ठा जानकर स्वामीजी ने उन्हे सदुप-देश देकर लाभान्वित किया।

इन्ही दिनो समाचारपत्रो से विदित हुआ कि जापान मे 'सर्वधर्म सम्मेलन' का आयोजन किया जा रहा है। टिहरी नरेश कीर्तिशाह के अनुरोध पर स्वामीजी १९०२ ई० मे 'सर्वधर्म सम्मेलन' मे भाग लेने के लिये जापान गये, किन्तु घोषणा के अनुसार सम्मेलन किन्ही कारणो से नही हो पाया। जापान पहुँच कर स्वामीजी के लिये विभिन्न नगरो मे धार्मिक सभाओ का आयोजन किया गया। उन्होने धर्म का शाश्वत पक्ष जनता के समक्ष रखा और आत्मोद्धार एवं विश्व-कल्याण के लिये भक्ति के सुगम मार्ग पर चलने के लिये

निर्देश दिया। जापानी जन-समाज भगवान् बुद्ध की अनुयायी होने के कारण भारतीय साधु सन्तों महात्माओं के प्रति श्रद्धावान् रहता आया था। स्वामी रामतीर्थ को भी ज्ञानी सन्तों की भारतीय परम्परा का महापुरुष मानकर जापान में उनका बड़ा आदर हुआ। जापान से वे अमेरिका गये और वहाँ भी उन्होंने भाषण दिये। अमेरिका में स्थापित 'वेदान्त सोसाइटी' के अनुयायी जनता ने स्वामी रामतीर्थ को एक धर्माचार्य के रूप में समुचित सम्मान दिया। स्वामीजी के भाषण सुनकर अमेरिकावासियों में स्वामी विवेकानन्द की स्मृति ताजी हो गई। स्वामी रामतीर्थ के भाषण अमेरिका में इतने लोकप्रिय हुये कि सैकड़ों गृहस्थ गृहत्याग कर सन्यासी हो गये। श्रीमती वेलमैन जैसी अनेक महिलाएँ अपनी पाश्चात्य वेष भूषा त्याग कर सन्यासिनी बन गईं। जब स्वामीजी भारत लौट आये थे, तो श्रीमती वेलमैन भी महात्माओं की पुण्यभूमि का दर्शन करने के लिये स्वयं भारत आई थी।

अमेरिका से स्वामीजी ने अरब-देशों की यात्रा की। वे मिस्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने फारसी में वेदान्त तथा सूफीमत के समन्वय पर एक सारगर्भित भाषण दिया। उसको सुनकर मिस्रवासी जनता बड़ी प्रभावित हुई। भारत ज्ञानियों एवं महापुरुषों का देश कहा जाता था। इस रूप में मिस्रवासियों ने स्वामीजी के प्रति अपनी गहरी श्रद्धा प्रकट की।

पूरे ढाई वर्षों तक स्वामी रामतीर्थ जापान, अमेरिका तथा अरब आदि देशों का भ्रमण कर वहाँ सत्यधर्म का प्रचार प्रसार किया, भारतीय संस्कृति और उन्नत आचार-परम्पराओं का प्रसार किया। ८ दिसम्बर, १९०४ ई० को वे भारत लौटे। उनके आगमन पर भारत के समस्त धर्मानुयायियों ने उनका हार्दिक स्वागत किया।

सिद्धान्त-निरूपण

स्वामी रामतीर्थ का जन्म चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी परिवार में हुआ था। अतएव जन्मतः ही उन पर चैतन्यमत की कृष्णभक्ति का प्रभाव था। मथुरा वृन्दावन की यात्रा से उनका कृष्णभक्ति प्रेम अधिक समृद्ध हुआ। उन्होंने अपने उपदेशों में कृष्णभक्ति की प्रेममय लीलाओं का हृदयग्राही वर्णन किया। तत्पश्चात् उत्तराखण्ड में रहकर वे वेदान्त-दर्शन की ओर उन्मुख हुए और वहीं उन्होंने सन्यास धारण किया। सन्यासी हो जाने के बाद उन्होंने वेदान्त मत का प्रतिपादन किया। उन्होंने बुद्ध, मुहम्मद, जराथुस्त्र और ईसा मसीह आदि अवतारी महापुरुषों के प्रति समान श्रद्धा निष्ठा रखने का उपदेश दिया, किन्तु वेदान्त मत में ही जीवन की सर्वांगीणता के दर्शन करने पर बल

दिया। वेदान्त मत को उन्होने सर्वसुलभ, सर्वजनहितकारी और सर्वव्यापक बताया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि वेदान्त मत के अनुगमन से ही चरित्र, कर्तव्यपालन और अनासक्ति का उदय होता है।

अपने समस्त जीवन मे जन मानस मे शान्ति, श्रेय और सन्मार्ग की स्थापना कर स्वामीजी ने १७ अक्टूबर, १९०६ ई० मे परम धाम को प्राप्त किया। टिहरी गढवाल के सिमलासू गांव के नीचे भिलगना नदी के तट पर उनकी समाधि है। उनकी इस निर्वाणस्थली से अधिक भव्य एव उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये स्थानीय जनता का बडा प्रयास है। उनकी इस निर्वाणस्थली पर प्रतिवर्ष, १७ अक्टूबर को उनके निर्वाण की स्मृति मे, भव्य आयोजन किया जाता है। टिहरी के डिग्री कालेज का नामकरण 'स्वामी रामतीर्थ महाविद्यालय' किया गया है। अठूड गांव के जिस पीपल वृक्ष के नीचे उन्होंने कई वर्षो तक समाधिस्थ होकर आत्मचिन्तन किया था, वह वृक्ष आज भी विद्यमान है।

स्वामीजी के शरीर त्याग के पश्चात् उनके अनुयायी शिष्यो मे नारायण स्वामी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने गुरुपाद के उपदेशो तथा व्याख्यानो को जन-सामान्य के उपकार हेतु सकलित किया और उन्हे पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित किया।



सत्यशोधक समाज

आधुनिक भारत के धार्मिक समानता तथा समाज-सुधार आन्दोलनों के इतिहास में 'सत्यशोधक समाज' का भी एक नाम है। इस समाज की स्थापना ज्योतिबा फुले ने १८७३ ई० में की थी। इस संगठन ने महात्मा गांधी के अनुकरण एवं आदर्श पर 'अस्पृश्यता निवारण' के लिये सशक्त एवं व्यापक आन्दोलन चलाया और पिछड़े एवं दलित समाज के प्रति होने वाले अन्यायों का तीव्र विरोध किया। वर्णवाद और जातीय श्रेष्ठता की परम्परागत सामाजिक मान्यताओं के विरोध में उसने अपने समानता तथा एकता और भ्रातृभाव के आदर्शों को स्थापित किया। इस प्रकार वर्णवाद तथा जातिवाद के कारण देश की अखण्डता को जो हानि हो रही थी और समाज की मेहनतकश जनता में जो असन्तोष व्याप्त था, 'सत्यशोधक समाज' ने उसके सुधार के लिये तीव्र अभियान चलाया। यद्यपि इस संगठन का अधिकतर प्रभाव महाराष्ट्र में हुआ, किन्तु सुधार-सम्बन्धी कार्यों की ख्याति सारे समाज में फैली। गांधीजी सर्ववर्ण-समानता के लिये जो कार्य कर रहे थे, ज्योतिबा फुले ने उसको सशक्त बनाया।

सैद्धान्तिक दृष्टि से यह संगठन एकेश्वरवादी था। सभी धर्मों के सन्तों, महापुरुषों, अवतारों तथा पैगम्बरों में समान श्रद्धा उसका ध्येय था। उसमें सभी धर्मों के लोगों को समान अधिकार प्राप्त थे, किन्तु उपासना की दृष्टि से एकमेव परमेश्वर को ही परम ध्येय माना गया है। वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर व्यापक विश्व-मानवता में आत्मा की अभिन्नता के रूप में केवल एक है।

इस संगठन ने धार्मिक संकीर्णताओं के कारण, हिन्दू समाज में फैली हुई ऊँच-नीच की विषमताओं की कटु आलोचना की और अज्ञान तथा दरिद्रता के विरुद्ध आवाज उठाकर समानता के जन्मसिद्ध मानवाधिकारों को उजागर करने में उल्लेखनीय कार्य किया। इस आन्दोलन ने जहाँ एक ओर धार्मिक सद्‌भाव, पारस्परिक भ्रातृभाव तथा राष्ट्रीय एकता की दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया, वहाँ दूसरी ओर किसानों, कारीगरों तथा मजदूरों के दीर्घकालीन आर्थिक शोषण को भी प्रभावित किया।

(ग्यारह)

गाँधी युग का सर्व-धर्म-समभाव

१ महात्मा गाँधी
२ लोकमान्य बालगंगाधर तिलक
३ महामना मदनमोहन मालवीय
४ योगिराज अरविन्द
५ डॉक्टर भगवानदास
६ महर्षि रमण
७ स्वामी शिवानन्द
८ डॉक्टर राधाकृष्णन्

गाँधी युग का सर्व-धर्म-समभाव

मोहनदास कर्मचन्द गाँधी

स्वाधीन भारत के राष्ट्रीय ज्योतिर्मय इतिहास के उन्नायक एवं युग-निर्माता मोहनदास कर्मचन्द गाँधी का जन्म २ अक्टूबर, १८६९ ई० (आश्विन कृष्ण १२, १९२५ वि०) को काठियावाड़ स्थित पोरबन्दर में हुआ था। उनके पिता कर्मचन्द गाँधी पोरबन्दर के दीवान थे और तत्पश्चात् बीकानेर (राजस्थान) के भी दीवान रहे। गाँधीजी ने हाईस्कूल तक की शिक्षा राजकोट में ही प्राप्त की और बाद में उनकी शिक्षा भावनगर के श्यामलाल कालेज में सम्पन्न हुई। ४ सितम्बर, १८८८ ई० को वे वकालत की शिक्षा के लिए विलायत गये और १० जून, १८९१ ई० को बैरिस्टर बन कर भारत लौटे। भारत में आकर कुछ दिनों तक उन्होंने वकालत की।

दक्षिण अफ्रीका को प्रस्थान

भारत में कुछ समय रहने के पश्चात् गाँधीजी १८९३ ई० में दक्षिण एशिया गये और वहाँ भारतीयों की दुर्दशा देखकर १२ मई, १८९४ ई० को उन्होंने 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' के नाम से एक राजनीतिक संगठन को जन्म दिया। गाँधीजी के उग्र आन्दोलन के कारण वहाँ की सरकार को अपना काला कानून वापस लेना पड़ा और इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को उनके मूल अधिकार दिलाकर गाँधीजी भारत लौट आये।

भारत आकर गाँधीजी ने १९१५ ई० में चम्पारन से स्वाधीनता आन्दोलन का सूत्रपात किया और भारत के जन-मानस को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए उद्बोधित किया। असहयोग आन्दोलन का शखनाद कर उन्होंने विदेशी शासन के बहिष्कार की घोषणा की। इस असहयोग आन्दोलन के इतिहास में नामधारी सिखों के गुरु, गुरु रामसिंह का नाम उल्लेखनीय है। गुरु रामसिंह अहिंसावादी थे और उन्होंने पंजाब के नगरों से लेकर गाँवों तक अपने धर्मयुद्ध को असहयोग का पर्याय बना कर विदेशी शासन के विरोध में घोर आन्दोलन किया। उनके उग्र विरोध के कारण अंग्रेजों का आसन डगमगाने लगा। उन्होंने १८७२ ई० में गुरु रामसिंह को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें कारागार में डाल दिया। कारागार में ही इस देशभक्त महापुरुष की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु का समाचार सुनकर सारा भारत आन्दोलन के संग्राम में

कूद पड़ा। अंग्रेजों ने हजारों नामधारी सिखों को भी बन्दी बना लिया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए बहुसंख्यक नामधारी सिखों ने गुरु साहब के बताये मार्ग पर चल कर अपने महान् त्याग, बलिदान तथा देशभक्ति का परिचय दिया। अपार कष्टों को झेलते हुए उन्होंने असहयोग आन्दोलन का मन-वचन-कर्म से पालन किया और उसके लिए उत्सर्ग किया।

महात्मा गांधी पर गुरु साहब की देशभक्ति का अमिट प्रभाव था। उन्होंने गुरु साहब के शान्तिमय आन्दोलन को देशव्यापी बनाया। गांधीजी ने नमक कानून का उल्लंघन कर विदेशी शासनतन्त्र को डगमगा दिया। जलियांवाला बाग और सीमाप्रान्त में भयंकर नर-संहार हुआ। भारी मार-काट और रक्तपात के बाद १५ अगस्त, १९४७ ई० को आजादी मिली। किन्तु देश पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान, दो टुकड़ों में विभाजित हो चुका था। उसके बाद देशभर में साम्प्रदायिक दंगों की ज्वाला भड़क उठी। आजादी की खुशी निराशा में बदल गई। इस पर गांधीजी ने आमरण अनशन की घोषणा की। दोनों सम्प्रदायों के अनुनय-विनय पर उन्होंने अपना अनशन तोड़ा। २० जनवरी को बिड़ला भवन में उनकी प्रार्थना-सभा में बम फेंका गया, किन्तु उससे कोई घायल नहीं हुआ। अन्त में ३० जनवरी को नाथूराम गोडसे नामक एक आततायी ने प्रार्थना-सभा में उन पर तीन गोलियाँ चलाई और इस प्रकार देशहित के लिए इस महापुरुष का प्राणोत्सर्ग हुआ।

गांधीजी के जीवनादर्शों के आधार ग्रन्थ

गांधीजी के जीवनादर्शों के आधार-ग्रन्थ 'भगवद्गीता' और 'रामायण' रहे हैं। इन दोनों ग्रन्थों के मानव-मंगलकारी सन्देशों को गांधीजी ने अपने प्रवचनों में बार-बार प्रकट किया है। 'भगवद्गीता' में भगवान् ने अधर्म का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के लिए बार-बार जन्म धारण करने का सन्देश दिया है। इस सन्देश ने प्रत्येक युग को नई शक्ति एवं प्रेरणा दी और इसी शक्ति को अर्जित कर गांधीजी ने अपने आन्दोलन को प्रशस्त एवं सशक्त किया। कर्मशक्ति की प्रेरणा उन्होंने उपनिषदों तथा गीता' से ग्रहण की। 'गीता' में फल की इच्छा से प्रेरित कर्म-त्याग को सन्यास कहा गया है। गांधीजी ऐसे ही सन्यासी थे।

'भगवद्गीता' के सम्बन्ध में गांधीजी का यह दृष्टिकोण रहा है कि यथा-संभव प्रत्येक व्यक्ति को, और विशेष रूप से आश्रमवासियों को, उसे कण्ठस्थ करना चाहिए। 'भगवद्गीता' का अध्ययन, मनन, अनुशीलन उनके जीवन का मुख्य ध्येय रहा और उन्होंने लिखा है कि—'एक बार तो मैं तेरहवें

अध्याय तक उसे कण्ठस्थ कर गया था। अब भी मैं यदि उसमे अधिक गहराई से पैठ सका होता तो हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता।'

'भगवद्गीता' की ही भाँति गाँधीजी की 'रामायण' तथा 'महाभारत' और 'रामचरितमानस' मे गहरी आस्था रही है। उन्होंने अहिंसक साधनों द्वारा रामराज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया, जिसकी प्रेरणा उन्हे 'रामायण' से प्राप्त हुई। 'महाभारत' ने जिस परम धर्म अहिंसा की उद्घोषणा की थी, और उपनिषदो, बौद्धो तथा जैनो ने जिसको लोकव्यापी अनुशासन के रूप मे फैलाया, एव परिपुष्ट किया, गाँधीजी ने उसे जीवन मे चरितार्थ किया।

अपनी धर्म-नीति का प्रतिपादन करते हुए गाँधीजी ने लिखा है कि—'जहाँ बुद्धि निरुपाय हो जाती है, वहाँ से श्रद्धा का आरम्भ होता है। तुलसीदासजी की श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धा ने हिन्दू-ससार को 'रामायण' के समान ग्रन्थरत्न भेंट किया। 'रामायण' विद्वत्ता से परिपूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबले में उसकी विद्वत्ता का कोई महत्त्व नही रहता। मनुष्य इस श्रद्धा को कैसे प्राप्त करे, इसका उत्तर तथा उपाय 'गीता' तथा 'रामचरित' मे खोजा जा सकता है।'

सर्व धर्म समभाव

गाँधीजी की जीवनी और उनके जीवन-सिद्धान्तो का अवलोकन करने पर सहज ही यह विश्वास होता है कि वे महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव की परम्परा के महापुरुषो मे थे। वे कोरे राजनीतिक नेता ही नही थे, अपितु धर्म-संस्थापक, संस्कृति-रक्षक, नैतिकता के पुजारी, दलितो के सरक्षक, महान् सन्त और युगविधायक भी थे। उन्होंने इस देश को जो दिया, वह चिर-स्मरणीय है।

उन्होने इस देश के पुरातन गौरव एव अस्तित्व का एक मौलिक सूत्र सत्य का आधार लेकर पराधीनता से देश को मुक्त किया और उसी बल पर नव-निर्माण की स्थिर भूमिका को बनाया। उनके सर्व-धर्म-समभाव के साधना पक्ष का सबल आधार सत्याग्रह था। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो के अधिकारो की रक्षा के लिए जिस युद्धनीति का अवलम्बन लिया था, उसे ही उन्होंने सत्याग्रह नाम दिया। उनका यह सत्याग्रह अन्याय के प्रति प्रत्यक्ष विरोध था, किन्तु अन्यायी के प्रति वैर-भाव का द्योतक नही था। अन्याय के प्रति निर्भयतापूर्वक प्रतिरोध करना और अन्यायी के प्रति हिंसाभाव को न अपनाना ही सत्याग्रह है। स्वयं कष्ट उठाकर, अन्यायी के अन्यायो का

प्रतिरोध करते हुए सत्य का, मानव-सहज अधिकारो की रक्षा का, आग्रह करना ही सत्याग्रह है।

सत्याग्रह दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'अहिंसा' है। इसलिए सत्याग्रह एक युद्ध नही, अपितु उसकी अन्तर्भावना मे प्रेम का समावेश है। सत्याग्रह एक ऐसा आन्दोलन है, जो पूरी तरह सच्चाई पर आधारित है और हिंसारहित होकर चलाया जाता है। आचार्य विनोबा भावे ने सत्याग्रही के लिए एकादश व्रतो का पालन करना अनिवार्य बताया है। सत्याग्रही को चाहिए कि वह उपवास, अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, निर्भयता, ब्रह्मचर्य और सर्व धर्म-समभाव आदि व्रतो का परिपालन करे। इन्ही व्रतो के आचरण के बाद सत्याग्रह दर्शन की उपलब्धि होती है।

सत्याग्रह वस्तुत नि शस्त्र प्रतिकार भी नही है। नि शस्त्र प्रतिकार निर्बल शस्त्र का परिचायक है, जिसमे हिंसा वर्जित नही है। किन्तु सत्याग्रह मे निर्बलता तथा निष्क्रियता नही है। वह तो एक सबल, सशक्त, सक्रिय अहिंसक प्रतिकार है, जिसमे धैर्य, कष्ट सहिष्णुता और आत्म बलिदान की उदात्त एव ऊँची भावना निहित है। अन्यायी और अन्याय के प्रति जो प्रतिकार बुद्ध तथा ईसा आदि महापुरुषो ने किया था उसी का सबल गाँधीजी ने लिया। उन्होने अन्याय का तो विरोध किया, किन्तु अन्यायी को उसके द्वारा किये जाने वाले अन्याय के प्रति उसके मन मे सद्विचारो को उजागर करने का प्रयत्न किया। उन्होने अन्याय के बदले न्याय और बुराई के बदले भलाई का प्रतिकार किया। उनके इस प्रतिकार मे प्रेम तथा सद्भावना का आग्रह था। यही उनका सत्याग्रह था और इसी को उन्होने व्यापक तथा सशक्त बनाया। उनका यह सत्याग्रह लोकतन्त्रात्मक था और गाँधीयुग के धर्म की धुरी थी।

सत्याग्रह की यह नवीन जीवन पद्धति न केवल भारत को स्वतत्र करने के लिए उपयोगी थी, अपितु वर्तमान अणुयुग मे, जब कि शस्त्रास्त्रो की होड इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि किसी भी समय समस्त मानव-जाति का विनाश हो सकता है। ऐसी दशा मे सत्याग्रह ही एक ऐसा उपाय है, जिसके द्वारा हिंसा को अहिंसा से बदला जा सकता है। अस्त्रशक्ति का शस्त्र द्वारा प्रतिकार करने की दशा मे मानव-जाति को युद्ध की विभीषिका मे झोक देने के अलावा किसी प्रकार का अन्य हल या हित नही हो सकता है। सत्याग्रह ही आज के विश्व के लिए एकमात्र सुरक्षा की गारण्टी है, जिसको आधार बनाकर मानवता का मगल हो सकता है।

सत्य, अहिंसा, आत्मबल, निर्भयता, चारित्रिक उच्चता, वैचारिक उदारता, प्रेम, दया, सद्भाव और समभाव गांधीजी के आदर्श थे। उनका अभिमत था कि हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नहीं हो सकता है, अन्याय को अन्याय से पराजित नहीं किया जा सकता है। उनका कहना था— मैं न तो किसी वाद का प्रवर्तक बनना चाहता हूँ, न कोई धर्मगुरु और न किसी मठ का महन्त ही।' गांधीजी उन भारतीय तत्त्वविदों की परम्परा के महात्मा थे, जिनको आत्मदर्शन हो चुका था। वे गंभीर विचारक होने के साथ-साथ उच्च साहित्य-निर्माता भी थे। वे पक्के आस्तिक थे, किन्तु रहस्यवादियों तथा वेदान्तियों जैसे विचारों के न होकर ईश्वर भक्त थे। वे उस ईश्वर के आराधक थे, जो सर्वजनसुलभ है और विभिन्न धर्मानुयायी बहुसंख्यक समाज का विभिन्न नाम-रूपों में उपास्य-आराध्य है। वे परमेश्वर के उस स्वरूप के आराधक थे, जो शिवमय, कल्याणमय और शान्तिमय है। वे इस जगत् के मूल में राम को और इस जगत् का आधार रामराज्य को मानते थे। उनकी दृष्टि से असत्य पर सत्य और अपवित्रता पर पवित्रता की विजय ही रामराज्य है।

गांधीजी का अभिमत था कि उत्सर्ग, प्रेम, त्याग, उदारता, निःस्वार्थ भावना और विवेक से किया गया प्रत्येक कार्य जैसे अपने लिए, वैसे ही मानवमात्र के लिए हितकर है। यही वास्तव में धर्म या धर्ममूलक सत्य का आचरण है।

गांधीजी के जीवन के राम, कृष्ण, बुद्ध, मूसा, ईसा और मुहम्मद आदि आदर्श महापुरुषों के उच्च ध्येय विद्यमान थे। इन्हीं सभी धर्मों का समन्वय उन्होंने अपने जीवन में किया था।

गांधीजी ने १९२५ ई० में अपने सत्याग्रह के संचालन के लिए एक १८ सूत्री कार्यक्रम बनाया था, जिसमें खादी का उपयोग, हिन्दू-मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता निवारण, राष्ट्रीय शिक्षा, गृहशिल्प का विकास, अछूतोद्धार धार्मिक एकता, मादक द्रव्यों का परित्याग, ग्रामोदय, स्वास्थ्यरक्षा, नारी उद्धार, किसान-मजदूरों का हित आदि का समावेश किया गया था। गांधीजी के सर्व धर्म-समभाव के भी यही सूत्र थे, जिनसे राष्ट्रीय चरित का नवनिर्माण किया जा सकता था और समानता की मजबूत स्थापना की जा सकती थी।

गांधीजी के सर्व धर्म-समभाव के सिद्धान्त पर कबीर की वाणी का प्रभाव था। उनकी माता कबीर पन्थ की अनुयायी थी। अतः माता के दुग्ध के रूप में मिले संस्कारों ने स्वभावतः उनको प्रभावित किया। कबीर की वाणियों में निहित सार्वभौम सहिष्णु सिद्धान्तों ने गांधीजी को धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से उदार बनाया। वे उसी परम प्रकाश एवं अनिर्वचनीय ज्योति से

ज्योतित थे, जो कबीर को प्राप्त हो चुकी थी। क्योंकि कबीर को यह आध्यात्मिक सम्पदा, जीव सेवा तथा मानव सेवा से मिली थी, अत गाँधीजी ने भी लोक-कल्याण का रास्ता अपनाया और कबीर के समानता के सिद्धान्त को लेकर आधुनिक विश्व मे सर्व धर्म समभाव का उच्चादर्श प्रस्तुत किया।

जीवन की कर्तव्यता को गाँधीजी ने कबीर की भाँति सत्य पर आधारित किया और सत्यधर्म को चरित्र तथा नैतिकता का उदात्त गुण स्वीकार किया। इस सत्यधर्म का परिपालन ही परमात्मा तक पहुँचने का एकमात्र आधार है। इस सत्यधर्म को सर्वप्रथम वैदिक ऋषियों ने खोज निकाला था और उसी को परवर्ती चिन्तको तथा धर्म प्रवर्तको ने अपनाया। गाँधीजी ने कबीर की भाँति अज, अनादि, सर्वव्यापी रामनाम की महिमा को मानव-जगत् की सद्-गति का एकमात्र उपाय स्वीकार किया। उनकी दृष्टि से झूठा स्वाभिमान मनुष्य के पापो को छिपाने का आवरण है। अपने में ही प्रत्येक जीव को देखना और प्रत्येक जीव मे अपने को ही देखना, यह समदृष्टि गाँधीजी को कबीर से ही मिली थी। पराजय को भी विजय के रूप मे वरण करने की अपरिमित आत्मशक्ति गाँधीजी की अपनी विशेषता थी।

सभी धर्मों के प्रति समान आदर

गाँधीजी के मतानुसार शुद्ध, सच्चा व्यवहार ही धर्म का सार है। ससार के सब धर्म और समस्त धर्मानुरागी उनकी दृष्टि मे श्रद्धा के पात्र हैं। यही कारण है कि हिन्दू-परिवार मे जन्म लेकर भी गाँधीजी मुसलमान होने मे गौरव समझते थे। उन्होने मन-वचन-कर्म मे सामजस्य स्थापित कर लिया था, इसलिए उनकी करनी और कथनी मे एकरूपता थी। उनके समाज-दर्शन तथा धर्म समभाव की सबसे बडी विशेषता यही थी। सभी धर्मों के प्रति उनकी समान निष्ठा थी और सभी का उन्होने समान आदर किया।

समभाव का आधार

महात्माजी न अपनी धर्म नीति मे सहिष्णुता पर बल दिया है, किन्तु धर्म के जिस स्वरूप को वे सम्पूर्ण मानवता के लिए एक समान उपयोगी समझते थे, उसकी पूर्ति उन्हे सहिष्णुता के भाव मे नही दिखाई दी। काका साहब कालेलकर ने उन्हें सर्व धर्म-आदर शब्द सुझाया था, किन्तु धर्मों को सहने की व्यापक भावना उन्ह उसमे नही दिखाई दी। इस दृष्टि से उन्होने आदर के स्थान पर 'समभाव' शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझा। समभाव मे दूसरे धर्मों के ग्राह्य अग अपने धर्म मे सहज रूप मे ग्रहण किये जा सकते हैं। उनकी दृष्टि मे सब धर्म ईश्वरप्रदत्त हैं, किन्तु मनुष्य द्वारा

प्रचारित होने के कारण ये अपूर्ण हैं। ईश्वरप्रदत्त धर्म अगम्य है। इसलिए हमें सभी धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि उससे स्वधर्म विषयक प्रेम ज्ञानमय हो जाता है। सब धर्मों के प्रति समभाव रखने पर हमारे दिव्य चक्षु खुल जाते हैं। धर्मज्ञान होने पर समस्त अन्तराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इसलिए सभी धर्मों के प्रति समभाव रखने पर ही धर्म के वास्तविक मूल को पाया जा सकता है।

गांधीजी के जीवन और सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि वे किसी पन्थ या सम्प्रदाय के *संस्थापक नहीं थे। उनका धर्म सभी धर्मों का समन्वय था।* वे यद्यपि धर्मान्तरण के विरुद्ध थे, तथापि साथ ही यह भी मानते थे कि यदि कोई किसी अन्य धर्म को उसकी विशेषताओं के कारण वरण करना चाहता है तो उसे रोकना उचित नहीं है। बल्कि उनका कहना था कि कोई भी व्यक्ति *बिना धर्मान्तरण किये ही, दूसरे धर्मों की अच्छी बातों को अपना सकता है।* उदाहरण के लिए जैन धर्म की जीवदया को अपनाने के लिए न तो हिन्दू बनने की आवश्यकता है और न जैन बनने की। इसी प्रकार ईसा महान् के सद्‌गुणों को अपनाने के लिए ईसाई बनने की आवश्यकता नहीं है।

गांधीजी का कहना था कि जीवदया में निष्ठा रखने वाले हिन्दू धर्म में मांसाहार वर्जित है। किसी भी प्राणी को मारना हम पाप समझते हैं। किन्तु सारी दुनियाँ वैसा नहीं समझती है। मनुष्य जाति का अधिकतर समुदाय मांसाहारी है। हम उसे मांस खाने से कैसे रोक सकते हैं? हम उसके लिए मांस नहीं पकायेंगे, किन्तु जहाँ मांस मिलता है, वहाँ जाकर उसे मांस खाने की अनुमति देंगे। हम उसका न तो बहिष्कार करेंगे और न ही पापी कहकर उसकी निन्दा करेंगे।

उनकी दृष्टि में हिन्दू धर्म एक धर्म-विशेष या सम्प्रदाय विशेष का धर्म नहीं है। उसमें समय-समय पर अनेक अन्य धर्मों के उच्चादर्शों का समावेश-समन्वय होता गया और इस तरह जिस प्रकार हमारी निष्ठा 'भगवद्‌गीता' में है, उसी प्रकार 'कुरान', 'बाइबिल' आदि में भी है। धर्म के तत्व सनातन हैं और वे सभी धर्मों में समान रूप से मिलते हैं। गांधीजी स्वयं सर्व-धर्म-समभाव का आचरण करते थे। उनके आश्रम में सभी धर्मों के लोगों को समान रूप से रहने की अनुमति थी। उनकी प्रार्थना सभा में वेदमंत्र, 'कुरान' की आयतें, ईसाईयों के भजन, बौद्धों तथा पारसियों की गाथाएँ और जापानियों के मंत्र—सभी का संकीर्तन होता था। उनका कहना था कि उन्हें

ऐसा हिन्दू धर्म मान्य एवं इष्ट है, जिसमें सभी धर्मों को समान आदर दिया जाता हो। उनकी दृष्टि में सब धर्म हमारे हैं और हम सब धर्मों के हैं।

सब धर्मों के लोगों को एक परिवार, एक राष्ट्र बन कर रहना है। यही समन्वय है। एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता, प्रेम तथा समानता का भाव रखना ही सद्भाव है।

संसार के किसी भी धर्म को नष्ट नहीं किया जा सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ईसाइयों ने तथा मुसलमानों ने अपने अपने धर्मों की स्थापना के लिए अनेक युद्ध लड़े जिसमें मनुष्यों का संहार होता रहा। किन्तु न तो इस्लाम का उन्मूलन हुआ और न ईसाई मत का। दूसरे को मारकर हम अपने धर्म को स्थापित नहीं कर सकते हैं। हमारा धर्म सही है, बाकी धर्म गलत हैं, इस भावना ने धर्मों के बीच युद्धों को जन्म दिया।

गांधीजी का अभिमत था कि तर्क और शास्त्रार्थ से धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। धर्म एक सहज भावना है, जो सनातन काल से मनुष्य-जीवन में सहज गति से समावर्तित होती आई है। वे धर्म की शाश्वत मान्यताओं को मानते थे और राजनीतिक विवादों को मिटाने के लिए धर्म को माध्यम बनाना चाहते थे।

इस प्रकार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने धर्म के सार्वभौम स्वरूप की परम्परा को आगे बढ़ाया और उसके द्वारा विश्व में सद्भाव, समन्वय, शान्ति, अहिंसा तथा सह अस्तित्व को फैलाया। धर्म की अपनी इस अपूर्व मान्यता के कारण उनका नाम विश्व इतिहास की २०वीं शती के महापुरुषों में अग्रणी एवं अमर है।

गांधी युग के धर्मचेता एवं विचारक

भारत के राष्ट्रीय इतिहास में ही नहीं, अपितु धार्मिक इतिहास में भी युगपुरुष महात्मा गांधी ने एक नये युग का प्रवर्तन किया, राष्ट्रीय चेतना के साथ ही धार्मिक चेतना को भी उजागर किया। उन्होंने भारतीय सन्तों और विचारकों की सार्वभौम भावना को प्रस्थापित किया और एकता, सद्भाव तथा सामंजस्य की स्थापना करके युद्ध, हिंसा, संहार तथा विनाश के संकटों से मानवता की रक्षा करने का सत्प्रयास किया। एक कर्मयोगी की भाँति स्थितप्रज्ञ एवं अटल विश्वास के साथ अपने संकल्पों की सार्थकता के लिए वे आजीवन जूझते रहे। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि इतिहास के पृष्ठों पर 'गांधी युग' को वरण तथा प्रतिष्ठित किया जाये।

इस गांधीयुग को जिन महाप्राण भारतीयों ने सुस्थिर एवं सर्वव्यापक बनाया, उनमें लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, महामना मदनमोहन मालवीय,

योगिराज अरविन्द, स्वामी शिवानन्द और डा० राधाकृष्णन् का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि इन महापुरुषों के कर्मपथ की विधाएँ गांधीजी की अपेक्षा भिन्न थी, साधना-पद्धति में भी अन्तर था तथापि धार्मिक तथा वैचारिक दृष्टि से उनमें एकात्मकता थी, विशेष रूप से भारत में धर्म की मान्यताओं के प्रति।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक का जन्म २३ जुलाई, १८५६ ई० को महाराष्ट्र के कोंकण प्रदेश स्थित रत्नागिरि नामक नगर में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता गंगाधर राव संस्कृत तथा गणित के प्रसिद्ध विद्वान् थे और रत्नागिरि की एक पाठशाला में अध्यापक का कार्य करते थे। लोकमान्य का पारिवारिक नाम बलवन्त राव था। बाल्यकाल से ही उनमें प्रतिभा तथा राष्ट्रीयता के गुण प्रकाश में आने लगे थे।

लोकमान्य की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। तत्पश्चात् डेक्कन कालेज, पूना से उन्होंने बी० ए० और एलिफिन्स्टन कालेज, बम्बई से एल० एल० बी० परीक्षा उत्तीर्ण की। राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलन ने उन्हें नौकरी या वकालत की अपेक्षा राष्ट्रोत्थान की ओर प्रवृत्त किया। इसी उद्देश्य से १८८१ ई० में उन्होंने मराठी में 'मराठा' और अंग्रेजी में 'केसरी' नामक साप्ताहिक समाचारपत्रों का प्रकाशन एवं सम्पादन आरम्भ किया। इन समाचारपत्रों के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को देशव्यापी बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया। महाराष्ट्र में शिक्षा तथा राजनीति के प्रसार में उन्होंने पर्याप्त लोकख्याति अर्जित की। ब्रिटिश प्रभुसत्ता के विरोध में भाषण करने और लेख लिखने के अपराध में कई बार उन्हें बन्दी बनाया गया। १९०९ ई० में उन्हें छः वर्ष के कारागार की सजा हुई और भारत से बाहर बर्मा के माण्डले किले में बन्द कर दिया गया। अनेक प्रकार की यातनाओं के बावजूद उन्होंने राष्ट्रोत्थान के अपने संकल्प को नहीं छोड़ा।

इसी बीच उनका सम्पर्क गांधीजी से हो चुका था। गांधीजी उनकी विद्या-बुद्धि तथा राष्ट्रीय भावना से अत्यधिक प्रभावित हो चुके थे। उनकी इस असाधारण योग्यता के कारण १९१८ ई० में उन्हें भारतीय-राष्ट्रीय-कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन का सभापति चुना गया, किन्तु एकाएक किसी मुकदमे के सिलसिले में उन्हें इंग्लैंड जाना पड़ा, जिससे कि महामना मदन-मोहन मालवीय को सभापति का कार्यभार संचालित करना पड़ा।

राजनीति के क्षेत्र में लोकमान्य उग्र विचारधारा के राष्ट्रवादी थे। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' इस उद्घोषणा के उद्घोषक तथा प्रचारक वे ही थे। उन्होंने किसी भी प्रकार के प्रलोभन से ब्रिटिश सत्ता से समझौता नहीं किया। लोकमान्य तिलक उन विशिष्ट व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार किया था।

राजनीति के साथ वे सामाजिक तथा धार्मिक उन्नयन की दिशा में भी सजग एवं सक्रिय रहे। वस्तुतः उस समय की राजनीति ही राष्ट्रधर्म था। परम्परागत भारतीय धर्म तथा संस्कृति के उन्नयन के क्षेत्र में भी उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया। राजनीति, धर्म तथा संस्कृति पर उन्होंने अनेक लेख लिखे और ऐसी मानक कृतियों का प्रणयन किया, जिनका सदाशय महत्त्व है तथा भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि में जिनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। १८८३-८४ ई० में उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ओरायन' का प्रकाशन हुआ। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने वेदकाल की मर्यादा पर गंभीर एवं नवीन विचार प्रस्तुत किये। इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने से पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त कतिपय भ्रान्तियों का निराकरण हुआ और भारतीय विद्या सभ्यता की प्राचीनता तथा महत्ता पर नये मान-मूल्यों की स्थापना हुई। उन्होंने १९०३ ई० में आर्यों के मूल निवास पर एक खोजपूर्ण कृति का निर्माण किया, जिसका नाम है 'दि आर्कटिक होम इन दि वेदाज'। उनकी सर्वोत्कृष्ट विद्वत्तापूर्ण कृति 'श्रीमद्भगवद्गीता का कर्मयोग या गीतारहस्य' है, जिसकी रचना उन्होंने बर्मा के कारागार में रहते हुए की थी।

एक ओर तो महामना मदनमोहन मालवीय हिन्दुत्व के नवोत्थान के लिए चेष्टारत थे और दूसरी ओर आधुनिक भारत के ऋषितुल्य कर्मयोगी लोकमान्य तिलक 'भगवद्गीता' के आदर्शों को प्रस्तुत कर रहे थे। 'भगवद्गीता' के कर्मयोग की उन्होंने नई व्याख्या की और अरस्तू, सुकरात, मिल, स्पेन्सर, काण्ट और ग्रीन आदि अध्यात्मवादी एवं आधिभौतिकवादी विचारकों की मान्यताओं की अपेक्षा भारतीय कर्मयोग की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया। उन्होंने समस्त मानव-जाति के नीतिशास्त्र में समानता प्रतिष्ठित कर पौर्वात्य तथा पाश्चात्य सभ्यताओं में एकता स्थापित की। उन्होंने भारतीय अध्यात्मवाद का आधुनिक पदार्थविज्ञान, सृष्टिशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के साथ तादात्म्य स्थापित करके भारतीय धर्म तथा संस्कृति की युगानुरूप नई व्याख्या की। धर्म की परम्परागत पुरातन भारतीय दृष्टि को आधुनिक विश्व के परिप्रेक्ष्य में समालोचित किया।

महामना मदनमोहन मालवीय

लोकमान्य की परम्परा मे गांधीयुग के राष्ट्रीय तथा धार्मिक नव जागरण से लोकचेतना को प्रभावित करने वाले युगपुरुषो मे महामना मदनमोहन मालवीय का नाम उल्लेखनीय है। उनका जन्म प्रयागराज के अहियापुर मोहल्ले मे २५ दिसम्बर, १८६१ ई० को हुआ था। उनके पिता व्रजनाथ मालवीय संस्कृत के विद्वान् थे। अत महामना की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा संस्कृत पाठशाला मे हुई। तत्पश्चात् प्रयाग के प्रसिद्ध म्योर सेण्ट्रल कालेज से १८८४ ई० मे उन्होने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ दिन उन्होंने अध्यापन कार्य भी किया।

अपने छात्र-जीवन मे ही उनका प्रवेश राजनीति मे हो चुका था। अपने कर्मठ कार्य-कलापो से थोडे समय मे ही उनकी गणना गिने-चुने भारतीय राजनीतिज्ञो मे होने लगी थी। १८८६ ई० को कलकत्ता मे आयोजित भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के द्वितीय अधिवेशन मे उनको भी आमंत्रित किया गया था।

लोकमान्य तिलक की भाँति महामना मालवीय ने भी कालाकाकर से निकलने वाले हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन किया। हिन्दी का यह प्रथम दैनिक था। इसी प्रकार उनकी प्रेरणा से इलाहाबाद से अंग्रेजी दैनिक 'लीडर' का प्रकाशन हुआ और लम्बे समय तक उन्होंने उसका सम्पादन किया। इन दोनो समाचारपत्रो के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता के अभियान को देशव्यापी बनाया और साथ ही देशवासियो मे धर्म तथा संस्कृति के पुरातन गौरव को जागरित किया।

१९०२ ई० मे वे प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा और तदनन्तर केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। तदनन्तर बढते हुए प्रभाव तथा अपनी जन-सेवाओ तथा देशप्रेम के फलस्वरूप १९०९ ई० मे लाहौर मे आयोजित अखिल भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस अधिवेशन के वे सभापति चुने गये। १९३० ई० मे राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप उनको कारावास हुआ। १९३१ ई० मे लन्दन मे आयोजित गोलमेज कान्फ्रेंस मे भाग लेने के लिए उन्होंने भारत का प्रतिनिधित्व किया। गांधीजी से उनका घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा और जब १९३२ ई० मे गांधीजी ने आमरण अनशन का निश्चय किया तो उसे समाप्त कराने मे उन्होने प्रमुख भूमिका निभाई।

वे जिस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए समर्पित रहे, उसी प्रकार हिन्दी के उन्नयन मे राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के घनिष्ठ सहयोगी रहे। मालवीयजी ने काशी मे हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की, तो टंडनजी ने हिन्दी विश्व-

विद्यालय की स्थापना के लिए प्रयाग में हिन्दी-साहित्य सम्मेलन को जन्म दिया। ये दोनों मनस्वी राष्ट्रीय स्वाधीनता की भाँति हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देवनागरी को राष्ट्रलिपि बनाने के घोर पक्षपाती थे।

राजनीति के क्षेत्र में मालवीयजी का व्यक्तित्व जितना गरिमामय था, उससे अधिक उनकी देन शिक्षा, संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में थी। वे परम्परागत भारतीय संस्कृति के पोषक, उन्नायक एवं संरक्षक थे। आचार-विचार और रहन-सहन की दृष्टि से वे कट्टर हिन्दू थे। वे धर्मशास्त्र के निष्णात विद्वान् और पक्के कर्मकाण्डी थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'सनातनधर्म' में धर्म के महत्त्व एवं वरण पर मौलिक प्रकाश डाला है। भारतीयता की रक्षा और स्थिरता के लिए उनकी दृष्टि में वर्णाश्रम धर्म का पालन करना अत्यावश्यक है। वे पक्के ब्राह्मण थे और कथा-प्रवचन को ब्राह्मणत्व का अंग मानते थे। जब वे 'भगवद्गीता' पर प्रवचन करते या 'भागवत' की कथा सुनाते तो उस समय उनके पाण्डित्य का ही नहीं, उनके नैष्ठिक व्यक्तित्व का भी पता चलता था।

देश के नवयुवकों के लिए वे ऐसी शिक्षा देने के पक्ष में थे, जिसमें चरित्र-निर्माण के साथ-साथ प्राचीन तपोवनों, आश्रमों और गुरुकुलों के आदर्शमय जीवन का उद्देश्य निहित हो। उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना कर उसमें इस प्रकार का पाठ्यक्रम निर्धारित किया था, जिससे हिन्दुत्व के पुरातन गौरव को पुनरुज्जीवित किया जा सके। अपने उन महान् उद्देश्यों में वे सफल भी रहे, यद्यपि आज की परिस्थितियों में उनके उन महान् उद्देश्यों को सर्वथा विस्मृत कर दिया गया है। हिन्दू-विश्वविद्यालय उनका एक ऐसा कार्य है, जिसका २०वीं शती के राष्ट्रीय इतिहास में अनन्य स्थान है।

मालवीयजी परम गो भक्त भी थे और गो-सेवा को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का अभिन्न अंग मानते थे। धर्म-कर्म के क्षेत्र में उनकी अपनी मान्यताएँ थी और देश के उत्थान के लिए धर्म-कर्म की श्रेष्ठता को वे सर्वोपरि मानते थे।

१२ नवम्बर, १९४६ ई० को, स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ महीनों पूर्व उस देशभक्त एवं धर्मप्राण मनस्वी का निधन हुआ।

योगिराज अरविन्द

योगिराज अरविन्द आधुनिक भारत के उन अध्यात्मवादी साधकों में हुए, जिनके तपोनिष्ठ जीवन की ख्याति विश्व के कोने-कोने तक पहुँची। भारतीय तत्त्व चिन्तन के क्षेत्र में उनकी असामान्य उपलब्धियाँ है, जिनका स्थाई महत्त्व है।

योगिराज का जन्म १५ अगस्त १८७२ ई० को कलकत्ता मे हुआ था। स्वदेश मे ही आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे १८८० ई० मे आगे की शिक्षा प्राप्त करने के लिए लन्दन गये, जहाँ वे वर्षो तक रहे। १८९० ई० मे आई० सी० एस० परीक्षा मे घुड़सवारी परीक्षण म अनुपस्थित रहने के कारण उन्हे असफल घोषित कर दिया गया था। विदेश से आकर आरम्भ मे वे बड़ौदा राज्य की सेवा मे रहे। फिर बड़ौदा नेशनल कालेज, कलकत्ता मे प्रधानाचार्य बने। १९०५-६ ई० मे बग-भग के आन्दोलन मे उन्होने सक्रिय भाग लिया और १९१० ई० मे लोकमान्य बालगगाधर तिलक के सहयोग से एव महात्मा गाँधी की प्रेरणा से उन्होने राष्ट्रीय दल का गठन किया। उससे पूर्व राजद्रोह के अपराध मे एक वर्ष तक वे कारागार मे बन्द रहे।

१९१० ई० मे उनके जीवन मे कुछ परिवर्तन आया और वे पाण्डिचेरी मे बस गये। धीरे-धीरे सब कुछ त्याग कर वे एकान्त साधक बन गये। योगिराज की साधना से प्रभावित होकर एक वृद्धा फ्रेंच महिला ने पाण्डिचेरी मे प्रवेश किया, जो कि स्वय भी साधिका थी और जिनको बाद मे 'माताजी' के श्रद्धेय नाम से कहा गया।

इन दोनो साधको की विलक्षण प्रतिभा से प्रभावित होकर पाण्डिचेरी मे उनके दर्शनो के लिए लोगो का ताता लगने लगा, जिससे उनके ठहरने के लिए एक आश्रम की स्थापना की गई। यह आश्रम धीरे-धीरे एक ऐसा धार्मिक प्रतिष्ठान बन गया, जिसमे विभिन्न धर्मो के लोग शामिल होते गये। भारत के और भारत के बाहर के तत्त्व-चिन्तको एव साधको का उस आश्रम मे गमनागमन होता गया। थोड़े ही समय मे पाण्डिचेरी का यह अरविन्द आश्रम विभिन्न धर्मानुयायियो का सगमस्थल बन गया।

योगिराज के विचारो के प्रचार प्रसार के लिए आश्रम से अँग्रेजी मे 'डिवाइन लाइफ', और बगला तथा हिन्दी मे 'अदिति' नाम से तीन पत्रिकाओ का प्रकाशन किया गया। उनमे योगिराज के अध्यात्म-चिन्तन विषयक खोजपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किये जाने लगे।

लोकमान्य बालगगाधर तिलक ने 'गीतारहस्य' मे जिस कर्मयोग का प्रतिपादन किया, योगिराज के जीवन दर्शन मे वह साकार दिखाई देने लगा। उन्होने 'भागवद्गीता' सहित वेदो तथा उपनिषदो के तत्त्वज्ञान की नई व्याख्या की। उनकी तर्कशैली नितान्त जटिल है और उसको हृदयगम करने के लिए गभीर समझ की आवश्यकता है। उन्होने पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विज्ञान दर्शन का समन्वय स्थापित किया। उनके तर्कज्ञान की विशेषता यह है कि उसमे आधुनिक विज्ञान को आध्यात्मिक भूमिका मे प्रस्तुत किया गया है।

योगिराज ने 'भगवद्गीता' पर विस्तृत एवं गंभीर व्याख्यान लिखे और उनमें यह प्रतिपादित किया कि सहस्रों वर्षों से पूर्व के वे चिन्तन आज के जीवन के लिए भी उतने ही उपयोगी एवं प्रेरणाप्रद हैं। उन्होंने यह प्रस्थापित किया कि 'भगवद्गीता' के महान् सन्देश आज के मानव-समाज में नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक हैं। उन्होंने यह प्रस्थापित किया कि 'भगवद्गीता' राष्ट्रीय नवोत्थान और सांस्कृतिक तथा धार्मिक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त करने के लिए एकमात्र साध्य है और इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को उसका अध्ययन-अनुशीलन करना चाहिए।

योगिराज मनुष्य की भौतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। उन्होंने मानव और मानव-जाति के पारस्परिक सम्बन्धों में तादात्म्य स्थापित करते हुए यह मन्तव्य प्रकट किया कि उसी अवस्था में मानव में अन्तर्निहित दिव्य सत्ता के दर्शन किये जा सकते हैं, जब प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया जाये। उनका कहना था कि यदि किसी जाति-विशेष का धर्म यह निर्देश करे कि अमुक मार्ग ही श्रेष्ठतम एवं वरिष्ठ है, उसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग है ही नहीं, तो ऐसी सीमा या शर्त के आधार पर वास्तविकता के दर्शन करना या एक सर्वहितकारी व्यवस्था दे सकना, कदाचित् संभव नहीं होगा।

महर्षि ने इस बात पर बल दिया है कि दुःख को सुख में परिवर्तित किया जा सकता है और मनुष्य में ही भगवान् के दर्शन किये जा सकते हैं। योगाभ्यास का लक्ष्य आत्मोपलब्धि है और यह आत्मोपलब्धि ही 'दिव्य जीवन' है, जिसके आलोक में आत्मदर्शन किये जा सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य में जो प्रमुख तेजस्विता, अलौकिक शक्ति या दिव्य चेतना अन्तर्निहित है, उसको प्रकाशित या उजागर करना ही योग का लक्ष्य है। जब यह दिव्य शक्ति प्राप्त हो जाती है, तब मनुष्य पूर्णतः निष्काम होकर स्वयं को प्रभु में समर्पित कर देता है। तब वह सर्वत्र, सब में भगवान् के दिव्य दर्शन करता है। ऐसी दिव्य आत्मानुभूति प्राप्त हो जाने पर सब कुछ व्यर्थ, भ्रमजाल, मायामय लगने लगता है। आत्मचेतना का ज्ञान हो जाने पर साधक आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखने लग जाता है।

योगिराज का अभिमत है कि समस्त कर्मों और कर्मफलों को सर्वथा भगवान् में समर्पित करने के पश्चात् भी कर्तव्याकर्तव्यों के प्रति जागरूक रहना आवश्यक है। अनासक्ति भाव से सुख-दुःखों को ग्रहण करते हुए भी श्रेय-प्राप्ति की ओर सक्रिय बने रहना साधक या भक्त के लिए आवश्यक है। व्यष्टिभाव को समष्टिभाव में तभी परिवर्तित किया जा सकता है, जब साधक

या भक्त मानव-मंगल की ओर अभिरत एवं अग्रसर रहेगा। समस्त मानव जाति मे शान्ति, आनन्द, पवित्रता, निर्मलता और सार्वभौम हित की स्थापना ही महर्षि का मोक्ष है।

डॉक्टर भगवानदास

गांधीयुग के महान् दार्शनिको, योगियो, तत्त्वदर्शी एवं धर्मप्राण महापुरुषो मे डाक्टर भगवानदास (१८६९-१९५९ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। पवित्र काशी नगरी मे उनका जन्म हुआ और सारे देश मे उनकी ख्याति का विस्तार हुआ। वे भारत की पुरातन परम्पराओ से परिमण्डित आधुनिकता के आधारस्तम्भ थे। उनके महान् व्यक्तित्व मे पुरातन और आधुनिकता का अद्भुत समन्वय था। उनके इस समन्वित व्यक्तित्व की राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास पर भी अमिट छाप है। राष्ट्रीय आन्दोलन मे उनका सक्रिय योगदान रहा, क्योकि स्वाधीनता प्राप्ति उस समय का राष्ट्रधर्म था। गांधीजी के असहयोग आन्दोलन मे सक्रिय भाग लेने के कारण १९२१ ई० मे उन्हें एक वर्ष के कारावास का दण्ड मिला था। उन्होंने राष्ट्रभक्त चितरंजनदास के साथ मिलकर १९२३ ई० मे स्वराज्य-प्राप्ति की रूपरेखा तैयार की थी, जिसके आधार पर देशव्यापी आन्दोलन छिड़ा और सारा देश एकसूत्र मे बँधा।

हिन्दुत्व के पुनरुत्थान और शैक्षिक पुनर्गठन के उद्देश्य से काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना करके जो प्रयोग किया गया था, उसकी सफलता के भागीदारो मे महामना मालवीय के बाद डा० भगवानदास का ही दूसरा स्थान है। शिक्षा के क्षेत्र मे उनका महान् योगदान रहा। काशी विद्यापीठ की स्थापना से ही आगे के अनेक वर्षों तक वे उसके कुलपति बने रहे।

योगिराज अरविन्द के वैचारिक ऐक्य तथा धर्म-समन्वय के सुचिन्तित सिद्धान्तो का सरलीकरण डॉ० भगवानदास के विचारो मे देखने को मिलता है। उनके मत से सभी धर्मों के आदर्श एवं उद्देश्य एक हैं। सभी धर्मों मे यह माना जाता है कि परमात्मा सबके भीतर आत्मा के रूप मे विद्यमान है। सभी धर्म, ज्ञान, भक्ति और कर्म पर विश्वास करते हैं। सबके मजहबो मे ज्ञानकाण्ड और हकीकत की बातें एक समान हैं। सभी मजहब वाले यह मानते हैं कि खुदा है और वह एक तथा अद्वितीय है। सभी धर्मानुयायी यह स्वीकार करते हैं कि पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है। किन्तु डा० भगवानदास ने विशेष बात यह कही है कि मनुष्य की रूह सर्वोपरि है। मनुष्य ने ही धर्म को, मजहब को समय-समय पर परिवर्तित किया है।

उनके दार्शनिक विचारों का सार 'अहम् एतद्-न' (मैं-यह-नहीं)—इस महावाक्य में निहित है, जिसके अनुसार केवल एक, एकाकार, एकरस, अखण्ड और निष्क्रिय सम्विद् के अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उनकी दार्शनिक विचारधारा में प्राच्य तथा पाश्चात्य और भूत तथा वर्तमान का ऐक्य समदर्शित है। उन्होंने हीगेल और शंकराचार्य के दर्शनों के निर्विकार ब्रह्म-सिद्धान्तों का समन्वय किया है।

महर्षि रमण

गांधीयुग के धर्मप्राण एवं अध्यात्मनिष्ठ भारतीय महापुरुषों में महर्षि रमण या महर्षि रामन का नाम स्मरणीय है। अपने तप, त्याग एवं आत्मचिन्तन से उन्होंने भारत के पुरातन आत्मदर्शी तत्त्ववेत्ताओं की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। उनका जन्म ३० दिसम्बर, १८७९ ई० को तिरुचुली (तमिलनाडु) नामक गाँव में हुआ था। कौण्डिन्या नामक नदी तट पर अवस्थित तिरुचुली एवं पवित्र तीर्थ के रूप में भी प्रसिद्ध है। उनका पारिवारिक नाम वेंकटरमन था। पिता सुन्दरमय्यर वकील थे। बालक की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा तिरुचुली तथा दिंदिगुल में हुई। किन्तु पढ़ाई-लिखाई के प्रति उनकी उदासीनता और खेल-कूद, मार-पीट में अधिक रुचि थी। १८९५ ई० में पिता के निधन के उपरान्त उन्होंने अपने बड़े भाई के संरक्षण में मिशन हाईस्कूल में शिक्षा प्राप्त की। अपनी छात्रावस्था में ही 'पेरिय पुराण' में उल्लिखित शिवभक्तों की कथाओं के अध्ययन से उनका अनुराग भगवद्-भक्ति में बढ़ता ही गया। १८९६ ई० में भयंकर बीमारी से किसी प्रकार उनकी प्राणरक्षा हुई, जिसने कि उनकी जीवन-धारा को ही बदल दिया। पढ़ाई-लिखाई छोड़कर वे एकान्त चिन्तन में लीन रहने लगे। नियमित रूप से वे मदुरा की मीनाक्षी देवी के दर्शन करने लगे और शान्ति-लाभ प्राप्त करते रहे। उनकी यह दशा परिवारजनों को पसन्द न थी और उससे उनकी उपेक्षा एवं तिरस्कार होता गया। उस अपमान से उन्होंने गृह-त्याग कर दिया और शिखा-सूत्र का त्याग कर कौपीन वस्त्र धारण कर लिये। वे अरुणाचल यात्रा पर निकले और उन्होंने ज्योतिर्लिंग भगवान् अरुणाचल को जीवनसर्वस्व समर्पित कर सन्यास धारण कर लिया तथा उसी मन्दिर में निवास करने लगे। वे केवल १७ वर्ष के थे, तपश्चर्या में लीन हो गये थे। वहाँ से वे उपयुक्त स्थान की खोज में गुरुमूर्तम मन्दिर और तदनन्तर वे अरुणाचल पर्वत की विरुपाक्षि गुफा में अज्ञातवास होकर बैठ गये और

निरन्तर ग्यारह वर्षों तक मौन धारण किया। जब उन्होंने मौन तोड़ा तो सर्वप्रथम उपदेश गणपति मुनीन्द्र को दिया।

तदनन्तर महर्षि रमण पालितीर्थ में निवास करने लगे, जो कि श्रद्धालु भक्तों का पवित्र आश्रम बन गया। संस्कृत के विख्यात विद्वान् टी० गणपति शास्त्री ने उन्हें 'रामनन्' तथा महर्षि' की उपाधि से विभूषित किया। तब से वे इसी नाम से कहे जाने लगे।

महर्षि रमण ने कठिन तप, अध्यात्म अभ्यास और चिन्तन-मनन द्वारा जो अनुभूति एवं दिव्य दृष्टि प्राप्त की वह अनन्य थी और उन्होंने जो विचार और अनुभव व्यक्त किये, वे उनके निजी अन्तःकरण से निःसृत थे। महर्षि के योगसम्बन्धी सिद्धान्तों की विशेषता यह देखने को मिलती है कि यद्यपि भारत और बाहरी देशों से अनेक सन्त, योगाभ्यासी, अध्यात्मवादी एवं ज्ञान-पिपासु उनके सान्निध्य में वर्षों तक रहे और लाभान्वित तथा उपकृत हुए, तथापि उन्होंने किसी को भी अपना शिष्य नहीं बनाया। उन्होंने प्रत्येक जिज्ञासु को आत्मचिन्तन के लिए प्रेरित किया और बताया कि वही अध्यात्म चेतना सब की गुरु है, जो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर विद्यमान है, उसी वास्तविक गुरु की खोज करनी चाहिए।

उनके विचार में मौन आत्मा की भाषा है। आत्मस्वरूप में लीन होने से परमेश्वर के प्रति प्रेम तथा भक्ति का उदय होता है। उसको पाने के लिए एकान्त साधना की आवश्यकता है। भगवान् में अडिग विश्वास करना ही योगासन है। चित्त का निग्रह करने से ध्यान सिद्धि होती है क्योंकि चित्त ही समस्त विषय-वासनाओं का घर है। सन्तों, सिद्धों, अध्यात्मवेत्ताओं के ससर्ग-सत्संग में रहकर उनका अनुगमन करना चाहिए, व्याख्यान-प्रवचन सुनने मात्र का उतना लाभ नहीं है। उपदेश ज्ञान-प्रसार के साधन हैं, आत्मस्वरूप की उपलब्धि के साधन नहीं हैं। आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किये बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है।

जप तथा ध्यान का उद्देश्य चित्त का दमन करना है, जिसके फलस्वरूप आत्मानुभूति होती है। आत्मानुभूति ही ज्ञान तथा भक्ति है। आत्मनिष्ठ होकर निरतिशय रूप से स्वयं को भगवान् में समर्पित कर देना ही शरणागति है। ऐसा सन्त, सिद्ध, जिसकी चित्तवृत्तियाँ निगृहीत हैं, आत्मानुभूति से दूसरों को सुखी बना सकता है। स्वयं सन्तुष्ट हो सकता है। आशाओं का सर्वतोभावेन परित्याग ही वैराग्य है, यही ज्ञान है। अहंभाव, जो कि चिन्ताग्नि है, सद्विचारों को समूल दग्ध कर देता है। अहं (मैं) ही समस्त वासनाओं का

मूल है। वह जब अदृष्ट, विलुप्त, नष्ट हो जाता है, तब विशुद्ध अन्तःकरण में आत्मानुभूति का प्रकाश होता है।

महर्षि अपनी योगसिद्धि से अद्भुत चमत्कारों का प्रदर्शन कर आगन्तुकों को आश्चर्यचकित कर सकते थे, किन्तु उन्होंने तन्त्र, मन्त्र, योगसिद्धि, चमत्कार-प्रदर्शन और अलौकिक वाणियों द्वारा जिज्ञासुओं को प्रभावित करना उचित नहीं समझा, अपितु सबको यह सदुपदेश दिया कि इस प्रकार के सब क्रिया-कलाप व्यर्थ हैं।

महर्षि की समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि थी। वे मनुष्यों के अतिरिक्त गाय, कुत्ता, पक्षी, हिरन तथा गिलहरी आदि प्राणियों से भी सहज प्रेम करते थे। उनका कहना था कि कर्तव्य तथा सदाचार से स्खलित नहीं होना चाहिए। विनयभाव, प्रेम, करुणा, दया और परोपकार आदि सद्गुणों का ग्रहण और राग, द्वेष, विषय-वासनाओं का परित्याग करना चाहिए। विनम्रता का व्यवहार ही श्रेय का हेतु है और परहित-भावना ही आत्मोन्नति का साधन है।

इस प्रकार सिद्ध, शुद्ध आत्मानुभूति से लोकमंगल की कामना करते हुए महर्षि ने १४ अप्रैल, १९५० ई० को महाप्रयाण किया। कहा जाता है कि महाप्रयाण की बेला में आश्रम से एक तीव्र ज्योति का प्रकाश हुआ और वह पूर्व दिशा में विलीन हो गई। अपने जीवन-काल में महर्षि ने मलयालम्, तेलुगु तथा संस्कृत में जो विचार प्रकट किये, उनके पश्चात् उनके अनुयायियों ने उनका विभिन्न भाषाओं में अनुवाद करके उन्हें लोकप्रचारित किया।

स्वामी शिवानन्द

आधुनिक भारत के धार्मिक पुनरुत्थान में स्वामी शिवानन्द का नाम स्मरणीय है। उनका जन्म ८ दिसम्बर, १८८७ ई० को पट्टामदाई गाँव (मद्रास) में हुआ था। उनका पारिवारिक नाम कुप्पू आयर था। संस्कृत व्याकरण तथा दर्शन के विद्वान् अप्पय दीक्षित, स्वामीजी के पूर्वज थे। वे परम शैव थे। स्वामीजी के पिता वेंगू आयर भी शैव मतानुयायी एवं सन्त स्वभाव के व्यक्ति थे। १९०३ ई० में मैट्रिक पास करने के पश्चात् वे त्रिचना-पल्ली कालेज में प्रविष्ट हुए और वहाँ से डाक्टरी परीक्षा उत्तीर्ण कर एक चिकित्सक के रूप में उन्होंने जन-जीवन में प्रवेश किया। थोड़े ही दिनों में अपनी समझ और कर्तव्य-परायणता के कारण वे बड़े लोकप्रिय हो गये। उनमें धनोपार्जन करने की अपेक्षा रोगी के प्रति सेवा-भावना की अधिकता थी।

मलाया और सिंगापुर आदि अनेक स्थानों में वे चिकित्सक रहे और सदा ही अपने सेवाभाव के कारण लोकप्रिय बने रहे। उन्होंने अनुभव किया कि शारीरिक-सेवा की अपेक्षा मानसिक-सेवा उत्तम है, जिसको अपना कर सारी मानवता को राहत दी जा सकती है। इस उद्देश्य से उन्होंने भक्ति, योग तथा वेदान्त विषयक साहित्य का अध्ययन किया। उसके प्रभाव से उनके मन में सहसा भारी परिवर्तन हुआ और वे परिवार त्याग कर वैराग्य की ओर अग्रसर हुए। वे काशी चले गये और आत्मशान्ति के लिए भगवान् विश्वनाथ की उपासना में तल्लीन हो गये।

काशी के बाद उन्होंने देश के अनेक स्थानों का भ्रमण किया और घूमते-घूमते वे १९२४ ई० में ऋषिकेश में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने कुछ दिन निवास किया। एक दिन गंगा-स्नान करते समय उन्होंने किसी परम तेजस्वी सन्यासी के दर्शन किये। वे शृंगेरी मठ शाखा के परमहंस स्वामी विश्वानन्दजी थे। उनसे डॉ० कुप्पू आयर ने सन्यास की दीक्षा ली और तभी से उनका नया नामकरण हुआ स्वामी शिवानन्द सरस्वती।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे लक्ष्मणझूला के निकट स्वर्गाश्रम में रहने लगे। बहुधा वे सुदूर जंगल की ओर झाड़ियों तथा कन्दराओं में चले जाते और वहाँ उच्च स्वर से भगवान् को पुकारते। अपने इस सन्यास जीवन में भी उनके मन में सेवाभाव की सक्रियता यथावत् बनी रही। वे रोगियों का निःशुल्क उपचार करते और असमर्थ लोगों के लिए औषधि का भी प्रबन्ध करते। जीविकोपार्जन के लिए वे भिक्षाटन करते रहे।

तप, त्याग तथा परोपकार की इस अविरत जीवनचर्या के फलस्वरूप उनमें आत्मबल का विकास होता गया। दो वर्ष तक ऋषिकेश में रहने के उपरान्त उन्होंने दक्षिण में रामेश्वरम् तथा पुरी की यात्रा की। वहाँ से वे पुनः उत्तर की ओर अग्रसर हुए और कैलास मानसरोवर जा पहुँचे। वहाँ वे चार वर्षों तक रहे। इस उत्तराखण्ड की यात्रा में उन्हें अतिशय शान्ति-लाभ हुआ।

तत्पश्चात् वे पुनः स्वर्गाश्रम लौट आये। यहाँ उन्होंने 'आनन्दकुटीर' के नाम से एक स्वतंत्र आश्रम की स्थापना की, जो कि सम्प्रति अपने विकसित स्वरूप में है और जिसे शिवग्राम या शिवानन्द आश्रम के नाम से कहा जाता है। इस आश्रम में उन्होंने जिज्ञासु भक्तों तथा साधु-सन्तों के रहने-खाने की व्यवस्था की हुई है।

अपने इस दिव्य तपोवन में स्वामीजी ने 'डिवाइन सोसाइटी' (दिव्य जीवन संघ) के नाम से एक धर्मसंस्था की स्थापना की, कुछ ही समय में जिसकी शाखाएँ योरप, अमेरिका, एशिया तथा अफ्रीका आदि देशों में स्थापित

हुई। आश्रम से अंग्रेजी मे 'डिवाइन लाइफ' और हिन्दी मे 'दिव्य जीवन' नाम से दो मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती है। स्वामीजी ने 'कैलास मानसरोवर' के अतिरिक्त भक्ति और योग पर अनेक पुस्तको का प्रणयन किया।

स्वामी शिवानन्दजी के सदृश इस देश मे यद्यपि अनेक सन्त, महात्मा, अध्यात्मवेत्ता महापुरुष हुए, किन्तु जन-जीवन के प्रति सेवा तथा सौहार्द्र का जो कार्य स्वामीजी द्वारा हुआ, वह चिरस्मरणीय है। उनकी धर्मसंस्था भारत और विदेशो मे धर्म-प्रचार के महत्त्वपूर्ण कार्य मे लगी हुई हैं और उसका वरण करने वालो की संख्या निरन्तर बढती जा रही है।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

आधुनिक विश्व की वैज्ञानिक प्रगति के भयावह परिणामो से मानवता को भयमुक्त और सुरक्षा प्रदान करने के लिए एकमात्र साधन या उपाय धर्म ही है। विनाशकारी अस्त्र शस्त्रो की बढती हुई होड को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की परिस्थितियो मे परिवर्तित करने के लिए धर्म ही एकमात्र आधार है। आधुनिक विश्व की ध्वसोन्मुख प्रगति को रचनात्मक राह की ओर मोडने के लिए विश्व के जिन अनेक विचारको ने धर्म की लोक मगलकारी भावना पर बल दिया है, उनमे डॉ० राधाकृष्णन् का भी एक नाम उल्लेखनीय है।

डॉ० राधाकृष्णन् का जन्म दक्षिण भारत के तिरुत्तवी नामक एक गाँव मे ५ दिसम्बर, १८८८ ई० को हुआ था। अपनी उच्च शिक्षा तक उन्होने सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। कलकत्ता, आन्ध्र तथा काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय आदि के वे कई वर्षो तक कुलपति रहे। अनेक विश्वविद्यालय से उन्हे मानद उपाधियाँ प्रदान कर सम्मानित किया गया। भारतीय प्रतिनिधि के रूप मे विदेशो मे आयोजित अन्तरराष्ट्रीय स्तर के सम्मेलनो मे उन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषणो से भारत के गौरव को बढाया। कैंब्रिज, आक्सफोर्ड, ब्रिटिश अकादमी आदि प्रतिष्ठानो मे अनेक बार उनके भाषण हुए। पौर्वात्य और पाश्चात्य धर्म दर्शन पर उन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से अपने विचार प्रकट किये, जो कि पुस्तकाकार मे प्रकाशित हैं।

डॉ० राधाकृष्णन् की ख्याति का कारण उनकी विद्वत्ता एव असाधारण प्रतिभा रही है। वे मूलत एक साहित्यकार एव विचारक रहे हैं। यद्यपि अपने देश मे वे राष्ट्रपति जैसे सर्वोच्च पद पर सम्मानित हुए, किन्तु उनके नाम को सदाशय यश उनकी कृतियो के कारण प्राप्त हुई। उन्होंने विश्व की सम-सामयिक विचारधाराओ का अध्ययन कर दर्शनविद्या पर एक सर्वांगीण

ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिनका नाम है 'दि रेन आफ रिलिजन इन कण्टेम्पोररि फिलासफी'। उनकी अन्य पुस्तकों में 'रिलिजन इन ए चेंजिंग वर्ल्ड ओरिजिनालीटी' (आधुनिक युग में धर्म), 'ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रेलिजन' (धर्म तुलनात्मक दृष्टि में), और 'इण्डियन फिलासफी' (भारतीय दर्शन) आदि। उनके कतिपय निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

धर्म-दर्शन के सम्बन्ध में इस महान् विचारक के मन्तव्यों को उनके वृहद् साहित्य के अध्ययन के बाद ही ज्ञात किया जा सकता है। उनकी दृष्टि से 'धर्म एक गति है, एक विकास और सब सच्चे विश्वासों में नूतन, पुरातन के ऊपर टिका होता है। प्रत्येक धर्म में पुरातन के अवशेष विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, यदि हम धर्म के वर्तमान रूपों से सन्तुष्ट न हो तो हम एक अन्य अपेक्षाकृत अच्छे रूप की प्रत्याशा कर सकते हैं।'

'धर्म हमें बताता है कि आमूलचूल पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक सृजनशील ऊर्जा शाश्वत के प्रयोग से प्राप्त होती है। बन्धुत्व और सेवा की भावना आध्यात्मिक स्रोतों से प्राप्त होती है। परोपकारवाद उस आराधना का स्थान नहीं ले सकता, जिससे कि वह उत्पन्न होता है।'

'धर्म का अनुशासन यह है कि वह इस सम्भावना को यथार्थ रूप दे। दैवी के साथ अभिन्नता का यह अनुभव इतिहास की बात नहीं है, बल्कि व्यक्ति का निजी अनुभव है। धर्म आदमी को अनुशासित करनेवाली शक्ति रहा है, लेकिन दुर्भाग्यवश बहुत-से लोगों के लिए इसने अपना मूल्य और अपनी सार्थकता खो दी है। धार्मिक विश्वास की कठिनाई ही विश्व की वर्तमान दुरवस्था के लिए उत्तरदायी है। हमें एक ऐसी धार्मिक आस्था की आवश्यकता है, जो विवेकशील हो, एक ऐसी आस्था, जिसे हम बौद्धिक व्यक्ति निष्ठा और सौन्दर्यशास्त्रीय विश्वास के साथ अपना सकें। हमें एक ऐसी आस्था की आवश्यकता है, जो समूची मानव जाति में निष्ठा रखे।'

इस प्रकार डॉक्टर राधाकृष्णन् ने प्राच्य-पाश्चात्य, पुरातन-आधुनिक, विभिन्न दृष्टियों से धर्म के सर्वांगीण पक्ष पर विस्तार से, सूक्ष्मतापूर्वक विचार, मनन, चिन्तन किया है और उसकी चरम परिणति, उसका परम ध्येय सार्वभौम शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में बताया है।

(बारह)

भारत में विलयित भारतेतर धर्म-शाखाएँ

१ जरथुस्त्र (पारसी) धर्म

२. यहूदी धर्म

३. ईसाई धर्म

४ इस्लाम धर्म

जराथुश्त्र धर्म

विश्व की प्राचीनतम धर्म शाखाओं में 'जराथुश्त्र धर्म' शाखा का भी एक नाम है। धर्म के नाम पर शेष विश्व में जब कि अन्ध-विश्वास, भय तथा आश्चर्यचकित कर देने वाली धारणाएँ व्याप्त थी, भारत में महावीर स्वामी तथा बुद्ध और ईरान में जराथुश्त्र जैसे महात्माओं का उदय हो चुका था, जिन्होंने मानवता को उसके अन्ध-विश्वासों तथा कल्पनाओं से उभार कर उनके अन्तःकरण को धर्म की ज्योति से आलोकित कर दिया था।

यह भी एक सयोग की बात थी कि ये तीनों महापुरुष लगभग एक ही समय में इस पृथ्वी पर अवतरित हुए और अज्ञान तथा बुराइयों के जजाल में भटके हुए मनुष्यमात्र के उद्धार के लिए लगभग एक ही तरह के उपायों को खोज निकाला। उनकी जीवन-गाथाओं को पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस मानवयोनि में जन्म-धारण करने का उनका एक निश्चित प्रयोजन था, और उस प्रयोजन को पूरा करने के लिए सर्वप्रथम ध्यान तथा आत्मचिन्तन द्वारा उन्होंने आत्मा का साक्षात्कार किया। आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त इस अनन्त भवचक्र के मूल में निहित जिस कारण को उन्होंने खोज निकाला, वह था दुःख-समुदय।

अनन्तकाल से मनुष्य जन्म-मरण की व्याधियों एवं पीड़ाओं से परिग्रस्त एक ही भव-भँवर में घूमता हुआ अपार कष्टों से पीड़ित था। बार-बार अनन्त जीव-योनियों में जन्म धारण कर पुनः पुनः पीड़ाओं तथा दुःखों को देने वाली यह भव-शृंखला इतनी सुदृढ़ थी कि उससे मुक्ति पाने के सभी प्रयास निष्फल हो चुके थे। इन महापुरुषों ने मनुष्यमात्र की मुक्ति-लाभ के लिए ऐसा सहज मार्ग खोज निकाला, जिस पर चल कर आत्मोन्नति की अन्तिम मंजिल पर पहुँचा जा सकता है, जहाँ से पुनः लौटना नहीं होता।

यद्यपि महावीर तथा बुद्ध और जराथुश्त्र एक ही लक्ष्य को लेकर अवतरित हुए थे, किन्तु उनके परिणामों के प्रतिफल भिन्न-भिन्न रूप में चरितार्थ हुए। भारत में महावीर तथा बुद्ध से पूर्व आत्मज्ञानी ऋषि-महर्षियों, मुनि-महात्माओं की लम्बी परम्परा से ज्ञान तथा आत्मचिन्तन की दिशाएँ उजागर हो चुकी थीं। किन्तु वे सर्वजनसुलभ नहीं थीं। समष्टि के लिए सर्वजनसुलभ आत्मोद्धार का मार्ग महावीर तथा बुद्ध ने ही प्रशस्त किया। किन्तु ईरान तथा अरब देशों में महात्मा जराथुश्त्र ने धर्म की जिस ज्योतिशिखा को प्रज्वलित

किया था, उसकी प्रकाश-किरणें घोर धर्मान्धता से आच्छन्न समाज में मन्थर गति से फैली। परम्परा से पाखण्डों के चक्रव्यूह में उलझी हुई पश्चिम की बहुसंख्यक जनता ने उनके उपदेशों की अवमानना ही नहीं की, अपितु उनका घोर विरोध भी किया। किन्तु अपने जीवनसर्वस्व को मानव-कल्याण के लिए समर्पित कर महात्मा जरायुश्त्र ने धर्म के जिस दिव्य आलोक को फैलाया, उनके जीवनान्त के बाद, उसने न केवल ईरान तथा अरब देशों का, अपितु विश्व मानवता का पथ आलोकित किया।

महात्मा जरायुश्त्र

अरब की धरती पर धर्म की मंगलकारी ज्योति को फैलाने वाले जिस महापुरुष के नाम से इतिहास गौरवान्वित है, उनको जराथुस्त्र, जरथुस्त, जरायोस्त्र आदि नामों से भी कहा जाता है। प्राचीन ग्रीक निवासियों तथा पाश्चात्य लेखकों ने उन्हें उनके प्राचीन ग्रीक अभिधान 'जोरोस्टर' नाम से भी कहा है। ग्रीक भाषा में 'जरत' का अर्थ 'सुवर्ण' और 'उस्त्र' का अर्थ 'प्रभामण्डित' है। इस अर्थ में इस शब्द का अर्थ हुआ 'सुवर्ण प्रभा मण्डित' अर्थात् 'दिव्य पुरुष'।

इस दिव्य पुरुष का जन्म तेहरान (ईरान) के निकट 'रहे' नामक गाँव में हुआ था। वे एक स्पितमा (Spitama) नामक कबीले या वंश में उत्पन्न हुए थे। यह कबीला बड़ा पराक्रमी तथा युद्धप्रिय था। इस वंश-नाम से ही कुछ विद्वानों ने उनका नाम 'स्पितमा' उल्लेख किया है। महात्मा बुद्ध की भाँति महात्मा जरायुश्त्र ने भी दुःख समुदय की खोज करने के लिए घोर साधना की थी और अनेक वर्षों के आत्मचिन्तन के बाद बुद्धत्व (ज्ञान) प्राप्त किया था।

महात्मा जरायुश्त्र कब हुए, इस सम्बन्ध में मत-मतान्तर हैं। विश्व के प्राचीन धार्मिक इतिहास में, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों में, जहाँ महात्मा जरायुश्त्र की कीर्तिकथा का व्यापक वर्णन देखने को मिलता है वहाँ उनके स्थितिकाल या जन्मकाल के सम्बन्ध में एक निश्चित बात न कहकर अनेक प्रकार की सम्भावनाएँ प्रकट की गई हैं। एक दन्तकथा के अनुसार पुराणकार वेदव्यास ईरान गये थे और वहाँ उनका जरायुश्त्र के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। किन्तु इस लोकप्रचलित किंवदन्ती का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता है। 'बाइबिल' के अनुसार हिब्रुओं के अब्राहम और जरायुश्त्र समकालीन थे और एक ही स्थान पर रहते थे। किन्तु यह धारणा भी आधारहीन है। 'जेन्द अवेस्ता' में 'अरियानम् वेइग' उनका जन्मस्थान बताया गया है, किन्तु यह

स्थान कहाँ है, इस सम्बन्ध में भी कुछ नहीं कहा गया है। आधुनिक इतिहास-कारों ने उनका स्थितिकाल ६०००-१००० ई० पूर्व के बीच माना है। किन्तु सामान्य मत यह है कि वे २५००-१५०० ई० पूर्व के बीच किसी भी समय हुए। एक हजार वर्षों का यह अन्तराल भी यद्यपि सम्भावनाओं पर आधारित है, तथापि उनके सम्बन्ध में जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, उनकी दृष्टि में रख कर इस सम्भावित अन्तराल को ही अब तक उनका स्थितिकाल माना गया है।

जिस समय महात्मा जरथुस्त्र का जन्म हुआ था उस समय ईरान में मज्दयासनी धर्म का प्रचार था। वे ही वहाँ के शासक थे और धर्म के अधिकारी भी। धर्म के नाम पर उन्होंने पाखण्डों तथा अन्धविश्वासों में समाज के मन को आतंकित किये हुए थे। उन्होंने धर्म की स्वेच्छाचारिता को फैलाया हुआ था, जिसने कि सत्यज्ञान (आहूरमज्द) को आच्छादित किया हुआ था। महात्मा जरथुस्त्र ने अनुभव किया कि धर्म के नाम पर अधर्म की भ्रान्ति से जनता कर्तव्यबोध से अपरिचित है और धर्म वस्तुतः कुछ स्वार्थी शासकों तथा पुरोहितों की बपौती बनकर अधर्म का ही पोषण कर रहा है। उन्होंने इस भ्रान्ति को दूर कर धर्म के सत्य स्वरूप को जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत करने का संकल्प लिया।

जब उनकी आयु केवल १५ वर्ष की थी, उन्होंने आत्मप्रेरणा से समस्त मोह-बन्धनों का परित्याग कर वैराग्य धारण कर लिया था। निरन्तर सात वर्षों तक वे भ्रमण करते रहे और मानव-रहस्यों की खोज में चिन्तित रहे। जीवन की वास्तविकताओं का पता लगाने के लिए उनकी बेचैनी बढ़ती गई। अपनी समस्त इच्छाओं तथा पार्थिव अभिलाषाओं का उन्होंने दमन कर लिया। घोर तप तथा चिन्तन के अनन्तर उन्हें दिव्यदृष्टि या सद्विचार (वोहू-मन्ह) प्राप्त हुए। अपनी समाधिस्थ आत्मा में उन्हें आहूर-मज्द (सत्यज्ञान या ईश्वर) की अनुभूति हुई। उन्होंने अपनी इस अनुभूति को इन शब्दों में व्यक्त किया—'हे मज्द, जब मैंने पहले-पहल अपने ध्यान में तेरी कल्पना की तो मैंने शुद्ध हृदय से तुझे विश्व का प्रथम अभिनेता, प्रविवेक का जनक, सदाचार का जन्मदाता और मनुष्य के कर्मों का नियामक स्वीकार किया है।'

परम परमेश्वर के अपने दिव्यानुभव को समाज में प्रचारित करने के उद्देश्य से उन्होंने भ्रमण किया और लोगों को अपनी दिव्य वाणी का सन्देश दिया। इस पर अन्धविश्वासों के प्रचारक तत्कालीन धर्मगुरुओं तथा उनके अनुयायियों ने महात्मा जरथुस्त्र का घोर विरोध किया। उन्हें पाखण्डी तथा धर्म की अवमानना करने वाला धर्मद्रोही कहा। किन्तु बहुसंख्यक समाज,

जो कि धर्माधर्म का विवेक रखता था, महात्मा जरायुश्त्र का तेजस्वी दैवी व्यक्तित्व और उनकी दिव्य वाणी से प्रभावित हुए बिना नही रहा। उनकी वाणी ने समाज को उसी तरह प्रभावित किया, जिस प्रकार बुद्धवाणी ने। इस प्रकार बुद्धानुयायियो की भाँति जरायुश्त्र के अनुयायियो की सख्या मे निरन्तर वृद्धि होती गई।

धर्म की नयी ज्योति को लेकर वे ईरान, बैक्ट्रिया और बलख के विभिन्न अचलो मे घूमे। जब उनकी अवस्था ३० वर्ष की थी, वे धर्म का पैगाम लेकर ईरान के तत्कालीन शासक गुस्ताप के पास गये। उनकी वाणी से प्रभावित होकर शाहँशाह ने अपने दरबार के तथा सल्तनत के धर्माचार्यों की एक विशाल परिषद् का आयोजन किया। उसमे उपस्थित विभिन्न मतावलम्बी धर्माचार्यों को अपने-अपने मतो का प्रतिपादन करने के लिए कहा गया। वस्तुत धर्माचार्यों की इस सभा का एक उद्देश्य यह भी था कि महात्मा जरायुश्त्र ने जिस धर्म को वरण किया था, और जिसे वे लोकहित के लिए उपयोगी मानते थे, और उनके विरोध मे जो मन्तव्य प्रकट किये जा रहे थे, वे कहाँ तक वास्तविक हैं। राजसभा मे जो वाद विवाद और तर्क-वितर्क हुए, उनमे अन्तत महात्मा जरायुश्त्र की विजय हुई। उन्होने धर्म के नाम पर जो पाखण्ड तथा स्वार्थपरता व्याप्त थी, धर्म के नाम पर जो अधार्मिकता फैलाई जा रही थी, उसका घोर विरोध कर अपने पक्ष मे अकाट्य प्रमाण रखे, जिनका उत्तर देने मे विपक्ष के धर्माचार्य असफल रहे। किन्तु पराजय के बाद भी पराजितो ने महात्मा जरायुश्त्र का अनुसरण एव समर्थन करने की अपेक्षा उनके विरुद्ध एक षड्यन्त्र की रचना की। अपने पाखण्डो से उन्होने शाहँशाह को प्रभावित कर दिया और उनके वशीभूत होकर शाहँशाह ने महात्मा जरायुश्त्र को बन्दी बनाकर कारागार मे डाल दिया।

ईसा के लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व एशिया महाद्वीप म जन-मानस को शान्ति तथा कल्याण का दिव्य सन्देश देने वाले इस सन्त ने कारागार मे रहकर भी अपने उद्देश्य को शिथिल नही किया। वे जहाँ तक बन पड़ा, अपने विचारो से अपने मिलने वालो को सद्‌विचारो की थाती वितरित करते रहे। इसी बीच एक घटना घटी। सयोगवश शाहँशाह इतना बीमार पड़ा कि अनेक प्रकार के औषधोपचारो से भी उसको कोई लाभ न हुआ। सन्त को भी कारागार मे शाहँशाह की असाध्य बीमारी का समाचार मिला। उन्होने अनुमति मिलने पर, शाहँशाह का उपचार किया और वह स्वस्थ हो गया। सन्त के इस चमत्कारी व्यक्तित्व का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा

और उसने अपना नोवियत धर्म का परित्याग कर सन्त जरायुस्त्र का शिष्यत्व वरण कर लिया। उसने समस्त ईरान मे जरायुस्त्र धर्म के प्रचार-प्रसार की समुचित व्यवस्था कर दी।

इस प्रकार ईरान का राजधर्म बन जाने के कारण जरायुस्त्र के विचारो के प्रसार मे बडी सहायता मिली। वैक्ट्रिया के तत्कालीन शासक और जनता ने भी उस धर्म को वरण किया। वैक्ट्रिया उन दिनो सीरिया के शासक के अधीन था और वहाँ भी परम्परागत धर्म का प्रभाव बना हुआ था। वैक्ट्रिया का शासक इतना प्रभावित हुआ कि उसने सीरिया मे शासक को यह कहला भेजा कि यदि वह महात्मा जरायुस्त्र द्वारा प्रवर्तित धर्म को स्वीकार नही करता तो वह राज्य कर देना बन्द कर देगा। इसका परिणाम बडा घातक सिद्ध हुआ। सीरिया के शासक ने वैक्ट्रिया पर एकाएक आक्रमण कर दिया और उसको विजित कर महात्मा जरायुस्त्र तथा उनके प्रमुख आठ शिष्यो सहित उनको बन्दी बना दिया। बाद मे महात्मा जरायुस्त्र की हत्या करवा दी। उसके इस अमानवीय जघन्य कार्य की बडी लोकनिन्दा हुई। उधर वैक्ट्रिया के शासक ने शक्ति-सचय कर पराजय तथा अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए कुछ ही दिनो मे अपने राज्य को स्वायत्त कर लिया। तत्पश्चात् वहाँ तीव्र गति से जरायुस्त्र धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ।

इस प्रकार मानवता के इस महान् उपकारक देवदूत का आततायियो द्वारा प्राणान्त किये जाने के बाद समाज का बहुत बडा भाग उनके उपदेशो का पालन करता हुआ अपनी धर्म-यात्री को उत्तरोत्तर प्रशस्त करता रहा। सन्त की वाणी परमेश्वर की वाणी बन चुकी थी और बहुसख्यक जन-समुदाय इसी रूप मे उसको वरण करता रहा। विश्व के अन्यान्य धर्मों के प्रति सदाशयता तथा सहिष्णुता का भाव रखते हुए महात्मा जरायुस्त्र ने पूरे पचास वर्षो तक धर्म तथा सदाचार का सन्देश देते हुए मानवता का क्लेश और ताप उपशमित किया। उन्होने दुरात्मा के प्रति अनासक्ति और सदात्मा के प्रति आसक्ति की शिक्षा देकर जन-मानस को सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया। अपने जीवन-काल मे जिन सकटो और कष्टो को उन्होने झेला, वे वर्णनातीत हैं। किन्तु उनके शरीरान्त के पश्चात् मानव-हितकारी उनके मनोरथ पूरी तरह सफल हुए।

सिद्धान्त-निरूपण

महात्मा जरायुस्त्र को 'अवेस्ता' मे पैगम्बर या देवदूत का सर्वोच्च एव सपूज्य स्थान दिया गया है। जरायुस्त्र धर्म का सार उनकी वाणी 'अश' (Asha) के नियमो मे निहित है। वे नियम सदाचार, अनुशासन, सत्सगति,

व्यवस्था और एकरूपता से सम्बन्धित हैं। उन नियमों में पवित्रता, सत्य-वादिता, परोपकार तथा उदारता आदि के महनीय गुण समाविष्ट हैं। पैगम्बर ने लोगों से कहा था—'किसी भी मत को आँख बन्द करके नहीं, अपितु विवेकशील होकर स्वीकार करो। यह धार्मिक मत अमरत्व के सद्-विचार से समन्वित है। जो लोग 'वोह मज्द' (ईश्वर) के शब्द सुन पाते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं, वे स्वस्थ जीवन तथा अमरत्व का लाभ प्राप्त करते हैं।'

'अवेस्ता' में उनके तात्त्विक विचारों का भी दिग्दर्शन हुआ है। उन्होंने सत् (सत्य या अच्छा) और असत् (असत्य या बुरा) दो मूल तत्त्व माने हैं। ये दोनों यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों का अस्तित्व और महत्त्व एक समान है। जीवन में सुख (सत्) जितना सत्य है, उतना ही दुःख (असत्) भी सत्य है। सुख प्राप्ति के लिए दुःख-मोचन आवश्यक है। उनके इस सदसत् चिन्तन में कुछ यूरोपीय विद्वानों ने द्वैतवाद को आरोपित किया है। किन्तु यह धारणा सर्वथा निराधार है। जिस प्रकार बुद्ध ने दुःख-समुदाय के चार आर्य-सत्यों का निरूपण किया है, और सुख-प्राप्ति के लिए दुःख निवृत्ति का उपाय बताया है, उसी प्रकार महात्मा जरथुस्त्र ने दुःखमय की अपेक्षा करके सुख-सत्य का समाधान खोज निकाला है। सत् और असत् वस्तुतः प्रतीकात्मक अभिधान हैं। इन प्रतीकों की अवधारणा इसलिए की गई है कि तात्त्विक जटिलताओं से अपरिचित एवं अनभिज्ञ जन-सामान्य परमेश्वर के सुविचारों का ग्रहण करने में सक्षम हो सके।

उनके दार्शनिक सिद्धान्त 'गाथा अहुनवैती' में बड़े सुगम भाषा भावों में अभिव्यंजित हुए हैं। वहाँ बताया गया है कि किस प्रकार असत् पर सत् की विजय हुई। उन्होंने प्रतिपादित तथा घोषित किया कि 'अहिमान' (असत् शक्ति) पाप की प्रतीक है और 'अहुर मज्द' (सत् शक्ति) पुण्य की प्रतीक है। प्राणिमात्र का कर्त्तव्य है कि वह असत् शक्ति के आदेश-निर्देशों का परिपालन न करते हुए जीवन-यापन करे, क्योंकि अन्ततः पाप की पराजय और पुण्य की विजय अवश्यम्भावी है। इस प्रकार ये गाथाएँ जरथुस्त्र धर्म-तत्त्वज्ञान की कुंजी और जीवन के श्रेयस् के लिए उपादेय एवं ग्रहणीय हैं।

उनका 'उर्वन' और 'फर्वसी' वेदों के आत्मा तथा परमात्मा का स्वरूप है। यद्यपि ज्ञान, भक्ति और कर्म—तीनों को मुक्ति का साधन बताया गया है, किन्तु महात्मा जरथुस्त्र ने शेष दोनों के सम्बन्ध में मौनावलम्बन कर केवल कर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। उनका यह कर्म-सिद्धान्त 'भगवद्गीता' के कर्मयोग से प्रभावित है।

फारसी अध्यात्म विचारधारा एकेश्वरवादी है या अद्वैतवादी है। 'अहुर मज्द' ही उनके एकमात्र उपास्यदेव हैं। जरायुस्त्र ने अनेक गाथाओं मे सर्वशक्तिमान 'अहुर मज्द' के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपास्य देवता को मानने से निषेध किया है। कोई भी देवी-देवता उपासना के योग्य नही है। इस एकमेव देव मे छ विभिन्न रूपो की कल्पना की गई है, जिसकी एकता या समानता विष्णु के 'षाड्गुण्यविग्रह' मे स्थापित की जा सकती है। महात्मा जरायुस्त्र ने अपने अनुयायियो को इसी षाड्गुण्यसम्पन्न एकमेव देव 'अहुर मज्द' की उपासना-आराधना का उपदेश एव निर्देश किया है।

ये छ गुण उसके विभिन्न रूपो के परिचायक न होकर वस्तुत उसकी पवित्र अमर शक्तियाँ (आमेषा स्पेन्ता) हैं। उनके नाम हैं—१. अस (ससार की नियामक शक्ति), २ वोहुमनो (प्रेम तथा पवित्रता), ३ स्पेन्त (आर्मेहृति (धार्मिक एकनिष्ठा), ४. क्षथ्रवर्य (प्रभुत्वसम्पन्न), ५. हऊर्वतात् (सर्वांग सम्पूर्ण) और ६. अमृततात् (अमृतत्व)। ये छ गुण उनमे विद्यमान है और इसीलिए वे अपने उपासकों के उद्धारकर्ता तथा पालक हैं। कालान्तर मे महात्मा जरायुस्त्र को ही उनके अनुयायियो ने फरिश्ता या देवदूत के रूप मे स्वीकार कर उन्ही के महान् व्यक्तित्व मे इन गुणो का समावेश किया। इस रूप मे बाद के विचारको ने एकेश्वरवाद के स्थान पर विभिन्न देवी-देवताओं का अधिष्ठान किया।

महात्मा जरायुस्त्र ने अत्र या आतश, अर्थात् अग्नि की उपासना को भी बडा महत्त्व दिया है और उसे परमेश्वर का भौतिक रूप माना है। इसीलिए फारसी अग्निपूजक है। जरायुस्त्र ने अग्नि को मजदा की सृष्टि का एक शक्तिशाली उज्ज्वल प्रतीक माना है। फारसियो के परम्परागत अग्निमन्दिर इस धर्मभावना के परिचायक है।

ईश्वर की नियमित आराधना को मानव-जगत् के श्रेयस् का कारण बताया गया है। ईश्वर (अहुर मज्द) एकमेव, अनादि, निरजन और निराकार है। इस दृष्टि से उनके उपास्यदेव की तुलना अद्वैतवादी विचारधारा के अनुरूप सिद्ध होती है।

आचार-दर्शन

जरायुस्त्र धर्मानुयायी फारसियो की अपनी पृथक् आचार-सहिता है। उनके धर्म ग्रन्थो मे उनके इन आचार-विचारो की विस्तार से चर्चा की गई है। 'गाथावाणी' (अवेस्ता) मे इन कर्मनिष्ठाओं पर प्रकाश डाला गया है। उच्च पवित्र जीवन व्यतीत करने के लिए जैन-बौद्ध धर्मों मे जिन श्रेष्ठ आचारो के परिपालन पर बल दिया गया है, जरायुस्त्र धर्म मे भी ठीक

उसी प्रकार के कर्मनिष्ठ जीवन बिताने के लिए निर्देश दिये गये है। वहाँ मूर्तिपूजा को व्यर्थ बतलाया गया है। किन्तु अग्निहोत्र को सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है। उनके अग्निहोत्र की यह धारणा वैदिक यज्ञो की या 'अग्निष्टोम' यज्ञ की प्रक्रियाओ से मेल खाती है।

आचार-पालन की सार्थकता दया, सत्य, गोरक्षा, स्नान, शौच, सन्ध्या, पवित्रता, आर्जव, क्षमा और सत्संग के पालन मे बताई गई है। इन आचारो के साथ-साथ बजर भूमि को जोत के उर्वर बनाना, निर्जल भूमि मे जल का प्रबन्ध करना तथा छुआछूत से दूर रहना और रजस्वला स्त्री का संयोग न करना—इन कर्मों का परिपालन करना चाहिए।

महात्मा जरायुस्त्र के आचार-दर्शन के तीन मुख्य आधार हैं—हुमत (उत्तम विचार), हुख्त (उत्तम वचन) और हुवर्स्त (उत्तम कार्य)। इनके तीन प्रतियोगी हैं—अधम विचार, अधम वचन और अधम कार्य। एक का परिणाम स्वर्ग और दूसरे का परिणाम नरक है। इन स्वर्गदायी सुकर्मों और नरकदायी कुकर्मों का यहाँ विस्तार से वर्णन किया गया है।

उक्त तीनो वरणीय आचारो के परिपालन के लिए प्रत्येक पारसी को सुदरेह और कुस्ती धारण करना आवश्यक है। सुदरेह एक उज्ज्वल वस्त्र होता है, *जिसकी समानता धवल वर्ण कुरते से की जा सकती है। इसी प्रकार भेडो की ऊन से निर्मित कुस्ती की तीन भावरें कमर मे धारण करनी होती हैं।* ये तीनो भावरें उत्तम विचार, उत्तम वचन और उत्तम कार्य के प्रतीक है। जो कि प्रत्येक पारसी को उसके इन कर्तव्यो के बोध का स्मरण कराते हुए उसे सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते है। उसका एक आशय यह भी है कि वह धर्मरक्षा मे अपने सनातन कर्तव्य के पालन के लिए कटिबद्ध रहे। यह ऊन की कुस्ती आरम्भ मे गले मे धारण की जाती थी। किन्तु मुसलमानो के बलात् धर्म ग्रहण कराने और आक्रमण के भय से उसे बाद मे गले से उतार कर कमर मे धारण किया जाने लगा, जिससे कि उसकी सुरक्षा बनी रहे।

पारसी लोगो की आचार-पद्धति मे टोपी पहनना अनिवार्य है। वे सदा सिर को ढँके रहने के लिए टोपी धारण करते है।

पारसियो मे दिन रात अनेक बार *(अनिवार्यत तीन बार) प्रार्थना करने का प्रचलन है। प्रार्थना करने से पूर्व पवित्र मत्रो का उच्चारण करते* हुए शरीर के समस्त खुले अगो का जल से प्रक्षालन करना, जिसे हम पच-स्नान कह सकते है, अनिवार्य है। वे प्रार्थना के समय भी मत्रो का पाठ करते है, जिनमे समष्टि की तथा व्यष्टि की कल्याण कामना और परमेश्वर की शक्तिमत्ता का भाव निहित है।

सामाजिक सदाचार को वरीयता देने के उद्देश्य से पारसी आचारो मे परम्परा से बहु विवाह की प्रथा अमान्य है। इसके साथ ही आजीवन अविवाहित रहना भी निषिद्ध माना गया है। उनके धर्म की ये दोनो बातें अत्यन्त आदर्शपूर्ण एव अनुकरणीय हैं। विवाह की प्रथा भी बहुत सरल और व्ययरहित है। पुरोहित के समक्ष वर-कन्या को तीन बार यह घोषणा करनी होती है कि उन दोनो ने स्वेच्छा से विवाह किया है। इस प्रतिज्ञा या सकल्प की अपनी निश्चित शब्दावली होती है। साथ ही विवाह सकल्प के समय उनके अभिभावको को भी तीन बार अपनी स्वीकृति को दुहराना होता है। पारसियो के पुरोहित वश-परम्परागत होते हैं और विधिवत् दीक्षित और शास्त्रज्ञ होने के उपरान्त ही उनको सस्कारो के सम्पादन का अधिकार प्राप्त होता है।

शरीरान्त या मृत्यु के बाद सम्पादित होने वाली अन्त्येष्टि क्रिया पारसी समाज मे अपने ढग की अतुलनीय होती है। वह अन्य धर्मानुयायियो के लिए भी अनुकरणीय एव वरणीय है। उनकी इस क्रिया मे लोक और परलोक, दोनो के उदात्त आदर्श निहित हैं। उनके धर्म मे अग्नि, जल और भूमि—तीनो को पवित्र माना जाता है इसलिए शव का वे न तो जल प्रवाह करते हैं न उसे भूमि मे गाडते हैं और न उसका अग्निदाह करते हैं। उसे वे निश्चित चबूतरे, पेड या पर्वत शिखर पर रख देते हैं, जिससे कि पशु पक्षी अपना आहार बनाते हैं। उसके यहाँ शव को नये कफन से ढँकना सर्वथा वर्जित है। इसके विपरीत उसको ऐसे वस्त्रो से ढंका जाता है जो अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण होते हैं और जो किसी भी प्रयोग तथा उपयोग के नही होते हैं। जीवन की नि सारता के प्रति उनकी यह अध्यात्म धारणा वस्तुत गभीर दार्शनिक निष्ठा की परिचायक है। अशरीरी, निरर्थक, मृत्तिकावत् देह को सजा धजा कर ले जाना व्यर्थ का आडम्बर है। मृत देह के प्रति उनकी यह श्रद्धा उनके गभीर दार्शनिक चिन्तन का फल है।

पुण्यकर्मो का अर्जन

पारसी समुदाय मे धर्म पालन के लिए पुण्य कर्मों का उपार्जन आवश्यक बताया गया है। यह पुण्यार्जन परोपकार, दया, प्रेम, त्याग, उदारता और सदाचार—इन सत्कर्मो के आचरण मे बताया गया है। सदाचार को वहाँ सर्वोच्च महत्त्व दिया गया है। सदाचारी मनुष्य ही वास्तविक अर्थों मे धार्मिक है और उसी के हृदय मे पुण्य के शेष आचारो का उदय होता है। उनकी धर्म-सहिता मे प्रत्येक जाति, या धर्म के वे महान् लोग सर्वदा वन्दनीय एव वरणीय हैं, जो व्यष्टि तथा समष्टि की भलाई मे समर्पित हैं। इस उच्च जीवन को

बिताने वाले लोग विरले ही होते हैं। भलाई की राह पर चलने वाले लोगों ने ही पृथ्वी पर धर्म का महत्त्व बना हुआ है।

'अवेस्ता' की एक गाथा में यह कामना की गई है कि—'हे मज्द (हे परमेश्वर), मुझे सर्वोत्तम धर्म में प्रवृत्त करो और कार्यों में नियुक्त करो, जिसमें कि मैं नेकी के रास्ते पर चलकर तेरी महिमा का पालन करूँ। तू जिस तरह चाहे, मुझे संचालित कर। मेरी जिन्दगी को ताजगी और स्वर्ग का सुख दें।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी सर्व-धर्म-समन्वय की प्रार्थना सभा में इस मन्त्र-गान का पारायण करते थे। *यह सर्वोत्तम धर्म ही विश्व-मानवता का कल्याणकारी धर्म है। वैदिक ऋचाओं में इस धर्म का बार-बार उद्गायन हुआ था।*

अवेस्ता की गाथाएँ

पारसियों के धर्म-ग्रन्थ का नाम 'जेन्द अवेस्ता' है। जिस भाषा के माध्यम से पैगम्बर जरथुस्त्र के धार्मिक-दार्शनिक विचार और साहित्य प्रकाश में आया, उसे 'अवेस्ता' कहा जाता है। 'अवेस्ता' या 'जेन्द अवेस्ता' धार्मिक भाषा तथा धार्मिक ग्रन्थ, दोनों का परिचायक एवं अभिधेय है। 'अवेस्ता' (उपस्था) *उसका मूल नाम है, जिसका अर्थ होता है मन्त्र या ज्ञान। 'अवेस्ता' अविस्तक से व्युत्पन्न बताया जाता है और उसकी प्रतिपत्ति ज्ञानार्थक 'विद्' धातु में मानी जाती है। उसे मन्त्र, ज्ञान, विवेक, सद्विचार एवं बुद्धि* का पर्याय बताया गया है। प्रारम्भ में मूल मन्त्र लिखे गये और बाद में एक गद्यात्मक व्याख्यान लिखा गया। इस गद्यात्मक व्याख्यान को ही 'जेन्द' कहा गया है। मूल मन्त्रों और उनके गद्यात्मक व्याख्यान को एक करके उसे जेन्द अवेस्ता' नाम दिया गया।

'अवेस्ता' की गाथाएँ वैदिक गाथाओं की भाँति गेय हैं। वे संख्या में कुल पाँच हैं, जिनमें केवल १७ मन्त्र संकलित हैं। 'अवेस्ता' का गाथा-अंश प्राचीनतम है, जो रचना-काल की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इस अंश में महात्मा जरथुस्त्र के मानवरूपधारी ऐतिहासिक स्वरूप की उत्कृष्ट अभिव्यंजना हुई है। इस गाथा से स्पष्ट होता है कि जरथुस्त्र विशुद्ध मानव के रूप में *आशा-निराशा, सुख-दुःख और हर्ष विषाद आदि मानव जीवन की अनुभूतियों से प्रभावित थे। ऐसे परम प्रभु के प्रति उनकी एकान्त निष्ठा है, जो जीवन के* गतिशील परिवर्तनों में भी अपनी एकता तथा सत्ता को स्थिर बनाये हुये हैं।

यह गाथा भाषा, वाक्य-विन्यास और छन्द आदि रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से 'अवेस्ता' के अन्य अंशों से अपनी सर्वथा भिन्नता रखती है। विद्वानों ने 'अवेस्ता' की भाषा को इस दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में प्राचीन भाषा का प्रयोग किया गया है, जो वैदिक संस्कृत के समान

है, और दूसरे भाग मे नवीन परिष्कृत भाषा का प्रयोग किया गया है, जो लौकिक संस्कृत के समान है। उस भाषा का विकास अवान्तर काल मे हुआ। इन स्फुट गाथाओ मे महात्मा जरायुस्त्र के वे उपदेश वर्णित हैं, जो उन्होने अपने शिष्य वाख्त्री (बैक्ट्रिया) के शासक राजा विस्तास्प को दिये थे। पैगम्बर की स्वत वाणी होने के कारण उनकी पवित्रता एव महत्ता अतर्क्य है। इन गाथाओ मे महात्मा जरायुस्त्र ने अपनी अनुयायी फारसवासी प्रजा को सर्वशक्तिमान ईश्वर, असुर महान् (अहुर मज्द) के आदेशो पर चलने के लिए आज्ञा दी थी। वेद तथा वैदिक भाषा से 'अवेस्ता' तथा उसमे प्रयुक्त भाषा मे एकरूपता होने के कारण दोनो देशो की पुरातन संस्कृतियो मे समानता के नये आयामो पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

केवल भाषा ही नही, 'अवेस्ता' के धर्म विधानो से वेद-संहिताओ के विचारो की भी समानता है। न केवल विचारो मे, विषयानुबद्धता के रूप मे भी दोनो मे यत्र-तत्र एकता दृष्टिगत होती है। वेदो की छन्द-पद्धति तथा गाथाओ के उद्गायन का जो ढग है, 'जेन्द अवेस्ता' की गाथाओ मे उसकी अभिन्नता स्थापित होती है। वेदो और 'जेन्द अवेस्ता' की इस पारस्परिक समानता के आधार पर विद्वानो ने दोनो देशो के मूल निवासियो को एक ही आर्य परिवार के अन्तर्गत माना है। भाषा-विज्ञान के विद्वानो ने यह आश्चर्यजनक निष्कर्ष निकाला है कि 'अवेस्ता' के प्रति दस शब्दो मे सात शब्द संस्कृत के हैं। कोई भी संस्कृतज्ञ विद्वान् 'अवेस्ता' का स्वतंत्र रूप से अध्ययन करने मे सक्षम है।

इस प्रकार 'अवेस्ता' की भाषा से आर्य भाषा (वैदिक) का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। जिस प्रकार वैदिक संस्कृत का विकास लौकिक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ मे हुआ और उनसे आधुनिक भारतीय भाषाओ का जन्म हुआ, उसी प्रकार 'अवेस्ता' की भाषा से पहलवी, सासदी, तथा साका आदि भाषाओ का जन्म होकर आधुनिक फारसी भाषा प्रकाश मे आयी। इस प्रकार आर्य भाषा और 'अवेस्ता' की भाषा, दोनो एक ही शाखा से, एक ही आर्य-परिवार से प्रसूत होने के कारण दोनो के प्राचीन रूपो मे घनिष्ठ समानता है।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि आज से शताब्दियो पूर्व महात्मा बुद्ध और महात्मा जरायुस्त्र एक ही उद्देश्य को लेकर इस धरती पर अवतरित हुए थे, और विश्व के धार्मिक इतिहास मे, आज के जन-मानस मे, परम्परा से उन दोनो महापुरुषो की वाणियाँ शान्ति तथा श्रेय-कल्याण की अजस्र स्रोत बनी हुई हैं। इन दोनो युगपुरुषो ने जिन समान उद्देश्यो को लेकर मानवता का उद्धार करने का संकल्पबद्ध अभियान चलाया था, उसका प्रमाण इतिहास है।

न केवल वैचारिक दृष्टि से, अपितु आचारित दृष्टि से भी दोनों धर्मानुयायियों में पारस्परिक सामंजस्य है। पारसियों के धर्म-ग्रन्थ 'गाथावाणी' (अवेस्ता) तथा कर्मकाण्ड विषयक ग्रन्थ 'वन्दीदाह' में वर्णित धार्मिक *क्रिया-कलाप हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के विधि-विधानों से एकरूपता रखते हैं।* 'गाथावाणी' में युधिष्ठिर संवत् का उल्लेख तक हुआ है। पारसियों की त्रिसूत्री ऊनी कुस्ती हिन्दुओं के यज्ञोपवीत का रूपान्तर है। उनके विभिन्न संस्कारों तथा धार्मिक पर्वोत्सवों की तुलना हिन्दुओं की आस्थाओं निष्ठाओं के अनुरूप है।

इस दृष्टि से सुदूर अतीत से लेकर अब तक पारसियों और हिन्दुओं में आचारों, विचारों और संस्कारों की एकरूपता बनी हुई है, और इन्हीं कारणों से आज भी दोनों धर्मानुयायियों में पारस्परिक सद्भाव तथा सौमनस्य देखने को मिलता है।

जरथुस्त्र धर्मानुयायी पारसियों का भारत आगमन

पैगम्बर जरथुस्त्र के जीवन-काल में ही उनके सदुपदेश एशिया के अनेक *देशों में फैल चुके थे। इस धर्म-शाखा की सैद्धान्तिक मान्यताओं ने सर्वप्रथम* यहूदी धर्म को और तत्पश्चात् ईसाई तथा इस्लाम धर्म को प्रभावित किया। अपने अतीत के उदय-काल में ही उसने हिमालय पार के देशों के निवासी ग्रीक तथा रोम के तत्ववेत्ताओं को अतिशय रूप से प्रभावित किया। किन्तु धीरे धीरे यह प्रभाव कम होता गया। इस्लाम की आक्रामक प्रवृत्ति के कारण *अपनी जन्मभूमि ईरान में वह निस्तेज तथा क्षीण होता गया। आगे चलकर* वह सर्वथा उन्मूलित हो गया। सम्प्रति वह अपनी जन्मभूमि ईरान में अत्यल्प जोरोष्ट्रियनों का धर्म रह गया है, जो किसी विवशतावश ईरान में रह रहे हैं।

लगभग ७वीं शती ई० में ईरान पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ और वहाँ के मूल निवासियों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए विवश किया गया। हजरत मुहम्मद ने जब मक्का से पुनः मदीना में प्रवेश किया तो धर्म प्रचार के अपने पुराने तौर-तरीकों में भी उन्होंने परिवर्तन कर दिया। *उन्होंने घोषणा की कि खुदाई फरमान हुआ है कि लोगों को बलपूर्वक इस्लाम* धर्म में दीक्षित किया जाये। इस घोषणा को चरितार्थ करने के लिए उन्होंने एक हाथ में 'कुरान' और दूसरे हाथ में 'तलवार' लेकर धर्म का नया अभियान आरम्भ किया। इस बलप्रयोग से अधिकतर लोगों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार किया। किन्तु जो लोग धर्मरक्षा पर अडिग बने रहे, वे किसी प्रकार ईरान से भाग निकले। उनमें से कुछ लोग पश्चिमी भारत के समुद्र तट संजाण

बन्दरगाह पर उतर कर वहीं स्थायी रूप से बस गये। अपने आरम्भिक उदय-काल में भी संख्या में वे अधिक नहीं थे और आज भी संसार के विभिन्न देशों में छिट-पुट रूप में बिखरे हुए मिलते हैं। अन्यान्य देशों की अपेक्षा भारत में रह रहे पारसियों की संख्या सर्वाधिक है।

वर्तमान भारत में रह रहे लगभग डेढ-दो लाख पारसी उन्हीं के वंशज हैं। क्योंकि ये लोग पारस (ईरान) से आये थे, अतः भारत में उन्हें पारसी कहा गया और आज भी उन्हें इसी अभिधान से पुकारा जाता है। भारत में पारसी समुदाय के अधिकतर लोग सम्मानित एवं सम्पन्न जीवन बिता रहे हैं। वे सम्प्रति भारत के मूल निवासी माने जाते हैं और संविधान में उन्हें अन्य देशवासियों की भाँति पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। वे अपनी स्वतंत्र धार्मिक रीति-नीतियों का परिपालन करते हुए स्वयं भी भारतीय होने का गौरवानुभव करते हैं। भारतीयता ही उनकी राष्ट्रीयता है।

भारत में रह रहे पारसियों की यह विशेषता है कि उन्होंने अभी तक धर्म या मजहब के नाम पर किसी भी प्रकार के साम्प्रदायिक वैर-वैमनस्य का भाव प्रकट नहीं किया है। साथ ही भारत में रह रहे अन्य धर्मावलम्बियों को भी उनसे कोई शिकायत नहीं है। प्रकृति से वे धार्मिक, उदार, दयालु और कर्मनिष्ठ हैं। उनमें अधिकतर सुशिक्षित हैं और बड़े-बड़े व्यापार-व्यवसायों के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं।

भारत में पारसियों के अपने धर्मस्थल हैं। वे अग्निपूजक हैं। जब वे ईरान से चले थे, तो पवित्र अग्निशिखा को अपने साथ लेते आये थे। भारत में प्रवेश कर उन्होंने उस अग्निशिखा या ज्योति को ऊदवाडा के आतिश बहराम में स्थापित किया था। अतः भारत में उनका यही प्रथम एवं प्रधान धार्मिक स्थल है। उसके बाद नवसारी और सूरत में भी उन्होंने अपने देवालयों की स्थापना की और वहाँ के अग्निकुण्डों में भी उस पवित्र अग्नि को प्रसारित किया। संजाण के तत्कालीन शासक ने पारसियों से एक इकरारनामा लिखा कर उन्हें अपने राज्य में रहने की अनुमति दी थी। यह अनुबन्ध पत्र सम्प्रति बड़ोदा संग्रहालय में सुरक्षित है।

इस प्रकार लगभग १२ सौ वर्षों तक अपने धर्म की रक्षा करते हुए बाद में उनके मूल वंशज ईरान से भागकर भारत में आकर बसे। भारतवासी पारसियों के उपासना-गृह उस परम प्रभु की दिव्य वाणी से सनाथित हैं, उनके अच्छे विचार, अच्छी वाणी और अच्छे कार्य देवदूत जरथुश्त्र की दिव्यता से ओतप्रोत हैं और समस्त मानवता के लिए प्रेरणा एवं आदर-सम्मान के विषय हैं।

यहूदी धर्म

यहूदी धर्म की प्रवर्तक यहूदी जाति के सम्बन्ध मे इतिहास मे अनेक प्रकार के मत व्यक्त किये गये है। प्राय सभी इतिहासकारो की मान्यता है कि यहूदी लोग येरुसलम मे आस-पास यूदा नामक प्रदेशो मे मूल निवासी थे। यूदा नामक प्रदेश के निवासी होने के कारण इजरायली जाति के लोगो को 'यहूदी' कहा गया। इजराइल का वर्तमान राष्ट्रीय स्वरूप १४ मई, १९४८ ई० को अस्तित्व मे आया, जो कि प्राचीन फिलिस्तीन का एक भग है।

यहूदी जाति के सम्बन्ध मे उनके मूल ग्रन्थ 'पुराना अहदनामा' मे कहा गया है कि उनका मूल ऐतिहासिक महापुरुष अब्राहम (या अबराहम अथवा इब्राहिम) लगभग १८०० ई० पूर्व मे हुआ। उसके दो पुत्र थे, एक का नाम था इसहाक और दूसरे का याकूब। याकूब का ही दूसरा नाम इजरायल था। उसने यहूदियो की बारह विच्छिन्न जातियो को मिलाकर जिस राष्ट्र की नीव डाली, उस राष्ट्र को उसी के नाम से 'इजरायल' कहा गया।

याकूब या इजरायल के एक पुत्र का नाम था यहूदा या जूदा। उसके नाम पर उसके वशजो को 'यहूदी' नाम से कहा गया और उनका धर्म 'यहूदी धर्म' (जुदाइज्म या यूदाइज्म) के नाम से प्रचलित हुआ। उसने अपने स्वतत्र धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की। यहूदियो का अपना मान्य धर्म-ग्रन्थ है, जिसे 'पुराना अहदनामा' (ओल्ड टेस्टामेंट) कहा जाता है। यह 'बाइबिल' का पूर्वार्द्ध (प्रथम) भाग है। इस धर्म ग्रन्थ के तीन अग हैं—'तौरेत' (इब्रानी थोरा), यहूदी पैगम्बरो का जीवन चरित और 'पवित्र लेख'। इन्ही तीनो ग्रन्थो का सामूहिक नाम 'पुराना अहदनामा' है। इस महान् ग्रन्थ के ३९ खण्ड है, जिनमे सृष्टि-रचना, मनुष्य की उत्पत्ति, यहूदी जाति का इतिहास और सदाचार, कर्मकाण्ड तथा पौराणिक गाथाएँ वर्णित हैं।

यहूदी धर्म का इतिहास अनेक प्रकार के सघर्षो और विडम्बनाओ के साथ आगे बढता गया। उसकी पक्षपाती और विरोधी अनेक सल्तनतो के कारण उसका समय-समय पर उत्थान-पतन होता गया। यहूदियो के निरन्तर सघर्षो और प्रतिरोधो के फलस्वरूप उसका अस्तित्व जीवित रहता हुआ आगे बढा। उसके इतिहास की यह परम्परा कभी तो अपने विरोधियो के

कारण क्षीण पड़ती गई और कभी सबल संरक्षण तथा आश्रय के कारण उन्नत होती गई। इन अनेक प्रकार की परिस्थितियों में भी उसको 'बाइबिल' में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त हुआ और इस रूप में वह विश्व के प्राचीन धर्मों की परम्परा में आज भी अपने महत्त्व तथा गौरव को कायम किये हुये है। उसके उन्नत एवं उदार सिद्धान्त आज भी धर्मप्राण मानव-समाज में सत्प्रेरणा का संचार कर रहे हैं।

हजरत अब्राहम

यहूदी जाति तथा धर्म के मूल संस्थापक का नाम अब्राहम था, जिसे कि महान् पैगम्बर के रूप में माना जाता है। उनका जन्म उर (सुमेर का प्राचीन नगर) में हुआ था। उन्हें यहूदी जाति का पितामह कहा जाता है। 'बाइबिल' (उत्पत्ति ग्रन्थ, अध्याय ११-२५) में उसे बहुत भारी जातियों का जनक कहा गया है। ईश्वर ने उनको कनान देश दिलाने की प्रतिज्ञा की थी। उनके साथ ईश्वर (याह्वेह) का जो व्याख्यान हुआ था, उसकी स्मृति में यहूदी समाज आज भी खतना करता है। अब्राहम के सबसे बड़े वंशज ईसा हुए। वे ईश्वर के दास भी हैं और मित्र भी। ईश्वर के आदेश पर अब्राहम अपने एकमात्र पुत्र के बलिदान करने पर तत्पर हो गया था। 'बाइबिल' के उक्त सन्दर्भ में कहा गया है कि अब्राहम उन समस्त लोगों के अध्यात्म पिता हैं, जो ईश्वर पर आस्था रखते हैं।

हजरत अब्राहम स्वतन्त्र विचारों के और दृढ़ निश्चय तथा ईश्वर के प्रति अडिग निष्ठावान् थे। उन्होंने अपने जीवन में बहुत कष्ट झेले और यहूदी जाति तथा धर्म की रक्षा के लिए देश देशान्तरों में घूमते रहे। उन्होंने यहूदियों को उत्तरी अरब तथा उर से फिलिस्तीन की ओर अभ्रमण कराया। जीवन में धर्मरक्षा के लिए अनेक प्रकार के संघर्षों का सामना करते हुए अपने जन्म-स्थान के सुदूर प्रदेश में उनका शरीरान्त हुआ। धर्म-ग्रन्थों में उनका नाम आज भी आदर के साथ स्मरण किया जाता है और उनकी पवित्र स्मृति जीवित है।

हजरत मूसा

यहूदी धर्म ग्रन्थों में हजरत अब्राहम के बाद हजरत मूसा का नाम आता है। एशिया महाद्वीप में अब तक जितने भी युगपुरुष हुए, उनमें हजरत मूसा का नाम उल्लेखनीय है। हजरत मूसा (१३५० ई० पूर्व) यहूदी धर्म के प्रवर्तक, महाज्ञानी और महापुरुष हुए। मिस्र की सदियों की घोर गुलामी से यहूदियों को मुक्ति दिला कर उन्होंने जन सामान्य की समझ के अनुरूप मानव-

सहज धर्म का उपदेश दिया। स्वय को पैगम्बर घोषित कर उन्होने यहूदी धर्म की पुन स्थापना की। उन्होंने स्वय को खुदा की ओर से भेजा गया पैगम्बर बताया और समस्त यहूदियो को अपनी शिक्षाओ तथा उपदेशो का पालन-अनुसरण करने का आदेश दिया। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे घोषित किया—'ईश्वर की ओर से आज्ञा हुई है कि मैं उनके बताये हुए धर्म की स्थापना करूँ। अत जो ईश्वर के आदेश का पालन नही करेगा, वह दोषी होगा'।

मानव हितकारी प्रत्येक महापुरुष की भाँति हजरत मूसा की जीवन कथा बडी विकट एव विचित्र परिस्थितियो मे आगे बढी। ईसा के लगभग डेढ-दो हजार वर्ष पहले यहूदियो का एक वर्ग मेसोपोटामिया से चलकर मिश्र मे बस गया था, जिसने अपने जीवन के लम्बे इतिहास मे घोर अमानवीय अत्याचारो को वहन एव सहन किया। वे अभावग्रस्त होकर अपनी दीन हीन दशा को उन्नत करने के उद्देश्य से मिश्र गये थे, किन्तु भाग्य की विडम्बनाओ ने उनको विपत्तियो के गर्त मे जा ढकेला। मिश्रवासियो ने उनके साथ अमानवीय व्यवहार किये, उन्हे गुलामो के रूप मे अपनाया और उनके लिए ऐसे नियम बनाये, जिससे न तो उनकी उन्नति हो सके और न उनकी सख्या मे वृद्धि हो सके। उनकी जो भी सन्तान होती थी, उसे मौत के घाट उतार दिया जाता था। मिश्रवासी ही उनके एकमात्र भाग्यविधाता थे। इस प्रकार यहूदी लोग मिश्र मे दयनीय गुलामो का जीवन बिता रहे थे और अमानवीय जुल्मो म जी रहे थे।

लम्बे समय तक, अनेक पीढ़ियो के बाद यहूदियो की इस दु खद स्थिति का अन्त हुआ। लगभग १३५० ई० पूर्व यहूदियो में एक तेजस्वी बालक का जन्म हुआ। उसके माता पिता इजरायली थे। उस समय मिश्र पर फराऊन का शासन था। उसने परम्परागत इस नियम को जारी रखा हुआ था कि यहूदियो का जो भी नवजात शिशु हो, उसे तत्काल मौत के घाट उतार दिया जाये। यह स्थिति ठीक वैसी ही थी, जैसी कि मथुरा मे कस राजा ने देवकी वसुदेव की सन्तानो के बारे मे कायम की हुई थी। इस भय से माता पिता ने नवजात शिशु के जन्म को अतिगोपनीय रखा और उसे उसके भाग्य पर छोड दिया। उसकी माता ने बालक को एक टोकरी मे रखकर उसे एक निर्जन नदी तट पर रख आई। सयोगवश मिश्र की राजकुमारी (फराऊन की पुत्री) स्नान करने के लिए नदी तट के उसी स्थान पर जा पहुँची। वहाँ उसने नवजात सुन्दर तेजस्वी शिशु को टोकरी पर खेलते हुए देखा। बालक पर दृष्टि पडते ही राजकुमारी का मन प्रभावित हुआ। बालक के विलक्षण दैवी स्वरूप को देखकर उसका हृदय द्रवित हो उठा। उसने राज्य भर मे यह

ऐलान करा दिया कि जिसका वह बालक हो, उसके माता पिता उसे उठाकर ले जाये। उसे किसी भी प्रकार का मृत्युदण्ड नहीं दिया जायेगा। राजपुरुषो की इस घोषणा को सुनकर उसकी माता नदी तट पर गई और राजकुमारी ने वह शिशु उसे सौंप दिया। जब शिशु कुछ बडा हुआ तो राजकुमारी ने उसे अपने पास रख लिया। वही बालक कालान्तर मे महात्मा मूसा के नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसने अपनी यहूदी जाति के साथ ही सम्पूर्ण मानव-जाति का उद्धार किया।

महात्मा मूसा का जीवन अनेक विचित्र घटनाओ, रहस्यो का उद्घाटन करता हुआ आगे बढा। जब वे बडे हुए तो उन्होने अपनी जाति के लोगो पर मिश्रवासियो के द्वारा किए जा रहे अत्याचारो का खुलकर विरोध किया। एक बार किसी यहूदी पर हो रहे निर्मम अत्याचारो को देख कर वे क्रोधित हो उठे और उन्होने अत्याचारी मिश्री को मौत के घाट उतार दिया। यह एक आश्चर्यजनक एव अनहोनी घटना थी। राजदण्ड के भय से वे मरुभूमि (अरबिस्तान) भाग गये। वही उन्होने एक मैडियनाइट स्त्री से विवाह कर लिया। वही रह कर वे यहूदियो के उद्धार के उपाय सोचते रहे और उनकी मुक्ति के लिए चिन्तित बने रहे।

विवाहोपरान्त कुछ दिनो तक वे अपने श्वसुर-गृह मे रह कर भेडो को चराते रहे। किन्तु यहूदियो के सकटो को वे भुला नही पाये। एक दिन भेड चराते हुए उन्हे उच्च शिखर पर अग्निरूप मे ईश्वर के दर्शन हुए और उन्होने ईश्वर से अपने मन का उद्देश्य प्रकट किया। ईश्वर ने उन पर कृपा की और ईश्वर के बताये मार्ग का अनुसरण करते हुए वे पुन यहूदियो के उद्धार-कार्य मे तन्मय होकर प्रवृत्त हो गये।

समय और परिस्थितियो को दृष्टि मे रख कर उन्होंने जादू तथा वशीकरण की विद्याएँ सीख ली। जादूगर का वेश बना कर उन्होने अपने कौशल दिखाने के लिए मिश्र के तत्कालीन शासक फराऊन के राजभवन मे प्रवेश किया। शासक उनके अद्भुत कला-कौशलो को देखकर बडा प्रभावित हुआ। मूसा ने मिश्रवासियो की तत्कालीन दस महाविपत्तियो को दूर करने मे भी सहायता की। इस पर प्रसन्न होकर शासक ने जादूगर को पर्याप्त धन देना चाहा, किन्तु जादूगर ने उसे लेना अस्वीकार कर दिया। बदले मे उसने शासक से यहूदियो की सदियो से चली आ रही गुलामी से मुक्त करने का अनुरोध किया। शासक ने उसे स्वीकार कर लिया। इस प्रकार यहूदियो को गुलामी से मुक्ति मिली और वे स्वतत्रता का वातावरण पाकर प्रसन्न हो गये। मूसा महान् मिश्र से समस्त यहूदियो को लेकर अरबिस्तान लौट आये और उन्हें

सिनाई पर्वत के पास स्थायी रूप से बसा दिया। वहाँ उन्होंने अपने वंश का विकास किया और कालान्तर में वहीं से वे विभिन्न प्रदेशों तथा देशों में फैले।

यहूदी समाज की सेवा करते हुए और परम कृपालु परमेश्वर की दयाओं को शिरोधार्य करते हुए महात्मा मूसा लगभग १२० वर्षों तक जीवित रहे। 'बाइबिल' के पूर्वार्द्ध में मूसा को ईश्वर का दास, नबी, पुरोहित आदि महनीय विशेषणों से अभिहित किया गया है। यहूदियों के वे महागुरु ईश्वर द्वारा प्रदत्त मुक्ति के इतिहास के प्रधान नायक और 'मसीह' जैसे महनीय नामों से स्मरण किये जाते हैं। वे यहूदी 'धर्म-संहिता' के रचयिता और मसीह के अवतरण की घोषणा करने वाले नबी थे।

महात्मा मूसा को 'पेंतातुख' का रचयिता बताया जाता है। 'बाइबिल' के प्रथम पाँच ग्रन्थों का समूह 'पेंतातुख' या 'मूसा संहिता' के नाम से कहा जाता है। उन ग्रन्थों के नाम हैं—उत्पत्ति, निष्क्रमण, लेवियितिकुस, गिनती और विधि विवरण। इन पाँच ग्रन्थों के वर्ण्य विषय हैं—पृथ्वी तथा मनुष्य की सृष्टि, इजरायली जाति की उत्पत्ति, उस पर ईश्वर की कृपा-दृष्टि तथा नेता मूसा द्वारा विधि-संग्रह की घोषणा। इस ग्रन्थ का अन्तिम लिपिबद्ध संस्करण ९०० ६०० ई० पूर्व में पूरा हुआ था।

जिस प्रकार भारत के तत्त्वद्रष्टा ऋषि महर्षियों ने वेदमन्त्रों के रहस्यों को उपनिषदों तथा पुराणों द्वारा सरल, सुगम तथा रुचिकर कथा शैली में प्रस्तुत किया, उसी प्रकार महापुरुष मूसा (मोसेज) ने 'बाइबिल' पर व्याख्यान लिखा। यहूदी धर्म परम्परा में मूसा का वही स्थान है, जो भारतीय ज्ञानियों की परम्परा में वेदव्यास का है। उन्होंने 'बाइबिल' के गूढ, गंभीर तथा शुष्क विषयों को अत्यन्त सरस, सरल एवं रुचिकर ढंग से प्रस्तुत किया। उनका व्याख्यान जहाँ एक ओर तात्त्विक दृष्टि से महनीय है, वहीं दूसरी ओर साहित्यिक दृष्टि से भी उपयोगी एवं लोकरुचिसम्पन्न है।

हजरत मूसा यहूदियों के मनु भी थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम यहूदियों के लिए विधि (कानून) और व्यवहार (कर्तव्यशास्त्र) का विधान किया। इन विधि विधानों और न्याय नियमों पर पश्चिम के आधुनिक विद्वानों ने अनेक सार गर्भित ग्रन्थों का प्रणयन किया है। 'बाइबिल' की लोकहितकारी वाणियों को महात्मा मूसा ने व्यापकता प्रदान की। उनके नीति वचन बड़े ही उपादेय हैं। मानव-समाज को कुमार्ग तथा दुर्व्यवहारों से वर्जित कर सुमार्ग और सद्‌विचारों पर लगाने के लिए इन नीति वचनों का बड़ा महत्त्व है। वे मनुष्य को सजीवता और सचेतनता का बोध करा कर उसे व्यवहार बुद्धि की कुशलता की ओर प्रेरित करते हैं।

महात्मा मूसा के उपदेशों की दो बातें मुख्य हैं—प्रथम यह कि अन्य देवी-देवताओं की पूजा का परित्याग कर एकमेव निराकार ईश्वर की उपासना करनी चाहिए और द्वितीय यह कि सदाचार के दस नियमों का परिपालन करना चाहिए।

परवर्ती महात्मा और धर्म-संरक्षक

हजरत अब्राहम और हजरत मूसा के पश्चात् यहूदी समुदाय तथा यहूदी धर्म की परम्परा को उत्थापित करने वाले दो परवर्ती महापुरुषों के नाम उल्लेखनीय हैं। वे हैं—दाऊद और उनके पुत्र सुलेमान। दाऊद के 'भजन' यहूदी धर्म-पुस्तक के रूप में सम्मानित हैं। उनके भजनों में भक्ति-भावना का हृदयग्राही वर्णन हुआ है। सुलेमान के समय (१००० ई० पूर्व) इजराइल ने अभूतपूर्व उन्नति की। वह बड़े उदार विचारों का एवं धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु था। उसके शासन-काल की विशेषता यह है कि उसने इब्रानी (या इबरानी) को यहूदियों की राष्ट्रभाषा के रूप में सम्मानित किया। उसके समय इजरायल के जिन बाहरी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हुए, उनमें भारत भी एक था। इस दृष्टि से यहूदियों की भारत से सम्बन्धों की परम्परा एक हजार ई० पूर्व में स्थापित हो चुकी थी, जो कि भविष्य में समय-समय पर प्रवर्तित होती रही। 'सुलेमान की कहावतें' यहूदी धार्मिक परम्पराओं में बहुत प्रसिद्ध हैं और संसार के व्यापक जन-समाज में उनकी लोकप्रियता आज भी बनी हुई है।

दाऊद के बाद हरवामनी वंश के प्रतापी सम्राट् कुरु के शासन-काल (लगभग ५५० ई० पूर्व) में—यहूदियों की धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा सामाजिक आदि चतुर्मुखी उन्नति हुई। वह बड़ा उदार तथा न्यायप्रिय शासक था। उसने दासता में पराधीनता का दु:खद जीवन बिताने वाले यहूदियों को स्वतंत्र कर दिया था। यरुसलम के मन्दिर से लूट कर लाई हुई सम्पत्ति को पुन: मन्दिर को लौटा दिया था। उसने साथ ही उस मन्दिर का नव-निर्माण भी कराया। उसी के शासनकाल में 'तोरेत' (थोरा) धर्म-ग्रन्थ का संकलन-कार्य आरम्भ हुआ था, जो कि उसके बाद पूरा हुआ। इस ग्रन्थ का यहूदी समाज में बड़ा महत्त्व माना जाता है। वह ऐसा धर्मप्राण महापुरुष हुआ, जिसने समस्त राज्य के पुरोहितों को अग्निकुण्डों को निरन्तर रूप से प्रज्ज्वलित करने का आदेश दिया था। उसने राज्य के पुरोहितों को अपने नियत कार्यों पर निष्ठापूर्वक लगे रहने के लिए आदेश दिये थे। उसके समय

धर्म तथा उपासना के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। 'प्रचारक' नामक यहूदी धर्म ग्रन्थ का इसी समय प्रचलन हुआ।

यहूदी धर्म तथा समुदाय के प्रति द्वेष, घृणा, तथा प्रतिहिंसा का भाव रखने वाले शासकों में अन्तियोक्स चतुर्थ (१७५ ई० पूर्व) का नाम-स्मरण आज भी यहूदियों में निन्दाजनक माना जाता है। उसके द्वारा यहूदी धर्म को बड़ी क्षति हुई। उस असहिष्णु एवं अनुदार शासक ने समस्त राज्य के लिए कानून बना दिया था कि जो भी यहूदी धर्म का अनुगमन करेगा, वह दण्ड-भागी होगा। उसने राज्य के समस्त यहूदी मन्दिरों में यूनानी मूर्तियाँ स्थापित करवा दी थी और 'तौरेत' की जो भी प्रतियाँ मिली, उन्हें जलवा डाला। उसके अत्याचारों से यहूदी धर्मानुयायियों को सेनापति साइमन ने (१४२ ई० पूर्व) मुक्ति दिलाई थी।

इसी समय यहूदी धर्म के नबियों ने असुरी सम्राटों की उनके धर्मद्रोह के लिए कटु भर्त्सना की और अपनी निर्भीकता का परिचय दिया। इन नबियों ने बाबुल के नेबुकदनेज्जार के कारागार में 'बाइबिल' के प्रारम्भिक पाँचों खण्डों (पेंतुतुख) को प्रस्तुत किया। इस प्रकार यहूदी नबियों के प्रयास से धर्म की परम्परा को आगे बढ़ने में सहायता मिली।

बाइबिल

यहूदी धर्म की मूल पुस्तक का नाम 'बाइबिल' है, जो कि दो खण्डों में विभाजित है— पुरातन सुसमाचार' (Old Testament) और नूतन सुसमाचार' (New Testament)। इसके प्रथम खण्ड के तीन भाग यहूदी धर्म से सम्बन्धित है। इन तीनों भागों को 'यहूदी बाइबिल' भी कहा जाता है। 'बाइबिल' वस्तुतः विश्व के श्रेष्ठतम धर्म ग्रन्थों में से एक है। उसका विषय-निरूपण अन्य धर्मों के मूल पुरातन ग्रन्थों की भाँति सूत्रात्मक एवं संकेतात्मक शैली में किया गया है। इसलिए उसके अनेक स्थल अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से बड़े जटिल एवं अस्पष्ट हैं। वैदिक ऋचाओं की भाँति उनके अर्थबोध में सन्दर्भगत विषय की दृष्टि से कोई सहायता नहीं मिलती। इसका सम्भवतः यही कारण हो सकता है कि 'बाइबिल' की वाणियों को संग्रह करते समय संग्रहकारों ने सन्दर्भगत विषयों के क्रम पर ध्यान नहीं दिया।

आधुनिक मानव समाज में 'बाइबिल' की बड़ी लोकप्रियता है। यहूदियों और ईसाइयों के अतिरिक्त अन्य धर्मानुयायियों के लिए भी उसमें उपयोगी सामग्री निहित है। उसमें मानव जाति के सार्वभौम आदर्शों को बड़े मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उसकी गाथाओं तथा उपगाथाओं में जो ईश्वरीय

सन्देश वर्णित है, वे प्रत्येक मनुष्य के लिए अत्यन्त प्रेरणाप्रद एवं आकर्षक हैं। 'बाइबिल' की वाणियाँ अपनी सरलता एवं सहृदयता की दृष्टि से और अपनी मनोरंजक शैली के कारण बड़ी रुचिकर भी हैं।

'बाइबिल' का वर्ण्य विषय प्राय पुराणों और उपनिषदों की भाँति अन्तत जीवन की मंगल सिद्धि में केन्द्रित है। उसके प्रथम खण्ड में सृष्टि की उत्पत्ति तथा मनुष्य के विकास की कहानी वर्णित है। भारतीय दर्शन में जिस प्रकार प्रकृति पुरुष को सृष्टि का आधार बताया गया है उसी प्रकार आदम और हौवा (ईव) द्वारा सृष्टि का सृजन एवं विकास कैसे हुआ और शैतान के प्रभाव में आकर किस तरह उनका स्वर्ग से पतन हुआ, इसकी मार्मिक कथा वर्णित है। 'बाइबिल' के आगे के अन्य परिच्छेदों (ग्रन्थों) में नोह, अब्राहम तथा जोसेफ आदि महामानवों की जीवन-कथाएँ वर्णित हैं।

सिद्धान्त-निरूपण

विभिन्न धर्मों की भाँति यहूदी धर्म के भी अपने दार्शनिक सिद्धान्त हैं। उनका यह परम्परागत विश्वास है कि मनुष्य की मृतदेह में आत्मा मोहवश तीन दिन तक घूमती रहती है। वे ईश्वर और देवदूत (पैगम्बर) में विश्वास करते हैं। किन्तु वे शैतान को भी मानते हैं। ईश्वर ही इस संसार का रचयिता और उसका पालनकर्ता है। वह जीवों के प्रति दयालु और न्यायकारी है। न्याय के दिन वह मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्यों की जाँच करता है, और तदनुसार उनके लिए स्वर्ग-नरक की व्यवस्था करता है।

यहूदी धर्म दर्शन में ईश्वर ही एकमात्र सर्वशक्तिमान है। वही इतिहास का निर्माता, शासक तथा संसार की समस्त वस्तुओं का सूत्रधार है। वह स्वयं पवित्र है और अपने भक्तों से भी यह अपेक्षा रखता है कि वे भी पवित्र जीवन व्यतीत करें। वह ऐसा न्यायकारी है, जो पापियों और कुकर्मियों को दण्ड और पुण्यात्माओं एवं सुकर्मियों को पुरस्कार देता है। वह दयालु पिता है और उस जाति की रक्षा करता है, जो उसकी कृपा की आकांक्षी है। उसके अनेक नाम हैं—एलोहीन, याह्वे तथा अदोनाई आदि।

ईश्वर ने अब्राहम के रूप में जन्म धारण किया। वह पृथ्वी का स्वतन्त्र सृष्टिकर्ता है। सृष्टि और सृष्टिकर्ता, दोनों भिन्न हैं। यह सृष्टि, सृष्टिकर्ता का रूपान्तरण है। ईश्वर लोकोत्तर है। उसकी इच्छाशक्ति से ही सृष्टि के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती है। किंतु वह उन सबसे पृथक् है। यहूदी जाति का उदय अब्राहम से हुआ और मूसा के समय ईश्वर तथा यहूदी जाति के बीच का व्यवस्थापन हुआ।

यहूदी धर्म के इतिहास में यह कल्पना की गई है कि भविष्य में मसीह का अवतरण होगा और वे इस पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करेंगे। मसीह के रूप में अवतरित होकर ईश्वर यहूदियों की प्रतिज्ञा को पूरा करेंगे। किन्तु मसीह का अवतरण कब और कहाँ होगा, 'बाइबिल' में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। ईसाई लोग ईसा को ही प्रतिज्ञात मसीह मानते हैं, किन्तु यहूदी समुदाय आज भी मसीह के अवतरण की राह देख रहा है।

यहूदी धर्म की उपासना का प्रमुख मन्दिर यरुसलम में था। उस मन्दिर की सेवा तथा व्यवस्था के लिए याजकों के अलग अलग वर्ग नियुक्त किये गये थे। यहूदियों का दृढ़ विश्वास था कि यरुसलम के महामन्दिर में स्वयं ईश्वर विराजमान है। इसलिए यहूदी धर्म में उक्त मन्दिर को प्रमुख तीर्थ माना गया है।

यहूदी दर्शन में 'जूदावाद' या 'यूदावाद' के नाम से भी एक दार्शनिक मत प्रचलित हुआ था। इस मत के संस्थापक याकूब के पुत्र यहूदा या यजूदा थे। उसके नाम से उसके वंशजों को यहूदी नाम से कहा गया। उसने जिस यूदावाद को प्रचलित किया था, उसमें मूर्तिपूजा का तीव्र विरोध किया गया है। इस मत के अनुयायी अन्य धर्मों के साथ समन्वय स्थापित करने में भी घृणा करते थे। इस मत के लोग याह्वे (ईश्वर) को अपना शासक मानते हैं और 'बाइबिल' में संगृहीत मूसा संहिता को धार्मिक जीवन का संविधान मानते थे। यह यूदावाद अपने दृष्टिकोण में अन्त तक संकीर्ण बना रहा।

आचार-दर्शन

यहूदियों का आचार-दर्शन ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मों से बहुत कुछ समानता रखता है। इस मन्तव्य के अनुसार माता पिता का आदर करना, अहिंसा में प्रवृत्ति रखना, अस्तेय का पालन करना, व्यभिचार में अप्रवृत्ति रखना और अपने पड़ोसी के प्रति ईमानदारी का व्यवहार करना मनुष्य मात्र का मुख्य कर्तव्य है। उनकी प्रार्थना में सार्वभौम भावना निहित है। भगवान् के प्रति उनकी प्रार्थना में निवेदन किया गया है— हे प्रभो, हम लोगों में आपकी आज्ञा और आपके द्वारा निर्दिष्ट नियमों के पालन करने की क्षमता हो, हम लोग पापों से दूर रहें, लोभ में न पड़ें, हमारा अपमान न हो, सब प्रकार की बुराइयों से हम दूर रहें, हमें आप अपनी कृपा का पात्र बनाएँ। हे प्रभो, आप धन्य हैं, एवमस्तु (आमीन)।'

हिन्दू वैदिक यज्ञों की भाँति यहूदी धर्म में भी पशुबलि सहित यज्ञ के अनुष्ठान का विधान है। इस्लाम धर्म की तरह यहूदी धर्म में मूर्ति निर्माण तथा

स्वर्ग का स्थापन निषिद्ध है। सातवाँ शनिवार उनका विश्राम दिन होता है। ईश्वर के आदेशानुसार वे छ दिनों तक कार्य में संलग्न रहते हैं और सातवें दिन शनिवार को पूर्ण विश्राम करते हैं।

भारत के साथ सम्बन्ध

यहूदी धर्म का मूल उद्गम और यहूदियों का मूल निवास पश्चिम एशिया था। प्राचीन काल से ही धार्मिक तथा आर्थिक प्रयोजनों से उसके जिन बाहरी देशों से सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे, उनमें भारत भी एक था। इन सम्बन्धों के इतिहास को ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व में निर्धारित किया जा सकता है। यहूदियों के प्रमुख पुरुष दाऊद के पुत्र सुलेमान के समय (१००० ई० पूर्व) भारत के साथ यहूदियों के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। उसके बाद यद्यपि ईरान-इजरायल में सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्तियों के कारण इन सम्बन्धों में बाधाएँ उत्पन्न होती गई, तथापि यहूदियों की दृष्टि में भारत की गणना उन देशों में थी, जहाँ व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाया जा सकता था।

प्राचीन काल में यहूदियों की एक शाखा इस्रा इजरायल में आ बसी थी, जिसे 'बेने इजरायल' कहा जाता है। उस शाखा के मूल निवासियों का एक वर्ग लगभग ७००–६०० ई० पूर्व में भारत आ रहा था। दैवयोग से उनका जहाज समुद्री तूफान के कारण नवगाँव के निकट नष्ट हो गया था। उस दल में से केवल सात पुरुष और सात स्त्रियाँ ही बच पाये थे। वे सब यहीं नवगाँव में बस गये थे। उनकी वंश परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती गई और वे अपनी स्थिति को सुस्थिर बनाते गये। कोंकण के समुद्री तट पर अवस्थित अनेक गाँवों में उनकी शाखा के लोग अब तक रह रहे हैं। वे पगड़ी धारण करते हैं और अब्राहम, ईसाक तथा जेकब के अनुयायी हैं। सुन्नत (संस्कार) के समय उनके प्रथम हिब्रू नाम रखे जाते हैं और फिर उन नामों का भारतीयकरण कर दिया जाता है।

बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार के कारण भी पश्चिम एशिया से भारत के सम्बन्धों में घनिष्ठता बढ़ी। सम्राट् अशोक ने अपने धर्म-प्रचारक भिक्षुओं को पश्चिम एशिया भेजा था। जिस समय यरुशलम पर अन्तियोकस चतुर्थ का शासन (१७५ ई० पूर्व) था, ईरान तथा इजराइल में बौद्ध भिक्षुओं का प्रवेश हो चुका था। उन्होंने यहूदी धर्म को अत्यधिक रूप से प्रभावित किया, जिसके कारण यहूदी धर्म की एक शाखा 'एस्सेनी' का उदय हुआ। उसके अनुयायियों ने अपने नये नियम प्रचलित किये। उनमें हिंसा, पशुबलि, मास-

भक्षण तथा मदिरापान वर्जित था। प्रत्येक 'एस्सेमी' धर्म-ग्रहण करते हुए दीक्षा के समय यह प्रतिज्ञा करता था कि—मैं यह्वे (परमात्मा) का भक्त रहूँगा। मनुष्यमात्र के साथ सदा न्याय का व्यवहार करूँगा। मैं सदा सत्य से प्रेम करूँगा' आदि। इस धर्मशाखा का भविष्य क्या रहा, इस सम्बन्ध मे कुछ ज्ञात नही होता है, किन्तु यह निश्चित है कि प्रथम शती ई० पूर्व मे सम्राट् कनिष्क के समय तक एशिया के उत्तरी-पश्चिमी देशो से भारत के सम्बन्ध घनिष्ठ हो चुके थे। इसी समय इजराइल मे भारतीय तत्त्वविद्या का प्रवेश हुआ, जिसके प्रभाव से दर्शन की एक नई शाखा 'कब्बालह्' के नाम से प्रकाश मे आई। *वह अद्वैतवादी थी और भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्तो को उसमे यथावत् अपनाया गया। उसके सिद्धान्त थे—'ईश्वर अनादि, अनन्त, अपरिमित, अचिन्त्य, अव्यक्त और अनिर्वचनीय है।'* भारतीय योग-दर्शन की साधना का भी उस शाखा पर प्रभाव पड़ा। भारतीय आचारो को भी उसने अपनाया।

ब्रिटिश भारत मे पुन यहूदियों का भारत मे प्रवेश हुआ और वे विभिन्न नगरो तथा गाँवो मे पैगम्बर स्थाई रूप से वही बस गये। उनमे से अधिकतर अच्छे व्यापारी हैं। सम्प्रति भारत मे रह रहे यहूदियो की संख्या कुल मिलाकर दो हजार के लगभग है। उनमे धार्मिक औदार्य और आस्तिकता है। *भारतीयता के प्रति उनकी निष्ठा है और साथ ही भारतीय आचार-*विचारो तथा धार्मिक परम्पराओ से उनका गहरा लगाव है। संविधान मे उन्हे नागरिकता के पूरे अधिकार हैं।

इस प्रकार यद्यपि यहूदी धर्म विश्व के पुरातन धर्मों मे से है, किन्तु न केवल भारत मे अपितु अपनी जन्मभूमि मे भी उनके अनुयायियो की संख्या सीमित हो गई है। उनकी यह सीमित संख्या भी इतिहास मे इस रूप मे भी महनीय एवं स्मरणीय है कि उसमे इस्लाम तथा ईसाई जैसे प्रसिद्ध धर्मों का उदय हुआ। 'कुरान' मे स्पष्ट कहा गया है कि मूसा इस्लाम के प्रवर्तक और ईश्वर के भेजे हुए दूत (पैगम्बर) थे। *इसी प्रकार 'बाइबिल' मे महात्मा मूसा को ईश्वर का दास कहा गया है और उनकी महिमा का सर्वत्र वर्णन* किया गया है।

ईसाई धर्म

विश्व के धार्मिक इतिहास में ईसाई धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यापकता और प्रभाव की दृष्टि से विश्व की जनसंख्या का ३५ प्रतिशत मानव-समाज ईसाई धर्म का अनुयायी है। इसी तथ्य से उसकी लोकप्रियता का पता लगाया जा सकता है। यद्यपि उसका उदय एशिया में हुआ, किन्तु उसको मानने वाला बहुसंख्यक समाज यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका तथा ओशिएनिया आदि विभिन्न देशों में फैला हुआ है। यूरोप की अपेक्षा अमेरिका में ईसाई धर्मानुयायी अधिक हैं। यूरोप में इसके मानने वाले ७८ प्रतिशत हैं, जब कि अमेरिका में ८३ प्रतिशत। भारत में स्थायी रूप से निवास करने वाले ईसाइयों की संख्या लगभग सवा करोड़ है।

इस धर्म-शाखा के प्रवर्तक महात्मा ईसा मसीह हुए। अपने जीवन-काल में लोकमान्यता की दृष्टि से उनकी जो स्थिति रही, शरीरान्त के बाद उस स्थिति में व्यापक परिवर्तन हुआ। उनके जीवन-काल में यद्यपि उनके शिष्यों एवं अनुयायियों का दृष्टिकोण निष्ठावान् बना रहा, किन्तु जब उन्हें क्रूस पर चढ़ाया गया तो अपने धर्मनेता के इस दुःखद अन्त पर उनके विश्वास में कुछ शिथिलता आई। यही कारण है कि उनके अनुयायियों की शिथिलता से ईसाई मत का विकास कुछ वर्षों तक बड़ी मन्थर गति से आगे बढ़ा, किन्तु धीरे-धीरे उसका पुनरुत्थान हुआ और लोगों में यह विश्वास बलवत्तर होता गया कि ईसा ने मानव को मुक्ति और सद्विवेक का जो सन्देश दिया, वह अनन्य एवं अनुपम था। उनके महान् सन्देश को लेकर उनके शिष्य-प्रशिष्य अनेक देशों में फैल गये और धर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार में तत्पर हो गये।

ईसा यहूदी धर्म से अत्यन्त प्रभावित थे और हजरत मूसा के सिद्धान्त को श्रुति-स्मृति के रूप में ग्रहण कर उनका उन्होंने अपने ढंग से प्रवर्तन किया। जब 'बाइबिल' का संकलन-सम्पादन हुआ तो ईसाइयों ने यहूदियों के धर्म-ग्रन्थ को उसके पूर्वार्द्ध में समायोजित किया और उसको ईसाई धर्म के रूप में मान्यता दी। उसके उत्तरार्द्ध भाग में ईसा की जीवनी, उनकी शिक्षा और ईसाई धर्म के इतिहास को योजित किया।

ईसाई धर्म का आधार ईसा मसीह के उपदेश हैं और इसलिए ईसाई समाज ईसा को ईश्वरत्व का अवतार मानते हैं। वे भक्त भी थे और उनकी आराधना, पूजा तथा साधना के आधार भी। एक ईश्वर-भक्त होने के कारण

उन्होने घोर दुःख को सहन करते हुए क्रूस पर अपने जीवन को समर्पित कर दिया था और पूरे तीस वर्षों तक सघर्षमय जीवन बिताकर अपने भक्तो तथा अनुयायियो को कठिनाइयो पर विजय प्राप्त करने की शिक्षा दी। उनके भक्तो ने उन्हे मुक्तिदाता परमेश्वर के रूप मे वरण किया। उन्होने मानव-जीवन की दुःखमयता को अपने जीवन मे उतारा और मनुष्य को दुःखमुक्ति का मार्ग बताया।

प्रभु ईसा ने मनुष्य की सृष्टि मे किसी प्रकार की असमानता नही की, अपितु अपने-अपने कृत्यो के कारण कुछ तो पतित होकर नरकगामी हुए और नरकदूत तथा शैतान कहलाये, कुछ अपने सत्कर्मों के कारण स्वर्गवासी हुए और स्वर्गदूत तथा फरिश्ते कहलाये। ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि इसलिए की थी कि वह जीवो मे सर्वोत्तम मानव जीवन प्राप्त करता हुआ ससार मे अपने सत्कर्मों का सचय कर ईश्वर के परमानन्द मे विलीन हो जाये, किन्तु विद्रोही एव प्रतिद्वन्द्वी मनुष्य ने पापाचरण की प्रवृत्ति को अपना लिया और अपने उद्धारक स्वर्गीय मार्ग को भुला दिया। उसकी इस दुष्प्रवृत्ति का प्रायश्चित कर ईश्वरीय कृपा का अधिकारी बनाने के लिए और उसे उसकी परम गति का मार्ग दिखाने के लिए ईसा ने अपने जीवन को क्रूस पर चढ़ाया। 'बाइबिल' मे वर्णित प्रभु ईसा की जीवनी मे ये रहस्य प्रकाश मे आये हैं।

ईसाई धर्म का निर्देश है कि जो मनुष्य अपने पापो का प्रायश्चित्त करने से इन्कार करेगा, वह नरकवासी होगा। ईसाई धर्म मे इसलिए सदाचरण-शीलता, पवित्रता और सत्कर्मों के सम्पादन के उद्देश्य से कर्मकाण्ड को स्वीकार किया गया है। ईसाई धर्म मे 'खीस्त माग' (होली मास) का विधान है। इस होली मास मे विभिन्न सस्कारो का सम्पादन होता है। 'बपतिस्मा सस्कार' और विभिन्न पर्वोत्सवो की योजना ईसाई धर्म मे इसलिए की गई है कि देहशुद्धि विचारशुद्धि और मानसिकशुद्धि का आचरण कर मनुष्य अन्त मे ईश्वर के परमानन्दलोक मे प्रवेश करने का अधिकारी बन सके। इस धर्म मे नैतिकता और सदाचार का बड़ा महत्त्व बताया गया है। महात्मा मूसा द्वारा प्रवर्तित 'मूसा सहिता' मे दस प्रकार के आचारो का निरूपण किया गया है जिनमे त्रिविध शुद्धि होती है। ये आचार वैष्णव धर्म के आचारो से साम्य रखते हैं। ईसाई धर्म का सार या तत्त्व है— मनुष्य ईश्वर मे सर्वाधिक प्रेम रखे और मनुष्यमात्र से प्रेम करे'।

इस प्रकार ईसाई धर्म के प्रवर्तक एव सस्थापक महात्मा मूसा और प्रेमावतार ईसा मसीह ने सार्वभौम विश्वकल्याण के लिए अवतरण किया। लगभग दो हजार वर्षों म बहुसख्यक ईश्वरभक्तो ने अपने अवतारी महापुरुषो

की वाणियों को जीवन में उतारा। किन्तु आज के ईसाई जन-समुदाय ने अपनी बौद्धिक उन्नति के कारण, धर्म की निष्ठा को शिथिल कर दिया है। न केवल ईसाई समाज में, अपितु आज के विश्व में धर्म-कर्म को ढोंग माना जा रहा है। आधुनिक आत्मविनाशी वैज्ञानिक उपलब्धियों की उड़ान में मनुष्य भ्रमित हो गया है।

महात्मा ईसा मसीह

ईसाई धर्म के जन्मदाता ईसा मसीह (जेसस क्राइस्ट) का जन्म पश्चिम एशिया स्थित यरुसलम (फिलिस्तीन) में २५ दिसम्बर को बथलियम (बेथ लेहम) नामक गाँव में हुआ था। ईसा' इबानी शब्द 'येशूआ' का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ है—'मुक्तिदाता'। यहूदी धर्म-ग्रन्थ में ईश्वर द्वारा प्रेरित मुक्तिदाता को 'मसीअह' (मसीह) कहा गया है। यूनानी भाषा में उसको 'ख्रीस्तोस' नाम से कहा गया है। प्राचीन यूनानी तथा यहूदी इतिहासकारों ने ईसा मसीह तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्मशाखा के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ नहीं लिखा है। ईसा के सम्बन्ध में विशेष सामग्री 'बाइबिल' के चारों 'सुसमाचारों' में (गास्पेलों) में वर्णित है। उसकी रचना ईसा की प्रथम शती के उत्तरार्द्ध में हुई थी। इन सुसमाचारों के अनुसार उनकी माता का नाम मरिया या मरियम था, जो कि गलीलिया प्रान्त की नाजरेथ नामक गाँव की थी। यह एक विशेष संयोग की बात है विश्व के प्रायः समस्त धर्मों के जितने भी संस्थापक महापुरुष या दैवीपुरुष हुए, उन सबने नगरों की अपेक्षा गाँवों को अधिक अपनाया। मरियम का जब विवाह नहीं हुआ था, कुँवारी कन्या के गर्भ से एक घुड़साल में ईसा का जन्म हुआ। बाद में उनका विवाह जोसफ नामक एक यहूदी बढ़ई से हुआ। कहा जाता है कि विवाह करने से पूर्व एक देवदूत ने दर्शन दिया और कहा कि वह मरियम से विवाह करने की किसी भी प्रकार की शंका न करे, क्योंकि मरियम ने जिस पुत्र को जन्म दिया, वह ईश्वर का अवतार है (मैथ्यू १।२०)। ईसवी सन् का आरम्भ उन्हीं के जन्म से माना जाता है।

जिस समय महात्मा ईसा का जन्म हुआ, फिलिस्तीन पर हीरोद (Herod) का शासन था। ईसा के जीवनी लेखक मैथ्यू ने लिखा है कि— 'ईसा के जन्म का सन्देश पाकर पूर्व देश के कतिपय विद्वान् ज्योतिषी बथलियम पहुँचे। उन्होंने माता मरियम सहित बालक के दर्शन किये और उन्हें साष्टांग दण्डवत् करके भेंटें चढ़ाईं'। आगे लिखा है—'देवदूत ने जोसेफ को स्वप्न में समाचार दिया कि वे बालक को लेकर मिस्र देश की ओर भाग जायें, अन्यथा हीरोद उसकी हत्या कर देगा'। देवदूत की आज्ञानुसार जोसेफ, बालक तथा

मरियम को लेकर रातो-रात मिश्र चले गये। जब तक फिलिस्तीन पर हीरोद का शासन रहा, वे मिश्र मे ही रहे। हीरोद को पूर्व देश के ज्योतिषियो से *यह समाचार मिला कि उसके राज्य मे ईश्वरावतार का जन्म हो चुका है।* इस समाचार को सुनकर उसने अपने सैनिको को बथलियम भेजा और वहाँ दो वर्ष से नीचे के जितने भी बालक थे, उन सबको मरवा डाला।

जब हीरोद की मृत्यु हुई तो जोसेफ मरियम तथा ईसा को लेकर यरुसलम लौट आये। उस समय ईसा की आयु बारह वर्ष की थी। उनमे अलौकिक प्रतिभा का उदय हो चुका था। वे पूर्ण ज्ञानी बन चुके थे और अनेक धर्मवेत्ता तथा तत्त्ववेत्ता विद्वानो से उनका गभीर वाद-विवाद हो चुका था। बडे होकर उन्होने अपने पिता के साथ व्यापार मे सहयोग किया, किन्तु उनका मन अपने उद्देश्य की सिद्धि मे बेचैन रहने लगा और समय पाकर वे एकान्त चिन्तन मे डूब जाया करते थे। भ्रान्त मनुष्य को उसके कर्मपथ पर लगाने के लिए वे *उपाय सोचने लगे। उनकी समस्त जीवन घटनाएँ और दु खमय ससार के* प्रति चिन्ता, ठीक तथागत बुद्ध के विचारो तथा जीवन घटनाओ के अनुरूप थी।

उन्ही दिनो जान दि बैपटिस्ट (Johan The Baptist) नामक एक भविष्यवक्ता सन्त ने जन-समाज मे यह प्रचार किया कि इस धरती पर एक ऐसे महापुरुष का अवतरण हो चुका है, जो भगवान् की दी हुई शक्ति से लोगो *को उद्बोधित करेगा और इस धरती पर स्वर्ग के राज्य की स्थापना करेगा।* ईसा जान दि बैपटिस्ट के पास दीक्षा लेने के लिए गये। उन्होने ईसा से विनती की—'आप तो स्वय दीक्षित एव सुसस्कृत हैं, आपको ससार को दीक्षित एव शुद्ध करना है।' किन्तु ईसा के अनुरोध पर महात्मा जान ने उनका सस्कार किया। जब इस घटना को वहाँ के शासक टेटार्च ने सुना तो उसने महात्मा जान को बन्दी बना लिया और उनकी हत्या करवा दी।

बडे होने पर महात्मा ईसा ने, तथागत बुद्ध की भाँति सद्धर्म का प्रचार किया और जनसामान्य को ईश्वर-भक्ति एव जीवन के उन्नत मार्ग की ओर प्रवृत्त होने का उपदेश दिया। उनके वे उपदेश इतने प्रभावकारी थे कि थोडे ही समय मे बहुसख्यक जनता उनकी अनुयायी हो गई। जब समाज मे उनके अनुयायियो की सख्या निरन्तर बढने लगी तो वहाँ के ढोगी तथा स्वार्थी पुरोहितो का महत्त्व कम होने लगा। अपने अस्तित्वो की रक्षा के लिए उन्होने ईसा की हत्या का षड्यन्त्र रचा, किन्तु ईसा को उसका आभास *हो गया। उन्होने भरी सभा मे अपने अनुयायियो के समक्ष एक आश्चर्यजनक* भविष्यवाणी की। उन्होने कहा—'पर्व के दिन, दो दिन बाद भोज होगा। उसमे अपने एक अनुयायी के विश्वासघात के कारण उन्हे शूली पर चढा

दिया जायेगा'। लोगो ने यह सुना तो उन्हे बड़ा आश्चर्य एव घोर दुख हुआ। पर्व के दिन सध्या समय ईसा अपने बारह अन्तरग शिष्यो के साथ भोज मे भोजन कर रहे थे। उन्होंने कहा—'मैं तुमसे सत्य भाषण कर रहा हूँ कि तुम म कोई एक मुझे पकडवाओगे'। इस पर एक शिष्य ने उनसे कहा— हे प्रभो, क्या वह मैं हूँ? ईसा न उत्तर दिया— जिसने मेरी थाली मे हाथ डाला, वही मुझे पकडवायेगा'। उन्होने अपने आज्ञाकारी एव सत्यनिष्ठ शिष्यो से अपने इस अन्तिम भोजन के समय कहा था—'यह मेरा शरीर है, जो तुम्हारे लिए दिया जाता है। यह कटोरा मेरे रक्त का नूतन विधान है, यह तुम्हारे लिए अर्पित किया जा रहा है।'

तथागत बुद्ध के जीवन-काल में ही जिस प्रकार देवदत्त आदि उनके कट्टर विरोधी बन गये थे और उन्होंने बुद्ध को मरवा देने का षड्यन्त्र रचा था, वही घटना महात्मा ईसा के जीवन मे घटित हुई। 'बाइबिल' मे ईसा के बारह पट्ट शिष्य कहे गये हैं। उनमे यूदस (Judas) का नाम अन्तिम है। वह बाहर से तो उनका शिष्य बना रहा, किन्तु भीतर से विरोध करता रहा। वह इसलिए शिष्य बना रहता था कि दान का सारा धन उसी के पास रहता था और उसमे से वह चोरी किया करता था। महात्मा ईसा को उसी ने पकडवाया था। उसने इस कुकृत्य के लिए तीस सिक्के लिये थे। जब उसने सुना कि ईसा को क्रूस पर टगवाया जाने वाला है तो वह पश्चात्ताप करता हुआ याजको (पुरोहितो) के पास गया और उसने उन सिक्को को उन्हे लौटाना चाहा। किन्तु उन्होंने उन्हे लेने से इन्कार कर दिया। उसको इतना दुख और आत्मग्लानी हुई कि उन सिक्को को वही छोड़कर उसने स्वय भी फाँसी लगा के आत्महत्या कर ली।

क्रूस-दण्ड

जिस समय ईसा को क्रूस पर चढाया गया, उस समय उनकी अवस्था ४४ वर्ष की थी। उस समय जूडिया पर पायलेट नामक शासक का शासन था। उस समय ईसा जन-सामान्य को तत्त्वज्ञान और सत्यधर्म का सन्देश दे रहे थे। राजा और प्रजा, दोनो यहूदी धर्म के अनुयायी थे। शासक को ईसा का यह धर्मोपदेश पसन्द नहीं था। शासक ने ईसा पर चोरी का झूठा अभियोग लगाकर उन्हे बन्दी बना लिया। महापुरोहित तथा अन्य पुरोहितो ने झूठी गवाही दी। ईसा पर पहले तो कोडे लगाये गये और उनके कपडे फाड दिये गये। बडी बेहरमी से सरे-आम उन्हे घोर यातनाएँ दी गई। अन्त मे उन्हे क्रास (सूली) से मारने की सजा दी गई। लकडी के क्रास पर

कीलो से जडकर बडी निर्दयतापूर्वक उनकी हत्या कर दी गई और उनके निर्जीव शरीर को भूमि मे दफना दिया गया। शूली पर चढते हुए उन्होने शान्त वाणी मे कहा था—'हे प्रभो, इन्हे क्षमा करना। ये बेचारे यह नही जानते है कि वे क्या कर रहे है। हे पिता, यह आत्मा तुम्हे अर्पित है'। और इस पार्थिव शरीर का त्याग कर दिया।

क्रूसदण्ड न केवल अत्यन्त पीडाकारक था, अपितु अपमानजनक भी था। यह दण्ड या तो देशद्रोहियो अथवा घोर अपराधी दासो को ही दिया जाता था। इस दण्ड मे दण्डित व्यक्ति को पहले कोडो से इतना मारा जाता था कि वह चेतनाहीन हो जाये। उसे भूख-प्यास तथा पीडा से तडपाया जाता था। इस प्रकार असीम, अवर्णित वेदना को झेलता हुआ वह प्राण त्याग करता था। मानव सभ्यता के इतिहास मे इस प्रकार का कठोरतम दण्ड केवल अतिक्रूर रोमवासियो मे ही प्रचलित था।

महात्मा ईसा एक दयालु पिता थे। उनके हृदय मे मानवता के प्रति अपार करुणा और दया थी। उन्होने मनुष्य जाति के अन्त करण के अज्ञान तथा दु ख को दूर करने का आजीवन प्रयास किया। वे लोक-कल्याण के लिए ससार मे अवतरित हुए थे और आजीवन उसी मे अभिरत रहते हुए उन्होने स्वय को आहुत किया।

ईसा के उपदेश

ईसा ने धार्मिक उपदेशो तथा तात्त्विक विचारो को 'बाइबिल' के उत्तरार्द्ध मे सकलित किया गया है। 'बाइबिल' मुख्य रूप से यहूदियो की और सामान्य रूप से यूरोप तथा विश्व के अनेक भागो मे बसे हुए समस्त ईसाई समाज की एकमात्र धर्म-पुस्तक है। महात्मा ईसा के बाद उनके अनेक शिष्यो ने यहूदी धर्म-ग्रन्थो मे उल्लिखित ईसा के धर्म-नियमो तथा ईश्वरीय निर्देशो का सकलन किया। उन प्राचीन सगृहीत पवित्र वाणियो को परिमार्जित, सवर्धित एव सुनियोजित कर सन्त पाल और सन्त मैथ्यू ने 'बाइबिल' के वर्तमान मुद्रित सस्करणो को प्रकाशित किया। उसके आरम्भिक चार ग्रन्थ यहूदी धर्म से सम्बन्धित है। उसके अन्तिम चार भाग ईसाई धर्म से सम्बन्धित है। सन्त मैथ्यू ने अपनी पुस्तक 'सुसमाचार' के पाँचवें तथा सातवें अध्यायो मे ईश्वरपुत्र ईसा के उपदेशो का विस्तार से वर्णन किया है। ईसा ने कहा है—

'जिस मन मे दीन-भाव का उदय हो चुका है, वह धन्य है, क्योकि भगवान् का साम्राज्य उन्ही को प्राप्त होगा।'

'दयालु पुरुष धन्य है, क्योंकि वे ही भगवान् की दया के अधिकारी होंगे।'

'कल की चिन्ता मत करो क्योंकि कल अपनी चिन्ता स्वय करेगा। आज का दुःख ही आज के लिए पर्याप्त है।'

'सुई के छेद मे से ऊँट भले ही निकल जाये, किन्तु धनी के लिए स्वर्ग पाना सभव नही है।'

उन्होंने समानता का उपदेश दिया और सब मे आत्मा की एकता का भाव जगाया। वे पारस्परिक प्रेम, कर्तव्यपालन और ईश्वरभक्ति के प्रति समाज मे अपने सद्वचनो का प्रचार करते रहे। वे ससार में स्वर्ग का राज्य (Kingdom of Heaven) स्थापित करना चाहते थे। एशिया के देशो मे व्याप्त महायान बौद्ध धर्म के आदर्शों से वे सुपरिचित थे। सभव है कि उनके लोक-कल्याणकारी विचारो पर बुद्ध के उपदेशो का प्रभाव रहा हो।

'बाइबिल' मे ईसा को साक्षात् परमेश्वर का पुत्र मानकर उनके नियमो तथा आदेशो का एकान्त मन से ग्रहण एव पालन करने का निर्देश है। सत्य बोलना और चोरी न करना—प्रत्येक मनुष्य के आवश्यक कर्तव्य है। ईसा मरकर भी जीवित हैं। उन्होने लोक-कल्याण के लिए स्वय को समर्पित कर दिया था। उनकी भक्ति मनुष्य के लिए एकमात्र उद्धार का उपाय है। लोक-कल्याण के लिए मनुष्य को ईसा की भाँति आत्मबलिदान के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। उनके उपदेशो का यही सार है।

सिद्धान्त-निरूपण

'बाइबिल' मे अद्वैत, अनादि, अनन्त, निराकार एव प्रकाशपुंज सर्व-शक्तिमान परमेश्वर की महिमा का वर्णन किया गया है। ईसा उसी परमेश्वर के पुत्र थे। ईसा, उनके पिता, अर्थात् परमेश्वर और उनकी पवित्र आत्मा, तीनों एक हैं। उनके सिद्धान्तो से ज्ञात होता है कि ईसाई दर्शन अद्वैतवादी है। ईसा ने स्वय कहा भी है—'मैं ही कर्ता हूँ, मै ही प्रकाश हूँ, मैं ही मार्ग हूँ, मैं ही पुनरुत्थान हूँ, जीवन और सच्चाई का मार्ग मैं ही हूँ, मेरे बिना कोई भी पिता के पास नही पहुँच सकता।'

ईसाई धर्म मे पुनर्जन्म को कोई स्थान नही दिया गया है। ईश्वरपुत्र ईसा पर विश्वास करना और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना ही ईश्वर-भक्ति का परिपालन और ईश्वर को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। ईसाई धर्म मे यद्यपि मूर्तिपूजा का निषेध है, तथापि ईसाई समाज मे (कैथो-लिक चर्चों मे) महात्मा ईसा और माता मरियम की पूजा का प्रचलन है।

ईसाई मत मे ईश्वर की प्राप्ति का आधार दया, प्रेम, अहिंसा, सत्य-वचन, कर्तव्यपालन और 'बाइबिल' मे विश्वास करना बताया गया है। उसके लिए तप, अनुष्ठान, ध्यान समाधि की आवश्यकता नही है। स्वय को परमेश्वर की भक्ति तथा शरणागति मे समर्पित कर देना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। वहाँ ज्ञान की कोई आवश्यकता नही समझी गई है।

ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए महात्मा ईसा ने किसी भी प्रकार के दार्शनिक तथा भौतिक अवलम्बन की आवश्यकता नही समझी है। अत वे तत्त्वचिन्तन की ओर सदा उदासीन रहे। उन्होने सब मे भगवान् की सत्ता को व्याप्त बताया और उस सत्ता के प्रति मनुष्य को प्रेरित एव उद्बोधित किया। जिस प्रकार बालक अपनी माता के गोद मे है, उसी प्रकार वे भी स्वय को ईश्वर की गोद मे मानते थे। वे परमेश्वर के पुत्र और उनकी पवित्र आत्मा थे।

संस्कार

हिन्दू धर्म के अनुसार स्मृतियो तथा पुराणो मे प्रतिपादित जिन विधि-विधानो से जीवन को पवित्र एव शुद्ध किया जाता है, उन्हे 'सस्कार' कहा गया है। द्विजवर्णों के लिए जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त अनिवार्यत निष्पादित होने वाले ऐसे सस्कारो की सख्या यद्यपि विभिन्न ग्रन्थो मे मतान्तर से बताई गई है, किन्तु 'मनुस्मृति' के अनुसार वे १६ है। इन षोडश सस्कारो से परिशुद्ध जीवात्मा मुक्ति का अधिकारी बन जाता है।

ईसाई धर्म मे भी अनेक प्रकार के सस्कार बताये गये है और उन सबका उद्देश्य भी पापशुद्धि बताया गया है। उनके सक्रामेट, जिनके आचरण से जीवात्माएँ पवित्र एव निर्मल होती हैं, 'सस्कार' कहे गये हैं। ये सक्रामेट ऐसी धर्म-विधियाँ हैं, जिनको स्वय ईसा मसीह ने निर्धारित किया है और जिनके सम्पादन से ईश्वर की कृपा का अधिकारी बना जा सकता है। ईसाई चर्चों मे जलकुण्ड मे 'बपतिस्मा' सस्कार द्वारा जलाभिषेक पापमोचन का सस्कार है, जिसका विधान स्वय ईसा ने किया था। ऐसे लोग अपने पापो का प्रायश्चित्त कर ईसा के क्षमादान के पात्र बन जाते है। ईसाई धर्म मे जीवन की पवित्रता के लिए सात प्रकार के सस्कारो (सक्रामेट) का विधान किया गया है, जिनके नाम हैं—१ बपतिस्मा, २. युखारिस्ट, ३ पाप-स्वीकरण, ४ पौरोहित्य, ५ विवाह, ६. दृढीकरण और ७ तैलमर्दन। प्रोटेस्टेंट धर्मानुयायियो मे आरम्भ के दो ही सस्कार माने जाते हैं। समस्त ईसाई समाज इन सस्कारो के सम्पादन को बडा महत्त्व देता है।

अपने अन्तिम भोजन के समय ईसा ने 'यूखारिस्ट संस्कार' निर्धारित किया था। यह संस्कार एक प्रकार से ईसा के क्रूस पर आत्मबलिदान का स्मारक भी है।

पर्वोत्सव

ईसाई समाज में समय समय पर अनेक प्रकार के पर्व मनाये जाने की परम्परा है। उनम अधिकतर ईसा के जन्म तथा स्वर्गारोहण से सम्बन्धित है। ईसाइयों में इतवार प्राचीनतम एवं प्रसिद्ध पर्व है। परम्परा से लेकर आज तक ईसाई समाज इतवार को गिरजाघर जाते है और अनुष्ठान का आयोजन करते है। ईसाई समाज का विश्वास है कि क्रूस पर देहत्याग करने के तीसरे दिन ईसा पुनर्जीवित हुए थे। जिस दिन ईसा का पुनरुत्थान हुआ, यहूदी समाज अपने सबसे बड़े पर्व 'पास्का' मना रहे थे। अत ईसा के पुनरुत्थान पर्व को भी 'पास्का' कहा जाने लगा। वसन्त की प्रथम पूर्णिमा तिथि को ईसाई समाज इस पर्व को मनाते हैं। यह पुनरुत्थान पर्व २१ मार्च या उसके बाद पड़ने वाली पूर्णिमा तिथि को मनाया जाता है। उस पूर्णिमा के बाद प्रथम इतवार को यह पर्व मनाया जाता है।

ईसाई धर्म में 'पुनरुत्थान पर्व' की प्रार्थनाओं मे ईश्वर के अनुग्रह से यहूदियों को मिश्र की गुलामी से मुक्ति प्राप्त होने और ईसा के बलिदान से ईश्वर की प्रजा पाप की गुलामी से मुक्ति प्राप्त करने के सन्दर्भ दुहराये जाते है। पुनरुत्थान के ठीक चालीस दिन बाद पड़ने वाला पर्व 'स्वर्गारोहण' के नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन ईसा ने अपनी पवित्र आत्मा को अपने शिष्यों के पास भेजा था। इस घटना के उपलक्ष्य या स्मृति में स्वर्गारोहण के दस दिन बाद 'पेंतकोस्त' नामक पर्व मनाया जाता है। इसी प्रकार 'गुड फ्राइडे' (पुनीत शुक्रवार) पुनरुत्थान पर्व के दो दिन पहले मनाया जाता है।

ईसा मसीह की स्मृति में मनाया जाने वाला सर्वाधिक प्रसिद्ध पर्व 'ईस्टर का त्यौहार' है। यह त्यौहार ग्रीक रोमनो, यहूदियों और ईसाइयों में समान उत्साह एवं श्रद्धा से मनाया जाता है। अधिकतर यह त्यौहार अप्रेल मास मे पड़ता है। यह एक प्रकार से वसन्त का त्यौहार है। ग्रीक समाज इस त्यौहार को वसन्त सम्पात के समय २१ मार्च को मनाते थे, जब शीत का अन्त और वसन्त का आरम्भ होता है। यहूदी लोग अपने वर्ष के पहले मास मे इस त्यौहार 'पेसा खा' को एक रक्षात्मक भावना की स्मृति मे मनाते हैं। कैथोलिक सम्प्रदाय के लोग इस त्यौहार को विशेष महत्त्व देते हैं। यह त्यौहार 'बड़ा दिन' (२५ दिसम्बर) की भाँति उत्साह से मनाया जाता है। प्रत्येक ईस्टर

की तिथि को चान्द्रमास के अनुसार प्रतिवर्ष अलग-अलग तिथियाँ निश्चित की जाती हैं।

ईसाइयो मे सर्वप्रथम पर्व या त्योहार शहीदो की स्मृति मे मनाये जाते थे। किन्तु चौथी शती ई० से माता मरियम, योहन बपतिस्मा और ईसा के पट्ट शिष्यो की स्मृति मे भी अनेक त्योहार मनाये जाने लगे। माता मरियम का सबसे बडा त्योहार प्रति १५ अगस्त को उनके स्वर्गारोहण की स्मृति मे मनाया जाता है।

ईसाई समाज मे पर्वों तथा त्योहारो को मनाने की लम्बी परम्परा है। उनमे से अधिक का सम्बन्ध ईसा मसीह से है। उनके निमित्त अपनी पुनीत श्रद्धा को व्यक्त करने के उद्देश्य से ईसाई समाज त्योहारो का आयोजन करता आ रहा है।

ईश्वर

भारतीय दर्शन शाखाओ मे ईश्वर का व्यापक तात्त्विक विवेचन किया गया है। किन्तु 'बाइबिल' मे ईश्वर को दार्शनिक तर्क वितर्क से मुक्त रखा गया है। 'बाइबिल' के पूर्वार्द्ध मे, जो कि यहूदी धर्म से सम्बन्धित है, ईश्वर को अनादि, अनन्त, सर्वशक्तिमान, सृष्टिकर्ता के रूप मे माना गया है। उसने ससार की सृष्टि की, किन्तु उसमे व्याप्य होकर भी वह सर्वथा अलग है। किसी प्रकार की मूर्ति अथवा प्रतीक मे उसे अवधारित नही किया जा सकता है। वह स्वय परम पावन है और प्रत्येक मनुष्य को पवित्र जीवन बिताने का निर्देश करता है। ईसाई धर्मानुयायी समाज का विश्वास है कि ईश्वर प्रेममय है और वह मनुष्य को अनन्त, आनन्द का मार्ग बताने के लिए सृष्टि का सृजन करता है। किन्तु मनुष्य ने ईश्वर के प्रति अपने प्रेमभाव को विस्मृत कर दिया और वह पापाचारी मे प्रवृत्त हो गया। इस पाप से मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर ने ईसा के रूप मे जन्म लिया और उसने मनुष्य जगत् मे प्रेम तथा दया की स्थापना की। इसलिए ईश्वर को प्रेममय भक्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उसके अनुग्रह प्राप्त किये जा सकते हैं।

ईश्वर ही मनुष्य का न्यायकर्ता है। नियमो की अवहेलना करने वाले मनुष्य के कयामत के दिन, जब कर्माकर्मों का हिसाब लगाया जाता है, तब न्यायपिता ईश्वर ही स्वर्गापवर्ग का निर्धारण करता है। पापाचारी मनुष्य को मुक्तिमार्ग बताने के लिए ईश्वर ने दया तथा सत्य का आचरण करने का निर्देश दिया है।

'बाइबिल' के उत्तरार्द्ध मे, जो कि ईसाई धर्म से सम्बन्धित है, ईसा ने ईश्वर को त्रिविध रूप बताया है। उसमे पिता, पुत्र, तथा पवित्र आत्मा, तीनों का समन्वय है। उसके ये तीन गुण उसी की भाँति अनादि, अनन्त, शक्तिमान और सर्वव्यापी हैं। मनुष्य ईश्वर का अन्तरंग अंश है और इसीलिए ईश्वर ने उसे पिता, पुत्र तथा पवित्रात्मा और अनिर्वचनीय प्रेम का भागीदार बनाया। मानव-समाज मे इसी प्रेम-विधान की पुनर्स्थापना के लिए ईसा अवतरित हुए।

ईसा ने स्वयं क्रूस पर चढकर मनुष्य के पापो का प्रायश्चित्त किया और उसके लिए मुक्ति के द्वार उन्मुक्त किये। जो मनुष्य अपने पाप-कर्मों के प्रति प्रायश्चित्त करता है और उसके लिए क्षमा की याचना करता है। वह पिता, पुत्र तथा पवित्र आत्मा के अभ्यन्तर जीवन का ईश्वरीय वरदान प्राप्त करता है और अनन्त काल तक अनिर्वचनीय प्रेम का भागी बनता है। ईश्वर प्रेममय है और दयालु पिता है। उसके प्रति प्रेमपूर्ण आत्मसमर्पण करना ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है।

पाश्चात्य विचारको ने प्रभु को परम पिता के रूप म वरण किया है। वह ब्रह्माण्ड का नियामक, जीवो का शासक और न्यायकारी है। मनुष्य क्षुद्र, विवश, अल्पज्ञ और दु खी है। प्रभु सर्वशक्तिमान और कारुणिक है। इसलिए मनुष्य स्वत ही उसकी शरण मे जाता है। वह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ का परित्याग कर प्रभु की इच्छा को ही अपनी इच्छा मानने लगता है। ऐसे आत्मीय भक्त के प्रति ईश्वर का दया का भण्डार खुला रहता है। ऐसी स्थिति मे भक्त और भगवान् का पुत्र पिता का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

ईसाई धर्म-संहिता मे ईश्वर को निर्गुण, अमूर्त सर्वेश, अनिर्वचनीय, अगम्य, अनादि एव सर्वशक्तिमान बताया गया है। इस दृष्टि से ईसाई धर्म अद्वैत-वादी सिद्ध होता है। किन्तु सृष्टिकर्ता ईश्वर और सृष्टि मे भेद बताया गया है, जिससे दोनो का कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित होता है। इस दृष्टि से ईसाई मत मे ईश्वर का शुद्ध अद्वैत प्रतीत नहीं होता है।

अवतार

विश्व के प्राय सभी धर्मानुयायियो ने अपने विश्वासो तथा परम्पराओ के अनुसार विभिन्न अवतारो की कल्पना की है। अवतारवाद पूर्वी और पश्चिमी धर्मो मे मान्य तथ्य के रूप मे स्वीकार किया गया है। अवतार, अर्थात् 'आविर्भाव' या 'अवतरण' अथवा 'प्रकटीकरण'। भगवान् का अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा भौतिक जगत् मे मूर्त रूप मे प्रकट या आविर्भाव होना ही अवतार

है। भगवान् के अवतार धारण करने का प्रयोजन यद्यपि 'भगवद्गीता' मे भी कहा गया है–'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे'। किन्तु उसका वास्तविक वर्णन, जो कि ससार के सभी धर्मों की अवतार-अवधारणा पर चरितार्थ होता है, 'श्रीमद्भागवत' (१०।२९।१४) मे अधिक स्पष्टता से कहा गया है—'मनुष्य के साधनानिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन है। भगवान् स्वय ही बिना किसी प्रकार की अपेक्षा किये, अपने अनुग्रह से अपने साधको भक्तो को मुक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से अवतार धारण करते हैं—

'नृणा नि श्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो मुवि।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन ॥'

अवतार का यही प्रयोजन समस्त वैष्णव धर्मों, बौद्ध, जैन तथा फारसी, यहूदी, मिस्री, यूनानी, इस्लामी और ईसाई आदि धर्मों मे बताया गया है।

ईसाई धर्म मे विश्वास किया जाता है कि मनुष्य के पापो का प्रायश्चित्त करने और उसको मुक्ति का मार्ग बताने के लिए ईसा का अवतरण हुआ था। ईसा के जीवन काल मे ही ईसाइयो ने उन्हे ईश्वर के रूप मे स्वीकार किया और उनके मरने के बाद भी उनका यही स्थान बना रहा। 'बाइबिल' म एक ओर तो उन्हे मनुष्य का रूप और दूसरी ओर मुक्तिदाता, परम पिता एव दयालु कहा गया है। किन्तु मनुष्य के रूप म अवतरित होकर भी वे वास्तविक मनुष्य न होकर मनुष्य के प्रतीयमान रूप थे। उनमे मनुष्यत्व की जो कल्पना की गई है, वह पूर्णतया निष्क्रिय है। उनमे इच्छाशक्ति का भी अभाव है। उनके समस्त कार्य-कलाप ईश्वरत्व के रूप मे प्रतिभासित हैं। ईश्वरीय इच्छा-शक्ति के रूप मे वे पूर्ण ब्रह्म हैं। जगत् के उत्पत्तिकर्ता होने पर भी वे उससे सर्वथा अलग हैं। किन्तु आन्तरिक रूप से सारे जगत् म व्याप्त है।

वे ईश्वर क पुत्र थे और ईश्वर होते हुए भी उन्होने मानवता के उद्धार के लिए मनुष्य रूप वरण किया। उनमे ईश्वरत्व और मनुष्यत्व, दोनो का सयोग है। मनुष्य के रूप मे वे एक शरीरधारी, सुख दु खो के अनुभवकर्ता और ईश्वर के रूप मे इच्छा-शक्ति-सम्पन्न, आत्मा के अधिष्ठान और निर्गुण, निराकार अनादि, अनन्त एव सर्वसत्तासम्पन्न हैं। ईसा का मानवरूप मे आविर्भाव, उनका अवतारी रूप है और यहूदियो के महात्मा मूसा की भाँति ईसा मसीह भी मानव-जाति के उद्धारार्थ धरती पर अवतरित हुए।

इस प्रकार ईसा महान् एक अवतारी महापुरुष के रूप मे इस धरती पर अवतरित हुए और मानवता के उद्धारक के रूप मे वे विश्व इतिहास के एक महानतम विभूति के रूप मे सपूजित हैं।

—

स्वर्ग

मानव जगत् की धार्मिक परम्पराओ मे दो प्रकार के लोको की कल्पना की गई है—इहलोक या मृत्युलोक और परलोक या स्वर्गलोक। स्वर्गलोक को देवलोक भी कहा गया है। इन दोनो लोको के सम्बन्ध मे विभिन्न धर्मानुयायियो के अलग-अलग मत तथा विश्वास हैं।

ईसाई धर्म मे स्वर्ग और नरक को बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है, क्योकि ईसा का मनुष्यरूप मे अवतरित होने का एकमात्र प्रयोजन यह था कि मानव जाति को उस मुक्ति मार्ग की ओर उन्मुख किया जाये, जो अनन्त सुखो का आगार है। ईसाई धर्म का विश्वास है कि मनुष्य इस ससार मे इसलिए पैदा हुआ कि कुछ समय यहाँ रहकर वह ईश्वर के परमानन्द का भागी बन सके। किन्तु ऐसा न हो सका। मनुष्य इस ससार मे आकर अपना वास्तविक लक्ष्य भूल गया और पापाचरण मे लिप्त हो गया। ईसा ने अवतरित होकर मनुष्य जाति को उसका वास्तविक मार्ग सुझाया और उसे अपने पापो का प्रायश्चित्त करने की ओर प्रेरित किया। मनुष्य को मुक्ति का रास्ता बताया। मुक्ति परमानन्द की वह स्थिति है, जहाँ मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार कर स्वर्गदूतो के समान अनन्त काल तक ईश्वर का सेवक बन कर रहता है। स्वर्ग ईश्वर का निवासस्थान है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य अनन्त महिमाओ से मण्डित होकर, इन्द्रिय सुखो से ऊपर उठकर और समस्त भौतिक सुखो को तिलाजलि देकर अनिर्वचनीय आनन्द मे लीन हो जाता है।

महात्मा ईसा मसीह ने इसी परमानन्द का मार्ग बताने के लिए अवतरण किया और अपने उत्सर्गमय जीवन के कार्य-कलापो से मनुष्य-जाति को यह विश्वास दिलाया कि अनन्त, अपरिमित दुःखो के आगार इस ससार से मुक्ति पाने का एकमात्र आधार सदाचरण तथा सत्कर्मों का अर्जन करना है। सदाचारी और सत्कर्मी मनुष्य ही स्वर्ग के अनन्त सुखो को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है और ईश्वर की कृपा का पात्र बनता है।

नरक

स्वर्ग का प्रतियोगी नरक है। यह नरक भी परलोक मे बताया गया है, जहाँ स्वर्ग है। किन्तु दोनो मे सर्वथा भिन्नता है। हिन्दू धर्म मे नरक की कल्पना बडी भयावह एव वीभत्स है। यह नरकलोक अनन्त यातनाओ तथा दुःखो का आगार है। इसके अधिपति यम हैं। देवदूत चित्रगुप्त के पाप-पुण्य का लेखा-जोखा देखकर यमराज पुण्यात्माओ को स्वर्ग और पापात्माओ को नरक भेजता है। इस रौरव मे आत्माएँ कोल्हू के गन्ने के समान पेरी जाती हैं।

ईसाई मत के अनुसार ईश्वर की सृष्टि में प्रथम सृष्ट दिव्य रूपधारी जिन देवदूतों ने ईश्वर की आज्ञाओं का पालन न करके कुमार्ग का अनुसरण किया, वे नरकगामी हुए और वे ही नरकदूत कहलाये। उनका नेता 'शैतान' कहलाया। इसी प्रकार पापाचरण करनेवाले मनुष्य भी इस नरक में धकेल दिये जाते हैं। नरकगामी मनुष्य वे हैं, जो अपने जीवन-काल में कुकृत्यों तथा पापों के लिए प्रायश्चित्त किये बिना मर जाते हैं। ऐसी नरकगामी आत्माएँ अनन्त काल तक ईश्वर के दर्शनों से वंचित रहकर अपार यातनाओं के घोर दुःख वहन करती हैं।

अनन्त काल तक दुःखोपभोगों की यातनाओं में न पड़ने के लिए ईसा मसीह ने मनुष्य जाति को पुण्यार्जन करते रहने और जो पापाचारी हैं, वे अपने पापों के प्रति पश्चात्ताप करने के लिए उपदेश दिये हैं और सुमार्ग सुझाया है।

स्वर्गदूत

ईसाई समाज के धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईश्वर ने मानव सृष्टि से पूर्व एक ऐसी सृष्टि का सृजन किया था, जिसमें अभौतिक, अशरीरी आत्माओं का निवास था। ये अशरीरी आत्माएँ ही 'स्वर्गदूत', 'देवदूत' या 'फरिश्ते' कहलाये। उन आत्माओं को, जिन्होंने ईश्वर की आज्ञाओं, उनके विधि-विधानों का उल्लंघन किया, उन्हें स्वर्ग से गिरा कर नरक में फेंक दिया गया, जो नरकदूत कहलाये। इस प्रकार अशरीरी आत्माओं के दो वर्ग बने—स्वर्गदूत और नरकदूत। 'बाइबिल' में तीन स्वर्गदूतों का उल्लेख हुआ है, जिनके नाम हैं— गब्रीएल, राफाएल और मिखाएल। इन देवदूतों का कार्य विवेक, आज्ञा-पालन और विशेष रूप से ईश्वर का गुण गान करना है, ईश्वर की अपार, अनन्त महिमा का वर्णन करना है। वे ईश्वर द्वारा संसार में भेजे जाते हैं और मनुष्य जाति की रक्षा करते हुए वे उनके लिए मुक्तिमार्ग का निर्देश करते हैं। उस पर चलने के लिए उनकी सहायता करते हैं। वे मनुष्य के पाप-पुण्यों का भी लेखा रखते हैं और कयामत के दिन उन लेखा जोखों के अनुसार उनके लिए स्वर्ग या नरक का निर्धारण करता है।

इस प्रकार स्वर्गदूत इस पृथ्वी पर परमेश्वर के प्रतिनिधि हैं और उनका कार्य मनुष्य को भलाई के मार्ग पर लगाना है तथा ईश्वर के प्रति निष्ठा, विश्वास स्थापित करना है।

सुसमाचार

'बाइबिल' का पूर्वार्द्ध, जिसके चार खण्ड हैं, यहूदी धर्म से सम्बन्धित है। वह यहूदियों की 'धर्म-संहिता' भी है। इसी प्रकार 'बाइबिल' का उत्तरार्द्ध

भाग ईसाई धर्म से सम्बन्धित है। उत्तरार्द्ध के भी चार खण्ड हैं। इसे ईसाइयो की 'धर्म-संहिता' भी कहा जाता है। 'बाइबिल' में इसी उत्तरार्द्ध भाग को 'सुसमाचार' कहा जाता है। उसका अंग्रेजी मे गास्पेल (Good Spell), यूनानी में 'इजील' और हिन्दी में 'मुक्ति-विधान की खुशखबरी'। 'मुक्तिदाता' के नाम से भी हिन्दी मे उसका अनुवाद उपलब्ध है। प्रभु ईसा मसीह ने अपने पुत्रो को पुण्यदायी सत्याचरण पर चलने का मार्ग बताया। उस दयालु पिता ने मानव-जाति को प्रेम, समता, दया तथा अहिंसा आदि का आचरण-व्यवहार के निर्देश दिये। यह ऐसा निर्देश था, जो मनुष्य के श्रेयस् के लिए सर्वोत्तम था। यह सर्वोत्तम मार्ग था मोक्ष का। उनके भक्तो ने ईसा मसीह द्वारा प्रदत्त मुक्ति की इस खुशखबरी को जीवन में उतारा।

'बाइबिल' के उत्तरार्द्ध के इस 'सुसमाचार' का सकलन उनके शिष्यो ने किया। उनके नाम थे—सन्त मत्ती, सन्त मार्क, सन्त लूक और सन्त योहन। मत्ती और योहन उनके प्रमुख बारह शिष्यों में से थे। मार्क, सन्त पीटर तथा सन्त पाल के शिष्य थे और लूक, सन्त पाल की यात्राओं मे उनके सहयोगी रहे।

ईसा की मृत्यु के अनेक वर्षों तक ईसा की शिक्षा-दीक्षाओं का प्रचलन मौखिक रूप मे श्रुति-परम्परा से आगे बढ़ता गया। किन्तु जब उसका विस्तार अन्य बाहरी देशो में होने लगा और ये भक्त भी मुक्तिधाम को सिधारने लगे, जिनके कण्ठ मे वे अलिखित ही अंकित थी, तब उनके अनुयायियो, विशेष रूप से उनके शिष्यो, को यह अनुभव हुआ कि उन अमर वाणियो को लिपिबद्ध कर उनकी रक्षा की जाये, और उन्हे जन-सुलभ बनाया जाये। तब वे वाणियाँ चार विभिन्न ग्रन्थो मे निबद्ध की गई। ये चारो ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक माने जाते हैं और ईसाई धर्मों मे इनके पाठ के अतिरिक्त किसी भी अन्य ग्रन्थ को ग्रहण नहीं किया जाता। इन चारो सुसमाचारो की रचना विद्वानो ने ५५–१०० ई० के भीतर बताई है।

ईसा के उत्तराधिकारी

ईसा मसीह के बारह प्रमुख शिष्य बताये गये हैं, किन्तु उनकी कोई विशेष उपलब्धियों के सम्बन्ध मे कुछ पता नहीं चलता है। ईसा के चार शिष्यो ने उनके उपदेशो तथा शिक्षाओ का, जो कि मौखिक रूप मे विद्यमान थे, संग्रह किया और उन्हे विषयबद्ध किया। उस संग्रह का नाम रखा गया—'न्यू टेस्टामेंट'। उसमें यहूदियो की 'बाइबिल' को भी सम्मिलित किया गया और उसका नामकरण किया—'ओल्ड टेस्टामेंट'। उनके संग्रहकर्ता चार शिष्यो के

नाम थे—मार्क, मैथ्यू, ल्यूक और जान। उन्होंने उक्त दोनों संस्करणो का सम्मिलित नाम रखा—'बाइबिल'। उन्होंने ईसा के सिद्धान्तो को स्थिर किया और ईसाई धर्म की नीव डाली।

ईसा के जीवन काल मे जो कठिनाइयाँ थी, उनके उत्तराधिकारियो ने भी उनका सामना किया और अनेक प्रकार के उत्पीडन सहे। किन्तु धीरे-धीरे समाज मे ईसा के उपदेशो का प्रभाव बढने लगा। ३१२ ई० के लगभग *प्रबल विरोधी फिलिस्तीन के शासको ने भी ईसाई धर्म की मान्यताओ को स्वीकार* किया। धार्मिक अभियान का यह इतिहास अनेक प्रकार की दुर्दान्त घटनाओ से भरा हुआ है। ईसाई जाति ने अपने धर्म की स्थापना के लिए अनेक संघर्ष किये। उनके सात धर्मयुद्ध इसी संघर्ष के परिचायक है। जिस समय यरुसलम मे ईसा को फाँसी दी गई, उस समय उनके मृत शरीर को वही भूमि मे दफना दिया गया था। उनके उस समाधिस्थल पर ईसाइयो द्वारा एक गिरजाघर बनाया गया था। इस गिरजाघर को मुसलमान शासकों से मुक्त कराने के लिए ईसाई लोगो के लगभग सात क्रूसयुद्ध हुए। ये युद्ध १०९५–१२९१ ई० के बीच हुए। इन युद्धो मे अनेक हत्याकाण्ड तथा अत्याचार हुए। लगभग इसी समय यूरोपवासियो को पूर्व के देशो से वाणिज्य व्यवसाय मे प्रोत्साहन मिला और पोप का प्रभुत्व बढा तथा राजाओ की शक्ति मे वृद्धि हुई।

ईसाई धर्म का उत्तराधिकार पोप को प्राप्त हुआ। उन्होंने भी अनेक प्रकार के विरोधो तथा उत्पीडनो का सामना किया, किन्तु वे अपने मार्ग से विचलित नही हुए। उसका कारण यह था कि बहुसंख्यक समाज ईसा को वरण कर चुका था। आरम्भ मे ईसाई धर्म के अनुयायी ईसा तथा माता मरियम की मूर्तियो का पूजन-अर्चन करते थे, किन्तु ७५४ ई० मे पोपो मे एक वृहद् सम्मेलन का आयोजन किया और उसमे धर्म के नियमो को स्थिर किया गया। तत्पश्चात् मूर्तिपूजा का बहिष्कार किया गया और सर्वसमति से इस आशय का एक प्रस्ताव भी पारित किया गया।

आगे चलकर पोप का प्रभाव निरन्तर बढने लगा। उसने ऐसी शक्ति अर्जित कर ली कि जिससे 'पोपशाही' का प्रभुत्व सर्वोपरि माना जाने लगा। शासको ने भी उसका प्रभाव स्वीकार कर लिया और पोप के अधिकारो का देखते-देखते इतना प्रभाव बढा कि शासको तक को दण्डित करने तथा पदच्युत करने का स्वामित्व भी उन्हे प्राप्त हो गया। धर्म तथा शासन—दोनो उनके अधीन हो गये। पोप को ईश्वर का पुत्र ईसा का प्रतिनिधि माना जाने लगा और उसके प्रति अन्धभक्ति का विश्वास बढने लगा। लगभग आगे के सात आठ सौ वर्षों तक यूरोप मे यही स्थिति बनी रही।

समाज में कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे, जो यह अनुभव करते थे कि धर्म के नाम पर पोप पुरोहितो द्वारा जो अनाचार फैलाया जा रहा है, उसकी वास्तविकता समाज के सामने लानी चाहिए। १५वी शती मे, जब कि सारे यूरोप पर पोप की सर्वोपरि सत्ता व्याप्त थी, सन्त मार्टिन ल्यूथर का जन्म हुआ। जब वे बड़े हुए तो उन्होने अपने प्रगतिशील विचारो को प्रस्तुत करते हुए पोप का विरोध किया और उनके पाखण्डो को जनता के सामने रखा। उसने जनता को भ्रम मे डालने वाले पोप के स्वार्थपूर्ण नियमों पर टिप्पणियाँ लिखकर एक पुस्तक का प्रकाशन किया। उसे पोप ने धर्मभ्रष्ट घोषित कर बहिष्कृत कर दिया। किन्तु सन्त ल्यूथर ने अपना धार्मिक अभियान जारी रखा। उसकी पुस्तक मे अभिव्यक्त विचारो का समाज ने स्वागत किया। पोप ने यूरोप के अनेक नगरो मे जन-सभाओ का आयोजन कर सन्त ल्यूथर के विचारो का खण्डन किया। किन्तु पोप के विरोध में जो धार्मिक जागरण हुआ, वह बढता ही गया।

सन्त ल्यूथर के विचारो के विरोध मे जर्मनी मे एक पोप-समर्थक सभा हुई। उसमे ल्यूथर के अनुयायियो को 'प्रोटेस्टेंट' की सज्ञा दी गई। पोप के अनेक प्रयत्नो के बावजूद ल्यूथर के विचारों का प्रभाव बढता ही गया। पोप ने अपने अधिकारो की रक्षा के लिए इन्क्युजिशन (Inquisition) नाम से एक विशेष न्यायालय की स्थापना की। इस न्यायालय के निर्णयो पर १४२१–१८८९ ई० के बीच अकेले स्पेन मे १०,६५९ व्यक्तियों को जिन्दा जला दिया गया और लगभग तीन लाख व्यक्तियो को कारावास मे बन्द कर दिया गया।

पोपशाही के इन दुर्दान्त अमानवीय अत्याचारो एव उत्पीडनो के बावजूद प्रोटेस्टेंट मत का प्रभाव बढता ही गया। उसके फलस्वरूप १७वी-१८वी शती मे पोप का प्रभाव क्षीण पडता गया और २०वी शती मे वह सर्वथा समाप्त हो गया। इस समय तक ईसाई धर्म का अनुयायी समाज तीन वर्गों मे विभाजित हो चुका था। इन तीन धर्म शाखाओ के नाम थे—प्रोटेस्टेंट (पोप-विरोधी), रोमन कैथोलिक (पोप-समर्थक) और ग्रीक। कैथोलिक और ग्रीक मतो मे समानता है। उनके चर्चों मे मूर्तिपूजा तथा चित्रपूजन का प्रचलन है।

ईसाई धर्म के इतिहास मे समय-समय पर जो परिवर्तन हुए, उनके परिणामस्वरूप उसमें सस्कार होता गया। सम्प्रति वह किसी प्रकार के मत-मतान्तरो से रहित, सर्वसामान्य ईसाई समाज के लिए प्राय एक जैसे रूप मे वरणीय एव मान्य है।

गिरजाघर या चर्च

हिन्दुओं के मन्दिरों और मुसलमानों की मस्जिदों की भाँति ईसाइयों के भी गिरजाघर या चर्च हैं, जो कि उपासना और ईश्वराधन के पवित्र स्थल हैं। उनमें प्रस्तर निर्मित एक वेदी होती है, जिसमें चढ़ावा चढ़ाया जाता है। वेदी के मध्य में एक क्रूस-प्रतिमा होती है और उसके दोनों पार्श्वों में दीपपात्र प्रज्वलित होते हैं। उनमें अखण्ड ज्योति प्रज्वलित रहती है। वेदी के मध्य में एक प्रसादपात्र भी स्थापित होता है। कटघरे के बाहर से प्रसाद ग्रहण किया जाता है। कटघरे के निकट ही प्रवचन-मंच बना होता है, जिसमें धर्माचार्य पुरोहित (पादरी) समय समय पर प्रवचन करते हैं। प्रवेशद्वार के निकट ही एक बपतिस्मा कक्ष होता है, जिसमें एक जलकुण्ड बना होता है। इस कुण्ड के पवित्र जलाभिषेक से दीक्षा ग्रहण करने वाले लोगों को दीक्षित (बपतिस्मा) किया जाता है।

भारत में ईसाई धर्म का प्रवेश

भारत में ईसाई धर्म का प्रवेश कब हुआ, इसका तिथिबद्ध विवरण प्रस्तुत करना संभव नहीं है। एक प्राचीन परम्परा ऐसी है, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि जीवन की आरम्भावस्था में ही ईसा मसीह का सम्पर्क भारत से हो गया था। जब उनकी अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की थी, वे पश्चिम के व्यापारियों के साथ सिन्ध आये थे और उनका सम्पर्क भारतीय आर्यों से हुआ था। वे जगन्नाथ तथा काशी गये थे और वहाँ उन्होंने ब्राह्मण विद्वानों से धर्म और ज्ञान का उपदेश ग्रहण किया था। नालन्दा महाविहार में उन्होंने बौद्ध तत्त्वज्ञान की शिक्षा ग्रहण की थी। यह किंवदन्ती कहाँ तक सत्य है, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

जहाँ तक ईसाई धर्म का भारत में प्रवेश करने का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि भारत पर जब मुगलों का शासन था, १५वीं शती के आरम्भ में ही ईसाई धर्म के प्रचारक भारत में प्रविष्ट हो चुके थे। इस प्रचार-कार्य का आरम्भ दक्षिण भारत में सबसे पहले हुआ। धीरे धीरे ईसाइयों ने भारत में अपने चर्च, स्कूल, कालेज, अस्पताल और इसी प्रकार की धर्म प्रचारक संस्थाओं का जाल फैलाया। उन प्रचार-संस्थाओं ने भारत की अनेक भाषाओं में 'बाइबिल' के अनुवाद और अन्यान्य प्रचार सामग्री का प्रकाशन किया। इन मिशनरियों के माध्यम से इस प्रचार सामग्री का निःशुल्क वितरण किया गया।

मुगल साम्राज्य के बाद भारत मे जब ब्रिटिश सल्तनत की स्थापना हुई, तो न केवल ईसाई धर्म को व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ, अपितु आजीविका के प्रलोभन से अनेक भारतीयो ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार किया।

आज भारत मे बहुसख्यक ईसाई समाज भारतीय नागरिक बनकर यहाँ रह रहा है। धर्मनिरपेक्ष भारत मे ईसाई समाज को पूर्ण नागरिकता के अधिकार प्राप्त हैं और वे भी भारतीय सविधान के अन्तर्गत स्वतन्त्रतापूर्वक समान का जीवन यापन कर रहे हैं।

इस्लाम धर्म

इस्लाम संसार के प्रमुख धर्मों में से एक है। वह भारतेतर शाखा का धर्म है। उसका उदय पश्चिम एशिया के अरब प्रदेश में हुआ। अपनी जन्मभूमि की अपेक्षा भारत में उसने अधिक अनुकूल वातावरण प्राप्त किया और अत्यन्त तीव्र गति से अपना विकास किया तथा लोकप्रियता प्राप्त की। भारत में उसके अस्तित्व तथा सम्बन्धों की जड़ें इतनी गहरी एवं स्थिर हैं कि भारत में वर्तमान अनेकानेक धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म के बाद उसी का दूसरा स्थान है। भारत में उसका इसी रूप में सम्प्रति आदर-सम्मान है।

इस धर्म-शाखा के जन्मदाता हजरत मुहम्मद साहिब थे। उनके जीवना-दर्शों का इतिहास वस्तुतः इस्लाम धर्म का इतिहास है। इस धर्म के संस्थापक हजरत मुहम्मद साहिब का जन्म ५७० ई० को अरब के मक्का नामक नगर में हुआ था। उनका बाल्यकाल बड़ी विपन्न एवं दुःखद परिस्थितियों में बीता। जब वे केवल दो मास के थे, उनके पिता का देहावसान हो चुका था और वे छः वर्ष के भी नहीं हो सके थे कि माता के साये से भी वंचित हो गये। माता-पिता का निधन हो जाने पर अनाथ बालक का लालन-पालन उनके पितामह तथा फूफा ने किया। जब वे १२ वर्ष के थे, किसी कारणवश उन्हें बसरा जाना पड़ा। वहाँ उनकी भेंट एक ईसाई सन्त से हुई। उनका नाम बाहिरी था। इससे पूर्व बालक मुहम्मद परम्परागत संस्कारों से प्रभावित ईश्वरवादी एवं मूर्तिपूजक था। किन्तु ईसाई सन्त के सत्संग से उनका मन मूर्तिपूजा के प्रति विमुख हो गया। यद्यपि जीवन की विपरीत परिस्थितियों ने उनको ऐसा संयोग नहीं दिया था कि वे कुछ पढ़ते लिखते, किन्तु उनमें जन्मजात ईश्वरीय प्रतिभा थी। उनमें अपरिमित स्मरण-शक्ति थी। अपनी व्यावहारिक बुद्धि तथा अन्तःप्रतिभा से उनके अन्तःकरण में ज्ञान का स्वतः प्रकाश हो गया था। सर्वथा विकट परिस्थितियों और विपरीत वातावरण में जीवन-यापन करते हुए और अनेक प्रकार के अनुभवों को समेटते हुए उन्होंने अपना कैशोर्य बिताया।

युवावस्था को प्राप्त कर उन्होंने अदृष्ट की प्रेरणा से व्यापार का आश्रय लिया। वे व्यापारिक काफिला के साथ सुदूर बाहरी देशों की यात्रा करने लगे। उनकी व्यापारिक कुशलता एवं दूरदर्शिता से प्रभावित होकर एक समृद्धिशाली विधवा महिला खदीजा ने उन्हें अपना एजेंट नियुक्त कर दिया।

मुहम्मद साहिब ने बडी योग्यता, निष्ठा एव कर्मठता से व्यापार मे आशातीत सफलता प्राप्त की, जिससे प्रभावित होकर उस ४० वर्षीया महिला ने मुहम्मद साहिब से विवाह कर लिया। उनकी आयु उस समय केवल २८ वर्ष की थी। विधाता के इस विधान को उन्होने शिरोधार्य किया। उनके दो पुत्र हुए, जिनका नाम कासिम और इब्राहिम था। दोनो पुत्रो का अल्पवय मे ही निधन हो गया था। उनकी चार कन्याएँ भी थी, जिनके नाम थे—जेनेब, रुकइया, आकोवाम और फातिमा।

एक सम्भ्रान्त एव धनी महिला से सम्बन्ध हो जाने के बाद वे मक्का के उच्च धनिको मे गिने जाने लगे। एक सम्पन्न एव कुशल व्यापारी होने के साथ ही व्यवहार तथा आचरण मे वे इतने निष्कपट, पवित्र एव चरित्रवान् सिद्ध हुए कि प्रख्यात ईमानदार (अल-आमीन) के रूप मे उनके नाम की ख्याति सुदूर अचलो तक फैल गई। अब वे कोरे व्यापारी ही नही रह गये थे, अपितु एक गुण ज्ञान-सम्पन्न न्यायवादी के रूप म भी प्रसिद्ध हो चुके थे। यहाँ तक कि लोग अपने विवादो तथा सन्देहो के समाधान एव निराकरण के लिए भी उनके पास आने लगे थे। व्यापारिक कुशलता के साथ ही वे अपने मिलने-जुलने वाले विभिन्न प्रवृत्ति के लोगो से सद्विचारो की सम्पदा भी अर्जित करते रहे।

मुहम्मद साहिब की ख्याति एक अभूतपूर्व, अतुलनीय ईमानदार एव सत्यवादी व्यापारी के रूप मे पहले ही फैल चुकी थी। ज्यो ज्यो उनकी अवस्था बढती गई, त्यो-त्यो उनमे परमार्थ के प्रति अन्त प्रेरणा जागरित होने लगी। उनका मन सासारिक क्रिया-कलापो के प्रति उदासीन और धर्म, अदृष्ट तथा ईश्वरभक्ति की ओर उन्मुख होता गया। बाल्यकाल मे ईसाई सन्त ने उनके मन मे मूर्तिपूजा की निरर्थकता के प्रति जो अनास्था उत्पन्न कर दी थी, उससे उनका मन उस अद्वितीय, अदृष्ट सत्ता के प्रति अधिक आसक्त होने लगा। जिसकी असीम छत्र-छाया मे जगत् का सरक्षण एव परिपालन होता आ रहा था, उसको जानने तथा पाने की जिज्ञासा से बहुधा वे नितान्त एकान्त मे चले जाते और आत्म-चिन्तन मे खो जाते थे।

अनेक वर्षो तक मुहम्मद साहिब साधना मे दत्तचित्त रहे और उस सर्व-शक्तिमान को पाने के लिए आत्म-चिन्तन करते रहे। जब उनकी अवस्था ४० वर्ष की थी, उन्हे देवदूत जिबाइल से साक्षात्कार हुआ। उन्होंने मुहम्मद साहिब को परमेश्वर का दिव्य सन्देश दिया। उन ईश्वरीय दिव्य आदेशो को उन्होंने आत्मोद्धार का एकमात्र साधन-आधार मानकर उन्हे जन-जन तक फैलाने का कार्य किया।

तत्कालीन सामाजिक स्थिति

जिस समय मुहम्मद साहिब का जन्म हुआ, लगभग ६ठी शती ई० मे अरबवासियो की सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति नितान्त पिछडी हुई थी। तब तक वहाँ अनेक धर्मो का प्रवेश हो चुका था। समाज मे ऊँच-नीच, धनी-निर्धन का भेद-भाव अपनी चरम सीमा पर था। धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने और धर्माचरण करने मे जन-सामान्य सक्षम नही था। सारा समाज आचारहीन था। अरबवासियो मे आदिवासी जीवन की परम्परागत विभिन्न कुप्रथाएँ तथा अन्धविश्वास व्याप्त थे। भूत-प्रेत, नर-बलि, व्यभिचार, तन्त्र मन्त्र तथा मद्यपान और इसी प्रकार की अनेक कुरीतियो से सारा समाज अभिभूत था। बहुपत्नी प्रथा प्रचलित थी और पिता की पत्नियो को, पिता की मृत्यु के बाद, उत्तराधिकार के रूप मे पुत्रो मे बाँट दिया जाता था और उन्हें पत्नियाँ बना दिया जाता था। यह एक नितान्त पिछडा हुआ और साथ ही घोर असामाजिक प्रचलन था।

समाज मे बर्बरता व्याप्त थी। युद्ध और रक्तपात सहज सामाजिक प्रक्रिया थी। युद्ध मे मारे गये शत्रुओ की स्त्रियो तथा बच्चो का बडी निर्दयता से शिरच्छेद किया जाता था। नवजात शिशुओ को तीर का निशाना बनाया जाता था और मनुष्यो को आग मे डालकर जिन्दा ही जला दिया जाता था। शत्रुओ तथा उनके परिवारो को भयकर यातनाएँ दी जाती थी। इतना ही नही, मृत मनुष्यो को खा लेना और इसी प्रकार के नृशस कार्यो को करना एक सामान्य-सी बात थी। सारे समाज मे पतनोन्मुखी अमानवीय, दुर्दान्त आचरण व्याप्त थे।

अरबवासियो मे व्याप्त इन कुरीतियो, अन्धविश्वासो और दुर्दान्त एव नृशस प्रवृत्तियो को दूर करने के लिए मुहम्मद साहिब ने उग्र आन्दोलन किया। अरबवासियो मे दासप्रथा प्रचलित थी। मूल मानवाधिकारो का हनन हो रहा था और सामाजिक शोषण की परम्पराएँ उग्रतर थी। धनी निर्धन तथा जाति-वर्ग की कुप्रथाएँ व्याप्त थी। इन सब कुरीतियो तथा अत्याचारो के विरुद्ध मुहम्मद साहिब ने जन आन्दोलन चलाया। समाज मे प्रचलित मूर्तिपूजा का भी उन्होने घोर विरोध किया और उसे अभिशाप मानकर जन-सामान्य के मन से उनके प्रति, अपने सद्विचारो से, घोर वितृष्णा उत्पन्न की।

धर्म के नाम पर रूढियाँ और पाखण्ड व्याप्त थे। समाज मे हुब्ज, लात्, मनात् तथा उज्ज आदि घोर अनैतिक देवी देवताओ की पूजा प्रचलित थी। धर्माचार्य पुजारियो ने समाज मे इस प्रकार के विश्वास फैलाये हुए थे कि देवी-देवताओ की पूजा से अकाल, व्याधि तथा अनिष्टो से रक्षा और युद्धो मे

विजय प्राप्त होती है। इसी देवतावाद का प्रभाव था कि काबा के प्रसिद्ध मन्दिर में लगभग ३६० देवमूर्तियों की स्थापना की गई थी और उनका अर्चन-पूजन होता था।

इस्लाम धर्म की स्थापना

समाज में प्रचलित इन अमानवीय बुराइयों को दूर करने के उद्देश्य से हजरत मुहम्मद ने ६१६ ई० के लगभग मक्का (अरब) में एक मानव-मंगलकारी सार्वभौम धर्म की स्थापना की, जिसे 'इस्लाम धर्म' के नाम से कहा जाता है। इस्लाम, अर्थात् परित्याग, विसर्जन या आज्ञाकारिता का धर्म। तत्कालीन समाज में जो परिस्थितियाँ वर्तमान थी, उनको मिटाने के लिए समस्त सामाजिक परम्पराओं में परिवर्तन लाने के लिए व्यापक जन-संहार, रक्तपात की आवश्यकता थी। किन्तु कुछ समय बाद ही मामूली रक्तपात के अनन्तर समस्त अरब में इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार हो गया। इस नये धार्मिक अभियान की घोषणा करने के पश्चात् हजरत मुहम्मद ने सर्व-प्रथम अपनी पत्नी से कहा—'खुदा के फरिश्ते ने मुझे आदेश दिया है कि मूर्तिपूजा के पाखण्ड को दूर करने के लिए मैं समाज में सत्यधर्म का उपदेश करूँ। अतः सर्वप्रथम मैं तुम्हें अपनी शिष्या बनाना चाहता हूँ।' सदाचरण-शीला पत्नी ने उनकी बात मान ली। तदनन्तर अपने निकटतम परिवारजनों को धर्म में दीक्षित किया। धीरे धीरे उनके अनेक अनुयायी बन गये। मुहम्मद साहिब की सत्यनिष्ठ दैवी वाणी का उन लोगों पर विशेष प्रभाव पड़ा, जो धर्म की महानताओं के प्रति विश्वास रखते थे।

मुहम्मद साहिब ने परमेश्वरीय वाणी को समाज में प्रचलित करने का सकल्प किया। उन्होंने समाज के कुछ बलवान् अनुयायियों को अपने साथ लिया। क्योंकि समाज जिस प्रभावशाली वर्ग के अधीन था, उसकी प्रतिहिंसा का अवरोध करने के लिए बलवान् साथियों की आवश्यकता थी। उन्होंने स्वयं को पैगम्बर घोषित किया और लोगों से ढोंग-पाखण्ड छोड़ने के लिए कहा। इस पर वहाँ का अधिकार-सम्पन्न स्वार्थी पुजारी-वर्ग उग्र हो उठा। पुजारियों ने मुहम्मद साहिब के अनुयायियों का प्रबल विरोध किया और उन्हें पकड़वा कर शासक से घोर यातनाएँ दिलाईं। कुछ विरोधियों ने मुहम्मद साहिब को मरवाना चाहा, किन्तु उनके अनुयायियों ने उन्हें बचा दिया। मक्का के तत्कालीन शासक कुरेशियों तथा यहूदियों ने भी मुहम्मद साहिब तथा उनके अनुयायियों को प्रताड़ित करके, यातनाएँ देनी शुरू कर दीं। इन परिस्थितियों में भी वे अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं हुए।

किन्तु मक्का के एकाधिकार-सम्पन्न शासकों तथा धर्म के अधिकारी पुजारियों के प्रतिरोध के कारण मुहम्मद साहिब का विरोध निरन्तर बढ़ता ही गया। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि उनकी धार्मिक क्रान्ति के बीज सारे अरब मे अङ्कुरित हो गये है, किन्तु साथ ही अब अत्याचारियो से प्राण-रक्षा करना असभव है, तो वे ६२२ ई० में मक्का छोड़कर मदीना चले गये। वही मदीना मे उन्होने ६२२ ई० को हिजरी सवत् का प्रचलन किया, जो कि आज भी वर्तमान है।

मदीना आकर उन्होंने धर्म-प्रचार के अपने पुराने तरीको मे भी परिवर्तन किया और उसका नया मार्ग खोज निकाला। उन्होने विचार किया कि क्रूर, जगली, असभ्य परम्पराओ के अनुयायी और अन्धविश्वासो मे डूबे हुए अरबो मे धर्म-विजय के लिए उनकी रुचि एव भावना के अनुसार ही धर्म का अभियान चलाना चाहिए। वे जानते थे कि क्रूर हृदय अरबो मे ईश्वर का दिव्य सन्देश टिक नही सकता है। अत मदीना के जन-मानस मे उन्होंने घोषणा की कि—"खुदाई फरमान हुआ है कि लोगो को बलपूर्वक इस्लाम धर्म मे दीक्षित किया जाये। अत धर्म-प्रचार के लिए बल प्रयोग आवश्यक है। बल-प्रयोग मे जिनके प्राण जायेंगे, खुदा उन्हे जन्नत (स्वर्ग) देगा।' इस घोषणा के अनुसार उनके अनुयायियो ने एक हाथ मे कुरान और दूसरे हाथ में तलवार का सहारा लेकर धर्म प्रचार किया। उनके मार्ग मे जो भी विरोधी उपस्थित हुआ, उसको ही उन्होंने तलवार से दूर किया। इस घोषणा का क्रूर-स्वभाव एव लड़ाकू अरबो पर अच्छा प्रभाव पड़ा। वे धीरे-धीरे इस्लाम को मानने लगे। मुहम्मद साहिब ने अपने अनुयायियो को शस्त्रास्त्र दिये और धर्म के मार्ग मे बाधक मक्का के कुरेशी व्यापारियो को लुटवाना आरम्भ किया।

इस प्रकार मदीना मे धर्म-विजय प्राप्त कर और अपनी लोकप्रियता एव दैवी प्रभाव का प्रचार प्रसार करते हुए वे पुन मक्का लौट आये। मक्का आकर पहला कार्य उन्होने यह किया कि वहाँ के प्रसिद्ध काबा मन्दिर मे जो मूर्तियाँ स्थापित थी, उनको उखाड फेंका और इस प्रकार समस्त अरब-वासियो मे मूर्तिपूजा के अन्धविश्वास को सदा के लिए समाप्त कर दिया। मक्का के तत्कालीन शासक आबुसोफियान, जो कि धर्म-मार्ग मे बाधक था, युद्ध मे पराजित कर दिया और धर्म मार्ग को प्रशस्त किया। इस प्रकार पुजारियो और प्रभावशाली व्यापारियो का विरोध भी समाप्त हो गया।

इस तरह अनेक प्रकार के प्राणघातक सकटो को कई वर्षों तक झेलते हुए हजरत मुहम्मद ने अपने धर्म-स्थापना के सकल्प को पूरा किया। अपने मगलकारी सदुपदेशो द्वारा उन्होने बहुसख्यक अरब-समाज मे धार्मिक सद्भाव

स्थापित करके उसके माध्यम से विभिन्न वर्गो मे बिखरे हुए तथा कुरीतियो से ग्रस्त अरबवासियो को राष्ट्रीय एकता मे निबद्ध किया।

अपना सारा जीवन उन्होने इस्लाम धर्म के प्रचार-प्रसार और दलित अरबवासियो के उद्धार-कार्य मे व्यतीत किया। ४० वर्ष की अवस्था से लेकर ६२ वर्ष की अवस्था तक तेइस वर्षो म उन्होने अरबवासियो के कल्याण के लिए घोर सघर्ष किया। ६३वे वर्ष की अल्पायु मे ही उस महान् पुरुष ने मदीना मे अपना शरीर त्याग किया।

इस्लाम के उदार सिद्धान्तो तथा सामाजिक सुधारो की वर्तमान स्थिति

हजरत मुहम्मद की जीवनी मे इस्लाम धर्म के उदार सिद्धान्तो तथा व्यापक सामाजिक सुधारो के सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी मिलती है, उसको दृष्टि में रखकर यदि आज की परिस्थितियो से उनकी तुलना की जाये तो यही प्रतीत होता है कि वे अधिक व्यापक तथा लोकप्रिय होने की अपेक्षा समय की सीमाओ मे बँध कर जातिविशेष के नाम पर रुढ हो गये।

इस्लाम धर्म मे सामाजिक समता और भाईचारे की स्थापना पर बल दिया गया है। जितने भी पैगम्बर हुए, उन सब ने जाति प्रथा तथा दास प्रथा की तीव्र भर्त्सना की है। उन्होंने अपने सदुपदेशो में कहा है कि किसी भी मुसलमान के लिए दासो को मुक्त करना उनके सर्वश्रेष्ठ कार्यो में से है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पैगम्बर के इस उपदेश-निर्देश को उनके अनुयायी मुसलमानो ने उतने प्रभावशाली ढग से नही अपनाया। वे दास-प्रथा का उन्मूलन नही कर सके और इसी प्रकार भाई चारे का जो महान् सन्देश था, उसे व्यापक रुप देने की अपेक्षा केवल मुसलमानो की एकता तक ही सीमित रखा।

इन वास्तविकताओ के बावजूद इसमे किसी भी प्रकार का सन्देह नही है कि ईश्वरीय अवतार पैगम्बर ने दलित एव शोषित मानव-जाति के उद्धार के लिए आजीवन अनवरत प्रयत्न किया। उन्होंने समाज मे व्याप्त गरीबी तथा उत्पीडन को दूर करने के लिए लोगो को निरन्तर प्रेरित किया। यहाँ तक धनवानो की सम्पत्ति को गरीबो मे वितरित कर देने का भी आदेश दिया। 'कुरान' की आयतों मे धार्मिक स्वतत्रता की घोषणा की गई हैं और साथ ही अमुस्लिम धर्मानुयायियो के प्रति सहृदयता के व्यवहार पर बल दिया गया है।

पैगम्बर ने विवाह तथा उत्तराधिकार के लिए स्त्रियो के विशेषाधिकारो की व्याख्या की है और उन्हे न्यायालय के समक्ष साक्षी रूप मे उपस्थित होने का अधिकार दिया है। तत्कालीन समाज के लिए यह एक अभूतपूर्व

बात थी, क्योंकि इस प्रकार के स्त्रियों के विशेषाधिकारों की यह व्यवस्था केवल पैगम्बर ने ही की थी। किन्तु मुस्लिम धर्म संहिता में जिन विधि-नियमों को, पैगम्बर के बाद, समय-समय पर निर्धारित किया गया, उनमें इन विशेषाधिकारों को उपेक्षित कर दिया गया।

पैगम्बर द्वारा निर्दिष्ट सामाजिक सुधार और धार्मिक स्वतन्त्रता-सम्बन्धी नियमों के पालन में तत्कालीन मुसलमान शासकों द्वारा जो अनियमितताएँ बरती गईं, उनके लिए पैगम्बर को उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि अपनी आरम्भावस्था में इस्लाम धर्म जिस त्वरित गति से प्रचारित एवं प्रसारित हुआ, उसके स्वार्थपरक पुराणपन्थी शासकों की अनुदारता और उदात्त सिद्धान्तों की अवहेलना करने के कारण, अपने उदय-काल के लगभग सौ-सवा सौ वर्षों बाद ही (७१५ ई०) उसका विस्तार अवरुद्ध हो गया। इस अवधि में जब कि अरब राष्ट्रों में उसकी गति मन्द पड़ गई थी, यह एक विचित्र संयोग की बात है कि इसी अवधि में उसका प्रवेश भारत में हुआ।

धर्मावतार इमाम

इस्लाम धर्म में इमाम का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुन्नी और सिया, दोनों सम्प्रदायों के मुसलमानों का इमाम पर परम्परा से आस्था एवं विश्वास है। इस प्रकार के इमाम अब तक बारह हो चुके हैं, जिनके नाम हैं—१ हजरत अली, २ हसन, ३ हुसैन, ४ अली जैनुल आब्दीन, ५. मुहम्मद बाकर, ६ जाफर सादिक, ७ मूसा काजिम, ८ अलीरजा, ९ मुहम्मद तकी, १० अली नकी ११ हसन असकरी और १२ मुहम्मद अल मुंतजर। इन इमामों को परम्परा से अनेक अधिकार प्राप्त हैं। वे पैगम्बर के राज्य के अधिकृत उत्तराधिकारी हैं, वे पापरहित पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं और उन्हें समस्त मुस्लिम धर्मानुयायियों को निर्देश देने का पूरा अधिकार है। इस रूप में वे धर्मगुरु के श्रेष्ठ पद के अधिकारी भी हैं।

इमाम को इस्लाम धर्म में ईश्वरीय अवतार के रूप में माना जाता है। उसको इतना अधिकार है कि यद्यपि वह 'कुरान' के आदेश निर्देशों को अमान्य या उपेक्षित नहीं कर सकता, तथापि उनमें आंशिक परिवर्तन कर सकता है। वह एक न्यायकर्ता भी है और देश-काल की परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर परम्परागत कानूनों (विधि निर्देशों) को परिवर्तित कर सकता है। इमाम एक अवतार एवं पैगम्बर है और उसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रत्येक इस्लाम धर्मानुयायी का परम कर्तव्य है।

मुसलमान जन-सामान्य का पथ-प्रदर्शन करना, मस्जिद की सामूहिक नमाज मे अग्रणी होना, खुत्बा पढना, धार्मिक नियमो एव सिद्धान्तो की समस्याओ का समाधान करना इमाम के कार्य हैं। शिया सम्प्रदाय मे हजरत मुहम्मद के बाद हजरत अली और उनके दो पुत्र हुए, जो कि परम वन्दनीय थे। उन्होंने अपने-अपने स्वत्वो को प्राप्त करने के लिए सघर्ष किये और बलिदान हो गये। उनकी पुनीत स्मृति मे शिया सम्प्रदाय के लोग प्रतिवर्ष मुहर्रम के महीने उनके घोडे 'दुलदुल' के प्रतीक मे एक घोडा सजाते और उसकी पूजा प्रतिष्ठा करते हैं, ताजिये बनाकर सामूहिक जुलूस निकालते हैं और अपने बलिदानी पवित्र इमामो की स्मृति मे शोक मनाते हैं। अन्तत ताजिये को कर्बला मे गाड दिया जाता है।

इस्लाम धर्म की शाखाएँ

विश्व के अन्यान्य धर्मों की भाँति एक ही इस्लाम धर्म आगे चलकर अनेक शाखा-प्रशाखाओ मे विभाजित हुआ। इस्लाम के ये धार्मिक इतिहास यह बताता है कि सुदूर अरब से लेकर भारत तक इसका विकास किन कारणो एव परिस्थितियो मे हुआ और समय-समय पर इसमें कौन-कौन नई विचारधाराएँ समाविष्ट होती गई।

हजरत मुहम्मद के जीवन-काल मे ही इस्लाम के अनुयायियो मे दो वर्ग बन गये थे, जिनमे से एक वर्ग उनकी शिक्षाओं का अनुपालक और दूसरा वर्ग उनका विरोधी था। उनका यह पारस्परिक विरोध निरन्तर उग्र होता गया और मुहम्मद साहिब के शरीरान्त के बाद अनेक प्रकार के विरोध एव विचारधाराएँ प्रकाश मे आने लगी थी। इन्ही मतभेदो तथा विरोधी विचारधाराओ ने आगे चलकर स्वतत्र धर्मशाखाओ के रूप मे स्वयं को प्रतिष्ठित किया। एक ही इस्लाम धर्म की अनेक शाखाओ के उदय के कारण लगभग वैसे ही थे, जैसे कि तथागत बुद्ध के बाद बौद्ध धर्म की अनेक शाखाएँ विकसित हुई।

इस्लाम धर्म सर्वप्रथम दो वर्गों या सम्प्रदायो मे विभाजित हुआ, शिया और सुन्नी। इन दोनो सम्प्रदायो के उदय के कुछ कारण है। हजरत मुहम्मद के शरीरान्त के बाद उनके उत्तराधिकारी के लिए उनके अनुयायियो मे कुछ समय तक सघर्ष होता रहा। मुहम्मद साहिब के दो पुत्र थे, जिनके नाम थे—कासिम और इब्राहिम। उनकी चार कन्याएँ थी, जिनके नाम थे—जेनेब, रुकइया, आकोबाम और फातिमा। दोनो पुत्र बाल्यकाल मे ही दिवगत हो गये थे। इसलिए मुहम्मद साहिब का उत्तराधिकारी उनका भतीजा

नियुक्त हुआ, जिसका नाम अली था। उसका भी अल्पवय में निधन हो गया। उसके बाद उसके दो श्वशुरों अबुबकर और उमर ने उत्तराधिकारी को अपने हस्तगत कर लिया था। कुछ समय बाद इन दोनों इमामों में भी मतभेद हो गया। उनके पुत्रों में भी उत्तराधिकारी के लिए संघर्ष होता रहा। अन्त में इमाम अबुबकर के पुत्र उमर ने खलीफा उसमान को पराजित कर दिया। इन दोनों भाइयों द्वारा दो अलग-अलग धर्म शाखाओं का प्रवर्तन हुआ, जिन्हें शिया और सुन्नी कहा जाता है।

इस धार्मिक मतभेद का एक कारण और भी था। जिस समय हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकार के लिए संघर्ष हो रहा था, उस समय उनके पक्षपाती लोगों ने उनके दौहित्र (पुत्री का पुत्र) इमाम हुसैन को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। किन्तु इस घोषणा का बड़ा विरोध किया गया। इस विरोधी वर्ग ने एक षड्यन्त्र रचा। कुफा के खलीफा ने किसी कारणवश इमाम हुसैन को अपनी राजधानी आमंत्रित किया और कपट से बगदाद के समीप कर्बला नामक स्थान पर उनकी हत्या करवा दी। इस प्रकार इमाम हुसैन के पक्षपाती लोग शिया और खलीफा के पक्षपाती लोग सुन्नी कहे जाने लगे। शिया सम्प्रदाय के लोग तभी से इमाम हुसैन की पवित्र स्मृति में मुहर्रम (शोकोत्सव) मनाते हैं। शियाओं का मूल स्थान ईरान है। उनकी संख्या ईरान के बाद ईराक में और उसके बाद भारत में है।

शिया और सुन्नी—दोनों सम्प्रदायों में भी आचार विचारों के मतभेदों के कारण अनेक उपशाखाएँ हुईं। उनमें से अधिकतर तो अपने जन्म के साथ ही, जन-प्रोत्साहन एवं समर्थन न मिलने के कारण समाप्त हो गईं। जो जीवित रहीं उनके सम्बन्ध में भी विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनमें कुछ के नाम है—वहाबी, हनफी, सूफी, दाउदी, बहोरा, इमली, मेमाबिया, मोरेसल्लाम, अत्तासी, इस्माइली (आगाखानी), पीराना, महोदीश, बाबी, कादियानी, गरजाई, जाबिरी, मोतजली और अशकरी आदि। इनमें से कुछ प्रमुख धर्म-शाखाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

वहाबी—वहाबी लोग मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी हैं। वे कब्र के ऊपर स्मारक या इमारत निर्मित करने के भी विरोधी हैं। इसी विचारधारा के वशीभूत होकर वहाबी शासक इब्न सईद ने अरब के समस्त कब्रगाहों को तुड़वा डाला था और भविष्य में ऐसा करने पर सख्त प्रतिबन्ध लगा दिया था।

आगाखानी (इस्माइली)—ये लोग आगा खाँ को ईश्वर का अवतार मानते हैं और उन्हीं के प्रति अपनी एकान्त तथा परम श्रद्धा प्रकट करते हैं। उन्हें मेमन भी कहा जाता है। वे अपने प्रभाव-सद्भाव के कारण विभिन्न

देशो मे फैले हुए हैं, किन्तु सर्वत्र ही अल्पसख्यक हैं। किन्तु प्रतिष्ठित एवं अधिकार-सम्पन्न व्यापारी हैं। उनमे एक प्रथा यह प्रचलित है कि वे मृत व्यक्ति की कब्र मे जिब्रील के नाम एक रोक्का लिखकर उसे भी दबा देते हैं। उसमे यह लिखा होता है कि स्वर्ग मे उसे कौन-सा स्थान मिलेगा।

कादियानी—यह धर्म शाखा हिन्दू-धर्म की मान्यताओ के काफी निकट है। ये लोग अवतारवादी हैं और हजरत मुहम्मद को भी एक अवतार मानते हैं। हजरत गुलाम के उपदेशो को भी वे वरणीय मानते हैं। इस धर्म-शाखा के संस्थापक हजरत गुलाम अहमद कादियान थे। जिला गुरुदासपुर (पजाब) मे उनका जन्म हुआ था। अत पजाब मे कादियानी अधिकतर पाये जाते हैं। वे उदारतावादी हैं और हजरत मुहम्मद तथा हजरत गुलाम की भाँति राम-कृष्ण-बुद्ध-नानक आदि के प्रति पैगम्बर की तरह श्रद्धा-भाव रखते हैं। इस मत के अनुयायी स्वय को कर्मों के प्रति उत्तरदायी नहीं मानते हैं।

गरजाई—इस मत के अनुयायी कर्म पर विश्वास करते हैं और सच्चरित्रता का आचरण करते हुए परमात्मा के प्रति निष्ठा रखते हैं।

जाबिरी—इस धर्मशाखा के अनुयायियो के आचार-विचार-विश्वास कादिरियो के सर्वथा विपरीत हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी है और इसलिए उनको कर्मों का उपभोग करना होता है।

मोतजली—ये लोग धर्मशास्त्रीय नीति-नियमो के मानने वाले हैं और धर्मशास्त्रीय न्याय नियमो के समक्ष भाग्यवाद को कोई महत्त्व नही देते हैं।

अनाशरी—ये लोग इस्लाम के पण्डित-पुरोहितवाद के समर्थक हैं और अध्यात्मवादी तथा पुराणपन्थी विचारो के अनुयायी हैं।

कुरान

इस्लाम धर्म का आधारभूत एकमात्र ग्रन्थ 'कुरान' है। यह अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'प्रवचन या भाषण'। किन्तु सम्प्रति 'कुरान' को अल्लाह का कलाम (वचन) माना जाता है और उसके शब्द तथा अर्थ, दोनो को परमात्मा की वाणी के रूप मे शिरोधार्य माना जाता है। जैसे 'श्रुति' और 'स्मृति' शब्दो से परम्परागत श्रवण तथा स्मरण द्वारा सुरक्षित ज्ञान का भाव प्रकट होता है, उसी प्रकार पैगम्बर की मृत्यु के बाद उनकी शिक्षा एव उनके उपदेश भी उनके अनुयायियो द्वारा मौखिक रूप से कण्ठस्थ (हिफ्ज) रूप मे जीवित रहे। बाद मे इस कण्ठस्थ-पाठ को और

लिपिबद्ध रूपों को समन्वित करके एक प्रामाणिक पाठ तैयार किया गया। वही सर्वशुद्ध पाठ सम्प्रति 'कुरान' के नाम से कहा जाता है। इसलिए यही कारण है कि 'कुरान' का दूसरा पाठान्तर प्राप्त ही नहीं होता है।

इस धर्म ग्रन्थ में ११४ अध्याय (सूर) हैं। उसकी ९० सूरतें संघर्ष-काल से सम्बन्धित हैं, जिनमें अल्लाह की अद्वैतता और उनके द्वारा मानवोत्थान, सन्मार्गनिर्देशन तथा सद्गुणों का वर्णन किया गया है। शेष २४ सूरतें विजय-काल से सम्बन्धित हैं, जिनमें धार्मिक विश्वासों, व्यावहारिक ज्ञान, सदाचरण, नैतिकता, पवित्रता तथा आचारों का वर्णन है। 'कुरान' में पुरातन महापुरुषों आदम, नूर, इब्राहीम, मूसा, दाउद, सुलेमान तथा ईसा आदि के उपदेश भी संगृहीत हैं, जिनका रहस्य यह है कि सज्जनों को अल्लाह ने पुरस्कृत और दुर्जनों को दण्डित किया।

'कुरान' की यह विशेषता है कि वह नमाजों के समय पढ़ा जाने वाला धर्म-ग्रन्थ ही नहीं है, अपितु प्रत्येक विद्योपार्जन करने वाले शिशु छात्र की आरम्भिक शिक्षा का भी अभिन्न अंग है। उसने अरबी भाषा को एकरूपता में बाँधे रखा और आज जो भाषा 'कुरान' की है, उसी को प्रामाणिक अरबी माना जाता है। 'कुरान' इतना लोकप्रिय ग्रन्थ है कि उसके अब तक लगभग चालीस से अधिक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। इस ग्रन्थ पर इस्लाम धर्मानुयायियों की अपार श्रद्धा है।

हदीस

'कुरान' के ही समान इस्लाम धर्म का दूसरा प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ 'हदीस' है। यह ग्रन्थ कुरान की ही भाँति पवित्र दिव्य वाणियों का संग्रह है। मुहम्मद साहिब ने समय समय पर जो नसीहतें, कहावतें और रिवायतें अभिव्यक्त कीं, उनका संग्रह 'हदीस' कहलाता है। वे पवित्र आदेशों की भाँति मान्य होते हुए भी ईश्वरीय (इलाही) नहीं मानी जाती हैं। यही इन दोनों धर्म ग्रन्थों में विशेष अन्तर है।

सिद्धान्त-निरूपण

हजरत मुहम्मद ने ६१२–६२२ ई० के बीच मक्का में इस्लाम धर्म की स्थापना की थी। उनके महान् उपदेशों से समस्त अरब उनका अनुयायी हो गया था। हजरत मुहम्मद ने त्याग, आत्म समर्पण और आज्ञाकारिता के जो उपदेश दिये पश्चिमी देशों के इतिहास में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस्लाम सम्प्रदाय के कुछ धर्म ग्रन्थ हैं, जिनमें पीरों, पैगम्बरों, सन्तों और फकीरों की प्रेरणाप्रद दिव्य वाणियाँ एवं कथाएँ संकलित हैं। 'कुरान'

उनका प्रमुख धर्म ग्रन्थ है, जिसको 'किताब', 'मजीदा' या 'कलामुल्ला' भी कहा जाता है। मुहम्मद साहिब द्वारा जनता के उद्बोधन एवं सन्मार्ग निर्देशन के लिए समय समय पर जो सदुपदेश (इलहाम) दिये गये, वास्तव मे उन्ही का सग्रह 'कुरान' है। उनके ये सदुपदेश अपने मूल रूप मे मौखिक थे। उनके अनुयायियो ने उन उपदेशो को प्रस्तर-शिलाओ, तालपत्रो, चर्मपत्रो और काष्ठपट्टिकाओ मे अंकित-उत्कीर्णित कर उन्हे सुरक्षित रखा। उनके अतिरिक्त अधिसख्यक उपदेश मौखिक रूप मे भी सुरक्षित रहे। मुहम्मद साहिब के परवर्ती उनके उत्तराधिकारी खलीफा अबुबकर ने उन लिपिबद्ध तथा कण्ठस्थ उपदेशो का सग्रह किया और सर्वप्रथम उन्हे ११४ सूरो (अध्यायो) में विभक्त एव क्रमबद्ध किया। 'कुरान' के सग्रह-सरक्षण का यह प्रथम कार्य था। किन्तु इस सग्रह के अतिरिक्त भी विभिन्न अचलो में मुहम्मद साहिब के उपदेशो के सन्देश पहुँच चुके थे और वे उपदेश जन-मानस में विभिन्नता से प्रचलित हो चुके थे। इस कारण कालान्तर में मक्का, मदीना और ईराक आदि विभिन्न अरब अचलो से 'कुरान' के अलग-अलग सग्रह प्रकाश में आये।

इन सग्रहो के आधार, क्रम और विषय-सामग्री में अन्तर था। इसलिए उनमें पारस्परिक भिन्नता होनी स्वाभाविक थी। इस विषमता को दृष्टि में रखकर तीसरे खलीफा उसमान ने खलीफा अबुबकर द्वारा सगृहीत सस्करण को प्रामाणिक मानकर शेष सभी सस्करणो को अमान्य घोषित कर दिया और जो भी मिले, उन्हे जलवा दिया। फिर भी वे पूरी तरह नष्ट न हो सके। उसी का परिणाम है कि सम्प्रति 'कुरान' के लगभग सात सस्करण प्राप्त होते हैं, जिनमें यद्यपि आशिक पाठ-भेद और आयतो की सख्या मे अन्तर है, तथापि बहुत-कुछ समानता भी है।

परमेश्वर

'कुरान' में ईश्वरीय प्रेरणा के क्षणो मे पैगम्बर द्वारा कहे गये उपदेशो (इलहाम) का वर्णन है। उसमे परमेश्वर को अल्ला, हक्ताला, मौला, खुदा और करीम आदि विभिन्न नामो से कहा गया है। सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण करते समय सबको यह कलमा (प्रतिज्ञा) पढाया जाता है—(मैं) स्वीकार करता हूँ कि ईश्वर से भिन्न कोई देव नही है और मुहम्मद उसका पैगम्बर (सन्देशवाहक) है'—(अशहदो अन्लाइलाहा इल्लल्ला मोहम्मदुन रसूलल्ला)। ईश्वर परम दयालु है (बिसमिल्ला रहमाने रहीम)। उसको निमित्त मानकर मनुष्य को प्रत्येक कार्य करना चाहिए।

इस्लाम ईश्वर की एकता पर विश्वास करता है—लाइलाह इल्लिल्लाह (एकमेव ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई देवता नही है।) इस दृष्टि से

इस्लाम एकेश्वरवादी धर्म है। वहाँ अल्लाह के अतिरिक्त कोई दूसरा सर्वशक्तिमान पिता नही है। वह सत् एवं सर्वज्ञ है और यह समस्त चराचर उसी का निवास है। उसकी आज्ञा से ही जगत् का सचालन होता है और उसी की कृपा पर वह अस्तित्ववान् है। उसे न तो किसी ने पैदा किया और न उससे कोई पैदा हुआ है। वह सर्वव्यापी, महान् और उत्तम है (११२। ९।३), किन्तु नास्तिक (काफिर) उसे प्राप्त नही कर सकता है। उसने छ दिनों में पृथ्वी और आकाश को बनाया तथा स्वय सुदूर सातवें आसमान पर, सिंहासन (अर्श) पर विराजमान हुआ (५७।१३–१४ आदि)।

चिन्तन की अनेक विचारधाराओं का उदय

मुस्लिम धर्म दर्शन का उदय यद्यपि अरब मे हुआ, किन्तु ७वी शती ई० के मध्य ग्रीक प्रभावो के कारण वह चिन्तन की अनेक विचारधाराओ मे विकसित हुआ। आरम्भ मे उसकी तीन विचारधाराएँ प्रकाश मे आईं— बुद्धिवाद (मुतज्लवाद), पाण्डित्यवाद (अशअरवाद या आशारियावाद) और रहस्यवाद (सूफीवाद)। प्रथम विचारधारा बुद्धिवाद का जन्म लगभग प्रथम शती हिजरी मे हुआ। इस धारा मे दो मुख्य सिद्धान्त हैं—ईश्वरीय एकत्व और ईश्वरीय न्याय। ईश्वरीय एकत्व के अनुसार ईश्वर एक या अद्वितीय है। वह सर्वज्ञ और शक्तिमान है। उसकी ये विशेषताएँ उसके मूल स्वरूप मे निहित हैं। ईश्वरीय न्याय के अनुसार ईश्वर सर्वदा जीवो के प्रति न्यायी और परम कृपालु रहा है। मनुष्य अपने सत्कर्मों के लिए पुरस्कार और दुष्कर्मों के लिए दण्ड पाता है। इस्लाम धर्म की इस प्रगतिशील चिन्तन धारा मे 'कुरान' की पुराणपन्थी दैवी उत्पत्ति सम्बन्धी मान्यताओ का भी खण्डन किया गया है। इस विचारधारा के जन्मदाता सन्त वासिल बिन अता (निधन ७४८ ई०) और प्रवर्तक सन्त अबुल हुजैल (निधन ८४० ई०) थे।

दूसरी विचारधारा 'अशअरवाद' उक्त प्रथम विचारधारा के विपरीत है। इस विचारधारा के प्रवर्तक अब्दुल हसन अल् अशअरी (जन्म २६० या २७० हिजरी) थे। आरम्भ मे वे मुतज्ली मत के अनुयायी थे, किन्तु बाद मे उसके कटु आलोचक हो गये। यहाँ तक कि उन्होने अपने गुरु जद्बाह को भी शास्त्रार्थ मे पराजित कर दिया था। उनका अभिमत था कि धर्म की इमारत विशुद्ध बुद्धिवादी आधार पर खडी नही की जा सकती है। वे ईश्वर को निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय नही मानते थे, अपितु उनकी मान्यता थी कि ईश्वर इच्छा ज्ञान-क्रिया आदि विविध गुणो से सम्पन्न है, किन्तु वे गुण सामान्य मनुष्य मे पाये जाने वाले गुणो से सर्वथा भिन्न हैं। ईश्वर ही एकमात्र स्रष्टा (सिरजनहार) है। उनका यह भी कहना था कि ईश्वर कर्माधीन नही

है, अपितु अपनी इच्छा से किसी भी जीव का उसके कर्मानुसार हित-अहित कर सकता है। उनकी दृष्टि से 'कुरान' ईश्वर की शाश्वत वाणी है। इस दृष्टि से यह धर्मशाखा मौलिक तात्विक भूमि पर आधारित प्रतीत होती है।

तीसरी रहस्यवाद या सूफीवाद विचारधारा के जन्मदाता मिश्र के निवासी सन्त धुन-नून् (निधन २४५–४६ ई०) थे। इस सूफीवादी परम्परा के प्रवर्तक बगदाद के जुनैद, उनके शिष्य कुशैरी और शेख मुहिउद्दीन इब्न-अल् अरबी आदि हुए। शेख साहब मुसलिम तत्त्वज्ञान के महान् ज्ञाता थे। उन्होंने अपना एक वजुदोयह (जीव की इकाई) धर्म-पन्थ का भी प्रवर्तन किया था। उनके बाद इमाम गजाली ने सूफीवाद को पुरातन पन्थी सुन्नी धम विज्ञान के साथ समन्वित किया।

सूफीमत का मुख्य लक्ष्य अन्तःकरण की पवित्रता, नैतिकता का उत्थान और आन्तरिक तथा बाह्य जीवन में सदाचार-सद्विचारों की स्थापना करना था। तभी शाश्वत परमानन्द तथा परम कृपा की प्राप्ति हो सकती है। सूफी मत के अनुसार पवित्र ग्रन्थों में निबद्ध ईश्वर द्वारा कहे गये नियमों का पालन आबाल-वृद्ध सबको करना चाहिए। चरित्र निर्माण के लिए ईश्वरीय कर्तव्यों, अधिनियमों अनुबन्धों तथा अनिवार्यताओं का पालन करना आवश्यक है। इस रूप में सूफीवाद एक अनुशासनात्मक सिद्धान्त है।

इस मत के अनुसार सूफी वही है, जिसे अपने तथा ईश्वर के बीच के सम्बन्धों की जानकारी है। सूफी एक सृजित प्राणी है, जिसे ईश्वर स्वयं उसकी कार्यक्षमता के अनुसार उसमें ज्ञान तथा शक्ति को प्रकट करता है। ईश्वर की सत्ता से ही उसकी सत्ता है। वह अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता है। 'कुरान' (५७।२) में उसी परम सत्ता के सम्बन्ध में कहा गया है— 'वही प्रथम है और अन्तिम भी। वही बाह्य और आभ्यन्तर भी है। वह सब कुछ जानता है।' इस आयत की व्याख्या करते हुए पैगम्बर ने कहा है— तुम बाह्य हो और तुमसे ऊपर कुछ भी नहीं है। तुम आभ्यन्तर हो और तुमसे नीचे कुछ भी नहीं है। तुम प्रथम हो और तुमसे पूर्व कुछ भी नहीं है। तुम अन्तिम हो और तुम्हारे बाद कुछ भी नहीं है।'

सूफीमत, क्योंकि मुस्लिम दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का मुख्य आधार माना जाता है, इसलिए उसका विस्तार से विवेचन करना आवश्यक है।

सूफीमत

सूफीमत इस्लाम का धार्मिक दर्शन है। हजरत मुहम्मद से लेकर परवर्ती सन्तों, फकीरों और चिन्तकों ने इस्लाम धर्म के सम्बन्ध में समय-समय पर जिन रहस्यात्मक विचारों का प्रतिपादन किया, परमात्मा या अल्लाह के विषय

में अपने-अपने जो विचार प्रकट किये, उन्हीं का निरूपण सूफीमत में किया गया है। इस्लाम धर्म के तत्त्व-चिन्तन के जिन गूढ़-गंभीर विचारों का प्रतिपादन किया गया, जिस रहस्यमय सत्ता की खोज की गई, सूफीमत में उन्हीं की व्याख्या वर्णित है। इस्लाम के मूल धार्मिक विचारों को जानने के लिए सूफीमत के सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है।

यद्यपि अरबी, फारसी और तुर्की भाषाओं में 'सूफी' शब्द का प्रयोग हुआ है और वहाँ से वह यूरोपीय साहित्य में 'मिस्टिक' नाम से कहा गया है, किन्तु वास्तव में जिस रूप में उसका व्यवहार तथा प्रचलन देखने को मिलता है, उसका स्वरूप कुछ भिन्न है। सामान्यतः सूफी शब्द का प्रयोग उस रहस्यवाद के अर्थ में हुआ है, जिसमें इस्लाम धर्म की आस्था निहित है। इसे अरबी भाषा में 'सफा' धातु से व्युत्पन्न माना गया है, जिसका अर्थ है 'शुद्धता'। अतः सूफी अभिप्राय उस व्यक्ति का हुआ, जो पवित्र हृदय वाला हो। कुछ विद्वानों ने 'सूफ' से 'सूफी' की व्युत्पत्ति बताई है, 'सूफ' का अर्थ है 'ऊन'। इस अर्थ में उन मुसलमान तपस्वियों एवं तत्त्वचिन्तकों को 'सूफी' कहा गया, जिन्होंने जीवन की निस्सारता के फलस्वरूप ऊनी वस्त्र या वैराग्य बाना धारण कर लिया था। इस वैराग्य का कारण 'कुरान' का यह मन्तव्य था कि मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र अधिकार अल्लाह की इच्छा पर निर्भर है। इसलिए सर्वनाशभावेन स्वयं को परमात्मा की इच्छा पर छोड़ देने से ही मनुष्य नरक, मृत्यु तथा पापों आदि के समस्त भयों एवं भव-बाधाओं से विमुक्त हो सकता है।

मुहम्मद साहिब के अनुयायियों ने 'कुरान' को अल्लाह की वाणी के रूप में वरण किया है। 'कुरान' की कुछ आयतों से यह ज्ञात होता है कि अल्लाह प्रेम तथा श्रद्धा-भक्ति से अधिक भय तथा एकाधिकारसम्पन्न निरंकुश सत्ता का स्वामी है। वह मनुष्य की भावनाओं तथा आकांक्षाओं से ऊपर, सर्वथा अगम्य है। वह अपने दासों का स्वामी है, न कि अपने बच्चों का पिता (रब्ब)। वह एक ऐसा न्यायाधीश है, जो पापियों को कठोर दण्ड देता है और अपनी कृपा का पात्र केवल उन लोगों को बनाता है, जो निरन्तर भक्ति-रत, विनम्रता का भाव धारण किये हुए और पश्चात्ताप करते हुए उनके क्रोध से बचते रहते हैं।' इसलिए अल्लाह के इस कठोर अनुशासन का परिपालन करते हुए, उनकी कृपाओं को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, उससे सामीप्यता कैसे प्राप्त की जा सकती है, इस रहस्यमयता की खोज के लिए 'सूफीमत' का उदय हुआ।

बौद्ध धर्म और वेदान्त का प्रभाव

सूफीमत की पृष्ठभूमि के आधारों की खोज निकालने वाले विद्वानों ने अपने जो विचार प्रकट किये हैं, उनका अनुशीलन करने पर सूफीमत के आविर्भाव का एक निश्चित कारण निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में विद्वानों की यह धारणा है कि सूफीमत एक मिश्रित आध्यात्मिक प्रक्रिया है और उसका आविर्भाव तथा विकास इस्लामी तथा गैर-इस्लामी धार्मिक प्रभावों के कारण हुआ। इन गैर-इस्लामी धर्मों में ईसाई और बौद्ध प्रमुख हैं। ईसाई धर्म के साधुओं, भिक्षुओं एवं सन्तों और मुसलमान फकीरों एवं तपस्वियों के मौन व्रतों, जप, एकान्तवास, उपासना आदि प्रवृत्तियों तथा आचरणों में समानता है। ऊनी वस्त्रधारी सूफी सन्तों का आधार ईसाई सन्तों के वस्त्रधारण की प्रवृत्ति पर निहित है। परमात्मा के प्रति प्रेम-सम्बन्ध की पौराणिक कथाएँ इस्लामी तथा ईसाई साधुओं की लगभग एक समान विश्वासों पर आधारित हैं और उनकी अभिव्यक्ति की शैली में भी तारतम्य है। ईसाइयों तथा इस्लामी सन्तों की आचार-पद्धति के जो मूल नियम एवं अनुशासन के आधार हैं, उनमें भी पारस्परिक एकता है।

इसी प्रकार सूफीमत के सिद्धान्तों, उसकी तात्त्विक प्रवृत्तियों पर बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक विचारों का गंभीर प्रभाव देखने को मिलता है। भारत पर यूनानी आक्रमणों से पूर्व लगभग १०वीं शती या इससे पूर्व एशिया के अनेक देशों में बौद्ध धर्म का प्रभाव व्याप्त हो चुका था। सम्राट् अशोक तथा कनिष्क के समय धर्म-प्रचारक भिक्षु भारत के बाहर अनेक देशों में फैल चुके थे और भारत आने वाले फाहियान तथा ईत्सिंग आदि बौद्ध भिक्षुओं के यात्रा-वृत्तान्तों से भी स्पष्ट होता है कि बौद्धधर्म का प्रसार सुदूर एशिया के अनेक देशों में हो चुका था। प्राचीन बैक्ट्रिया तथा पूर्वी फारस के मुख्य नगर बल्ख में भगवान् बुद्ध के उपदेश व्याप्त हो चुके थे और वहाँ अनेक बौद्ध विहारों का निर्माण हो चुका था। बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण बल्ख में सूफी सन्तों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी। इसी प्रभाव का परिणाम था कि बल्ख का राजकुमार इब्राहिम-इब्न-आदम राजसिंहासन त्याग कर त्यागी सन्त बन गया था। वह वास्तव में अपने नितान्त धर्मनिष्ठ आचरणों के कारण 'द्वितीय बुद्ध' के रूप में प्रचलित हो चुका था।

सूफीमत पर निरन्तर तीस वर्षों तक खोज करने वाले विद्वान् रेनाल्ड ए० निकलसन का अभिमत है कि 'सूफियों ने माला का प्रयोग बौद्ध भिक्षुओं से ही सीखा। जहाँ तक आत्म-निर्वाण, यौगिक ध्यान, बुद्धि तथा मन के एकीकरण का सम्बन्ध है, बिना विस्तार में गये, यह बात दावे के साथ

कही जा सकती है कि सूफीमत बहुत-कुछ बौद्धधर्म का ऋणी है।' (इस्लाम के सूफी साधक, पृष्ठ-१३)।

निकलसन ने बौद्धधर्म के अतिरिक्त सूफीमत के सैद्धान्तिक पक्ष पर वेदान्त के प्रभाव को भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि 'मेरा विचार है कि सूफियो की 'फना', अर्थात् 'व्यक्तिगत अहम्' को विश्व की सत्ता मे लय कर देने की कल्पना का मूल स्रोत निश्चित ही भारतीय है।' 'फना' का प्रथम व्याख्याकार ईरानी रहस्यवादी बायजीद बुस्तानी था। उनका कथन है कि 'मैं परमात्मा मे परमात्मा मे गया, यहाँ तक कि वे मेरे भीतर से चिल्ला उठे तू ही मैं हूँ।' (वही पृष्ठ १३-१४)।

सूफीमत के अनुसार व्यक्तिगत 'अहम्' का पूर्ण रूप से लोप हो जाना ही 'फना' की अन्तिम स्थिति है, अर्थात् यह अनुभूति कि 'मैं शून्य मे मिल गया और विलीन हो गया।' सूफीमत अन्तत इस निष्कर्ष पर केन्द्रित हो जाता है कि जब व्यक्ति मे 'स्व' (अहम्) का लोप हो जाता है, तब विश्वात्मा की प्राप्ति होती है। फना की यह अन्तिम स्थिति 'बका' कहलाती है। 'बका' वस्तुत बौद्धधर्म की निर्वाण की स्थिति है, जिसमे अहम्-अनुभव-जन्य समस्त अहकारो (दुर्गुणो) का नाश होकर सद्गुणो का उदय हो जाता है। सद्गुणो के उदय की इस स्थिति को सूफीमत मे 'आह्लाद' या ईश्वरीय सौन्दर्य की दीप्ति कहा गया है।

वेदान्त दर्शन का यही विश्वात्मवाद है, जिसको सूफियो ने अविकल रूप मे ग्रहण किया है। सूफीमत मे व्यक्तिगत सत्ता (अहम्) का परमात्मा मे लय करके नि शेष हो जाने की भावना वेदान्त के अद्वैतवाद से प्रभावित है।

सूफीमत की रहस्यवादी भावना पर विचार करते हुए इन गैर-इस्लामी विचारधाराओ के तारतम्य को दृष्टि मे रखते हुए यह सर्वथा सगत जान पडता है कि बौद्धधर्म तथा वेदान्त के सिद्धान्तो का उस पर प्रभाव है। किन्तु साथ ही इसका आशय यह नही है कि 'कुरान' मे इस प्रकार के सन्दर्भों तथा विचारो का अभाव है, जिसमे रहस्यवाद का आधार नही है। 'कुरान' मे एकाधिक ऐसे सन्दर्भ है, जिसमे अल्लाह को पृथ्वी और स्वर्ग का प्रकाश माना गया है और एक ऐसी सर्वोपरि सत्ता को स्वीकार किया गया है, जो समस्त मानवात्मा मे कार्यरत है। इस विश्वात्मभाव को अभिव्यक्त करने वाली 'कुरान' की उस आयत (२।१८२) को उदाहरणस्वरूप उद्धृत किया जा सकता है, जिसमे कहा गया है—'यदि मेरे बन्दे मुझसे मेरे बारे मे पूछें, तो उनसे कहो कि मैं निकट ही हूँ।' इस प्रकार के अनेक सन्दर्भों को 'कुरान' मे देखा जा सकता है।

सूफीमत का स्वरूप

सूफीमत के सम्बन्ध मे अरबी तथा फारसी धर्म-ग्रन्थो मे अनेक प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं। अपने-अपने ढग से उनकी परिभाषाएँ भी दी गई हैं। किन्तु उनका अध्ययन करने पर यह कहना अधिक उपयुक्त जान पडता है कि सूफीमत की एक सर्वमान्य परिभाषा स्थिर नहीं की जा सकती है। उदाहरण के रूप मे निकल्सन ने जलालुद्दीन रूमी की एक 'मसनवी' अपनी पुस्तक (इस्लाम के सूफी साधक, पृ० २०) मे उद्धृत की है। इस मसनवी मे हाथी की एक कहानी कही गई है, जिसे कुछ हिन्दू एक अन्धेरे कमरे मे प्रदर्शित कर रहे थे। उसको देखने के लिए बहुत लोग आये। किन्तु अन्धेरा होने और पर्याप्त स्थान के अभाव मे वे उसे पूरे तौर पर नहीं देख सके। इसलिए हाथों से टटोल कर उन्होंने उसके बारे मे जानना चाहा। 'एक ने उसकी सूँड टटोली और कह दिया कि वह जानवर पानी के नल के समान था, दूसरे ने उसके कान टटोल कर यह मत व्यक्त किया कि वह पंखे के समान था, तीसरे ने उसके पैर टटोले और कहा कि निश्चित ही वह एक खम्भे के समान है, इसी प्रकार चौथे ने उसकी पीठ टटोल कर अपना यह निर्णय दिया कि वह एक बड़े सिंहासन जैसा है।'

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उस व्यापक विश्वात्मा के जिस रूप को भी जिसने ध्याया, उसी को अन्तिम मान लिया। इसीलिए इब्नुल अरबी ने लिखा है—'जो लोग परमात्मा की आराधना सूर्य के रूप मे करते हैं, उन्हे वह सूर्यस्वरूप दिखाई देता है। जो लोग उसकी आराधना जीवित वस्तुओ मे करते है, उन्हे वह जीवधारी वस्तुओ के रूप मे दिखाई देता है। जो लोग उसकी आराधना निर्जीव पदार्थों के रूप मे करते हैं, उन्हे वह निर्जीव पदार्थों के रूप में दिखाई देता है। इसी प्रकार जो लोग उसे विलक्षण और अद्वितीय सत्ता के रूप मे पूजते और भजते हैं, उन्हे वह उसी रूप में दिखाई देता है।'

यही स्थिति उन अनेक चिन्तको एव विचारको की भी है, जिन्होंने सूफीमत को एक निश्चित परिभाषा मे आबद्ध करने का प्रयास किया है। उक्त *मसनवी मे अभिव्यक्त भावनाओ की भाँति* वे विभिन्न परिभाषाएँ भी सूफीमत की अनेकानेक विशेषताओ को प्रकट करती हैं और जिज्ञासु को किसी-न-किसी रूप में उसके युगल पहलुओ का ज्ञान प्राप्त करने मे सहायता पहुँचाती है। वस्तुत देखा जाय तो सूफी साधको ने जिन अनेक मार्गों या तरीकों से उस अनन्त, असीम, नित्य, अविनाशी परमात्मा को खोजा, उनकी सख्या गणनातीत है और इसीलिए सूफी साधको का न तो कोई एक वर्ग है और न ऐसी

नियमबद्ध निश्चित प्रणाली है, जिससे कि उस अनन्त शक्ति विश्वात्मा को किसी एक लक्षण या परिभाषा मे अभिव्यक्त किया जा सके।

परम लक्ष्य को प्राप्ति के सात सोपान

उस परम अगोचर की खोज मे निकलने वाला सूफी साधक (सालिक) अपने पथ (तरीकत) पर धीरे-धीरे निरन्तर अग्रसर होते हुए अनेक सोपानो (मकामातो) को लाँघता हुआ तब तक आगे बढता जाता है, जब तक कि वह अपने एकान्तिक लक्ष्य परब्रह्म (हक) मे लीन नही हो जाता है। उसके उस लक्ष्य-पथ के सात सोपान (मकामात) या विश्राम-स्थल बताये गये हैं। उनके नाम हैं—१ पश्चात्ताप, २ सयम, ३ विराग, ४ दैन्य, ५ धैर्य, ६ खुदा मे विश्वास और ७ सन्तोष। लक्ष्य प्राप्ति के ये सात सोपान वस्तुत सूफीमत की योग-साधना के नैतिक अनुशासन हैं। इन नैतिक अनुशासनो की यौगिक प्रक्रियाओ द्वारा साधक की मानसिक दशाओ मे परिवर्तन होता रहता है और वह अपने लक्ष्य के निकट जाता हुआ स्वय को अनुभव करता है। इस प्रकार की मानसिक दशाओ की सख्या दस हैं, जिनमे क्रमश उसकी साधना का विकास होता जाता है। ये दस दशाएँ हैं—१. ध्यान, २ खुदा स सामीप्य, ३ प्रेम, ४. भय, ५ आशा, ६. औत्सुक्य, ७ मैत्री, ८. शान्ति, ९. चिन्तन और १०. निश्चयात्मकता। ये दस भावनाएँ प्रयत्नसाध्य नही हैं, अर्थात् उनको प्राप्त करने के लिए किसी साधनविशेष या कर्तव्यविशेष की आवश्यकता नही है। वे स्वत स्फूर्त एव सहज अनुभवगम्य हैं। "वे तो परमात्मा से मनुष्य के हृदय में स्वय ही अवतरित होती हैं और वह उन्हें न तो आने से रोक सकता है और न जाने से ही।"

उक्त सात विश्राम-स्थल सूफी साधक की उत्तरोत्तर उन्नत जीवन की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हैं, जिनको प्राप्त करने के लिए वह आगे बढता हुआ प्रकाश के निकट पहुँच जाता है और तब उसकी अनुभूति ठीक वैसी ही हो जाती है "जैसे कि परिश्रम स क्लान्त पथिक गहरी घाटी से निकल कर शिखर पर पहुँचते ही एकाएक सूर्य की झलक पाकर आँखें मूँद लेता है।"

सूफीमत की दो प्रमुख शाखाएँ

इस्लाम धर्म का सूफीमत उदारतावादी और सार्वभौम समानता का परिचायक है। उसकी दार्शनिक मान्यता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (अनलहक)। उपासना-आराधना-भक्ति द्वारा प्रभु में सर्वस्व समर्पित कर देना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानने वाले सूफी साधक दो प्रमुख शाखाओ मे विभाजित हैं—ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी। ये दोनो शाखाएँ साधना तथा भक्ति के दो मार्गों पर चलकर पल्लवित हुई।

प्रसिद्ध सूफी सन्त मंसूर ने ज्ञानमार्ग का और जलालुद्दीन रूमी ने प्रेममार्ग या भक्तिमार्ग का प्रवर्तन किया। प्रभु के चिन्तन-मनन में तल्लीन सन्त मंसूर को खलीफा का कोपभाजन बनना पड़ा था। वे 'अनल्हक' की रट लगाये इधर-उधर भटकते फिरते रहे और खलीफा के आदेश से जब उन्हें अमानुषिक यन्त्रणाएँ दी जाती रहीं, तब भी वे इसी शब्द का उच्चारण करते हुए समस्त शारीरिक यन्त्रणाओं पर विजय प्राप्त करते हुए ध्यानमग्न बने रहे। अन्त में उन्हें फाँसी दी गई। उनका चरित्र ठीक वैसा ही था, जैसा कि प्रभु ईसा मसीह का।

सन्त जलालुद्दीन रूमी प्रेममार्गी परम्परा के महान् शायर थे। उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को वरण किया और आज भी उनकी मसनवियाँ समस्त काव्य-रसिकों तथा भक्तों में लोकप्रिय हैं। प्रसिद्ध शायर शेखसादी इसी भक्तिमार्ग के अनुयायी थे।

सूफीमत की ये दोनों शाखाएँ समान रूप से आगे बढ़ीं। बल्कि ज्ञानमार्गी शाखा की अपेक्षा भक्तिमार्गी या प्रेममार्गी शाखा का अधिक विस्तार एवं लोकसम्मान हुआ। उसका कारण यह था कि ज्ञानमार्ग सबके लिए सहज नहीं था। उसके लिए कठोर त्याग-तप, आत्मसंयम और साधना की अपेक्षा थी, जो कि सर्व-सामान्य के लिए संभव नहीं था। अद्वैत परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए ऊसर ज्ञानभूमि को अपनाना विरले साधकों का ही काम था। किन्तु प्रेममार्ग का आश्रय लेकर सर्व-सामान्य के लिए अपनी भक्ति द्वारा प्रभु को प्राप्त करना सहज था। यही कारण है कि सूफीमत के साहित्य में जितने ग्रन्थ लिखे गये, वे प्रेममार्गी शाखा से ही संबद्ध हैं।

सूफियों की ज्ञानमार्गी शाखा की तुलना अद्वैतवेदान्त से की जा सकती है, जब कि प्रेममार्गी शाखा का समन्वय भक्ति द्वारा भगवान् को प्राप्त करने वाली द्वैतपरक वैष्णव शाखाओं से किया जा सकता है। यद्यपि प्रेममार्गी सूफी-साधकों तथा वैष्णव भक्तों की साधना-पद्धति में अन्तर है, तथापि जहाँ तक भावात्मक उद्रेक का सम्बन्ध है, दोनों में पर्याप्त तारतम्य है।

सूफीमत में प्रतीकों का महत्त्व

विश्व के सभी धर्म-दर्शनों में सर्वत्र ही प्रतीकों का आश्रय लिया गया है। न केवल धर्म-दर्शन के क्षेत्र में, अपितु साहित्य की काव्य-नाटक-कथा आदि विधाओं में भी उन्हें अधिक गूढ़ एवं चामत्कारिक बनाने के उद्देश्य से प्रतीकों का बहुविध उपयोग किया गया है। किन्तु सूफीमत में उनकी अधिकता देखने को मिलती है। वास्तव में प्रतीक सूफी-साहित्य की आत्मा है। उनके रहस्यों

को जाने बिना सूफी सन्तों के अन्तर्भावों को हृदयगम करना नितान्त असभव है। कुछ आलोचकों ने सूफी रहस्यवाद को 'कामुकों का विलास' कहते हुए यह आरोपित किया है कि अपने को रहस्यवादी कहने वाले सूफी वास्तव में पाखण्डी तथा ढोंगी है और उनका रहस्यवाद विषय वासनाओं तथा भोग विलासों से बढकर कुछ नहीं है (फाजिर स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टिसिज्म, पृ० २३२ आदि)। यह धारणा वस्तुत सूफी-प्रतीक-भावना के प्रति न्याय नहीं है, अपितु सार्वभौम धर्म की आध्यात्मिक निष्ठा के प्रति भी अवमानना का परिचायक है।

सूफी रहस्यवादी सन्तों की प्रेम-पद्धति का अपना दर्शन है। उन्होंने अपने साहित्यिक उद्‌गारों में प्रियतम (परमात्मा) के प्रति प्रेयसी (आत्मा) के *मिलन की उत्कट एकता को प्रतीकात्मक संकेतों द्वारा अभिव्यक्त किया है।* सूफियों का और वास्तव में समस्त धर्मप्राण समाज का यह परम्परागत विश्वास रहा है कि भगवान् भाव में बसते हैं। उन्हीं भावों की अभिव्यक्ति के आधार ही 'प्रतीक' हैं। उनके द्वारा ही हम भगवान् को जान और प्राप्त कर सकते हैं।

सूफी रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के प्रति ठीक वैसी ही प्रेम-भावना व्यक्त की गई है, जैसे सासारिक प्रेमिका तथा प्रेमी की होती है। घोर लौकिक प्रेम में यह समानता प्राय इतनी निकटतम होती है कि जब तक रहस्यवादी कवि के अन्तर्भाव का ज्ञान न हो, तब तक उसका असन्दिग्ध अर्थ-ग्रहण सभव नहीं है। इस सन्दिग्धता के निराकरण के लिए प्रयुक्त प्रतीकों का ज्ञान आवश्यक है।

सूफियों की रहस्यवादी कविताओं (मसनवियों) को समझने के लिए उनकी प्रतीकात्मक शैली की विशिष्ट विधाओं का ज्ञान आवश्यक है। अन्यथा *अर्थ के अनर्थ हो जाने की पूरी सभावना होती है।* यद्यपि इस प्रकार की प्रेम भावपूर्ण प्रतीकात्मक रचनाएँ अन्य भाषाओं के साहित्य में भी पर्याप्त रूप *में मिलती हैं, किन्तु उनकी पराकाष्ठा इस्लामी रहस्यवादी सूफियों की रचनाओं* में ही देखी जा सकती है। सूफियों की प्रेम भावना का यह आधार निश्चित ही 'कुरान' की कतिपय गाथाएँ हैं। उदाहरण के लिए *एक पवित्र गाथा में* कहा गया है—' मेरा सेवक मेरे निकट पहुँचता है और मैं उसे प्रेम करता हूँ। तब मैं ही उसके कान, आँख, जिह्वा तथा हाथ होता हूँ, ताकि वह मेरे ही द्वारा सुने, देखे, बोले और ग्रहण करे।" इस दृष्टि से एक रहस्यवादी दैवी-चिन्तन के आनन्दातिरेक में अपने जागतिक 'अहं' को सर्वथा भुला देता है।" इसलिए लौकिक प्रेम के इस सारूप्यता के विभेद को जानने के लिए उसके

प्रतीकात्मक एव सकेतात्मक सुगोपित एव गूढ सूत्रो का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है।

प्रतीको का अस्तित्व एव महत्त्व सनातन है। वे प्रकृति के साथ हृदय के तादात्म्य के परिचायक है। प्रकृति के नाना रूपो के साथ मनुष्य हृदय के जो रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करत हैं, वे ही प्रतीक हैं। उनमे सकल्प-विकल्प, राग विराग एव सुख दुख आदि का हृदय मे साधारणीकरण होता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पचभूतो की एकात्मकता के उदाहरण मनुष्य के मन, बुद्धि, प्राण, हृदय और आत्मा आदि हैं। तात्त्विक समन्वय की दृष्टि से ये एक या अभिन्न हैं। विश्व के सभी युगो के साहित्य मे प्रतीको का समावेश अनायास ही होता आया है। यदि हम प्रतीको का प्रयोग न करे तो हमारा दिव्य दर्शन किसी के भी हृदय मे नही उतर सकता और वह सचमुच औरो के लिए एक ऐसी पहेली बन जाता है, जिसका सामान्य बुद्धि, विवेक और विश्वास से कुछ भी सम्बन्ध नही रह जाता है। (पाण्डेय तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० १००)।

सूफी रतिभाव के आराधक हैं। रति का उद्दीपन सुरा है और आलम्बन माशूक। माशूक का हुस्न ही अल्लाह का प्रतीक है। जब कभी हम किसी हसीन का दर्शन करते है, तब स्वत ही उसकी ओर आकर्षित होते है। यह लौकिक आकर्षण जब अलौकिक भाव भूमि से सम्बन्धित हो जाता है, तब प्रतीकात्मक रूप धारण कर लेता है। किन्तु हसीन के आकर्षण के प्रति दर्शन की वह मूल भावना होनी आवश्यक है कि वह उसके प्रेम का आलम्बन नही बल्कि वाहक है।

परमात्मा ही सूफियो के एकमात्र प्रियतम हैं, जो कि सौन्दर्य, माधुर्य, अनुराग तथा प्रेम का अनन्त आगार है। परमात्मा आलम्बन है और जीवात्मा आश्रय। सूफियो की रहस्यवादी दृष्टि से परमात्मा (आलम्बन) ही जीवात्मा (आश्रय) बन जाता है, अर्थात् परमात्मा का प्रेम जीवात्मा से स्वत ही हो जाता है, अन्यथा जीवात्मा परमात्मा के प्रति आकर्षित एव लालायित नही होता।

सुरा अमृत का प्रतीक है। लौकिक दृष्टि से उसका पान करने वाला, चाहे क्षण भर के लिए ही क्यो नही, स्वय को भव-बन्धन से मुक्त हुआ अनुभव करता है और एक अपार्थिव स्वर्गिक आनन्द एव उल्लास का अनुभव करता है। किन्तु सूफियो का साकी उस मदिरा का पान करता है, जिसमे क्षणिक नही, अपितु शाश्वत आनन्द निहित है। इस्लाम के पुरोहितो तथा काजियो के उकसाने पर कट्टर पुराणपन्थी शासको ने सन्त मसूर जैसे धर्म-

प्राण अनेक सूफियों को प्राणदण्ड तक दे दिया, किन्तु प्रेम तथा साकी से उनका हृदय इतना उल्लसित था कि 'अनहलक' करते हुए उन्होंने फाँसी को भी खुशी-खुशी वरण कर लिया।

सूफियों ने अनेक प्रकार के प्रतीकों की कल्पना की है। समस्त नख-शिख अंगों के अतिरिक्त बुलबुल, तोता, मीन, तथा बाँसुरी आदि को भी प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है। अन्योक्ति (अप्रस्तुत में प्रस्तुत की योजना) द्वारा सूफी अपने प्रियतम का साक्षात्कार करते हैं और उसके परम प्रेम में निमग्न होकर सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। इस दृष्टि से काव्यों, महाकाव्यों (प्रबन्धों) की लम्बी कथाएँ और मसनवियों के कल्पित आख्यान सामासिक प्रतीकात्मक शैली में पिरोकर प्रस्तुत किया गया है। इन कथाओं तथा आख्यानों की द्विरर्थकता में सार्थक पक्ष का ग्रहण प्रतीकों के ही माध्यम से किया जाता है।

आचार-संहिता

विश्व में सभी धर्मों में ईश्वर-प्राप्ति के लिए शुद्धाचरण का निर्देश किया गया है। वहाँ कहा गया है कि बाह्याभ्यन्तर की निर्मलता एवं पवित्रता के बिना धर्म ग्रन्थों के दिव्य ईश्वरीय सन्देश हृदयगम नहीं हो सकते हैं। अतः सभी धर्मों की भाँति इस्लाम धर्म में भी आचार-संहिता की व्यवस्था की गई है। इस आचार संहिता के प्रमुख चार अंग हैं—सोम रोजा (रमजान मास का उपवास), सलात (नमाज), हज्ज (मक्का-मदीना की यात्रा) और जकात (दान देना)। इन चारों अंगों का निष्कर्ष इस प्रकार हैं।

१ सोम—पवित्र ग्रन्थ 'कुरान' में सोम के महत्त्व पर विस्तार से विचार किया गया है। कहा गया है कि प्रत्येक इस्लाम धर्म के अनुयायी को अनिवार्य रूप से रमजान मास में रोजा (उपवास) रखना चाहिए। उपवास से जीवन में संयम, आत्मप्रकाश और दिव्यानुभूति का उदय होता है। इसीलिए 'कुरान' (२।२३।१।३) में कहा गया है कि—'हे अनुयायी-जनों, पूर्वजों के समान तुम्हारे लिए भी उपवास करने का विधान किया गया है, जिससे तुम संयमी बन सको। इस पवित्र मास में यदि तुम बीमारी से ग्रसित हो, अथवा यात्रा की अवस्था में हो, किसी गरीब को भोजन कराकर अपने उपवास की पूर्ति कर सकते हो।' उपवास के लिए रमजान मास इसलिए पवित्र माना गया है, क्योंकि इसी मास में महान् 'कुरान' पृथ्वी पर अवतरित हुआ था।

२ सलात— कुरान' में (३।३०।३४) में निर्देश किया गया है कि— 'हे अनुयायियो, सलात (नमाज) पढ़ने समय नम्रतापूर्वक परमेश्वर के लिए खड़े हो जाओ। जब तक तुम नशे में, पाप में या अपवित्र अवस्था में रहो स्नान किये बिना नमाज में न जाओ। यदि तुम बीमारी अथवा यात्रा की स्थिति में, मलोत्सर्ग तथा स्त्री-स्पर्श से अपवित्र हो और स्नान के लिए तुम्हें जल उपलब्ध न हो, तो उस स्थिति में तुम मिट्टी को हाथ मुँह में फेर कर पवित्र हो सकते हो।'

इस प्रकार नमाज पढ़ने के लिए स्वच्छ एवं पवित्र होकर जाने का विधान है। काबा के काबातुल्ला मन्दिर की ओर मुँह करके नमाज अदा करने का विधान है। नमाज भी दो प्रकार की कही गई है—फर्द (आवश्यक) और सुन्नत (सामूहिक)। एकाकी ही नमाज पढ़ने की विधि को फर्द और इमाम (नमाज का प्रमुख) के पीछे खड़े होकर सामूहिक रूप में नमाज पढ़ने की विधि को सुन्नत कहा गया है। यद्यपि 'कुरान' में कहीं भी यह निर्देश नहीं है कि नमाज कितनी बार अदा की जाये, तथापि सम्प्रति पाँच बार नमाज पढ़ने का प्रचलन है—प्रात, एक बजे, चार बजे सन्ध्या समय और रात्रिकाल में। शुक्रवार (जुमा) को दो बार नमाज पढ़ने का और शेष तीन बार इमाम का उपदेश ग्रहण करने का नियम है। नमाज पढ़ते समय काबा की ओर मुँह करके मुअज्जिन ऊँचे एवं लम्बे स्वर में कहता है— 'परमेश्वर अति महान् है। मैं साक्षी देता हूँ कि परमेश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा पूज्य नहीं है। मैं साक्षी देता हूँ कि मुहम्मद ईश्वर का दूत है। मैं कहता हूँ कि अल्लाह के अतिरिक्त दूसरा पूज्य या ईश्वर नहीं है।''

इस्लामी समाज में सामूहिक नमाज का बड़ा महत्त्व माना गया है, क्योंकि उसमें किसी भी प्रकार का देश भेद जाति भेद अमीरी-गरीबी तथा ऊँच-नीच का कोई भेद भाव नहीं माना जाता है। सभी मुसलमान एक पंक्ति में खड़े होकर ईश्वर के प्रति समान संकल्प को लेकर स्वयं को प्रस्तुत करते हैं। नमाज की इस एकता, समानता और निष्ठा ने मुस्लिम समाज में संगठन शक्ति को स्थापित किया और राष्ट्रीयता की भावना का बीजारोपण किया।

३ *हज्ज*—इस्लाम की आचार-संहिता का तीसरा अंग हज्ज (तीर्थयात्रा) है। अरब देश के मक्का नगर में काबा का पुनीततम देवालय है। उसका अस्तित्व मुहम्मद साहब से भी पहले का है। कहा जाता है कि धर्म प्रचार के समय मूर्तिपूजा के विरोध में मुहम्मद साहिब ने काबा मन्दिर में स्थापित ३६० मूर्तियों को तोड़ डाला था और उस मन्दिर के मुख्य अधिष्ठाता देवता काले पत्थर को भी खण्डित कर डाला था। काबा आज भी मुस्लिम समाज का

परम्परागत सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है और श्रद्धालु भक्त या तीर्थयात्री (हाजी) उसका भाव बार चुम्बन (बोसा) लेते हैं और उसके लिए नतमस्तक होते हैं।

४ दान—हिन्दू धर्म सहिता मे दान को जो महत्त्व दिया गया है, मुसलमानो की धर्म सहिता 'कुरान' (३।१०।१) मे उसको उतनी ही श्रेष्ठता से अपनाया गया है। दान के महत्त्व को सर्वोपरि मान कर वहाँ कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि अपने सचय का कुछ अश वह गरीबों-यतीमो फकीरो को अवश्य दे, और दान भी ऐसा दे कि एक हाथ का पता दूसरे हाथ को न चले। जो धर्मप्राण व्यक्ति उपवास, दान और प्रतिज्ञा को पूरा करते है, वे ही वास्तविक सयमी (खुदा के प्रिय) हैं।

इस्लाम धर्म का न्यायशास्त्र

विश्व के सभी धर्मों मे न्याय विषयक नीति नियमो की अपनी अपनी परम्पराओ एव मान्यताओ के अनुसार व्यवस्था की गई है। इस्लाम धर्म मे भी उसकी व्यवस्था है। इस सम्बन्ध मे सभी इस्लाम धर्मानुयायी एकमत है कि 'कुरान' एव पैगम्बर की अधिकृत वाणी (हदीस) ही उनके न्यायशास्त्र के आधार हैं। सर्वप्रथम अब्बासी खलीफाओ के शासनकाल (७५०–८४२ ई०) मे जो नियम निर्धारित हुए थे, कालान्तर मे उन्ही का इमाम बुरहानुद्दीन (१२वी शती) ने स्वीकार कर लिया। किन्तु उनमे कुछ नियम ऐसे भी थे, जिन पर मतैक्य नही था। अत जिन नियमो पर कोई मतभेद नही था उन्हे लिपिबद्ध किया गया और प्राय समस्त इस्लामी समाज ने उनको उसी रूप मे स्वीकार कर लिया। जो नियम अलिखित थे, उनके औचित्य-अनौचित्य का निर्णय काजी (न्यायाधीश) पर निर्भर किया गया।

इस्लाम के विधिशास्त्र (शरीयत) को तीन प्रमुख वर्गों मे विभाजित किया गया है। कुछ नियम प्रार्थना या अभ्यर्थना (इबादत) से सम्बन्धित, कुछ अलौकिक (मुआमिलात) विषयो से सम्बद्ध और कुछ नियम दण्ड (उकूबात) से सम्बन्धित है। इन नियमो के अन्तर्गत अपनी व्यवस्था देने का एकाधिकार काजी को दिया गया। जो निर्णय किसी काजी ने दिया, उसकी मान्यता सार्वदेशिक होती थी। जहाँ पर गैर मुस्लिम शासक थे, उनकी मुस्लिम प्रजा के निर्णयो के लिए भी वे ही नियम चरितार्थ होते थे।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर मे इस्लाम विधिशास्त्र की यह पद्धति अविकसित एव व्यक्तिविशेष (काजी) पर निर्भर होने के कारण सफल न हो सकी और वह अपनी सीमाओ मे ही सिमट कर रह गई। उत्तराधिकार और विवाह आदि की नियमावली अभी तक अनिर्णितावस्था मे है। मध्ययुगीन इस्लाम शासको ने, विशेष रूप से मुगलकालीन भारत मे

मुसलमान प्रजा के विवादों को निर्णीत करने के लिए जो विधि-विधान बनाये गये, उनमें यद्यपि 'कुरान' की सर्वथा अपेक्षा की गई, किन्तु उनमें पुरातन रूढियों को नहीं अपनाया गया।

सामान्य धार्मिक नियम

इस्लाम धर्म में धार्मिक नियमों के प्रतिपालन के पाँच स्तम्भ (अरकान) माने जाते हैं—१ ईश्वर में विश्वास, २ नियमित रूप से पाँच वक्त की नमाज, ३ जीवन में एक बार मक्का की यात्रा, ४ रोजा तथा ५ जकात (आय का ढाई प्रतिशत दान)।

व्यवहार-संहिता

इस्लाम धर्म की अपनी व्यवहार-संहिता है। जिसमें उदात्त ध्येय तथा उच्च आचरण निहित हैं। इस्लाम-धर्मानुयायियों में सिद्धान्तों तथा मत पन्थों की भिन्नता भले ही हो, किन्तु जहाँ तक परम्परागत व्यवहारों के परिपालन का सम्बन्ध है, समस्त समाज में एकात्मकता देखने को मिलती है। उनके धर्म-ग्रन्थों में विशेष रूप से 'कुरान' में, जिन व्यवहारों के पालन का निर्देश किया गया है, उनको मानने में समस्त मुस्लिम समुदाय एकमत है।

अनिवार्य कर्तव्य

विश्व के सभी धर्मों में निन्दित कर्मों का परित्याग और सत्कर्मों के उपार्जन पर बल दिया गया है। इस्लाम धर्म के कुछ अनिवार्य कर्तव्य हैं, जिनके नाम हैं—न्यायपरायणता क्षमा, सन्तोष, शान्ति, रोजे रखना और दिन में पाँच बार नमाज पढ़ना आदि (कुरान ५२।४।१२-१४)। इस्लाम में दान तथा उदारता के व्यवहार को बड़ा महत्त्व दिया गया है। भिक्षुओं, फकीरों, अपाहिजों और गरीबों को दान देना गृहस्थों का सर्वोच्च कर्तव्य माना गया है। दान इस तरह दिया जाय कि दान करते हुए दाहिने हाथ को बाँया हाथ न देख सके। अर्थात् जो दिया जाय, उसकी गोपनीयता बनी रहे और उसकी चर्चा न हो। यहाँ तक निर्देश किया गया है कि प्रत्येक मुसलमान को अपनी दैनिक आय में से ढाई प्रतिशत दान कर देना चाहिए। सबके साथ उदारता का व्यवहार करना चाहिए।

दुःख सुख के आचरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि दूसरे के दुःख को अपना दुःख और दूसरे के सुख को अपना सुख समझकर व्यवहार करना चाहिए। अन्याय से दूर रहकर सदा न्याय का परिपालन करना चाहिए। एकान्त में बैठकर मन में यह विश्वास स्थिर करना चाहिए कि ईश्वर ही एकमात्र ऐसा दयावान् पिता है, जिसकी शरण में जाने से ही जीवन का

कल्याण हो सकता है। अभिमानी व्यक्ति को ईश्वर प्यार नही करता। 'जो ईश्वर के बन्दो को प्यार करता है, ईश्वर उसको प्यार करता है।'

इस्लाम धर्म के मानने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इन कर्तव्यो का अनिवार्य रूप से पालन करना चाहिए।

निन्दित कर्तव्य

अन्यान्य धर्मों की भाँति इस्लाम धर्म मे भी व्यक्ति तथा समाज के लिए जो अहितकारी कर्तव्य हैं, उन्हें निन्दित कहा गया है और उनसे दूर रहने का निर्देश किया गया है। हितकारी अनिवार्य कर्तव्यों को अपनाने और निन्दित कर्तव्यों से स्वय को असपृक्त रखने वाला व्यक्ति ही वास्तविक रूप मे धार्मिक है और धर्म के प्रति सही रूप मे उत्तरदायी तथा निष्ठावान् है।

इस प्रकार के वर्जनीय निन्दित कर्म हैं—सूद लेना, कृपणता का व्यवहार करना, अन्याय मे तत्पर बने रहना, धन का अपव्यय करना, मादक द्रव्यों का सेवन करना, व्यभिचार मे लिप्त रहना, हिंसा का व्यवहार करना और जुआ खेलना आदि। इस्लाम धर्म में इन्हे महापाप कहा गया है और धर्म-निष्ठ व्यक्ति को उनसे अलग रहने का निर्देश किया गया है।

ऊपर जिन सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों का निर्देश किया गया है, प्राय सभी धर्मानुयायियो के लिए उनका समान रूप से व्यवहार करना चाहिए। इन कर्मों के सम्पादन से जीवन की नैतिकता का विकास होता है और ऐसा नैतिक व्यक्ति कल्याण के मार्ग मे अग्रसर होता हुआ अपना भौतिक तथा आध्यात्मिक—दोनो प्रकार का उत्थान करता है।

स्वर्ग अपवर्ग

इस्लाम धर्म की यह सामान्य मान्यता रही है कि मुहम्मद साहिब खुदा के पैगम्बर (सन्देशवाहक) है। प्रत्येक धर्मानुयायी के लिए 'कुरान' मे जो नीति-निर्देश हैं वे सबको मान्य हैं। अन्य धर्म दर्शनो की भाँति इस्लाम का भी स्वर्ग-अपवर्ग के सम्बन्ध मे अपना स्वतत्र धर्म विधान है। वहाँ दक्षिण दिशा मे स्वर्ग और उत्तर दिशा मे अपवर्ग माना गया है। इन दोनो दिशाओं के ठीक मध्य म एक दीवार है, जिसे 'एराफ' कहा गया है। जिस मृतात्मा मे स्वर्ग को प्राप्त करने की योग्यता और अपवर्ग से बचे रहने की मध्यमार्गीय स्थिति होती है, वह खुदा की इच्छा तक इसी दीवार पर निवास करता है।

हिन्दू धर्म-सहिता मे स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति अच्छे-बुरे कर्मों पर निर्भर है, किन्तु 'कुरान' (३।१५।२, ७।२२।७) के अनुसार जीव को कर्म करने की स्वतत्रता प्राप्त नही है क्योकि कर्म तो ईश्वर के अधीन है। जीव भी ईश्वर

के अधीन है और उसी की प्रेरणा-इच्छा से अच्छे-बुरे कर्मों को सम्पादित करता हुआ मनुष्य स्वर्ग-अपवर्ग के सुख-दु खो का भागी बनता है।

'कुरान' मे स्वर्ग-अपवर्ग की विस्तृत व्याख्या की गई है। वहाँ (३७।२। २०-२६) कहा गया है कि स्वर्ग (बहिश्त) अनन्त सुखो एवं ऐश्वर्य-सम्पदाओ का आगार है, जहाँ सुन्दर लडके नफीस शराब के प्यालो को लिये घूमते रहते है और आस-पास नीची दृष्टि किये हुये विशालाक्षी स्त्रियां निवास करती हैं। वहाँ जल, दूध और शराब की सदाशय नहरें बह रही हैं, जिनका स्वाद सदा एकरस बना रहता है। वहाँ सर्वत्र एव सतत आनन्द-ही-आनन्द का साम्राज्य है।

स्वर्ग के विपरीत अपवर्ग है। वहाँ अपार दु ख, भयंकर विपत्तियाँ और निरतिशय यातनाओं का साम्राज्य है। वहाँ अनिष्टो और व्याधियो की भरमार है। जिन्हें 'कुरान' पर विश्वास नही है, ईश्वर के प्रति निष्ठा नही है और जो कर्माकर्मों के प्रति उदासीन हैं, उन्हे अग्नि की धधकती ज्वाला मे झोक दिया जाता है (२।३।४,४।८।६), और उन्हें घाव को धोये हुए जल की घूंट पिलाई जाती है, जिसको निगलना कठिन होता है। मृत्यु उसके आस-पास मडराती हुई लौट जाती है (११४।३।४–५)। उन निकृष्ट जीवो का वहाँ अपना कोई सगा-सम्बन्धी नहीं होता है।

'कुरान' मे वर्णित स्वर्ग और अपवर्ग सम्बन्धी सन्दर्भों का अनुशीलन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस्लाम के प्रत्येक अनुयायी को ईश्वर (खुदा) मे विश्वास करना चाहिए। पैगम्बर के निर्देशो को ईश्वरीय वाणी समझ कर उनका पालन करना चाहिए और पापो, कुकर्मों एव बुराइयो आदि निन्दित कर्मों से सर्वथा विरत रहना चाहिए।

सृष्टि-रचना

सृष्टि-रचना के सम्बन्ध मे इस्लाम का अपना सिद्धान्त है। इस्लाम धर्म मे खुदा को सर्वव्यापक-सत्ता-सम्पन्न माना गया है। वह निरजन, निराकार, अद्वैत और अनादि है। वह अवतारी नही है। उस एकाकी खुदा से सर्व-प्रथम आत्मा का आविर्भाव हुआ। उससे क्रमश अन्त करण, काया और चराचर की सृष्टि हुई। सृष्टि का स्रष्टा खुदा सर्वत्र व्याप्त है। वही एकमात्र पिता है और उसी की कृपा पर समस्त चराचर का उत्थान-पतन निर्भर है। उसकी प्रसन्नता के लिए मनुष्य को पवित्रता, शुद्धता, सत्य और नेकी का व्यवहार करना चाहिए।

पुनर्जन्म

पुनर्जन्म के सम्बन्ध में विभिन्न धर्म-शाखाओं में अपनी-अपनी अलग मान्यताएँ हैं। जहाँ हिन्दू धर्म में पुनर्जन्म के अस्तित्व को स्वीकार किया है, वहाँ इस्लाम धर्म में पुनर्जन्म को नहीं माना गया है। 'कुरान' के अनुसार इस दृश्यमान जगत् में जितने भी जीव हैं, उनका यह जन्म प्रथम भी है और अन्तिम भी। जीव के जितने भी कर्मभोग हैं, उनका फलाफल इसी जन्म में प्राप्त हो जाता है। जन्मान्तर के प्रति 'कुरान' की इस अनास्था के बावजूद उसमें (२।२८, २।२४३, २।२५९, ३।२६ आदि) ऐसे भी अनेक सन्दर्भ हैं, जिनसे पुनर्जन्म के अस्तित्व का आभास होता है। उदाहरण के लिए एक अन्य स्थान (५।९।४) पर कहा गया है कि 'जिन पर परमेश्वर कुपित होता है, उन्हें सूअर तथा वानर बना दिया जाता है। जन्म और मृत्यु—दोनों परमेश्वर के अधीन हैं। उसने जो लिख दिया, वह अकाट्य, अमिट है' (३।१५।२)।

जन्मान्तर का अस्तित्व स्वीकार न होने के कारण इस्लाम धर्म में कर्मों के सचय की आवश्यकता नहीं समझी गई है। वहाँ यह माना गया है कि दृश्यमान जगत् में देहधारियों में जो असमानता पाई जाती है, और उसके भागों में जो भिन्नता दृष्टिगत होती है, उसका एकमात्र कारण ईश्वरेच्छा है। ईश्वर की इच्छा से जीवों को विभिन्न शरीर प्राप्त हुए और उनके चाहने पर ही व्यक्ति-व्यक्ति के लिए सुख दुःख की व्यवस्था की गई है। इस जन्म में अपने कर्माकर्मों के लिए मनुष्य ईश्वर इच्छा पर निर्भर है। कयामत (निर्वाण) के दिन जीव को उनके कर्माकर्मों के परिणाम सुनाये जायेंगे। उनके द्वारा सम्पादित कर्माकर्मों के आधार पर उनके लिए स्वर्ग-नरक का विधान किया जायगा।

कयामत मनुष्य की ऐसी अन्तिमावस्था है, जिसका तारतम्य बौद्धधर्म के 'निर्वाण' से बैठता है। इस अवस्था में प्रत्येक जीव नितान्त एकाकी होता है। उसके साथ कोई सहायक, साथी अथवा मित्र नहीं होता। जैसे वह नितान्त एकाकी आया, वैसे ही कयामत के दिन भी वह नितान्त एकाकी होगा (४४।२।१४,२५।३।४ आदि)। कयामत की इस स्थिति में किसी की भी कोई फरियाद नहीं सुनी जायगी (२।६।१२) और अपने फलोपभोग के लिए वह एकाकी उत्तरदायी होगा। इस प्रकार इस्लाम धर्म में कयामत ही मनुष्य की अन्तिम स्थिति है।

फरिश्ते और शैतान

ससार के प्रायः सभी धर्मों में पाप तथा पुण्य की कल्पना की गई है, और यह निर्देश किया गया है कि प्रत्येक जीव को आत्मोन्नति के लिए पुण्या-

र्जन करना चाहिए। इस पाप और पुण्य के प्रतिनिधि क्रमशः फरिश्ते और शैतान हैं। पुण्य मनुष्य के सद्विचारों तथा पाप दुष्कर्मों, दुर्विचारों, दुराचरणों का प्रतीक है। दोनों की शक्ति और सीमाएँ समान हैं। दोनों एक-दूसरे को पराजित करने पर उसी प्रकार सन्नद्ध रहते हैं, जैसे मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियाँ पारस्परिक विरोध करने पर तत्पर रहती हैं।

इस्लाम धर्म में फरिश्तों (पुण्यात्माओं) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे वहाँ देवताओं तथा देवदूतों की भाँति वरेण्य हैं। उन्हें जीवों का रक्षक-पालक, उनके शुभाशुभ कर्मों के ज्ञाता तथा उन कर्मों को लिपिबद्ध करने वाले हैं, जो कि कयामत के दिन टटोले जाते हैं। फरिश्ते ईश्वर के सन्देश-वाहक या दूत भी हैं, जो ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता के अधिष्ठान और उनके उत्तमोत्तम उपदेशों को सुनाने वाले हैं (४१।४।५)।

फरिश्तों के ठीक विपरीत शैतान (पापात्मा) है। 'कुरान' (१६।१३। १९) में कुछ ऐसे प्राणियों का उल्लेख हुआ है, जो फरिश्तों के ही समान सर्वव्यापी हैं। किन्तु फरिश्तों के विपरीत मनुष्यों को पापाचारों की ओर प्रवृत्त करने में लगे रहते हैं। उनके मुखिया या प्रधान को 'कुरान' में 'इब्लिस' कहा गया है, जिसका सृजन परमेश्वर ने ही किया। किन्तु जिसे ईश्वर ने उसकी दुष्प्रवृत्तियों के कारण स्वर्ग से पदच्युत कर दिया। उसके अनुचर शैतान मनुष्यों के लिए इतना भयप्रद है कि उसके प्रहारों से बचने के लिए ईश्वर की शरणागति में जाने को कहा गया है।

पर्वोत्सव

इस्लाम धर्म के अपने पर्वोत्सव हैं, जो कि प्रायः चान्द्रमास पर आधारित होते हैं। इन पर्वोत्सवों में से कुछ का यद्यपि 'कुरान' में उल्लेख नहीं है, तथापि समस्त इस्लाम जगत् में उन्हें परम्परा से मान्यता प्राप्त है। मुख्य पर्वोत्सव केवल तीन हैं—ईद इ जुहा, रमजान या ईद-उल-फितर और जुमा या शुक्रवार।

ईद-इ-जुहा—इसका दूसरा नाम 'बकर-ईद' भी है। मिश्र तथा तुर्की में इसे 'बैरम' और ईरान में 'ईद-ए-कुरबान' कहते हैं। यह पर्वोत्सव हजरत मुहम्मद से भी प्राचीन है। नबी के निर्देशानुसार मक्का के तीर्थयात्री मीना की घाटी में एकत्र होकर बकरी, भेड़ और ऊँट आदि पवित्र पशुओं की बलि (कुरबानी) चढ़ाते थे, जिसका प्रचलन आज भी कुछ मुस्लिम देशों में है। इस पर्व पर मुस्लिम समाज स्नानोपरान्त स्वच्छ वस्त्र धारण कर ईदगाह में ईद की नमाज पढ़ते हैं।

रमजान या ईद-उल-फितर—मुस्लिम समाज मे इस पर्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस्लाम धर्म के उदय-काल से ही इसका प्रचलन है। रमजान के *एक मास के दीर्घकालीन एवं कठिनतर साधना के उपरान्त यह पर्व पडता* है। इस पुण्यतिथि को समस्त मुस्लिम जगत् स्वच्छ शरीर एवं पवित्र अन्तःकरण से ईदगाह मे जाकर ईद-उल-फितर की नमाज अदा करते हैं।

जुमा या शुक्रवार—शुक्रवार को इस्लाम धर्मानुयायियो मे परम पवित्र दिन माना जाता है। इसलिए प्रत्येक शुक्रवार को मुसलमान मात्र पवित्र *'कुरान' के निर्देशानुसार मस्जिद मे जाकर सामूहिक नमाज पढते हैं। 'कुरान'* मे जुमा की नमाज का बडा महत्त्व बताया गया है।

उक्त पर्वों के अतिरिक्त इस्लाम के विभिन्न सन्तो तथा सम्प्रदाय प्रवर्तक महापुरुषो द्वारा भी अनेक पर्व प्रचलित किये गये। इस प्रकार के पर्वों मे 'मौल्द' का नाम उल्लेखनीय है। यह पर्व 'रबी-उल-ओवल' के १२वें दिन पडता है और कभी-कभी अन्य तिथियो मे भी मनाया जाता है। इसी प्रकार सूफी सन्त अब्दुल कादिर जीलानी के जन्म दिन के उपलक्ष्य मे मनाये जाने वाले *'रबी-उल-अखर' नामक पर्वोत्सव को केवल सुन्नी सम्प्रदाय के लोग मनाते हैं।* 'शब ए-बरात' का मुस्लिम जगत् मे व्यापक प्रचलन है। यह आठवें अरबी मास के १५वें दिन पडता है। इस पर्वोत्सव मे दीपावली की भाँति हर्षोल्लास के साथ आतिशबाजी की जाती है। परम्परागत अनुश्रुति है कि रात को बहिश्त (स्वर्ग) मे स्थित सिद्रतुलमुनताह का वृक्ष हिल्ता है और उस समय उसका जो पत्ता टूटता है, उस पर जिसका नाम लिखा होता है, वह व्यक्ति वर्ष के भीतर ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इस दिन मृत सम्बन्धियो के निमित्त विविध व्यजन बनाये जाते हैं और फातिमा पढने के बाद उन्हे वे वितरित किये जाते हैं।

मुस्लिम समाज मे चरशवा का पर्व भी परम्परा से प्रचलित है। यह दूसरे अरबी मास सफर के अन्तिम बुधवार को पडता है। यही वह पर्व है, जब कि सकटो, अशुभो और अनिष्टो से त्राण पाने के लिए ताबिज धारण किये जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसी दिन नबी ने गभीर बीमारी से मुक्त होकर स्नान किया था। इसके अतिरिक्त 'नौरोजे' का पर्व नये वर्ष के आगमन पर मनाया जाता है। ईराक और ईरान मे यह पर्व प्रति वर्ष २१ मार्च से आरम्भ होता है और लगभग १५ दिनो तक चलता है। यह एक प्रकार का राष्ट्रीय पर्व है। इस दिन सूर्य मेष राशि पर आता है और वसन्तोत्सव का आरम्भ होता है।

सर्व-धर्म-समन्वय के संस्थापक

अकबर का दीन इलाही मत

मुगल साम्राज्य के इतिहास में अकबर महान् (१५ अक्टूबर, १५४२-१६ अक्टूबर, १६०५ ई०) का नाम अमर है। मुगल साम्राज्य का इतिहास, भारतीय इतिहास का अंग होने के कारण अकबर की गणना अशोक, चन्द्रगुप्त तथा हर्षवर्द्धन जैसे भारत के गौरवशाली एवं यशस्वी शासकों में की जाती है। वह अधिक पढा-लिखा नहीं था, किन्तु उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। उसने केवल सुन कर ही काव्य, दर्शन, इतिहास, कला आदि अनेक विषयों का सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

अकबर स्वयं निष्पक्ष एवं सहिष्णु धर्म-नीति का शासक था। उसने अपनी सल्तनत के विभिन्न धर्मानुयायी समाज के प्राय समस्त धर्मों की गंभीर जानकारी प्राप्त की थी। वह बड़ा विलक्षण बुद्धि का व्यक्ति था। वह मनसा धर्मनिष्ठ था, किन्तु उसमें एक कोरे धार्मिक की भाँति भावुकता का बहाव नहीं था। वह धर्मनिष्ठ होने के साथ ही सद्विचारक और सूक्ष्म समीक्षक भी था। उसने अपने समय के प्राय सभी धर्मों—हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई और यहूदी आदि धर्मों के आचार्यों तथा विद्वानों को अपने इबादत-खाने में आमंत्रित कर विभिन्न धर्मों के सार्वभौम सिद्धान्तों का श्रवण किया था। समय-समय पर वह शास्त्रार्थ भी आयोजित करता था। उसने सभी धर्मों का समान आदर किया और सबको सहायता कर अपनी सहिष्णुता का परिचय दिया।

धर्म की ध्वजा फैलाते हुए उसने विचार किया कि मुसलमानों का हिन्दुओं के प्रति इतना अलगाव क्यों ? उनके पारस्परिक द्वेष वैमनस्य को दूर किये बिना प्रजा में अमन-चैन स्थापित नहीं किया जा सकता था और वह भली-भाँति जानता था कि अमन-चैन की स्थिति में ही सल्तनत की स्थिरता कायम रह सकती है।

अपने इस उद्देश्य की सफलता के लिए अकबर ने १५७१ ई० में 'दीन इलाही' नाम से एक धार्मिक संस्था की स्थापना की, जिसमें प्रचलित सभी धर्म-मन्तव्यों का समन्वय था। उसने यह भी घोषित किया कि किसी भी वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय या जाति का व्यक्ति उसका अनुयायी या सदस्य बन सकता है। जो व्यक्ति इस मत के दीक्षित सदस्य हो जाते थे, वे अपने पास बादशाह

का एक छोटा-सा चित्र रखते थे और जब कोई दूसरा अनुयायी मिलता था तो उस चित्र को निकालकर परस्पर 'अल्लाहो अकबर' तथा उत्तर में 'जल्ले-जलालहू' कह कर अभिवादन करते थे। उसने ऐसा इसलिए किया कि किसी धर्मावलम्बी को कोई आपत्ति तो नही है।

उसने जिस 'दीन इलाही' धर्म की स्थापना की थी, उसके कुछ सिद्धान्त भी निर्धारित किये। उनका सार यह था कि ईश्वर एक है। उसकी भक्ति में तत्पर रहना चाहिए। अपनी विवेक-बुद्धि से जो ज्ञानार्जन हो सके, तदनुसार भक्ति का निश्चय करना चाहिए। यद्यपि किसी प्रकार का आहार अभक्ष्य नही है, तथापि मांसाहार को अभक्ष्य समझना चाहिए। मानसिक उन्नति के लिए जितेन्द्रिय रहना और उपवास करना आवश्यक है। उपासना और दान मे रुचि रखनी चाहिए। धर्म को हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि जाति वर्गों मे विभाजित नही किया जा सकता है। वह सार्वभौम तथा अनादि है और उसका एक ही लक्ष्य है—जीव हित।

अकबर की इस धर्म नीति से हिन्दू, सिख तथा उदार मुसलमान तो प्रसन्न थे, किन्तु कट्टर मुसलमान भीतर ही भीतर रुष्ट एवं असन्तुष्ट थे। किन्तु बाहर कुछ बोलने की उनकी क्षमता न थी। लोगो मे इस मत के सम्बन्ध मे अलग अलग धारणाएँ थी। कुछ का कहना था कि अकबर स्वयं को एक धर्म-संस्थापक और जगद्गुरु होने का सम्मान प्राप्त करना चाहता है। किन्तु सामान्य जनता पर उसका प्रभाव अच्छा ही था। जनता उसके उदार तथा सहिष्णु व्यक्तित्व का समान करती थी।

अकबर धर्म सहिष्णु होने के साथ साथ विद्या-व्यसनी भी था। उसने हिन्दू-मुसलमानो मे धर्म-समन्वय तथा सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय एकता स्थापित करने के उद्देश्य से जहाँ एक ओर 'कुरान' तथा 'मजमउलबल्दान' और दूसरी ओर यजुर्वेद 'भगवद्गीता', 'महाभारत' तथा 'रामायण' आदि ग्रन्थो का सरल फारसी म अनुवाद करवाकर उन्हे सुलभ बनाया। उसने कुछ ग्रन्थो को सचित्र तैयार करवाया, जो कि आज मुगल-कला की बहुमूल्य कृतियाँ हैं।

अन्य धर्म-सहिष्णु मुगल शासक

अकबर ने जिस उदार एवं सहिष्णु धर्म-नीति का अपने 'दीन इलाही' मत के प्रवतन मे किया था, कुछ परवर्ती शासको ने भी उसका अनुसरण किया। इस सन्दर्भ मे मुहम्मद ख्वाजा का नाम उल्लेखनीय है। वे शेख अहमद सरहिंदी के पुत्र, शाहजहाँ के समकालीन और द्वितीय खलीफा थे। उनका जन्म १५९८ ई म हुआ था। १६ वर्ष की अवस्था मे ही वे अध्यात्म

ज्ञान की ओर उन्मुख हुए और थोड़े ही समय मे सूफी सिद्धान्तो के पूर्ण ज्ञाता बन गये। मृत्यु के समय शेख ने मुहम्मद ख्वाजा को वसीयत के रूप मे एक पुरानी गुदड़ी देते हुए यह समझाया था कि उसे ही राजसिंहासन समझते हुए निष्प्रिय एवं न्यायपूर्ण जीवन वितायें और धनवानो तथा सामन्तो से कोई सम्पर्क न रखें। उन्होंने धर्मप्राण त्यागी पिता की इस वसीयत की आजीवन रक्षा की तथा उनके बताये हुए मार्ग पर चलते रहे। कठिन त्याग एवं तप का जीवन विताते हुए उन्होंने धर्म की रक्षा की।

मुहम्मद ख्वाजा की धर्मप्रियता के कारण मुगल शाहँशाह शाहजहाँ उनके प्रति अपार श्रद्धा रखता था। ख्वाजा साहिब ने अपने भाई तथा पुत्र को सूफी मत के प्रचार के लिए नियुक्त किया था। धर्म-प्रचार के क्षेत्र में उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया। उनके शिष्यों की सख्या एक लाख से अधिक बताई जाती है। वे प्रसिद्ध अध्यात्मवादी शासक दाराशिकोह के गुरु थे।

अरब निवास के समय जब उन्होंने सुना कि दारा सिंहासन पर बैठ गया तो वे भारत लौट आये।

उन्होंने सिया-सुन्नी विवादो को मिटाने मे भी भरसक प्रयास किया। ७२ वर्ष की आयु मे १६६८ ई० को उनका निधन हुआ। उनकी समाधि सरहिन्द म आज भी वर्तमान है। कहा जाता है कि उनकी समाधि पर शाहजहाँ की पुत्री ने एक भव्य भवन का निर्माण कराया था।

दाराशिकोह

अकबर के पौत्र और शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह (१६१५-१६५९ ई०) मे अपने पितामह की ज्ञान पिपासा पुनरुज्जीवित हुई थी। वह बड़ा धर्मप्राण शासक था और सूफीवाद तथा तौहीद का मानने वाला था। अपनी धर्म-सहिष्णुता के कारण आजीवन उसका हिन्दू सन्तो तथा मुसल्मान फकीरो स सम्पर्क बना रहा। उनकी कृतियो से विदित होता है कि हिन्दू पुराण तथा उपनिषदों से उनकी गहरी अभिरुचि थी। उनकी मान्यता थी कि वेदान्त और इस्लाम में केवल शाब्दिक भिन्नता है सत्यान्वेषण मे दोनो मे मौलिक एकता है।

सर्व धर्म-समन्वय के अपने सिद्धान्त के कारण दारा के भाई मुराद और कट्टरपन्थी मुसलमानो ने उसे धर्मद्रोही करार दे दिया था। किन्तु उसने सदा ही आजीवन इस्लाम के उच्चादर्शों का पालन किया। उसने हिन्दू-मुसलमानो मे एकता तथा सद्‌भावना स्थापित करन, दोनो धर्मों की अध्यात्म मान्यताओ मे सामजस्य सिद्ध करने और दोनो को ही मानवता के उत्थान मे सहभागी बनाया।

हिन्दू-मुस्लिम धर्मों मे समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से दाराशिकोह ने 'मजमा-उल बह रैनी' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमे वेदान्त-दर्शन पर प्रकाश डाला गया है। उसका सबसे बडा कार्य था—उपनिषदो का फारसी भाषान्तर। 'सीर-ए-अकबर' के नाम से उनका यह फारसी भाषान्तर उपनिषदो के अद्वैत और सूफीमत मे एकता स्थापित करने मे अपनी मौलिकता के लिए प्रसिद्ध रहा है।

मुहम्मद शाह

धर्म-समन्वय के पक्षपाती शासकों मे औरगजेब का पुत्र बादशाह मुहम्मद शाह (१७१९-१७४८ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। उनके समय मुगल साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ। वे शिव-नारायणी सम्प्रदाय के सस्थापक स्वामी शिवनारायण के शिष्य थे। उनके शासनकाल की उल्लेखनीय उपलब्धि यह थी कि उन्होने हिन्दुओ पर जजिया कर को समाप्त कर दिया था और भेद-भाव को त्याग कर हिन्दुओ को अपने गोपनीय तथा मालगुजारी विभागो मे महत्त्वपूर्ण पदो पर नियुक्त किया था।

हिन्दू-मुसलमानो के पारस्परिक सघर्षों एव वैमनस्यो को दूर करने मे उन्होने दोनो धर्मों मे समन्वय स्थापित करने का प्रशसनीय कार्य किया। उन्होने मारवाड तथा जयपुर के हिन्दू राजाओ के प्रति भी उदारता का बरताव किया। कला और साहित्य के अपने पुरखो के प्रेम को उन्होने उजागर किया। उनके समय उर्दू साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। चिश्ती-परम्परा को उन्होने पुनरुज्जीवित किया। इस दृष्टि से मुहम्मद शाह सहिष्णु, उदार और सर्व-धर्म-समन्वय के उन्नायक थे।

इस प्रकार अनेक धर्मप्राण मुस्लिम शासको ने सूफीमत तथा भारतीय ज्ञान-ग्रन्थो का अन्वेषण-प्रणयन कर दोनो धर्मों की एकता के लिए उल्लेखनीय कार्य किया और इतिहास मे अपने यश को चिरस्मरणीय बनाया।